

प्राग्-ऐतिहासिक काल

उत्स की ओर

तेरापंथ का इतिहास वि.सं. 1817 आषाढ़-पूर्णिमा (ईस्वी सन् 1760, 29 जून) शनिवार से प्रारम्भ होता है। इस आधार पर उसे एक अर्वाचीन धर्म-संगठन कहा जा सकता है, परन्तु उसके उत्स का सन्धान करते समय क्रमशः भगवान् महावीर और फिर भगवान् ऋषभनाथ तक के समय का अवगाहन करना अनिवार्य हो जाता है। उस स्थिति में अर्वाचीन तेरापंथ अपने में प्राचीनता की उस सीमा को संभाले हुए आगे बढ़ता प्रतीत होता है जो सुज्ञात भारतीय इतिहास की सीमा से भी बहुत परे की है। कहा जा सकता है, तेरापंथ जैन धर्म की शाश्वत प्रवहमान धारा का युग-धर्म के रूप में एक नवीन संस्करण है। तेरापंथ के इतिहास को जानने के साथ यह आवश्यक है कि उसके उत्स की ओर भी एक दृष्टि-निक्षेप किया जाये।

भगवान् ऋषभनाथ

अहिंसा, सत्य आदि धर्म के शाश्वत तत्त्व हैं, फिर भी मानव-संस्कृति के विकास और ह्वास के साथ-साथ वे स्मृत और विस्मृत होते रहते हैं। विस्मृत धार्मिक तत्त्वों को पुनः स्मृत कराना धर्म का संस्थापन कहा जाता है। वर्तमान कालचक्र के अवसर्पिणी भाग में भगवान् ऋषभनाथ ने सर्वप्रथम धर्म का संस्थापन किया।

उपलब्ध इतिहास की दृष्टि से उस काल को प्राग्-ऐतिहासिक काल कहा जाता है। वर्तमान मानव-सभ्यता का उस काल में बीज-वपन हुआ था। उससे पूर्व मनुष्य युगलरूप में रहता था। वृक्षों से ही अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति किया करता था।

सभ्यता का विकास

भगवान् ऋषभनाथ ने नई सभ्यता की नींव डाली। उन्होंने लोगों को कृषि-कर्म सिखलाया। अग्नि से काम लेने की प्रक्रिया स्थापित की। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तंत्रों की व्यवस्था की। सभ्यता का वह आदि युग था। भगवान् ऋषभनाथ उसके संस्थापक थे; अतः वे आदिनाथ कहलाये।

धर्म-प्रवर्तन

लोक-धर्म की स्थापना के पश्चात् भगवान् ऋषभनाथ ने लोकोत्तर-धर्म-मोक्ष-धर्म का प्रवर्तन किया। वह भोग से त्याग की ओर, असंयम से संयम की ओर तथा तम से ज्योति की ओर अभियान था। इस कालचक्र में जैन धर्म का आदि स्रोत वहीं से प्रारम्भ हुआ। भगवान् ऋषभ जैन धर्म के चौबीस तीर्थकरों में प्रथम तीर्थकर थे।

भगवान् अरिष्टनेमि

भगवान् ऋषभ के पश्चात् होने वाले तीर्थकरों में अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थकर थे। वे श्रीकृष्ण के चचेरे भाई होने के साथ-साथ उनके आध्यात्मिक गुरु भी थे। छांदोग्य उपनिषद् में श्रीकृष्ण के गुरु का नाम घोर आंगिरस बतलाया है। उन्होंने श्रीकृष्ण को आत्म-यज्ञ का उपदेश दिया। उस यज्ञ की दक्षिणा बतलाई गई है—तपश्चर्या, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य।¹ ये सब-के-सब आत्म-गुण हैं। वेदों में आत्म-तत्त्व की कोई सुस्थिर मान्यता प्रतिपादित नहीं मिलती, जबकि जैन धर्म प्रारम्भ काल से ही आत्मवाद की भित्ति पर अवस्थित है; अतः कुछ इतिहासवेत्ताओं का मत है कि वेदों से भी पूर्व आत्म-विषयक इतना सुव्यवस्थित उपदेश देने वाले जैन तीर्थकर अरिष्टनेमि ही थे। वैदिक साहित्य में वे ही घोर आंगिरस नाम से वर्णित हुए हैं।

इतिहास की परिधि

भगवान् ऋषभ से भगवान् अरिष्टनेमि तक के बाईस तीर्थकरों का काल प्राग्-ऐतिहासिक इसलिए कहा जाता है कि उस काल पर प्रकाश डालने वाला कोई समसामयिक साहित्य अथवा वास्तु-शिल्प आदि उपलब्ध नहीं है। जैन साहित्य का विशाल भाग प्रायः भगवान् महावीर के पूर्व का नहीं है। थोड़ा भाग भगवान् पार्श्व की परम्परा का उसमें अवश्य सम्मिलित माना जाता है। बौद्ध साहित्य ने तो निस्सन्देह महात्मा बुद्ध से ही अपना आदि स्रोत प्रारम्भ किया है।

वैदिक साहित्य अवश्य अपेक्षाकृत प्राचीन है। वेद सबसे प्राचीन माने जाते हैं। उनका अस्तित्व पांच हजार वर्ष पूर्व का कहा जाता है। वर्तमान इतिहास की परिधि भी प्रायः वहीं तक सीमित है। उसके पूर्व की घटनाओं को सिद्ध करने का कोई मार्ग उपलब्ध नहीं है।

सुदूर अतीत

बाईस तीर्थकरों का समय इतिहास की दृष्टि-शक्ति से परे सुदूर अतीत में चला जाता है। यद्यपि वेदों में भगवान् ऋषभ, अजित और अरिष्टनेमि का नामोल्लेख हुआ है² और वहां उनकी स्तुति की गई है, फिर भी उससे केवल इतना ही सिद्ध किया जा सकता है कि वेद-रचना से पूर्व उन महापुरुषों के नामों से जनता परिचित थी।

1. छांदोग्य उपनिषद्, 3।17।

2. 'इण्डियन फिलोसॉफी' (Vol. I, P. 287) में डॉ. राधाकृष्णन् लिखते हैं—

The yajurveda mentions the names of three Tirthankaras—Rishabha, Ajitnath and Aristanemi.

ऐतिहासिक काल

भगवान् पाश्वर्नाथ

तेईसवें तीर्थकर भगवान् पाश्वर्नाथ ऐतिहासिक पुरुष थे। उनका जन्म वाराणसी में हुआ। उनके पिता राजा अश्वसेन और माता वामादेवी थी। उन्होंने भगवान् महावीर से प्रायः दो सौ पचास वर्ष पूर्व तीर्थ-प्रवर्तन किया। उनकी परम्परा भगवान् महावीर के समय तक अविच्छिन्न चलती रही। भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पाश्वर्नाथ की परम्परा के ही अनुयायी थे। भगवान् पाश्वर्नाथ चातुर्याम धर्म का उपदेश देते थे।¹ वे चार याम थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और बहिर्द्वादान।

जैन परम्परा के अनुसार प्रथम और अन्तिम तीर्थकर पंचयाम धर्म का प्रवर्तन करते हैं और शेष बाईस तीर्थकर चातुर्याम धर्म का। भगवान् महावीर ने जब पंचयाम धर्म का प्रवर्तन किया, तब भगवान् पाश्वर्नाथ की परम्परा के अनेक मुनि संदिग्ध हुए कि एक उद्देश्य से प्रवृत्त होने पर भी धर्म में यह द्वैध कैसा? वे भगवान् महावीर के शिष्यों से मिले, चर्चाएं कीं और दोनों का अभेद समझकर अन्ततः पंचयाम धर्म में प्रविष्ट हो गये।²

उस सम्मिलन से पूर्व तक भगवान् पाश्व की परम्परा काफी सबल रूप में चलती रही थी। समाज के प्रायः सभी वर्गों को उसने प्रभावित किया था। बौद्ध-धर्म प्रवर्तक महात्मा बुद्ध भी प्रारम्भ में उस परम्परा से प्रभावित रहे थे। बौद्ध विद्वान् धर्मानन्द कौशाम्बी का मत है कि बोधि-प्राप्ति से पूर्व कुछ समय के लिए भगवान् बुद्ध पाश्व-परम्परा में दीक्षित हुए थे।³ बोधि-प्राप्ति से पूर्व का अपना जीवन-चरित्र बतलाते हुए स्वयं बुद्ध ने जो बातें कही हैं, वे कौशाम्बीजी के मत को पुष्ट करने वाली हैं। वे अधिकांश बातें जैनाचार से सम्बन्धित हैं। उन्होंने अपने तपस्वी जीवन का वर्णन करते हुए कहा—‘सारिपुत्र! बोधि-प्राप्ति से पूर्व मैं दाढ़ी-मूँछों का लुंचन करता था। मैं खड़ा रहकर तपस्या करता था, उकड़ू बैठकर तपस्या करता था। मैं नंगा रहता था। लौकिक आचारों का पालन नहीं करता था।

1. उत्तराध्ययन, 23। 23।

2. वही; 23। 24-87।

3. पाश्वर्नाथ का चातुर्याम धर्म, पृ. 24-26।

4 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ प्रथम परिच्छेद
हथेली पर भिक्षा लेकर खाता था।...बैठे हुए स्थान पर आकर दिये हुए अन्न को, अपने
लिए तैयार किए हुए अन्न को और निमंत्रण को भी स्वीकार नहीं करता था। गर्भिणी व
स्तनपान करानेवाली स्त्री से भिक्षा नहीं लेता था।¹

भगवान् महावीर

भगवान् महावीर चौबीसवें तीर्थकर थे। बिहार प्रान्त के क्षत्रिय कुण्डपुर में वि.पू. 542 (ई.पू. 599) में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को उनका जन्म हुआ। उनके पिता राजा सिद्धार्थ और माता वैशालीपति चेटक की बहिन त्रिशला थी।² भगवान् महावीर जब युवावस्था को प्राप्त हुए, तब यशोदा नामक राजकन्या के साथ उनका विवाह किया गया।³ उनके प्रियदर्शना नामक एक पुत्री हुई, जो कि राजकुमार जमालि को ब्याही गई।

तीस वर्ष की पूर्ण युवावस्था में सहज प्राप्त सुखों को उकराकर वे आत्म-साधना में लग गये। दीक्षित होते समय उनकी प्रथम प्रतिज्ञा थी—‘आज से मेरे लिए सब प्रकार के दोषाचरण अकरणीय हैं।’⁴ उन्होंने अपने-आपको तपश्चर्या और तत्त्व-चिन्तन में लगा दिया। बारह वर्ष और साढ़े छः महीने की निरन्तर साधना के अनन्तर उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हुई।

साधना के शिखर को प्राप्त कर लेने के पश्चात् उन्होंने मध्यम पावा में आकर सब प्राणियों के हितार्थ धर्मोपदेश दिया। उन्हीं दिनों वहां सोमिल नामक धनाढ्य ब्राह्मण के यहां यज्ञ-विषयक एक विशाल अनुष्ठान चल रहा था। उसकी पूर्ति के लिए इन्द्रभूति आदि ग्यारह वेदविद् ब्राह्मण आये हुए थे। महावीर की प्रशंसा सुनकर उनका पाण्डित्य आहत हुआ। वे उनको शास्त्रार्थ में परास्त करने के लिए एक-एक करके वहां गये, किंतु उनके धर्मोपदेश से स्वयं प्रभावित हो गये। महावीर ने उनके प्रच्छन्न संशयों का भी समाधान प्रस्तुत कर दिया। वे श्रद्धाशील बने और भगवान् के पास प्रव्रजित हो गये। भगवान् ने साधु-समूह की व्यवस्था का भार उपर्युक्त ग्यारह विद्वान् शिष्यों को सौंपा; अतः वे गणधर कहलाए। साध्वी-समूह की व्यवस्था के लिए उन्होंने आर्या चन्दनबाला को नियुक्त किया। उनके गृहस्थ भक्त श्रावक और श्राविका कहलाये। इस प्रकार चतुर्विध संघ की स्थापना हुई और धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन हुआ।

अंग, बंग, मगध, विदेह, काशी, कोशल, वत्स, अवन्ती, कलिंग, पांचाल और सिंधुसौवीर आदि देशों में उन्होंने विहार किया। मगधराज श्रेणिक (बिंबसार) और कूणिक (अजातशत्रु), वैशालीपति चेटक, अवन्तीपति प्रद्योत, कौशाम्बीपति शतानीक आदि प्रभावशाली राजा तथा आनन्द, कामदेव आदि धनकुबेर नागरिक उनके अनन्य भक्त बन

1. (क) मञ्ज्जिमनिकाय, महासिंहनाद सुत ; 1112।
(ख) धर्मानन्द कौशाम्बी, भगवान् बुद्ध, पृ. 68, 69।
2. आवश्यक चूर्णि में कहा गया है—‘भगवतो माया चेडास्स भणिणी’—भगवान् की माता चेटक की भणिणी थी, परन्तु दिग्म्बर मान्यता है कि वह चेटक की पुत्री थी।
3. दिग्म्बर मान्यता है कि महावीर अविवाहित थे।
4. आयारचूला 15132 : ‘सत्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मंति।’

गये। स्कन्दक आदि अन्य धर्मावलम्बी संन्यासी भी उनके सर्व-भूत-समभावकारी उपदेश से प्रभावित होकर उनके पास प्रव्रजित हुए। हरिकेशबल जैसे शूद्र समझे जाने वाले व्यक्ति भी उनके धर्म-तीर्थ में आकर देव-पूजित बन गये।

लगभग तीस वर्ष तक जनपद-विहार करते हुए भगवान् महावीर ने जनता को अहिंसा और अनेकान्तवाद का उपदेश दिया। उन्होंने अपना अन्तिम वर्षावास मध्यम पावा में बिताया। वहां वि.पू. 470 (ई.पू. 527) कार्तिक अमावस्या की रात्रि में वे निर्वाण-पद को प्राप्त हुए।

उत्तरवर्ती आचार्य

भगवान् महावीर के निर्वाण प्राप्त होने के पश्चात् आर्य सुधर्मा से उत्तरवर्ती आचार्यों की परम्परा प्रारम्भ होती है। विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित आचार्य परम्पराओं के अवलोकन से ज्ञात होता है कि वह मुख्यतः तीन प्रकार से मिलती है :

1. गणाचार्य
2. वाचनाचार्य
3. युगप्रधान आचार्य

गणाचार्य परम्परा अपने-अपने गण के गुरु-शिष्य क्रम से चलती रही है; जबकि वाचक तथा युगप्रधान परम्परा किसी एक गण से सम्बन्धित नहीं है। वह जिस-किसी भी गण या शाखा में होने वाले एक के पश्चात् दूसरे समर्थ वाचनाचार्यों तथा युगप्रधान आचार्यों के क्रम को जोड़ने से बनी है। अपने युग के सर्वोपरि प्रभावशाली आचार्य को युगप्रधान आचार्य माना गया है। वे गणाचार्य तथा वाचनाचार्य, दोनों में से हुए हैं। गणाचार्य का कार्य गणकी चारित्रिक सुव्यवस्था करना और वाचनाचार्य का कार्य गण की शैक्षणिक सुव्यवस्था करना होता है। आचार्य सुहस्ती तक ये दोनों कार्य अविभक्त थे, परन्तु बाद में विभक्त हो गये। गणाचार्य परम्परा को गणधर-वंश तथा वाचनाचार्य परम्परा को वाचक-वंश या विद्याधर-वंश भी कहा जाता रहा है।

विभिन्न पट्टावलियां

1. हिमवंत की स्थविरावली के अनुसार वाचक-वंश या विद्याधर-वंश की परम्परा
इस प्रकार है :
1. गणधर सुधर्मा
3. आचार्य प्रभव
5. आचार्य यशोभद्र
7. आचार्य भद्रबाहु
9. आचार्य महागिरि
11. आचार्य बहुल और बलिसह
13. आचार्य श्याम
2. आचार्य जम्बू
4. आचार्य शश्यम्भव
6. आचार्य सम्भूति विजय
8. आचार्य स्थूलभद्र
10. आचार्य सुहस्ती
12. आचार्य (उमा) स्वाति
14. आचार्य सांडिल्य (स्कंदिल)

15. आचार्य समुद्र
16. आचार्य मंगुसूरि
17. आचार्य नन्दिलसूरि
18. आचार्य नागहस्तीसूरि
19. आचार्य रेवति नक्षत्र
20. आचार्य सिंहसूरि
21. आचार्य स्कंदिल
22. आचार्य हिमवन्त क्षमाश्रमण
23. आचार्य नागार्जुनसूरि
24. आचार्य भूतदिन
25. आचार्य लोहित्यसूरि
26. आचार्य दूष्यगणी
27. आचार्य देववाचक (देवद्विंगणी क्षमाश्रमण)
28. आचार्य कालक (चतुर्थ)
29. आचार्य सत्यमित्र (अन्तिम पूर्वविद्)

2. दुस्सम काल समण संघरथव तथा विचार श्रेणी के अनुसार युगप्रधान-पद्मावली
और समय इस प्रकार है :

आचार्यों के नाम

समय (वीर-निर्वाण सं.)

1. गणधर सुधर्मा	1 से 20
2. आचार्य जम्बू	20 से 64
3. आचार्य प्रभव	64 से 75
4. आचार्य शश्यभव	75 से 98
5. आचार्य यशोभद्र	98 से 148
6. आचार्य सम्भूति विजय	148 से 156
7. आचार्य भद्रबाहु	156 से 170
8. आचार्य स्थूलभद्र	170 से 215
9. आचार्य महागिरि	215 से 245
10. आचार्य सुहस्ती	245 से 291
11. आचार्य गुणसुन्दर	291 से 335
12. आचार्य श्याम	335 से 376
13. आचार्य स्कंदिल	376 से 414
14. आचार्य रेवतिमित्र	414 से 450
15. आचार्य धर्मसूरि	450 से 495
16. आचार्य भद्रगुप्तसूरि	495 से 533
17. आचार्य श्रीगुप्तसूरि	533 से 548
18. आचार्य वज्रस्वामी	548 से 584
19. आचार्य आर्यरक्षित	584 से 597
20. आचार्य दुर्बलिका पुष्पमित्र	597 से 617
21. आचार्य वज्रसेनसूरि	617 से 620
22. आचार्य नागहस्ती	620 से 689

आचार्यों के नाम	समय (वीर-निर्वाण सं.)
23. आचार्य रेवतिमित्र	689 से 748
24. आचार्य सिंहसूरि	748 से 826
25. आचार्य नागार्जुनसूरि	826 से 904
26. आचार्य भूतदिनसूरि	904 से 983
27. आचार्य कालकसूरि (चतुर्थ)	983 से 994
28. आचार्य सत्यमित्र	994 से 1000
29. आचार्य हारिल्ल	1000 से 1055
30. आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण	1055 से 1115
31. आचार्य स्वाति (उमा) सूरि	1115 से 1197
32. आचार्य पुष्यमित्र	1197 से 1250
33. आचार्य सम्भूति	1250 से 1300
34. आचार्य माठर सम्भूति	1300 से 1360
35. आचार्य धर्म ऋषि	1360 से 1400
36. आचार्य ज्येष्ठांगगणी	1400 से 1471
37. आचार्य फल्लुमित्र	1471 से 1520
38. आचार्य धर्मघोष	1520 से 1598

3. वाल्लभी युगप्रधान-पट्टावली इस प्रकार है :

आचार्यों के नाम	पद-काल
1. आचार्य सुधर्मा	20 वर्ष
2. आचार्य जम्बू	44 वर्ष
3. आचार्य प्रभव	11 वर्ष
4. आचार्य शश्यभव	23 वर्ष
5. आचार्य यशोभद्र	50 वर्ष
6. आचार्य सम्भूति विजय	8 वर्ष
7. आचार्य भद्रबाहु	14 वर्ष
8. आचार्य स्थूलभद्र	46 वर्ष
9. आचार्य महागिरि	30 वर्ष
10. आचार्य सुहस्ती	45 वर्ष
11. आचार्य गुणसुन्दर	44 वर्ष
12. आचार्य कालक	41 वर्ष
13. आचार्य स्कंदिल	38 वर्ष
14. आचार्य रेवतिमित्र	36 वर्ष
15. आचार्य मंगु	20 वर्ष
16. आचार्य धर्म	24 वर्ष

आचार्यों के नाम	पद-काल
17. आचार्य भद्रगुप्त	41 वर्ष
18. आचार्य आर्यवज्र	36 वर्ष
19. आचार्य रक्षित	13 वर्ष
20. आचार्य पुष्यमित्र	20 वर्ष
21. आचार्य वज्रसेन	3 वर्ष
22. आचार्य नागहस्ती	69 वर्ष
23. आचार्य रेवतिमित्र	59 वर्ष
24. आचार्य सिंहसूरि	78 वर्ष
25. आचार्य नागार्जुन	78 वर्ष
26. आचार्य भूतदिन्न	79 वर्ष
27. आचार्य कालक	11 वर्ष
<hr/>	
	कुल 981 वर्ष

4. माथुरी युगप्रधान-पट्टावली इस प्रकार है :

- | | |
|------------------------|-----------------------------|
| 1. आचार्य सुधर्मा | 17. आचार्य धर्म |
| 2. आचार्य जम्बू | 18. आचार्य भद्रगुप्त |
| 3. आचार्य प्रभव | 19. आचार्य वज्र |
| 4. आचार्य शश्यम्भव | 20. आचार्य रक्षित |
| 5. आचार्य यशोभद्र | 21. आचार्य आनन्दिल |
| 6. आचार्य सम्भूति विजय | 22. आचार्य नागहस्ती |
| 7. आचार्य भद्रबाहु | 23. आचार्य रेवतिनक्षत्र |
| 8. आचार्य स्थूलभद्र | 24. आचार्य ब्रह्म. दीपकसिंह |
| 9. आचार्य महागिरि | 25. आचार्य स्कंदिल |
| 10. आचार्य सुहस्ती | 26. आचार्य हिमवन्त |
| 11. आचार्य बलिसह | 27. आचार्य नागार्जुन |
| 12. आचार्य स्वाति | 28. आचार्य गोविन्द |
| 13. आचार्य श्याम | 29. आचार्य भूतदिन्न |
| 14. आचार्य सांडिल्य | 30. आचार्य लोहित्य |
| 15. आचार्य समुद्र | 31. आचार्य दूष्यगणी |
| 16. आचार्य मंगु | 32. आचार्य देवद्विंगणी |

शुद्ध परम्परा

भगवान् महावीर को निर्वाण हुए सहस्र वर्ष भी पूरे नहीं हो पाये थे कि उनकी शुद्ध परम्परा का लोप हो गया। सुप्रसिद्ध आगम-टीकाकार अभयदेव सूरि के कथनानुसार

देवद्विंगणी क्षमाश्रमण तक ही भाव परम्परा चलती रही, परन्तु उसके पश्चात् मुनिगण शिथिलाचारी हो गया और नानारूपों में द्रव्य-परम्परा का बोलबाला हो गया।¹

शिथिलाचार का प्रारम्भ

शिथिलाचार का सूत्रपात आर्य सुहस्ती से हुआ। वे सप्राट् सम्प्रति के गुरु बन कर कुछ सुविधाओं का उपभोग करने लगे। संप्रति ने दुर्भिक्ष के समय मुनिजनों को आहार सुलभ कराने के लिए लोगों को कुछ संकेत किया और तदनुसार साधुओं को यथेष्ट भोजन मिलने लगा। आचार्य महागिरि जब वहां आये और दुर्भिक्ष के समय भी आहार की विशेष सुलभता देखी, तो उन्हें कुछ संदेह हुआ। पता लगाने पर सारी स्थिति स्पष्ट सामने आ गई। उन्होंने आर्य सुहस्ती से उस विषय में पूछा, तो वे उसका यथेष्ट उत्तर नहीं दे पाये। इस पर महागिरि ने उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।² आचार्य महागिरि की उस दृढ़ नीति ने आर्य सुहस्ती को संभलने के लिए बाध्य कर दिया। यद्यपि आर्य सुहस्ती तो शीघ्र ही संभल गये, परन्तु जो शिथिलाचार उनसे प्रश्नय पा चुका था, वह निर्मूल नहीं हो सका। अन्दर ही अन्दर शुद्ध परम्परा के साथ-साथ एक शिथिल परम्परा भी चल पड़ी और चलती रही।

पंडित बेचरदासजी के मतानुसार तो शिथिलता का चक्र और भी पहले प्रारम्भ हो गया था। वे लिखते हैं—‘जम्बू स्वामी तक जैन मुनियों का यथोपदिष्ट आचार रहा। उसके बाद ही जान पड़ता है कि बुद्धदेव के अतिशय लोकप्रिय मध्यम मार्ग का उन पर प्रभाव पड़ने लगा। शुरू-शुरू में तो शायद जैन धर्म के प्रसार की भावना से ही वे बौद्ध साधुओं जैसी आचार की छूट लेते होंगे, परन्तु पीछे उसका उन्हें अभ्यास हो गया। इस तरह एक सदभिप्राय से भी उक्त शिथिलता बढ़ती गई, जो आगे चलकर चैत्यवास में परिणत हो गई।’³

सम्प्रदाय-भेद के बीज

जहां विचार होता है, वहां विचार-भेद की सम्भावना भी रहती ही है। विचार-समन्वय और विचार-भेद का इतिहास प्रायः एक समान ही प्राचीन है। पारस्परिक विचार-समन्वय जहां संगठन के लिए नींव का पत्थर बनता है, वहां विचार-भेद उसको विभक्त कर देने वाला विस्फोट होता है। विस्फोट में से फिर विचार-समन्वय की खोज होती है और उसी आधार पर नए संगठन अथवा सम्प्रदाय की नींव रखी जाती है।

भगवान् महावीर के शासन में विचार-भेद का क्रम उनकी विद्यमानता में ही प्रारम्भ हो गया था। गोशालक प्रारम्भ में उनके शिष्य रहे थे, परन्तु बाद में पृथक् होकर वे आजीवक सम्प्रदाय के आचार्य बन गये। महावीर के जामाता जमालि भी उनकी

1. आगम-अष्टोत्तरी : ‘देवद्विंगु खमासमणजा, परंपरं भावओ वियाणेमि। सिथिलायारे ठविया, दव्वेण परंपरा बहुहा॥’

2. बृहत्कल्प चूर्णि, उद्देशक 1।

3. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 351।

10 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ प्रथम परिच्छेद
विद्यमानता में ही विचार-भेद हो जाने पर उनके धर्मसंघ से पृथक् हो गये और अपना स्वतंत्र प्रचार करने लगे। गोशालक जैन परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न हो गये थे, जबकि जमालि कुछ बातों में मतभेद रखते थे। उन दोनों ने भगवान् महावीर के सिद्धांतों की प्रामाणिकता का विरोध किया था, अतः उनके संगठनों को जैन शासन के अंगभूत सम्प्रदायों की गणना में नहीं लिया जाता। भगवान् महावीर और उनके सिद्धांतों पर अखंड विश्वास रखने वाले विभिन्न संगठनों को ही इस गणना में लिया जाता है।

जैन संघ में तीर्थकर-वाणी को सर्वोपरि प्रमाण माना जाता है। वह आत्मानुभूत प्रत्यक्ष के आधार पर सूत्ररूप में प्ररूपित है। उसकी व्याख्या में विभिन्न मतभेद हुए, जो कि सम्प्रदाय-भेद के बीज कहे जा सकते हैं। भाष्यकार तथा टीकाकार प्रत्यक्षदर्शी नहीं थे। उन्होंने सूत्र के आशय को यद्यपि परम्परा के प्रकाश में ही देखने का प्रयास किया, फिर भी जहां-जहां वह हृदयंगम नहीं हो पाया, वहां-वहां उन्होंने अपनी-अपनी युक्तियों को काम में लिया। फलस्वरूप अनेक मतभेद हुए और वे समय-परिपाक से विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में फलित हुए।

श्वेताम्बर और दिगम्बर

वीर-निर्वाण के 609 वर्ष पश्चात् दिगम्बर सम्प्रदाय की स्थापना हुई, ऐसी श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता है।¹ दिगम्बरों का कथन है कि विक्रम नृप की मृत्यु के 136 वर्ष पश्चात् अर्थात् वीर-निर्वाण के 606 वर्ष पश्चात् श्वेताम्बर सम्प्रदाय का जन्म हुआ।² दोनों सम्प्रदाय अपने को मूल और दूसरे को अपनी शाखा मानकर चलते हैं। कौन मूल है तथा कौन शाखा है, यह अनुसन्धान का विषय है। शब्दों की दृष्टि से श्वेताम्बर और दिगम्बर, ये दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। इनमें किसी एक का नामकरण होने के पश्चात् ही दूसरे के नामकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। दोनों ही नामों में वस्त्र को प्रधानता दी गई है, अतः सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि परस्पर अन्य कितने ही मतभेद क्यों न रहे हों, परन्तु सम्प्रदाय-भेद का मुख्य कारण सचेलत्व-अचेलत्व का प्रश्न ही रहा था।

भगवान् महावीर ने अपने संघ में सचेल और अचेल; दोनों ही प्रकार के श्रमणों को समान रूप से स्थान दिया था। अचेल मुनि जिनकल्पिक और सचेल मुनि स्थविरकल्पिक कहलाते थे। उनके प्रभावक व्यक्तित्व का पोष पाकर संयम की भूमिका पर उगा हुआ श्रमण-संघ का वह वृक्ष समन्वय के अपने प्रकाण्ड पर चिरकाल तक दोनों ही शाखाओं को समानरूप से धारण करता रहा।

1. विशेषावश्यक भाष्य, 30,32 :

‘छ्वास-सथाई नवुत्तराई, तड्या सिद्धिं गयस्स चीरस्स।
तो बोडियाण दिट्टी, रथवीरपुरे समुप्पन्ना॥’

2. दर्शनसार :

‘छत्तीसे वास सये, विक्रम निवस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्टे वल्लहीए सेवड संघो समुप्पन्नो॥’

महावीर-निर्वाण के पश्चात् उक्त अभेद बहुत लम्बा नहीं चल सका। जम्बू स्वामी के निर्वाण प्राप्त होने के साथ ही भेद-वृत्ति पनपने के संकेत मिलते हैं। उनके निर्वाणकाल से ही साधना की जिन दश विशेष अवस्थाओं का लोप माना गया है, उनमें एक जिनकल्पिक अवस्था भी है।¹ सम्भव है, अन्तरंग में पनप रहे द्वैध की वह प्रथम घोषणा रही हो। उसके कुछ वर्ष पश्चात् दशवैकालिक में आचार्य शश्यम्भव का यह स्पष्टीकरण भी कि ज्ञातपुत्र महावीर ने संयम और लज्जा के निमित्त वस्त्र धारण को परिग्रह नहीं कहा है, उन्होंने तो मूर्छा को परिग्रह कहा है;² उसी भेद-रेखा का और अधिक स्पष्टता के साथ संकेत करता है। इतना होते हुए भी उस समय वह मतभेद अन्दर-ही-अन्दर चलता रहा प्रतीत होता है।

बाहर उस मतभेद की स्पष्ट अभिव्यक्ति तब हुई जबकि आचार्य भद्रबाहु की अनुपस्थिति में वीर नि. 160 के लगभग पाटलीपुत्र में महासम्मेलन बुलाया गया और उसमें ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। वह वाचना सबको पूर्ण मान्य नहीं हो सकी। उससे पूर्व परस्पर में केवल आचार-सम्बन्धी मतभेद ही चलता था, परन्तु उसके पश्चात् श्रुत सम्बन्धी मतभेद भी चालू हो गया। इतना होने पर भी दोनों परम्पराएँ ज्यों-त्यों साथ-साथ चलती रहीं। कालान्तर में जब मतभेदों का दबाव इतना अधिक हो गया कि साथ-साथ चल पाना असम्भव हो गया, तब वी. नि. 606 (ईस्वी सन् 79) में जैन श्रमण-संघ का एकत्व श्वेताम्बर और दिगम्बर के द्वित्व में परिणत हो गया।

चैत्यवासी और संविम्न

जैन धर्म में सुव्यवस्था के लिए प्रारम्भ में अनेक गणों की व्यवस्था थी। भगवान् के समय में नौ गण थे। उनके पश्चात् भी पृथक्-पृथक् आचार्यों के नाम से पृथक्-पृथक् गण या गच्छ चलते रहे थे, परन्तु वे सब परस्पर अविरोधी थे, उनमें कोई मतभेद अथवा विग्रह नहीं था। वी. नि. 882 में चैत्यवासी सम्प्रदाय की स्थापना हुई। उसके साथ ही दूसरा पक्ष संविम्न, सुविहितमार्गी या विधिमार्गी कहलाया। फलस्वरूप श्वेताम्बर मुनिगण दो विभागों में विभक्त हो गया।

चारित्रिक शिथिलता का प्रारम्भ तो आर्य सुहस्ती से ही हो गया था, परन्तु सम्प्रदाय रूप में उसकी व्यवस्थित स्थापना उक्त प्रकार से वी. नि. की नौवीं शताब्दी में हुई।

1. विशेषावश्यक भाष्य, 2593 :

'मण परमोहि-पुलाए, आहारग-खवग-उवसमे कप्ये।
संज्म-तिय केवलि-सिज्जणा य जंबुमि वुच्छिन्ना॥'

2. दशवैकालिक, 6119, 20 :

'जं पि वस्थं व पायं वा, कंबलं पायपुच्छणं।
तं पि संज्मलज्जट्टा, धारंति परिहरंति या॥
न सो परिग्नहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्नहो वुत्तो, इह वुत्तं महेसिणा॥'

3. धर्मसागरकृत पट्टावली।

उस समय शिथिलाचार के कारण कुछ मुनि उग्र विहार छोड़कर मन्दिरों के परिपार्श्व में रहने लगे। धीरे-धीरे उन्होंने अपना बल बढ़ाया। वी. नि. की दसवीं शताब्दी तक उनके सम्प्रदाय का कोई प्राबल्य नहीं था। देवद्विंशगणी क्षमाश्रमण के दिवंगत होते ही उनका बल बढ़ गया। उन्होंने विद्या-बल और राज्य-बल-दोनों के द्वारा उग्र विहारी श्रमणों पर पर्याप्त प्रहार किया। वे लोग मठाधीश बनकर तो रहने ही लगे, साथ ही वैद्यक, निमित्त-कथन तथा मंत्र, डोरा, ताबीज आदि भी करने लगे। सुविहितमार्गी मुनियों ने उनके शिथिलाचार के विरुद्ध लम्बे समय तक अपना अभियान चालू रखा। आचार्य हरिभद्र ने 'सम्बोधप्रकरण' में, आचार्य जिनवल्लभ ने संघ-पट्टक में और आचार्य जिनपति ने उसकी टीका में चैत्यवासियों के शिथिलाचार पर प्रबल प्रहार किये हैं।

लोंकामत

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लोंकाशाह ने आचार की कठोरता के पक्ष को प्रबल किया। उन्होंने व्यर्थ के क्रियानुष्ठानों, कुसंस्कारों आदि को मिटाने का प्रयास किया। मूर्ति-पूजा के वे प्रबल विरोधी थे। कबीर आदि ने मूर्ति-पूजा का विरोध प्राचीन शास्त्रों को छोड़कर केवल आत्मानुभव के आधार पर किया था, परन्तु लोंकाशाह ने इस कार्य में प्रधानतः प्राचीन शास्त्रों का ही आश्रय लिया। ऐसा अभिमत है कि वे कुछ समय तक कबीर के समकालीन थे।

कुछ लोगों की मान्यता है कि लोंकाशाह ने स्वयं दीक्षित होकर धर्म-प्रचार किया था, तो कुछ उसके विपरीत यह मानते हैं कि वे अन्त तक गृहस्थ ही रहे थे। दोनों ही धारणा वाले व्यक्ति इस बात पर एकमत हैं कि उन दिनों उनके मन्त्रव्यों का प्रचार बड़े जोरों से हुआ था। कहा जाता है कि उन्हीं दिनों तीर्थ-यात्रा के लिए जाता हुआ कोई संघ अहमदाबाद में ठहरा। उसके अनेक व्यक्ति लोंकाशाह के सम्पर्क में आए। उन्हीं में से पैतालीस व्यक्ति प्रतिबुद्ध हुए और उन सबने वि. सं. 1531 में (कुछ के मतानुसार 1533 में) एक साथ दीक्षा ग्रहण की। तभी से उनके गच्छ का नाम 'लोंकागच्छ' हुआ। कुछ लोग उनके धर्म को 'दया-धर्म' भी कहते हैं। जितने वेग से लोंकामत का प्रसार हुआ, उतने ही वेग से छिन्न-भिन्न भी हो गया। केवल तीस वर्ष की अवधि में ही उसमें अनेक शाखाएं हो गईं। मूलतः लोंकामत का संघीय पक्ष प्रारम्भ से ही निर्बल रहा। उसकी सम्यक् व्यवस्था कभी हो ही नहीं पाई।

स्थानकवासी

लोंकाशाह के अनुयायियों में आगे चलकर लवजी मुनि हुए। उन्होंने वि. सं. 1709 में 'दूंडिया' सम्प्रदाय का उद्भव किया।¹ कालान्तर में इस सम्प्रदाय की एक शाखा के आचार्य धर्मदासजी (वि. सं. 1716 में) दीक्षित हुए। उनके निन्यानवे शिष्य हुए। आचार्य

धर्मदासजी के दिवंगत होने पर वे सब बाईंस शाखाओं में विभक्त हो गये। फलस्वरूप उनकी शिष्य-परम्परा ‘बाईंसटोला’ नाम से प्रसिद्ध हुई। अब तक उक्त परम्परा की सत्रह शाखाओं का पूर्णतः लोप हो चुका है।¹ शेष पांच शाखाओं में भी साधुओं की संख्या नगण्य रह गई है, फिर भी यह नाम इतना प्रचलित हुआ कि ढूँढ़िया सम्प्रदाय की समग्र शाखाओं को लोग इसी नाम से पहचानने लगे।

‘स्थानकवासी’ नाम अपेक्षाकृत अर्वाचीन है, परन्तु वर्तमान में यही अधिक प्रचलित है। यह नाम सम्भवतः तब प्रचलित हुआ, जब इस सम्प्रदाय के मुनि स्थानकों में रहने लगे। सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य क्षितिमोहनसेन का इस विषय में यह अभिमत है—‘बाद में जब लोगों में ठीक रूप से उनकी प्रतिष्ठा हो गई, तब इस सम्प्रदाय के लोग भिन्न-भिन्न जगहों में अड्डे जमाने लगे और साम्प्रदायिक वैभव खड़ा होने लगा। क्रमशः उनको ‘स्थानक-दोष’ स्पर्श करने लगा। इसलिए उन्हें ‘स्थानकवासी’ कहने लगे।’²

तेरापंथ

स्थानकवासी सम्प्रदाय में से तेरापंथ का उद्भव हुआ। आचार्य धर्मदासजी के बाईंस शिष्यों में से एक धनोजी थे। उनके तृतीय पट्ट पर आचार्य रुघनाथजी हुए। तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य भीखणजी ने उन्होंने के पास दीक्षा ग्रहण की थी। उन्होंने संघ के आचार-विचार को आगमों के कथोपल पर कस कर देखा, तो अनेक अपूर्णताएं मिलीं। संगठन के अभाव ने भी उनके मन को झकझोरा। फलस्वरूप वि. सं. 1817 आषाढ़ पूर्णिमा के दिन तेरापंथ की स्थापना हुई। आदि में तेरह साधु तथा तेरह ही श्रावक थे, अतः इसका नाम ‘तेरापंथ’ पड़ गया। स्वामीजी ने उस नाम को स्वीकार करते हुए उसका अर्थ किया—‘हे प्रभो! यह तेरापंथ है।’

स्वामी भीखणजी ने श्रमण-संघ के जिस सुदृढ़ स्वरूप का स्वप्न देखा था, उसे उन्होंने तेरापंथ में मूर्त रूप दिया। आचार-शुद्धि बनाये रखने के लिए उन्होंने अनेक मर्यादाएं कीं। आगमानुमोदित विचारों की स्थापना के लिए उन्होंने आगम-मंथन किया और अनेक नये तथ्यों का उद्घाटन किया। संगठन की दृढ़ता के लिए उन्होंने व्यक्तिगत शिष्य-प्रथा को समाप्त किया और समूचे संघ के लिए एक ही आचार्य का होना मान्य रखा। थोड़े ही दिनों में एक आचार्य, एक आचार और एक विचार के लिए तेरापंथ अन्य श्रमण-संघों के लिए अनुकरणीय बन गया।

दिग्म्बर तेरापंथ

श्वेताम्बरों के समान दिग्म्बरों में भी अनेक शाखाएं हुईं। उनमें एक शाखा का नाम ‘तेरापंथ’ है। वह भी शिथिलाचार के विरुद्ध एक क्रान्ति का ही परिणाम है। दिग्म्बर परम्परा में भी जब शिथिलाचार व्याप्त होने लगा, तब मुनिजन उग्र विहार छोड़कर

1. ‘श्री जैनधर्म नो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभुवीर पट्टावली’, पृ. 220, प्रकाशन वि. सं. 1991।

2. ‘जैनधर्म की प्राणशक्ति’ लेख—जैन भारती, 1949, 1013।

14 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ प्रथम परिच्छेद
मठवासी बनने लगे। जो ‘भट्टारक’ शब्द पूज्य तथा आदरणीय अर्थ में दिगम्बराचार्यों के नाम के साथ उपाधि रूप में जोड़ा जाता था, कालान्तर में वह किसी मठ या मन्दिर से सम्बद्ध मुनि के लिए रूढ़ हो गया। मठवास की यह प्रवृत्ति चौथी-पांचवीं शती से बढ़ने लगी थी। परम्परानिष्ठ साधु उनके शैथिल्य से बड़े असन्तुष्ट थे। उन्होंने यथासमय तीव्रता से उनका विरोध किया। फलस्वरूप उनमें दो संघ हो गये—वनवासी और चैत्यवासी। वे दोनों क्रमशः मूल-संघ और द्राविड़-संघ के नाम से प्रसिद्ध हुए।

देवसेन कृत ‘दर्शनसार’ के मतानुसार पूज्यपाद देवनंदी के शिष्य वञ्चनन्दी ने द्राविड़-संघ की स्थापना वि. सं. 526 में की। उसके पश्चात् उसका बल बढ़ता गया और ग्यारहवीं शती तक पहुंचते-पहुंचते प्रायः सभी प्रमुख आचार्य मठाधीश हो गए। भट्टारक सम्प्रदाय के वे आचार्य न केवल मठादि की व्यवस्था ही करते, अपितु उनकी सम्पत्ति का भी उपभोग करने लगे। राजगुरु होकर वे छत्र, पालकी, सुखासन आदि द्वारा एक प्रकार से राज-वैभव-सम्पन्न हो गये। उनकी प्रवृत्तियां प्रायः श्वेताम्बर चैत्यवासियों के समान ही कही जा सकती हैं। तेरहवीं शताब्दी में भट्टारक वसन्तकीर्ति ने अपवादवेष के रूप में कभी-कभी वस्त्र-धारण करने की परम्परा भी प्रचलित की थी।

श्वेताम्बरों में जिस प्रकार लोंकाशाह ने मूर्ति-पूजा को अमान्य किया, उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में तारणस्वामी (वि. सं. 1505 से 1572) ने भी मूर्ति को अमान्य घोषित किया। उन्होंने ‘तारण-तरण समाज’ की स्थापना की। वह समाज चैत्यालय के स्थान पर ‘सरस्वती-भवन’ बनाता और मूर्ति के स्थान पर शास्त्रों को विराजित करता, परन्तु उसका बल अधिक नहीं बढ़ सका। भट्टारकों की सत्ता पर उसका कोई अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। वे परिग्रह से अधिकाधिक सम्बद्ध होते गये। कुछ तो मंत्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि में ही अपना बहुत-सा समय लगाने लगे।

भट्टारकों के शैथिल्य की प्रतिक्रिया हुई। धर्म-ग्रन्थों के अभ्यासी विद्वान् व्यक्ति उन लोगों को अनादर की दृष्टि से देखने लगे। उनकी ओर से उदासीन होकर वे कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र, सोमप्रभ आदि के अध्यात्म-ग्रन्थों का अभ्यास करने लगे, अतः ‘अध्यात्मी’ कहलाने लगे। सत्रहवीं शताब्दी में पंडित बनारसीदासजी द्वारा उस परम्परा को विशेष बल मिला। तब से अध्यात्म-विद्वानों की वह परम्परा ‘वाराणसीय’ या ‘बनारसीमत’ के नाम से प्रसिद्ध हुई।¹ किन्तु, आगे चलकर उसका नाम ‘तेरापंथ’ हो गया। उसके साथ ही भट्टारकों का प्राचीन मार्ग ‘बीसपन्थ’ कहलाने लगा।

श्वेताम्बर और दिगम्बर, इन दोनों ही परम्पराओं में ‘तेरापंथ’ का यह नामसाम्य एक विचित्र संयोग की ही बात कही जा सकती है। श्वेताम्बर तेरापंथ के नामकरण का तो एक सुनिश्चित इतिहास है,² किन्तु दिगम्बर तेरापंथ का नाम कब हुआ और क्यों हुआ, यह अभी तक अज्ञात ही है। दिगम्बर आम्नाय के सुप्रसिद्ध विद्वान् पंडित नाथूराम ‘प्रेमी’

1. युक्ति-प्रबोध, 18।

2. देखें—प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे परिच्छेद में ‘नव जीवन की ओर’ नामक अध्याय।

का अनुमान है कि श्वेताम्बर तेरापंथ के उदय के पश्चात् ही दिगम्बर परम्परा में यह नाम प्रयुक्त होने लगा है। वे लिखते हैं—‘बहुत सम्भव है कि दृढ़कों (स्थानकवासियों) में से निकले हुए तेरापंथियों के जैसा निंदित बतलाने के लिए वे लोग, जो भट्टारकों को अपना गुरु मानते थे तथा इनसे द्रेष रखते थे, इसके अनुगामियों को तेरापंथी कहने लगे हों और धीरे-धीरे उनका दिया हुआ यह कच्चा ‘टाइटिल’ पक्का हो गया हो, साथ ही वे स्वयं इनसे बड़े बीसपंथी कहलाने लगे हों। यह अनुमान इसलिए भी ठीक जान पड़ता है कि इधर के लगभग डेढ़ सौ वर्ष के ही साहित्य में तेरहपंथ के उल्लेख मिलते हैं, पहले के नहीं।’¹

अन्तिम सम्प्रदाय

जैन धर्म में तेरापंथ को अन्तिम सम्प्रदाय कहा जा सकता है। इसके प्रवर्तक स्वामी भीखण्जी ने इसकी संगठना में अत्यन्त दूरदर्शिता से काम लिया। आचार-विशुद्धि के साथ-साथ उन्होंने संघ की एकता पर विशेष रूप से बल दिया। उन्होंने संघ की नियमावली में इस प्रकार की सुव्यवस्था की कि संघ का हर सदस्य परस्पर समानता का अनुभव कर सके, पक्षपात-रहित न्याय प्राप्त कर सके, आवश्यकता पर पूर्णरूपेण सेवा प्राप्त कर सके और सबसे प्रमुख बात यह है कि संयम के अनुकूल वातावरण प्राप्त कर सके।

तेरापंथ का आज तक का इतिहास इसका साक्षी है कि उसके सदस्यों की एकता किन्हीं सामयिक स्वार्थों के खंडों को जोड़कर नहीं बनायी गयी है, अपितु आत्मार्थिता की भावना के शैल-शिखर से अखण्ड रूप में तराशी गयी है। यह इसी प्रकार से अखण्ड रह सके, इसके लिए सावधानी बरतने में संघ के प्रत्येक सदस्य का समान उत्तरदायित्व है।

1. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 367।

उद्भवकालीन स्थितियाँ

राजनीतिक स्थिति

तेरापंथ का उद्भव कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। वह तो उस युग की परिस्थितियों की एक अनिवार्य मांग थी। एक अवधि से युग के गर्भ में धार्मिक क्रांति का जो बीज परिपाक पा रहा था, उसी का स्फोट चि.सं. 1817 आषाढ़ पूर्णिमा (ईस्वी सन् 1760) को तेरापंथ के रूप में जनता के सामने आया।

साग भारतवर्ष उस युग में राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की विकट उलझनों में से गुजर रहा था। वह समय मुगल साम्राज्य के पतन और अंग्रेजों के शासन के प्रारम्भ का था। औरंगजेब की मृत्यु (सन् 1707) के बीस-बाईस वर्ष पश्चात् ही मुगल साम्राज्य छिन-भिन्न हो गया। अराजकता के उस अवसर पर अंग्रेजों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया। वे यहाँ की राजनीति में हस्तक्षेप करने लगे। उत्तर तथा दक्षिण में अनेक राजाओं तथा नवाबों के पारस्परिक संघर्षों में वे किसी एक पक्ष को सहयोग देकर अपना प्रभाव तथा व्यापार बढ़ाते रहे। कालान्तर में वे यहाँ राज्य भी स्थापित करने लगे। अपने षड्यन्त्रों के द्वारा राजाओं तथा नवाबों को गदी से उतारना तथा बिठाना तो उनके लिए खेल मात्र हो गया। भारत में उनके राज्य की नींव पहले-पहल तब जमी, जब उन्होंने बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के मंत्री को रिश्वत देकर फोड़ लिया और उसी के आधार पर सन् 1757 में पलासी का युद्ध जीता। उस युद्ध से बंगाल का शासन तो बदला ही, परन्तु उसका दूरगामी प्रभाव सारे भारत पर भी हुआ। इस विजय के पश्चात् अंग्रेजों ने बहुत शीघ्र ही अपने व्यापारिक प्रतिद्वन्द्वी डचों को सन् 1759 में और फ्रांसीसियों को सन् 1760 में इतनी करारी हार दी कि फिर उन लोगों का व्यापार भारत में जम ही नहीं पाया।

सन् 1761 में एक और अफगानों के साथ पानीपत की लड़ाई में मराठे हार गये और उनका शौर्य राहु-ग्रस्त हो गया, दूसरी ओर सन् 1764 में बक्सर की लड़ाई में सप्तराट् शाहआलम अंग्रेजों के बन्दी हो गए और फिर उनके संरक्षण में रहने लगे। इस प्रकार उस समय भारत के राजनीतिक वातावरण में अंग्रेजों के उदय और भारतीय राजाओं तथा नवाबों की प्रतिभा व शक्ति के हास से बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी।

राजस्थान की दशा तो उस समय और भी अधिक चिन्तनीय हो रही थी। वह अनेक राजनीतिक इकाइयों में विभक्त तो था ही, परन्तु उनमें भी कोई प्रभावशाली राजा नहीं

रह गया था। रण-बांकुरे राजपूत वीरों की तलवारों का पानी उतर चुका था। शत्रु-दमन के समय काम आने वाला शौर्य पारस्परिक वैमनस्य की अनि में भस्म हुआ जा रहा था। एक-दूसरे को गिराने की भावना से उत्पन्न परिस्थिति ने सारे राजस्थान को निष्प्रभ बना डाला था। ऐसे अवसरों से लाभ उठाने में निष्णात अंग्रेजों ने राजस्थान पर भी अपने दांत लगा रखे थे।

तेरापंथ की जन्मस्थली मेवाड़ है। वहां की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति तो राजस्थान के अन्य राज्यों से भी गई-बीती थी। वहां के महाराणाओं की तेजस्विता का सूर्य अस्ताचलगामी हो चुका था। सांगा और प्रताप के वंशज बीते युग की मधुर घटनावलियों की स्मृति-मात्र करने योग्य शेष रह गये थे, न उनका कोई प्रभाव था और न व्यक्तित्व। सामन्तों का आतंक जनता पर तो छाया हुआ था ही, पर राणा-परिवार भी उससे बच नहीं पाया था। सोलह तथा बत्तीस की श्रेणी में गिने जाने वाले सरदारों के जिन पूर्वजों ने राणा-परिवार की रक्षा की थी और मेवाड़ का मुख उज्ज्वल किया था, उन्हीं के वंशजों में परस्पर प्रबल वैमनस्य चल रहा था। महाराणाओं को कभी शक्तावतों की ओर झुकना पड़ता था, तो कभी चूंडावतों की ओर। शक्ति-संतुलन के लिए सरदारों द्वारा किए जाने वाले षड्यन्त्रों में आये दिन महाराणाओं की हत्याएं होती रहती थीं।

अराजकता की-सी उस स्थिति से पड़ोसी राज्यों को लाभ उठाने का खूब अवसर मिल गया। कभी मराठा, कभी सिंधिया तथा कभी होल्कर की सेनाएं राज्य में घुस आर्तीं और वहां की अस्तव्यस्तता को और अधिक बढ़ा देतीं। उनको प्रसन्न रखने तथा उनकी मांगें पूरी करने में राज्य का खजाना खाली हो चुका था। आक्रांता सैनिकों के हाथों मेवाड़ी प्रजा आये दिन लुटती रहती थी। कोई संरक्षण देने वाला नहीं था। महाराणा अपने सरदारों को भी वश में नहीं कर पा रहे थे, अतः बाहरी आक्रमणों को दबा देना उनके वश की बात हो ही कैसे सकती थी? जनता अपने भाग्य के भरोसे ही जी रही थी।

तेरापंथ की स्थापना के समय मेवाड़ में महाराणा राजसिंह (द्वितीय) राज्य कर रहे थे। वातावरण बड़ा विक्षुब्ध था। कुछ समय पूर्व ही मराठों ने आक्रमण किया था और वे बहुत-सा धन ले गए थे। उनके कुछ समय पश्चात् मल्हारराव होल्कर का आक्रमण हुआ। महापुरुषों (दादूपंथी नागाओं) की सेना का उपद्रव भी उग्ररूप में चालू था।¹ इस प्रकार वहां की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त अस्थिर और भयावह थी।

सामाजिक स्थिति

विक्रम की उन्नीसवीं शती के प्रारम्भकाल का समाज प्रायः अज्ञान और रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था। परम्पराओं के प्रकाश में जहां अपने गन्तव्य-मार्ग पर आगे बढ़ा जा सकता है, वहां उन्हीं परम्पराओं को लोगों ने अपने पैरों की बेड़ियां बना लिया था। नवीनता के

1. महापुरुष (नाग) दादूपंथी साधु होते थे, जो जयपुर की सेना में बड़ी संख्या में रहते थे। वे लोग अविवाहित ही रहते थे। मेवाड़ के विद्रोही सामन्त रत्नसिंह ने सहायतार्थ उन्हें मेवाड़ में बुलाया था।

18 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ प्रथम परिच्छेद
जीवित बालक से भी कहीं अधिक प्रिय और आकर्षक उन्हें पुरातनता का शब्द लगा करता था। पुरातनता की तरह नवीनता में भी कुछ आदेय तथा नवीनता की तरह पुरातनता में भी कुछ हेय हो सकता है, यह तथ्य बहुत कठिनता से ही स्वीकार्य हो पाता था।

उस युग में समाज का नियन्त्रण राज्य से कहीं अधिक पंचों के हाथ में था। उनका दबदबा प्रायः सभी व्यक्तियों पर आतंक की तरह छाया रहता था। वे लोग छोटी-छोटी बातों पर अनेक परिवारों को समाज से बहिष्कृत कर दिया करते थे। उनका कार्य मानो इतने में ही सीमित रह गया था कि वे अपने ही समाज के कुछ व्यक्तियों को अपमानित, पीड़ित व बहिष्कृत करते रहें, ताकि अवशिष्ट व्यक्ति उनकी इच्छा के विपरीत चलने का साहस न कर पायें। जाति-बहिष्कृत व्यक्ति या तो अत्यन्त दयनीय जीवन जीने को बाध्य हो जाते थे या फिर अपने गुट को प्रबल बनाकर अपनी एक अलग इकाई बना लिया करते थे। इस क्रम से जातियों और उपजातियों की उत्पत्ति को तो प्रश्रय मिलता ही था, साथ ही पारस्परिक घृणा तथा सामाजिक भेदभाव की घातक वृत्ति भी प्रबलता पाती रहती थी।

संचार-साधनों की प्रायः सर्वत्र ही कमी थी। पहाड़ी भूमि होने के कारण मेवाड़ में वह और भी अधिक मात्रा में थी। अपने राज्य की सीमाओं को लांघकर बाहर जाने वाले व्यक्तियों की संख्या में अधिकांश भाग सीमान्त-निवासियों का ही हुआ करता था। वाणिज्य की स्थिति उन्नत नहीं थी। अधिकांश वणिग्-जन आस-पास के गांवों में फेरी देकर या कहीं छोटी-मोटी दुकान चलाकर ही अपने परिवार का भरण-पोषण करने को बाध्य थे। पर्वतों के कारण कृषि-योग्य भूमि की बहुलता नहीं थी। यत्र-तत्र बिखरे हुए छोटे-छोटे खेतों की भूमि ही धान्य-उत्पत्ति का साधन थी।

विद्यार्जन की प्रवृत्ति प्रायः नहीं के समान ही थी। समाज का एक अंग नारी-समाज तो अज्ञान के अन्धकार में आकण्ठ ही ढूबा हुआ था। उसके लिए विद्यार्जन की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी जाती थी। 'एक घर में दो कलमें नहीं चल सकतीं'-ऐसी कहावतें स्त्री-शिक्षा-विषयक तत्कालीन जन-मानस की भावना को स्पष्ट कर देती हैं। पुरुष-समाज में भी अध्ययन की अधिक अच्छी स्थिति नहीं थी। वणिग्-जनों के अतिरिक्त अक्षर-ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति कम ही हुआ करते थे। वणिग्-जाति का सम्बन्ध व्यापार से प्रायः कम या अधिक रहा ही है, अतः उसमें अक्षर-ज्ञान कर लेने तथा कुछ पहाड़े आदि याद कर लेने की प्रवृत्ति थी। साधारण व्यापार चला लेने तथा बही-खाता लिख लेने से अधिक ज्ञान प्राप्त करने वाला व्यक्ति तो कोई अपवादस्वरूप ही मिलता था। ब्राह्मण आदि जिन जातियों में विद्याध्ययन की परम्परा रही थी, उनमें भी विद्याध्ययन से कहीं अधिक विद्याभिमान व्याप्त हो गया था। राज्य अथवा समाज की ओर से ज्ञान-वृत्ति की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी।

सन्त-समागम की प्रवृत्ति उस समय प्रायः सभी व्यक्तियों में थी। सन्तवाणी को कण्ठस्थ कर उससे तत्त्वज्ञान की पिपासा शान्त करने की पद्धति भी चालू थी। एक के पास से दूसरा व्यक्ति तत्त्वज्ञान कण्ठस्थ करता और वह क्रम आगे-से-आगे चलता रहता

था। कुछ व्यक्ति उस ज्ञान को लिख भी लेते थे। उससे दूसरे व्यक्तियों को कण्ठस्थ करने में सुविधा हो जाती थी। तत्त्वज्ञान को कण्ठस्थ करने की यह पद्धति स्त्री-समाज में भी थी। अक्षर-ज्ञान न होने पर भी वे सन्त-वाणी के सैकड़ों पद्य कण्ठस्थ कर लिया करती थीं। इस प्रकार से ज्ञानार्जन करने वाले पुरुषों या स्त्रियों की संख्या स्वल्प ही हुआ करती थी। जनता का अधिक भाग तो अज्ञान में रहने को ही बाध्य था।

धार्मिक स्थिति

उस समय के व्यक्ति प्रायः धर्मानुरागी थे। धर्म के प्रति उनकी अभिरुचि रहा करती थी, किन्तु धार्मिक नेताओं ने धर्म के शुद्ध स्वरूप को इस प्रकार आच्छादित कर दिया था कि परख पाना असम्भव हो गया था। साथ ही तत्कालीन साधु-वर्ग के शिथिलाचार ने भी धर्मानुरागी व्यक्तियों के हृदयों को आलोड़ित कर रखा था। उनकी चर्या साधना-पथ से विमुख दिशा में चलने लगी थी। आचारहीन साधुओं ने समाज में ऐसी धांधली मचा रखी थी कि उससे सारे समाज में एक प्रकार की मूक उथल-पुथल उभर कर मुखर होने को तड़प उठी थी।

स्वामी भीखणजी ने उस समय के साधुओं के शिथिलाचार का जो चित्रण किया है, यदि उसका सारांश अति संक्षेप में कहा जाये तो उसके लिए उनका यह एक पद्य ही पर्याप्त होगा :

वैराग घट्यो ने भेष वधियो, हाथ्यां रो भार गधां लदियो।

थक गया बोझ दियो रालो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो।¹

वे कहते हैं—विराग घट गया है और वेष बढ़ गया है। संयम की साधना के लिए योग्य व्यक्तियों के स्थान पर अयोग्य व्यक्तियों को दीक्षित किया जा रहा है। लगता है, हाथियों का भार गधों पर लादा जा रहा है। गधे उस भार को वहन नहीं कर सकते। वे उसे इधर-उधर बिखरे कर खारब कर देते हैं। इसी प्रकार अयोग्य व्यक्ति भी संयम की साधना नहीं कर सकते। वे उसे खण्डित करते हैं और धर्म की अवज्ञा करवाते हैं। इस पंचमकाल में ऐसे वेषधारी साधु ही रह गये हैं।

साधु समाज की वह विपनावस्था इतनी व्यापक थी कि उसमें कहीं सुधार का भी अवकाश नहीं रह गया। गुरु से लेकर शिष्य तक सभी शिथिलाचारी हो गये थे। कौन किसे कहे और कौन किसकी सुने? स्वामीजी ने प्रारम्भ में सुधार करने का प्रयास किया, परन्तु उसमें उन्हें अनेक कटु अनुभव हुए। उन्हें लगा कि आपाद-मस्तक व्याप्त यह रोग अब साधारण उपचारों से मिटने वाला नहीं है। फटे वस्त्र को ‘थेगड़ी’ लगाकर ठीक किया जा सकता है, परन्तु जब आकाश ही फट जाये, तब उसमें कौन-सी ‘थेगड़ी’ लगाई जाये?²

1. आचार की चौपई, 6128

2. वही, 6। दोहा 4—आमे फाटे थीगरी, कुण छै देवणहार।

ज्यू गुर सहित गण बिगड़ियो, त्यारै चिहूं दिस परिया बघार॥

20 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ प्रथम परिच्छेद
वस्तुतः उस समय के साधु-वर्ग में आचार-शैथिल्य की जो दरारें पड़ चुकी थीं, वे बहुत गहरी और दुष्पूर थीं।

स्वामीजी ने उस समय उन लोगों में जो खामियां देखीं, उनका उन्होंने बाद में अपने ग्रंथों में विशद विवेचन किया। आचार की चौपट्ट¹ में उन दोषों के विषय में आगमिक आधार पर उन्होंने बहुत प्रभावक ढंग से प्रकाश डाला है। उनकी समीक्षाओं के अनुसार उस समय के साधु-समाज में आचार-शैथिल्य की मुख्य रूप से ये बातें थीं :

1. अपने निमित्त बनाये गये मकानों (स्थानकों) में रहते हैं।²
2. पुस्तक, पात्र और उपाश्रय आदि मोल लिवाते हैं।³
3. लोलुपतावश सरस आहार की खोज में भटकते रहते हैं।⁴
4. मनोनुकूल पदार्थ देने वाले की प्रशंसा और अन्य की निंदा करते हैं।⁵
5. जीमनवार में गोचरी जाते हैं।⁶
6. गृहस्थ को ऐसी प्रतिज्ञा दिलाते हैं कि यदि तू दीक्षा ले तो मेरे पास ही लेना, अन्य किसी के पास नहीं।⁷

1. भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर, खंड 1, रत्न 33, पृ. 781 से 905।

2. आचार की चौपट्ट, 2511/419

साधां रै काजे थानक करावै, छ काय रो कर घमसाण।
तिण थानक मांहें रहिवा लागा, त्यां भांगी छै श्री जिन आण॥
बांध्या थानक पकर्या ठिकाणा रे, गृहस्थ सूं मोह बंधाणा।
सुखसीलिया साताकारी रे, डूबा साधु नो भेष धारी॥

3. वही, 117

पुस्तक पातर उपासरादिक, लिवावै ले ले नाम जी।
आछा-भूंडा कही मोल बतावै, ते करै गृहस्थ नो काम जी॥

4. वही, 411

रसगुद्धी ते हिलिया गटके रे, सरस आहार नै कारण भटकै।
भेष लैई आतम नहीं हटकै रे, त्यारै चिंहुं दिस फांदा लटकै॥

5. वही, 416,7

ताक ताक जाये घर ताजे रे, साधु भेष लियो नहीं लाजे।
पर घर जाय पड़गो मांडे रे, नहीं दियां भांडां ज्यूं भांडै॥
दाता रा करै गुणग्रामो रे, पाड़े नहीं दै तिण री मामो।
करै गृहस्थ आगै बातां रे, नहीं बहिरावै त्यांरी करै तां तां॥

6. वही, 1120,21

जीमणवार में बहरण जाए, आ साधां री नहीं रीत जी।
बरज्यो आचारांग वृहत्कल्प में, उत्तराधेन नसीत जी॥
आलस नहीं आरां में जातां, बले बैठी पांत वसेष जी।
सरस आहार ल्यावै भर पातर, त्यां लज्जा छोड़ी ले भेष जी॥

7. वही, 1118

दिख्या ले तो मो आगै लीजे, और कनै दे पाल जी।
कुगुरु एहवो सूंस करावै, ए चोड़ै उंधी चाल जी॥

7. शिष्य-संख्या बढ़ाने को इतने आतुर रहते हैं कि लड़कों को उड़ा लेते हैं और अन्य किसी ग्राम में जाकर उन्हें दीक्षित कर लेते हैं।¹
8. अच्छे भोजन तथा अच्छे वस्त्रों का लालच दिखलाकर नासमझ व्यक्तियों को दीक्षा के लिए तैयार करते रहते हैं।²
9. श्रावकों से रुपया दिलवाकर शिष्य खरीदते हैं।³
10. तत्त्वज्ञान कराये बिना ही अज्ञानी व्यक्तियों को दीक्षित कर लेते हैं।⁴
11. शिष्य-शिष्याओं के लिए परस्पर झगड़ते हैं और एक-दूसरे के शिष्य को फोड़कर अपना बना लेते हैं।⁵
12. दूसरों की निन्दा करने में रत रहते हैं।⁶
13. गृहस्थ के साथ समाचार भेजते हैं तथा कागद लिखने की प्रेरणा देते हैं।⁷

1. आ. चौ. 12153

बले चेला करै ते चोर तणी परे, उग पासीगर ज्यूं ताम जी।
बले उजबक ज्यूं तिणनै उचकाए, ले जाय मूँडै और गाम जी॥

2. वही, 12154

आछो आहार दिखाए तिण नै, कपड़ादिक महीं दिखाय जी।
इत्यादिक लालच लोभ बताए, भोलां नै मूँडै भरमाय जी॥

3. वही, 1122/19121

चेला करण री चलगत उंधी, चाला बोहत चलाय जी।
साथै लियां फिरै गृहस्थ नै, बले रोकड़ दाम दराय जी॥
जो चेलो हूंतो जाणै आपरो, तो उणनै रोकड़ दाम दरावै रे।
पांचमो महाव्रत भांगनै, तो ही साध रो बिड़द धरावै रे॥

4. वही, 6129/19122

धुर सूं कई नव तत्त्व नहीं भण्या, ते तो सांग पहरी मुनिराज बण्या।
ज्यूं नाहर री खाल पहरी स्यालो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो॥
जीवादिक जाणै नहीं तेहनै, पांचों ही महाव्रत उचरावै रे।
साध रो सांग पेहराय नै, भोला लोकां नै पगां लगावै रे॥

5. वही, 19124

बले चेलो करवा कारणे, मांहोमां झगड़ो मांडै रे।
फाड़ा तोड़ो करता लाजै नहीं, इण साध रा भेष नै भांडै रे॥

6. वही, 1117

पर-निंदा में राता-माता, चित्त में नहीं संतोष जी।
वीर कहो दशमां अंग में, तिण वचन में तेरै दोष जी॥

7. वही, 1127,28

गृहस्थ नै साथै कहै संदेसो, तो भेलो हुओ संभोग जी।
तिण नै साधु किम सरधीजे, लागो जोग नै रोग जी॥
समाचार विवरा सुध कहि कहि, सानी कर गृही बुलाय जी।
कागद लिखावै करै आमना, पर हाथे दिए चलाय जी॥

14. मर्यादा से अधिक वस्त्र रखते हैं।¹
15. गृहस्थ के घर उपधि छोड़ जाते हैं। महीनों तक कोई उनका प्रतिलेखन नहीं करता।²
16. अपने पारिवारिक जनों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए धन की व्यवस्था करवाते हैं।³
17. दोषी व्यक्तियों के दोष दबा दिये जाते हैं। उन्हें भय रहता है कि कहीं वह सबकी पोल न खोल दे।⁴
18. समिति, गुप्ति और महाब्रतों में सावधानी का पूर्णतः अभाव है।⁵

1. आ. चौ. 1।41

कपड़ा में लोपी मरजादा, लांबा पेना लगाय जी।
इधको राखै दोयबड़ ओड़ै, बले बोलै मूसावाय जी॥

2. वही, 12।21,24,25

वस्तर पातर पोथी पानादिक, जाए गृहस्थ रै घरे मेल जी।
पछे करे विहार दे घणी भलावण, तिण प्रवचन दीधा ठेल जी॥
बले बिण पडिलेहाँ रहै सदा नित, गृहस्थ रा घर माय जी।
ओ साधपणो रहसी किम त्यांरो, जोबो सूतर रो न्याय जी॥
जो बिण पहिलेहाँ रहै एक दिन, तिण नै, दंड कह्यो मासीक जी।
नसीत रै दूजै उद्देसै, तिहाँ जोय करो तहतीक जी॥

3. वही, 12।26,27,28

मात पितादिक सगा सनेही, त्यांरा घर में देखै खाल जी।
त्यां नै परिग्रहो साध दरावै, आ चोड़ै कुगुरु री चाल जी॥
सानी कर साध दरावै रुपिया, बरत पांचमों भांग जी।
बले पूछ्याँ झटु कपट सूं बोलै, तिण पेहर बिगाड़्यो सांग जी॥
न्यातीला नै दाम दरावै, त्यां रै मोह न मिटियो कोय जी।
बले सार संभार करावै त्यांरी, ते निश्चै साध न होय जी॥

4. वही, 5।18,19,20

कुसीलिया भागल भेला रहै, तिणरो न काढै निकाल।
कूड़ कपट करता फिरै, बले साधां सिर दे आल॥
परसंसा करै आप आपणी, दोषण देवै ढांक।
भागल भागल मिल गया, किण री न राखै सांक॥
जो एकण नै अलगौं करै, तो करै घणां रो उघाड़।
पलमों दूर कियां डैर, ओ खोटो नाणो असार॥

5. वही, 5।21

पांच सुमत तीन गुप्त में, दीसै छिद्र अनेक।
पांच महाब्रत मांहिलो, आखो न दीसै एक॥

19. आचारवान् साधुओं के पास जानेवाले व्यक्तियों को नाना दबाव डालकर रोकते हैं। न मानने पर उनके कुटुम्ब में कलह का बीज बो देते हैं।¹
20. आज के साधु बिना अंकुश के हाथी और बिना लगाम के घोड़े की तरह हो रहे हैं।²

स्वामीजी ने तत्कालीन साधु-समाज में उपर्युक्त जिन दोषों का उल्लेख किया है, उनमें कुछ ऐसे हैं जो उस समय प्रचुरता से व्याप्त थे तथा कुछ ऐसे हैं जो यत्र-तत्र मिलते थे। विभिन्न व्यक्तियों के आचार-शैथिल्य में अन्य अनेक कारण हो सकते हैं, परन्तु एक कारण प्रायः सभी के मूल में समान था। वे लोग बहुधा कहा करते थे कि यह दुष्प्रम काल है, इसमें इतने कठोर नियमों का पालन अशक्य है। इस हीन धारणा ने शिथिलाचार का जो बीज बोया, वही क्रमशः फलित होकर उस समय की धार्मिक स्थिति को प्रभावित करने लगा। राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों से पीड़ित जनमानस ने जब धार्मिकता में भी इतनी गड़बड़ अनुभव की तब स्वभावतः ही पहले वह अश्रद्धा की ओर बढ़ा तथा बाद में धर्म-विरोधी बनने लगा।

तेरापंथ का उद्भव उस स्थिति में निरान्त आवश्यक और समयानुरूप था। स्वामीजी ने जनता के श्रद्धा-पक्ष को सबल बनाया, धर्म के शुद्ध स्वरूप पर आच्छन्न आवरणों को दूर किया और पंचम काल के नाम पर शैथिल्य को प्रश्रय देने वाले साधु-वर्ग से कहा कि यदि तुम साधुत्व के कठोर नियम नहीं पाल सकते तो अपनी उस दुर्बलता को पंचम काल के सिर पर मत मढ़ा। साधुता का ढोंग रचने से तो यह कहीं अधिक अच्छा है कि श्रावक-व्रत धारण किये जाएँ।³ स्वामीजी के उस क्रान्तिकारी और सबल आह्वान की फल-परिणति ही तेरापंथ है।

ग्रह-स्थिति

तेरापंथ के उद्भव में उस समय की विषम धार्मिक स्थितियां जहां प्रत्यक्ष कारण बनी थीं, वहां आकाशीय स्थितियां भी उसमें अदृश्य रूप में सहयोगिनी थीं। यह कोई

1. आ. चौ. 5132, 33

सासू बहू मा बेटियां, बले सगा संबंधियां मांहि।
त्यानै राग नै धेष सिखावता, भेद घलावै ताहि॥
केई आवै सुध साधां कनै, तो मतियां नै कहै आम।
थे बरजी राखो घर रा मिनख नै, जावा मत दूयो ताम॥

2. वही, 1135

बिन अंकुस जिम हाथी चालै, घोड़ो बिगर लगाम जी।
एहवी चाल कुगुर री जाणो, कहिवां नै, साधु नाम जी॥

3. वही, 9119, 20

साधपणों थां सू सज्जतो न दीसै, तो श्रावक नाम धरावो।
समय सारू वरत चोखा पालो, दोषण मतीय लगावो रे॥
आचार थांसू पलतो न दीसै, तो आरा रै माथे मत न्हाखो।
भगवंत रा केड़ायत बाजो, झूठ बोलता क्यूं नहीं सांको रे॥

24 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ प्रथम परिच्छेद
मनोजन्य कल्पना नहीं, अपितु जैन ग्रंथों के पुष्ट आधार से प्रमाणित एक तथ्य है।
तेरापंथ की उत्पत्ति से शताब्दियों पूर्व निर्मित जैन ग्रंथों में की गई भविष्यवाणियां यहां
प्रमाणस्वरूप उद्धृत की जा रही हैं।

कल्पसूत्र में कहा गया है—‘जिस रात्रि में भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया,
उसी रात्रि में क्रूर स्वभाव वाला ‘भस्मराशि’ नामक महाग्रह दो सहस्र वर्षों के लिए उनके
जन्म-नक्षत्र में संक्रान्त हुआ। उसका फल यह होगा कि दो सहस्र वर्ष पर्यन्त भगवान्
महावीर के शासन की उन्नति में बाधाएं उपस्थित होती रहेंगी। जब वह ग्रह भगवान्
के जन्म-नक्षत्र से व्युत्क्रान्त हो जाएगा, तब फिर से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों का उदय और
पूजा-सत्कार होगा।’¹

बगचूलिया में कहा गया है—‘भगवान् महावीर के निर्वाण के 291 वर्ष पश्चात्
संप्रति राजा होगा। उसके पश्चात् 1699 वर्षों तक दुष्ट-जन श्रुत की अवमानना करते
रहेंगे। उसके पश्चात् वीर-निर्वाण के 1990 वर्ष व्यतीत हो जाने पर संघ तथा श्रुत की
जन्मराशि पर धूमकेतु नामक ग्रह लगेगा। वह उस राशि पर 333 वर्ष पर्यन्त रहेगा। उसके
उत्तर जाने पर संघ और श्रुत का उदय होगा।’²

उपर्युक्त उद्घरणों से यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि वीर-निर्वाण के पश्चात् दो
सहस्र वर्ष पर्यन्त ‘भस्मराशि’ महाग्रह का दुष्प्रभाव धर्म-शासन को प्रभावित करता रहा।
और जब उसका समय समाप्त होने को आया तब उसके पर्यवसान से दस वर्ष पूर्व ही
‘धूमकेतु’ नामक ग्रह का दुष्प्रभाव चालू हो गया, जो कि 333 वर्षों तक चलता रहा।
दोनों ग्रहों की समन्वित काल-गणना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वीर-निर्वाण
के पश्चात् 2323 वर्ष तक उन ग्रहों का दुष्प्रभाव रहा। वीर-निर्वाण के 470 वर्ष पश्चात्
विक्रम संवत् का प्रवर्तन हुआ, अतः उसके अनुसार यह समय वि. सं. 1853 का होता है।

1. कल्पसूत्र सू. 128-30 :

‘जं रयणं च णं समणे भगवं महावीरं जाव सव्यदुक्खप्तीणे तं रयणं च णं खुद्वाए ‘भासरासी’ नाम
महागरे दोवाससहस्रद्विः समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खतं संकण्हो।

जप्पभिं च णं से खुद्वाए ‘भासरासी’ महागरे दोवाससहस्रद्विः समणस्स भगवओ महावीरस्स
जम्मनक्खतं संकण्हो, तप्पभिं च णं समणाणं निगंथाणं च नो उदिए उदिए पूआसक्कारे पवत्तइ।

जया णं से खुद्वाए जाव जम्मनक्खताओ विइकंते भविस्सइ तया णं समणाणं निगंथाणं निगंथीणं च
उदिए उदिए पूआसक्कारे भविस्सइ।’

2. बगचूलिया :

‘मोक्खाओ वीर-पहुणो, दुसएहिं य एगनवइ अहिएहिं।
वरिसाइं संपइ निवो, जिण-पडिमा-ठावो होही॥
ततो सोल-सएहिं, नवनवइ पुणो जुएहिं वरिसेहिं।
ते दुड़ा वाणियगा, अवमन्दिस्यति सुयमेय॥
तम्मि गए अग्निदत्ता संघ-सुय-जम्मरासि नक्खते।
अडतीसझो दुड़े, लगिस्सइ धूमकेत गहो॥
तस्स ठिइ तिनि सया, तेतीसा एण रासि वरिसाण।
तम्मि य मीण-पझ्डे, संघस्स सुयस्स उदयोत्थि॥’

‘भस्मराशि’ महाग्रह जब उत्तरने को हुआ उस समय लोंकाशाह ने धर्म-क्रान्ति के बीज बोये। उसके उत्तरते ही वे फलीभूत हुए और वि. सं. 1531 में लोंकाशाह से प्रतिबोधित पैंतालीस व्यक्तियों ने एक साथ दीक्षा ग्रहण की। उन लोगों ने लोंकाशाह के मन्तव्य को बड़ी तीव्रता के साथ प्रसारित किया। ‘लोंकाशाह की हुंडी’ में वर्णित श्रद्धा और आचार का मनन करने से प्रतीत होता है कि लोंकाशाह ने शुद्ध परम्परा की स्थापना की थी। यद्यपि उस समय ‘धूमकेतु’ ग्रह लग चुका था, परन्तु प्रारम्भिक काल होने से उसका बल तीव्र नहीं हो पाया। ज्यों ही उसका बल बढ़ा, त्यों ही उस परम्परा में शिथिलता आ गई और लोंका के अनुयायी अपने क्रान्ति-मार्ग पर पूर्ववत् सुदृढ़ नहीं रह पाये।¹

इसी प्रकार ‘धूमकेतु’ उत्तरने को हुआ, तब वि. सं. 1817 में तेरापंथ का उद्भव हुआ, परन्तु जब तक वह पूर्णतः उस राशि पर से हट नहीं गया तब तक तेरापंथ किसी प्रकार की प्रगति नहीं कर पाया। क्रान्ति के प्रारम्भ में स्वामी भीखणजी आदि तेरह साधु थे, परन्तु थोड़े समय पश्चात् ही वे घटकर केवल आठ रह गये। वि. सं. 1853 से पूर्व एक बार के लिए भी तेरह की वह संख्या फिर से सुस्थिर नहीं हो पाई। धूमकेतु की अवधि वीर-निर्वाण सं. 2323 अर्थात् वि. सं. 1853 में समाप्त हुई। उसी वर्ष मुनि हेमराजजी ने स्वामीजी के पास दीक्षा ग्रहण की और वे तेरहवें साधु हुए। उसके पश्चात् उस संख्या में कभी हास नहीं हुआ।² तेरापंथ के लिए क्रमशः चतुर्मुखी प्रगति का समय वस्तुतः वहीं से प्रारम्भ हुआ समझना चाहिए। इस आधार पर कहा जा सकता है कि उपर्युक्त ग्रहों की स्थिति के साथ श्रमण-संघ के हानि-विकास की जो भविष्यवाणियां प्राचीन ग्रन्थों में की गई थीं, वे यथार्थ प्रमाणित हुईं।

भविष्य के लिए

तेरापंथ के रूप में होने वाली इस धर्मक्रान्ति के मूल में आचार-शिथिलता से लेकर ग्रह-प्रभाव तक के अनेक दृश्य तथा अदृश्य कारणों का सामवायिक प्रभाव कहा जा सकता है, परन्तु उसकी सफलता तभी संभव हुई, जबकि सत्य-निष्ठ और धर्म-प्राण आचार्य भीखणजी जैसे महत्तम व्यक्ति का उसे नेतृत्व प्राप्त हुआ। क्रांति-द्रष्टा आचार्य भीखणजी विघटन और संघटन की सीमाओं के मर्मज्ञ थे। वे जानते थे कि क्रान्ति की सफलता विघटन में नहीं, किन्तु विघटन के पश्चात् किये जाने वाले संघटन में होती है। श्रमण संघ को

1. ल. भि. ज. र., 1121

लूंका नां प्रतिबोधिया, सुध ववहार जणाय।

धूमकेतु बल बाधियां, ते पिण ढीला थाय॥

2. ल. भि. ज. र., 1114

द्वादश मुनि था तेपनै, स्वाम भिक्खू रै जोय।

तब हेम हुआ मुनि तेरमा, पछै न घटियो कोय॥

26 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ प्रथम परिच्छेद
अपनी पूर्वकालीन दुर्बलताओं और उनके प्रतिफलों का इतिहास फिर कभी दुहराना न पड़े, इसलिए उन्होंने एक सबल, निर्दोष और क्रियाशील संगठन की नींव रखी। 'तेरापंथ' नाम उन्हीं विशेषताओं की सम्मिलित क्षमता का प्रतीक है।

स्वामीजी की संगठन-क्षमता की सुदृढ़ नींव पर तेरापंथ का भवन निर्मित हुआ। भवन की विशुद्धता के लिए जिस प्रकार बारी-जालियों से लेकर नालियों तक की सुनियोजित व्यवस्था आवश्यक होती है, उसी प्रकार संगठन की विशुद्धि के लिए भी गुण-स्वीकार और दोष-परिहार की संयोजना आवश्यक होती है। स्वामीजी ने उसके लिए मर्यादाओं का निर्माण किया। उन मर्यादाओं द्वारा संगठन के सदस्यों के कर्तव्य-अकर्तव्य की सीमाएं निर्धारित की गईं। हितकर स्थितियों का संरक्षण और विकास तथा अहितकर स्थितियों के परिष्कार और निरसन की व्यवस्था भी की गई। मर्यादाओं का उल्लंघन न होने पाये, इसलिए प्रत्येक सदस्य के मन में मर्यादा के प्रति बहुमान जागरित किया गया। मर्यादाएं रूढ़ि बनकर कालांतर में कहीं वातावरण में घुटन पैदा न कर दें, इसलिए वैधानिक स्तर पर विचार-प्रेरित उत्क्रान्ति का द्वारा खुला रखा गया। अनियोजित परिवर्तन जितना हानिकर होता है, सुनियोजित परिवर्तन उतना ही लाभकर होता है। तेरापंथ उसका उदाहरण बनकर क्रमशः उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ।

किसी भी नये संगठन के साफल्य और स्थायित्व के विषय में जन-मानस का संशयालु होना स्वाभाविक ही होता है। तेरापंथ के विषय में भी अनेक संशय उत्पन्न हुए। प्रारम्भ में तो लोगों को यह विश्वास ही नहीं हो पाया कि यह संगठन कभी आगे बढ़ भी पायेगा। उस समय इसके सम्मुख बाधाओं पर बाधाएं और चुनौतियों पर चुनौतियां आती रहती थीं। सब परिस्थितियों का सामना करते हुए यह आगे बढ़ा, फला-फूला और जनमानस में स्थान प्राप्त करने में पूर्ण रूप से सफल हुआ। इसके संस्थापक स्वामी भीखण्जी ने स्वयं अपने जीवन में ही वैसी सफलता प्राप्त की, जिसकी पहले कभी उन्होंने कल्पना तक नहीं की थी।¹ इतना होने पर भी एक सन्देह बराबर लोगों के मन में उभरता रहा कि पहले भी शैथिल्य के विरुद्ध अनेक उत्क्रान्तियां हो चुकी हैं, यदि वे स्थायी नहीं बन सकीं, तो यह फिर स्थायी कैसे बन जाएगी? काल-परिपाक से यह संस्था भी क्या शैथिलता के उसी मार्ग पर अग्रसर नहीं हो जाएगी, जिस पर उसकी पूर्ववर्ती सभी संस्थाएं अग्रसर हो चुकी हैं?

एक व्यक्ति ने एक बार यह प्रश्न कुछ प्रकारांतर से स्वयं स्वामी भीखण्जी के सामने ही रख दिया। उसने स्वामीजी से पूछा—‘आपको अपना यह उत्क्रान्ति-मार्ग कितने वर्षों तक चलता लगता है?’

स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा—‘इस मार्ग का अनुगमन करने वाले साधु जब तक श्रद्धा और आचार में सुदृढ़ रहेंगे, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं

1. भिक्खु-दृष्टांत, दृ. 276।

करेंगे और स्थानक खड़े करने के फेर में नहीं पड़ेंगे; तब तक यह मार्ग अच्छी तरह से चलता रहेगा।’¹

स्वामी भीखणजी के उपर्युक्त उत्तर को भविष्य के लिए तेरापंथ को दिया गया एक मार्गदर्शन कहा जा सकता है। तेरापंथ जब तक इस मार्ग पर आरूढ़ रहेगा, तब तक उसकी प्रगति में कोई बाधा नहीं आ सकेगी। उत्क्रान्ति करने वाली पूर्ववर्ती संस्थाओं में जो शिथिलताएं आईं, उनका कारण और निवारण स्वामी भीखणजी अच्छी तरह से जानते थे। उन्होंने इस विषय में लिखा है—‘अपने निमित्त स्थान बनवाने वाले वस्त्र-पात्र आदि की मर्यादा का भी लोप कर देते हैं। वे फिर उग्र विहार छोड़कर किसी सुविधापूर्ण स्थान में पड़े रहना पसंद करने लगते हैं। इस प्रकार वे शिथिल हो जाते हैं। इसके विपरीत जो साधु मर्यादा को बहुमान देकर चलते हैं, वे शिथिल नहीं होते।’² शिथिलता के इन मुख्य कारणों का मूलोच्छेद स्वामीजी ने तेरापंथ की आधारशिला रखने के समय से ही कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने संघ के प्रत्येक सदस्य में मर्यादाओं के प्रति इतना बहुमान जागरित किया कि श्रमण-संघ के किसी भी उत्क्रान्ति-इतिहास में इतने सुदृढ़ संगठन की स्थापना का कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।

वर्तमान में

आद्य आचार्यश्री भीखणजी से लेकर वर्तमान तक तेरापंथ में निम्नोक्त ग्यारह आचार्य हुए हैं :

1. आचार्यश्री भीखणजी
2. आचार्यश्री भारमलजी
3. आचार्यश्री रायचंदजी
4. आचार्यश्री जीतमलजी (जयाचार्य)
5. आचार्यश्री मधराजजी
6. आचार्यश्री माणकलालजी
7. आचार्यश्री डालचन्दजी
8. आचार्यश्री कालूरामजी
9. आचार्यश्री तुलसीजी (स्वयं आचार्यपद से मुक्त होकर दशम आचार्य की नियुक्ति की)
10. आचार्यश्री महाप्रज्ञजी
11. आचार्यश्री महाश्रमणजी (वर्तमान आचार्य)

1. भिक्खु-दृष्टांत, दृ. 307।

2. वही, दृ. 307।

प्रत्येक आचार्य ने अपने शासन-काल में तेरापंथ को क्रमशः विकसित किया है। वर्तमान में आचार्यश्री महाश्रमणजी भी उसके चंदुंमुखी विकास में लगे हुए हैं। तेरापंथ का इतिहास आद्योपांत प्रगति, संघर्ष-विजय और मर्यादानुवर्तिता का इतिहास रहा है। तेरापंथ को आत्मानुशासन का एक अलभ्य उदाहरण कहा जा सकता है। आचार्य का अनुशासन केवल साक्षीमात्र या मार्गदर्शक मात्र होता है।

प्रारम्भ से आज तेरापंथ द्विशताब्दी (वि. सं. 2017, आषाढ़ पूर्णिमा) तक इस संघ में दीक्षित होने वाले व्यक्तियों की संख्या 1973 है; जिसमें 667 साधु तथा 1306 साधियां हैं। विद्यमान साधु-साधियों की संख्या 655 है, जिसमें 166 साधु और 489 साधियां हैं।¹ लाखों की संख्या में श्रावक-श्राविकाएं हैं।

एक आचार, एक विचार और एक आचार्य की अभिनव रत्नत्रयी ने तेरापंथ को जो स्थैर्य प्रदान किया है, वह तेरापंथ के लिए ही नहीं, अपितु समग्र जैन समाज के लिए गौरवास्पद है। इसी क्रम के आधार पर तेरापंथ में 'एक के लिए सब और सब के लिए एक' का आदर्श कार्यरूप में परिणत हुआ है। तेरापंथ का भूतकाल गौरवशाली और भविष्यकाल नवोन्मेषों की कल्पना-स्थली रहा है। उसका हर वर्तमान काल अपनी प्रगतिशीलता के आधार पर नवोन्मेष की कल्पनाओं को वास्तविकता का रूप देता हुआ आगे बढ़ता रहा है।

1. उपर्युक्त आंकड़े वि. सं. 2017 आषाढ़ पूर्णिमा तक के हैं। वर्तमान में वि. सं. 2070 माघ शुक्ला 7 (6 फरवरी, 2014) तक परिवर्तित होकर वे अग्रोक्त प्रकार से हो गये हैं :

दीक्षित व्यक्तियों की समग्र संख्या 2690 है,

जिसमें 859 साधु और 1831 साधियां हैं।

विद्यमान साधु-साधियों की समग्र संख्या 725 है।

जिसमें 166 साधु और 559 साधियां हैं।

गृही-जीवन

विरल मनुष्यों में से एक

आचार्यश्री भीखणजी तेरापंथ के प्रथम आचार्य थे। वे स्वामीजी, आचार्य भिक्षु तथा भिक्खु नाम से भी प्रसिद्ध थे। भक्तजन आदरवश बहुधा उन्हें केवल 'स्वामीजी' ही कहा करते थे। तेरापंथ-संघ की स्थापना करके उस समय जैन संस्कृति के अनुकूल, शास्त्रानुमोदित शुद्ध आचार और विचार के द्वार खोल देने का श्रेय उनको ही प्राप्त है। वे एक निर्भीक और प्रत्युत्पन्नमति आचार्य थे। उन्होंने अपनी जीवन-तंत्री पर सदा सत्य का आलाप भरा। **सच्चवंसि धितिं कुव्वह¹** अपनी बुद्धि को सत्य में लगाओ—शास्त्र की इस प्रेरक वाणी को उन्होंने पूर्णतः हृदयंगम कर लिया था। सत्य के लिए प्राण भी देने पड़ते, तो वे उन्हें भी देने का निर्णय कर चुके थे। उनके मुख से निकले हुए ये शब्द—आत्मा रा कारज सारसां, मर पूरा देसां²—जितने मार्मिक और दृढ़ता-सूचक हैं, उससे कहीं अधिक सत्य के लिए आत्म-बलिदान की भावना के द्योतक हैं।

सत्य-प्रेमी प्रायः सभी होते हैं, परन्तु सत्य के लिए सुख, प्रतिष्ठा, पद और चिरपालित परम्पराओं को ठोकर मार देने वाले विरल ही होते हैं। स्वामीजी उन विरल मनुष्यों में से ही एक थे। सत्य को स्वीकार करने में उन्होंने कभी ढील नहीं की और असत्य से कभी समझौता नहीं किया। वे सत्य की फुनगियों पर मंडराने वाले भ्रमर नहीं थे, किन्तु उसकी जड़ को अपने में जमा लेने वाले उर्वर भूमितल थे। सत्य के प्रति जितनी निष्ठा उनके हृदय में विद्यमान थी, असत्य के प्रति उतनी ही घृणा। सत्य के वे अद्वितीय नम्र भक्त थे, तो असत्य के उतने ही कठोर आलोचक।

वास्तविकता के समुद्र में गहराई तक पैठ कर मुक्ता प्राप्त करने वाले वे एक सूक्ष्म-चिन्तक व्यक्ति थे। जनापवाद के शैवाल से घबरा कर किनारे पर बैठे रहना और कंकर बीनते रहना उन्होंने कभी पसन्द नहीं किया। साधारण जन जहां बाह्य दृष्टि से देखता है, वहां उन्होंने अन्तर्दृष्टि से देखने पर बल दिया। बाह्य दृष्टि स्थूल होती है, अतः उसकी पहुंच सूक्ष्म तक नहीं हो सकती। सत्य की सूक्ष्मता तक पहुंचने के लिए दृष्टि की

1. आयारो, 3/40।

2. भिक्खु दृष्टांत, दृ. 276।

30 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
सूक्ष्मता नितांत अपेक्षित है। स्थूल दृष्टि सदा ही तत्त्व से दूर रही है। तत्त्व-जिज्ञासु के लिए उनका यह मार्गदर्शन बहुत ही उपयोगी रहा।

जन्मभूमि

स्वामी भीखण्डी की जन्मभूमि होने का गौरव राजस्थान के कंटालिया ग्राम को प्राप्त है। वह उस समय जोधपुर राज्य के अन्तर्गत था। जोधपुर राज्य, जिसे अब जोधपुर संभाग कहा जाता है, 'मारवाड़' नाम से अधिक प्रसिद्ध रहा है। उस समय वहां राठौड़ वंशी महाराजा अभयसिंहजी राज्य करते थे। वे वि. सं. 1781 श्रावण मास में पदासीन हुए थे।¹ मारवाड़ का दक्षिणी सीमांत 'कांठा' कहलाता है। कंटालिया 'कांठा क्षेत्र' का ही एक अंग है। वहां के शासक ठाकुर बखतसिंहजी थे। वे भाटी राजपूत थे और अपने पूर्वज 'लाखाजी' के नाम पर 'लाखावत' कहे जाते थे। कंटालिया उस समय काफी बड़ा ग्राम था। ओसवालों के वहां बहुत घर थे।

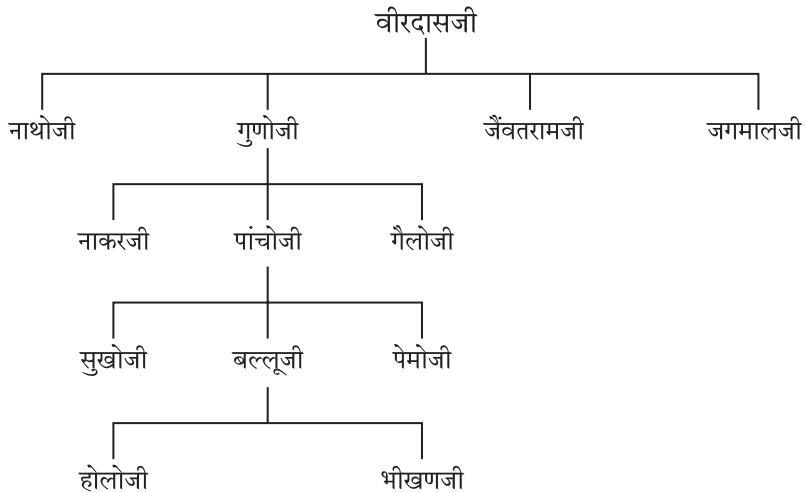
वंशावली

आचार्य भिक्षु 'बड़े साजन' बीसा ओसवाल थे। उनका गोत्र संकलेचा था। इस गोत्र का आदि स्रोत संकवाली ग्राम से संबद्ध है। संकवाली (शिवगंज से लगभग 13 कि. मी. दूर) चौहान राजपूतों के आधिपत्य में था। वि. सं. 713 माघ शुक्ला पंचमी के दिन गुरांसा महाजी रंकजी ने संकवाली के अधिनायक सहायदेव सूर्यदेवजी को प्रतिबोध देकर जैन बनाया। संकवाली के जिन चौहान राजपूतों ने उस समय जैन धर्म स्वीकार किया, वे संकलेचा ओसवाल कहलाये।²

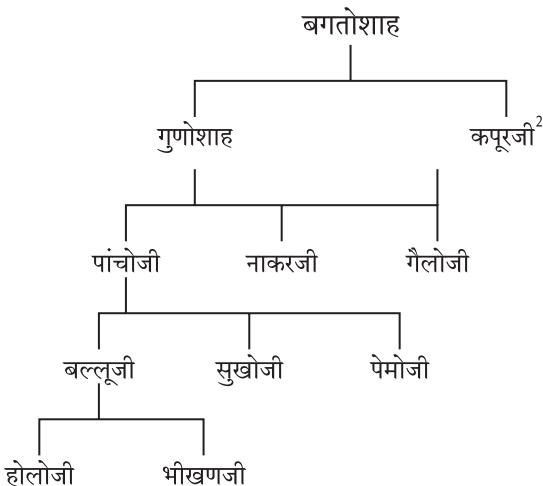
कालांतर में पारिवारिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर संकलेचा परिवार विभिन्न स्थानों में फैलता गया। बहुत-से परिवार मेवा नगर में जा बसे। उक्त नगर जसोल से 8 कि. मी. की दूरी पर अवस्थित था। अब वह भग्नावशेष मात्र है। सं. 1010 में धन्नाशाह संकलेचा के चार पुत्रों ने मेवा नगर को छोड़ दिया। उनमें से ज्येष्ठ पुत्र जसाशाह पचपदरा में और कनिष्ठ पुत्र राणाशाह कंटालिया में आकर बसे।³

स्वामीजी के निकट-पूर्वजों में वीरदासजी बहुत प्रभावशाली व्यक्ति हुए थे। अपने ग्राम में तो वे मुख्य माने ही जाते थे, आसपास के ग्रामों में भी उनका अच्छा प्रभाव था। वीरदासजी से लेकर स्वामीजी तक की वंशावली इस प्रकार है :

1. राजपूतों का इतिहास (चौथी जिल्द, दूसरा भाग), पु. 605।
2. सिरियारी उपाश्रय के गुरांसा स्वामी भीखण्डी के पारिवारिक कुलगुरु थे। उन्हें महात्मा या मध्येरण भी कहा जाता रहा है। स्वामीजी के समय उस उपाश्रय में गुरांसा रूपचन्दजी थे। उनके वंशक्रम से वर्तमान में वहां व्योवृद्ध गुरांसा शोषमलजी हैं। उनके पास वंशावली की जो हस्तलिखित बही है, उसी के आधार पर उपर्युक्त विवरण दिया गया है।
3. राजनगर-निवासी गुरांसा दाखूलालजी की बही से प्राप्त।



उक्त वंशावली सिरियारी के गुरांसा शेषमलजी की बही से उद्भूत की गई है। राजनगर के गुरांसा दाखूलालजी की बही में उक्त वंशावली कुछ भिन्नता लिए हुए है। उसमें वीरदासजी का नाम नहीं है। उनके स्थान पर बगतोशाह का नाम है। अन्य पीढ़ियों के नाम, संख्या तथा पौर्वार्पण में भी क्वचित् अन्तर है।¹ उक्त वंशावली अग्रोक्त प्रकार से है :



1. वंशावली के नामों की भिन्नता में कारणभूत निम्नोक्त 3 संभावनाएं हो सकती हैं—

- (1) वीरदास और बगतोशाह—ये एक ही व्यक्ति के दो नाम हों। (2) ये दोनों सगे भाई हों। (3) कुलगुरु की संतानों द्वारा जजमानों का बंटवारा करते समय बही की प्रतिलिपि करने वालों की असावधानी।
- 2. (क) मुनि कालूजी (बड़ा) द्वारा लिखित पत्र के बोल 21 में लिखा है—‘कपूरजी ढूँढ़िया में दीख्या लीधी। बड़ा तपस्वी मोकली तपस्या कीधी। छेहड़ै 45 की तपस्या में 13 दिन रो संथारो आयो।’
- (ख) गुरांसा दाखूलालजी की बही में 43 दिन की तपस्या में 13 दिन के संथरे का उल्लेख है।

जन्म

स्वामी भीखण्जी का जन्म वि. सं. 1783¹ आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी (1 जुलाई, 1726) मंगलवार को हुआ।² जब वे गर्भस्थ हुए, माता दीपांजी ने सिंह का स्वप्न देखा। जैन परम्परा में इस स्वप्न को बहुत महत्वपूर्ण माना गया है और 14 महास्वप्नों में गिना गया है। कहा जाता है कि गर्भधारण-काल में माता द्वारा देखा गया ऐसा स्वप्न किसी महापुरुष के अवतरण का सूचक होता है।

स्वामीजी के पिता का नाम शाह बल्लूजी था। उन्होंने दो विवाह किये थे। प्रथम पत्नी का नाम लाछड़े था। उनके पुत्र होलोजी थे। प्रथम पत्नी के दिवंगत होने पर उन्होंने दूसरा विवाह दीपांजी से किया। उनके पुत्र भीखण्जी थे।³ पति-पत्नी दोनों ही अत्यन्त भद्र और धार्मिक प्रकृति के थे। ऐसे माता-पिता की संतान धर्म-निष्ठ तथा सत्यशोधक हो, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

अध्ययन

स्वामीजी बाल्यकाल से ही अत्यन्त निपुण और कुशाग्र-बुद्धि थे। उस समय की परम्परा में विद्याध्ययन की कोई विशेष व्यवस्था नहीं थी। अधिकांश बालक अक्षरज्ञान से वंचित ही रहा करते थे। वणिक जाति के बालक स्वल्पाधिक अक्षर-ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लेते थे। स्वामीजी ने भी तत्कालीन पद्धति के अनुसार गुरु के पास साधारण अध्ययन किया। महाजनी हिसाब में वे शीघ्र ही दक्ष हो गये। व्यवहार-बुद्धि भी उनकी बड़ी सजग थी। एक बार बता देने के पश्चात् वे अपना पाठ बहुत शीघ्र याद कर लेते थे। गुरु को उनके लिए विशेष परिश्रम करने की कभी आवश्यकता नहीं पड़ी।

1. विक्रम संवत् पंचांगानुसार चैत्र शुक्ला 1 से बदलता है, परन्तु जैन परम्परा में तथा तत्कालीन मेवाड़ आदि अनेक राज्यों में वह श्रावण कृष्णा 1 से बदलता रहा है। प्रथम प्रकार को 'चैत्रादि' तथा द्वितीय को 'श्रावणादि' कहा जाता है। जयाचार्य विरचित 'लघु भिक्षु जसरसायण' 2/4 में, मुनि वेणीरामजी विरचित 'भिक्षु-चरित्र' 1/5 में तथा मुनि हेमराजजी विरचित 'भिक्षु-चरित्र' 1/2 में स्वामीजी का जन्मकाल सं. 1782 लिखा है, वह 'श्रावणादि' क्रम से समझना चाहिए। भिक्षु जसरसायण 1/6 में स्वयं जयाचार्य ने उसे चैत्रादि क्रम से सं. 1783 कहा है। वे लिखते हैं—
‘...संवत् सतरै सो तियांसियै, पंचांग लेखै ताहि।’
2. स्वामीजी का जन्म मंगलवार को हुआ। वार का यह उल्लेख केवल मुनि वेणीरामजी रचित भिक्षु-चरित्र 1/5 में मिलता है, अन्यत्र कहीं नहीं। वे कहते हैं—
‘...वार मंगल तीखी तिथि तेरस सुणी, जनम कल्याणज थाय॥’
इसके विपरीत जगदीशसिंह गहलोत द्वारा संकलित पुस्तक 'ऐतिहासिक तिथि पत्रक' के अनुसार उस दिन ईस्वी सन् 1 जुलाई, 1726 शुक्रवार होता है।
3. मुनि कालूजी (बड़ा) द्वारा लिखित पत्र के 17वें बोल में लिखा है—‘भीखण्जी स्वामी रा पिता शाह बल्लूजी दोय परण्या। पहेली रा होलोजी। फेर दूजी बार परण्या त्यां दीपांजी रा भीखण्जी। तिण स्यूं होलोजी न्यारा—जुदा रहता।’

स्वाभिमान

बाल्यावस्था में स्वामीजी को जहां अन्य अनेक गुणों की अतिशयता प्राप्त थी, वहां स्वाभिमान भी उसी अनुपात से प्राप्त था। अपमानजनक स्थिति उन्हें कहीं भी सह्य नहीं हुई। उनके एक पारिवारिक चाचा बहुधा उनके सिर पर प्यार से चपत लगा दिया करते थे। कई बार धीमे तो कई बार जोर से भी। उक्त उपहास के साथ चाचा कहते—‘तुम्हारी खोपड़ी तो बहुत पक्की है।’ चाचा का वह व्यवहार उन्होंने अनेक महीनों तक सहा। कई बार उस पर अपनी अप्रसन्नता भी व्यक्त की, पर चाचा नहीं माने। वे उन्हें चिढ़ाने के लिए पहले से भी अधिक चपत लगाने लगे। आखिर चाचा का वह स्वभाव उनके स्वाभिमान को एक चुनौती हो गया। उन्होंने उसे छुड़ाने के लिए अनेक उपाय किये, पर सफल नहीं हुए। मृदु उपाय काम नहीं कर सके, तब उन्होंने निश्चय किया कि अब कठोर उपाय से ही काम लेना होगा।

राजस्थान के तत्कालीन बालक जब कुछ बड़े हो जाते थे, तब अपने सिर पर प्रायः पगड़ी ही पहना करते थे। भीखणजी भी पगड़ी पहनते थे। एक दिन वे अपनी पगड़ी के नीचे नुकीले कांटे छिपाकर चाचा के पास आये। चाचा ने अपने स्वभावानुसार उनके सिर पर ज्यों ही कसकर हाथ मारा त्यों ही हथेली में कांटे चुभ गये। चाचा कराह उठे और वे भाग गये। उनके स्वाभिमान ने चाचा का वह स्वभाव सदा के लिए छुड़ा दिया।

विवाह

विवाह के समय भीखणजी कितने वर्षों के थे, इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। तत्कालीन सामाजिक प्रथा को देखते हुए कहा जा सकता है कि वे बाल्यावस्था में ही विवाहित कर दिये गये।¹ उनकी पत्नी का नाम सुगाणी बाई था।² वह बगड़ी के बांठिया परिवार की पुत्री थी।³ बाल्यावस्था से ही वैवाहिक बंधन में डाल देने पर भी उनका जीवन वैराग्य-भावना से ओतप्रोत रहा। उनका गृहस्थ-जीवन बहुत ही संयमित

1. यति हुलासमलजी ने (शा. प्र. 2-19 में) कहा है—

‘भोग समर्थ थयां पिता, परणावी वर नार।

काल कितोक बीतां पछै, शील आदरियो सार।’

उक्त कथन से झालकता है कि वे युवावस्था में विवाहित हुए थे, परन्तु यह अभिमत युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि छब्बीसवें वर्ष में वे दीक्षित हुए। उसके पूर्व उनके एक पुत्री हुई थी। माता दीपांजी पर भार न रहे—इसलिए दीक्षा से पूर्व अवश्य ही उन्होंने उसका विवाह कर दिया होगा। रजोदर्शन से पूर्व ही कन्या-विवाह की प्रथा थी, अतः विवाह के समय वह 9-10 वर्ष की रही होगी। इसका तात्पर्य हुआ कि पुत्री के जन्म-काल में स्वामीजी लगभग 16 वर्ष के रहे होंगे और अपने विवाह के समय 13-14 वर्ष के।

2. मुनि कालूजी (बड़ा) द्वारा लिखित पत्र के 20वें बोल में लिखा है—‘भीखणजी स्वामी री अस्त्री रो नाम सुगाणी बाई।’

3. गुरांसा शेषमलजी तथा दाखूलालजी की बही से प्राप्त।

34 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
और शान्तिमय था। उनकी पत्नी उनके अनुरूप ही धार्मिक तथा विनयशील थी। उनके एक पुत्री हुई। वह निंबावास के बाफणा परिवार में व्याही गई।

निपुण गृहस्थ

शाह बल्लजी के दिवंगत हो जाने के पश्चात् स्वामीजी के बड़े भाई होलोजी पुथक् रहने लगे और स्वामीजी माता के साथ। वे गृह-कार्य तथा व्यापार में बहुत शीघ्र भाग लेने लगे थे। उनमें गृह-भार को बहन करने की सहज निपुणता थी। अपने ग्राम में वे सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति गिने जाते थे, अतः पंचायत तथा व्यक्तिगत परामर्श में भी उनकी बात का बहुत मूल्य समझा जाता था। असाधारण बुद्धि और दूरदर्शिता ने उनको हर स्थान पर महत्वशील व्यक्ति बना दिया।

समय की सूझ

गृहस्थावस्था से ही स्वामीजी की सूझ-बूझ अद्वितीय थी। मनुष्य की प्रकृति से वे पूर्ण अभिज्ञ थे। बिंगड़ते कार्य को बना लेना और उखड़ते व्यक्ति को जमा लेना उन्हें अतिशयता से आता था। किसी के डूबते साहस की नौका को वे अपने बुद्धि-बल से अत्यन्त कुशलतापूर्वक पार लगा देते थे। एक बार वे किसी कार्यवश ग्रामान्तर गये। एक राजपूत को साथ ले गये। कार्य सम्पन्न कर जब दोनों व्यक्ति वापस आने लगे, तब मार्ग में ही राजपूत के पैर लड़खड़ाने लग गए। वे नसवार सूंधने के व्यसनी थे और वह समाप्त हो चुकी थी। उसके बिना चल पाना उनके लिए उतना ही असम्भव था जितना कि पैरों के बिना।

ठाकुर ने कहा—‘भीखणजी! नसवार सूंधे बिना मेरे से तो अब आगे चल पाना कठिन हो गया है।’

स्वामीजी चाहते थे कि सूर्यास्त से पूर्व ही घर पहुंच जायें। रात्रि हो जाने पर मार्ग में चोर तथा लुटेरों का भय रहता था। साथी को जंगल में अकेला छोड़ कर जाना भी उचित नहीं था। उन्होंने कहा—‘ठाकुर साहब! आप धीरे-धीरे चलिये, मैं आस-पास के खेतों में किसी के पास नसवार हो तो खोजकर लाता हूँ।’

ठाकुर थोड़े आश्वस्त हुए। वे धीरे-धीरे आगे चल पड़े। भीखणजी ने दो-चार खेतों में जाकर नसवार की खोज की, पर वह कहीं मिली नहीं। उन्होंने तब एक कंडे की बुकनी बनाई और उसकी पुड़िया ठाकुर के हाथ में थमाते हुए बोले—‘ठाकुर साहब! कोई बहुत अच्छी तो नहीं है, ऐसी साधारण ही मिली है।’

ठाकुर तो जम्हाइयां ले रहे थे। पुड़िया को देखते ही उनका मन हरा हो गया। उन्होंने पुड़िया को खोला और चिमटी भरकर सूंधने का आनन्द लेते हुए बोले—‘भीखणजी! ठीक ही है। काम चल जायेगा।’

नसवार न होते हुए भी नसवार के विश्वास ने ठाकुर के पैरों में गति भर दी। वे सूर्यास्त से पूर्व ही अपने घर पहुंच गए।¹

1. भिक्षु-दृष्टांत, दृ. 111।

सुधारवादी

स्वामीजी सत्य-सेवी थे, इसलिए जन-साधारण को भटका देने वाले दम्भों और प्राचीनता का संबल पाकर चलने वाली रूढ़ियों से उनका आरम्भ से ही विरोध रहा। समय-समय पर उन्होंने उस विरोध को प्रकट किया और समाज को सजग करने का प्रयास भी। यद्यपि वे प्रयास कोई व्यवस्थित समाज-सुधार के निमित्त नहीं किये गए थे, फिर भी उनके रूप में हम स्वामीजी के जीवन में सुधारवादिता के उन बीजों को देख सकते हैं जो आगे चलकर विकसित हुए थे। दम्भों और रूढ़ियों के प्रति उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने वाली अनेक घटनाएं हैं।

दम्भ का विरोध

एक बार कंटालिया में किसी के घर में चोरी हो गई। पास के ही बोरनदी ग्राम में एक अन्धा कुम्हार रहता था। वह कहा करता था कि उसके मुंह से देवता बोला करते हैं। लोगों को उसकी बात पर विश्वास भी था, अतः चोर का पता लगाने के लिए उसे बुलाया गया। दम्भी कुम्हार दिन में भीखणजी के पास आया और इधर-उधर की बातें करने के पश्चात् चोरी का प्रसंग छेड़ते हुए पूछने लगा—‘आपका सन्देह किस पर है?’

भीखणजी उसकी ठग-विद्या को झट ताड़ गये। वे बोले—‘मेरा सन्देह तो मजने पर है।’

रात को जब चोरी वाले घर पर लोग एकत्रित हुए और कुम्हार को रहस्योदयाटन के लिए कहा गया, तो उसने अपने पूर्व निश्चित लहजे से बोलते हुए कहा—‘डाल दे रे, डाल दे, गहने डाल दे’ परन्तु इस तरह कहने से कौन गहने डालता? लोगों ने चोर का नाम बताने के लिए प्रार्थना की।

कुम्हार ने कड़कते हुए कहा—‘चोर ‘मजना’ है, उसी ने गहने चुराये हैं।’

पास मैं बैठे फकीर ने कहा—‘क्या मूर्खता की बात करते हो? ‘मजना’ क्या गहने चुरायेगा? यह तो मेरे बकरे का नाम है।’ यह सुनकर सभी लोग हँस पड़े।

अवसर देखकर भीखणजी ने दिन में कुम्हार के साथ हुई बातचीत सुनाई और कहा—‘तुम लोगों की बुद्धि कहां गई है, जो आंखों वाले से चुराये गए माल का पता इस अधे आदमी से लगावाना चाहते हो?’ इस प्रकार कुम्हार की पोल खोलकर उन्होंने सारे गांव को उसके दम्भ से बचा लिया।¹

ओ कुण कालो जी काबरो

जमाई जब ससुराल जाता है, तब उसे गालियां गाई जाती हैं। राजस्थान में आमतौर से यह रूढ़ि प्रचलित है। एक बार जब भीखणजी ससुराल गये और वहां भोजन करने बैठे, तो स्त्रियां गालियां गाने लगीं—‘ओ कुण कालो जी काबरो...।’ भीखणजी को वह

1. भिक्खु-दृष्टांत, दृ. 106।

36 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
रुद्धि बहुत बुरी लगी। अपने लंगड़े साले की ओर संकेत करते हुए उन्होंने स्त्रियों से कहा—‘अंधे, लूले तथा लंगड़े को तो आप अच्छा बताती हैं और अच्छे को बुरा। मैं इसे पसन्द नहीं करता।’ ऐसा कहकर भोजन को बीच में ही छोड़कर वे खड़े हो गये। उनके उस विरोध का तत्काल प्रभाव हुआ और आगे सदा के लिए गालियां बन्द हो गईं।¹

गाली गाने की कुप्रथा

स्वामीजी अपने आचार्य-काल में भी गाली गाने की कुप्रथा का विरोध करते रहे। उन्होंने उक्त प्रथा को स्त्री-जाति की लज्जाशीलता के बिलकुल विपरीत बतलाया। उनकी दृष्टि में यह प्रथा स्त्री-जाति की वैचारिक नमनता है, जो कि शारीरिक नमनता से भी अधिक भयंकर होती है। उन्होंने कहा है :

आ तो नारी लाज करै घणी, न दिखावै मुख नै आंख।
पिण गाल्यां गावण नै उसरी, जाणौ कपड़ा दीधा न्हाख॥²

शीतला आदि का विरोध

स्वामीजी शीतला, भैरूं आदि देवों की पूजा को भी एक अज्ञानमय परम्परा ही मानते थे। अनेक बार वे अपने व्याख्यानों में इनका विरोध करते।³ वे गृहस्थों में व्याप्त इस अज्ञानमूलक परम्परा को छुड़ा देना चाहते थे। आचार्य-काल की उनकी उस सुधारवादी भावना को गृहस्थ-काल की सुधारवादी भावना का ही एक अधिक परिष्कृत रूप कहा जा सकता है।

धर्म-जिज्ञासा

स्वामीजी के माता-पिता गच्छवासी (यति) सम्प्रदाय के अनुयायी थे, अतः उनका सर्वप्रथम धार्मिक संपर्क उन्हीं से प्रारम्भ हुआ, किन्तु वहां के वातावरण में उनके धर्म-जिज्ञासु अन्तःकरण को तृप्ति नहीं मिल सकी। कालान्तर में वे पोतियाबंध संप्रदाय⁴ के व्यक्तियों के पास व्याख्यान आदि सुनने के लिए जाने लगे। स्वामीजी के चाचा पेमोजी पोतियाबंध-संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। उनके कारण वहां के सम्पर्क में काफी गहराई तो आई, परन्तु वहां भी स्वामीजी की भक्ति चिरस्थायी नहीं बन सकी। आखिर उनका सम्पर्क स्थानकवासी सम्प्रदाय की एक शाखा के आचार्य रुघनाथजी से हुआ और वे उनके अनुयायी बन गये।

विभिन्न संप्रदायों के संसर्ग में आने से उन्हें धर्म-विषयक अनेक प्रकार के विचारों से अवगत होने का अवसर मिला। उनकी तात्त्विक बुद्धि उन विभिन्नताओं के स्पर्श से

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 105।

2. भिक्षु-ग्रंथ-रत्नाकर (द्वितीय खंड), चेड़ा कोणिक री सिंध, 18/16।

3. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 279।

4. इस संप्रदाय के विषय में देखें—भि.ग्रं.र. (प्रथम खंड), पृ. 319 से 333, पोतियाबंध की चौपट्ठी तथा लेखक की पुस्तक ‘श्रमण संस्कृति के अंचल में’ (द्वितीय संस्करण), पृ. 55 से 58।

और प्रखर हो उठी। उससे एक लाभ यह भी हुआ कि सांसारिक जीवन के प्रति उनकी उदासीनता उत्तरोत्तर बढ़ती गई।

उत्कट विराग

धर्म-साधना और भोग-साधना का साथ नहीं हो सकता। दोनों में से किसी एक को ही अपनाया जा सकता है। इस निष्कर्ष पर पहुंच कर भीखण्डी ने अपने-आपको धर्म-साधना के लिए ही समर्पित करने का निश्चय किया। उनकी अन्तर्धर्वनि ने उन्हें बताया कि भोग-साधना में अपने को खपा देना इस अमूल्य शरीर का द्रुष्टव्योग है। उन्होंने प्राप्त भोगों को स्वाधीनतापूर्वक छोड़ कर दीक्षित होने का निर्णय किया। उनके साथ उनकी पत्नी ने भी उसी मार्ग का अवलम्बन करने का विचार किया। संयम की पूर्व-साधना के रूप में वे दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करने लगे।

पूर्ण युवावस्था में ब्रह्मचर्य पालन करने का संकल्प लेकर दोनों ने अन्तःकरण से उठी हुई धर्म-भावना को मूर्तिरूप देना प्रारंभ कर दिया। दोनों ने अभिग्रह किया कि जब तक दीक्षा की भावना कार्यरूप में परिणत नहीं हो जायेगी, तब तक वे एकान्तर उपवास किया करेंगे। उनके गुही-जीवन का वह समय उत्कट विराग-भावना के साथ व्यतीत होने लगा।

पत्नी-वियोग

अभिग्रह के कुछ समय पश्चात् ही भीखण्डी की पत्नी का देहान्त हो गया। उस अचानक मृत्यु ने उनकी भावना को एक साथ झ़कझोर डाला। वे सोचने लगे—‘काल का कोई भरोसा नहीं, अतः शुभ कार्य में समय मात्र का प्रमाद भी भयंकर भूल है। आगम कहते हैं कि अपने संकल्पित काम को भविष्य के ऊपर तीन प्रकार के व्यक्ति ही छोड़ सकते हैं—एक तो वे, जिनकी मृत्यु के साथ मित्रता है। दूसरे वे, जो मृत्यु के सामने से भाग जाने का सामर्थ्य रखते हैं और तीसरे वे, जो यह समझते हैं कि उनकी मृत्यु कभी होगी ही नहीं।’¹ भीखण्डी रात-दिन इन्हीं विचारों में लीन रहने लगे। वे अपनी इच्छा को बहुत शीघ्रता से फलीभूत कर लेना चाहते थे, अतः स्वभावतः ही उनकी आकृति पर गाम्भीर्य रहने लगा।

लोगों ने उस गाम्भीर्य को पत्नी-वियोग से उत्पन्न औदासीन्य समझा। उन्होंने उनकी भावना को अपनी भावना के अनुरूप ही आंका और सान्त्वना के साथ-साथ दूसरा विवाह कर लेने के लिए परामर्श देने लगे, परन्तु भीखण्डी ने उसे स्पष्ट अस्वीकार कर दिया। अच्छे सम्बन्ध मिलते हुए भी उन्होंने सबको विरक्तभाव से ढुकरा दिया और यावज्जीवन ब्रह्मचर्य पालने की प्रतिज्ञा कर ली।

आत्म-परीक्षा

संयम आत्म-विजयी के लिए जितना सुखदायक है, कायर के लिए उतना ही अधिक दुःखदायक। मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण स्थापित किये बिना इस ओर पैर बढ़ा

1. उत्त.. 14/27-'जस्सुथि मच्चणा सक्खं, जस्सु वथि पलायणं।

जो जाणे न मरिस्यामि, सो ह कंखे सए सिया॥'

38 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
देना, खतरों से भरा हुआ है। इसीलिए भीखण्डजी ने दीक्षा से पूर्व अपने-आपको पूर्णरूप से कसौटी पर कसकर देख लिया था कि वे पग-पग पर आने वाले परीषहों का दृढ़ता से सामना कर सकते हैं या नहीं। उस परीक्षण-काल में एक बार तो उन्होंने कैर का ओसाया हुआ पानी भी पीकर देखा था। उस पानी को उन्होंने एक तांबे के लोटे में भरकर 'बंडेल' (एक-दूसरे पर रखे बर्टनों की श्रेणी) में रख दिया और काफी देर तक पड़े रहने के पश्चात् पीया। अति नीरस उस जल को पीकर वे यह देख लेना चाहते थे कि साधु बनने पर अचित्त जल पीने के नियम को वे निभा सकेंगे या नहीं? अपने दीक्षित-जीवन के उत्तरार्द्ध सं. 1851 में उक्त घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने मुनि हेमराजजी से, जबकि वे गृहस्थ थे, कहा था—‘साधु होने के पश्चात् आज तक वैसा नीरस जल पीने का काम नहीं पड़ा।’¹ उन्होंने आत्म-परीक्षण के रूप में इस प्रकार के अनेक प्रयोग करके अपने-आपको पूर्ण रूप से तोलकर देख लिया था।

आज्ञा की मांग

अपनी क्षमता का पूर्ण विश्वास हो जाने के पश्चात् भीखण्डजी ने अपना विचार माता दीपांबाई के सामने रखा और दीक्षा के लिए आज्ञा मांगी। वे अपनी माता के अत्यन्त प्रिय और विनीत पुत्र थे। शाह बल्लूजी का देहांत होने के पश्चात् वे उनकी हर आवश्यकता का बड़ा ध्यान रखा करते थे। ऐसी स्थिति में पुत्र के मुख से दीक्षा लेने की बात सुनकर दीपांबाई को बड़ा धक्का लगा। उन्होंने उनसे बड़ी आशाएं बांध रखी थीं। वे बहुधा कहा करती थीं—‘मेरा बेटा बड़ा होनहार है। समय पाकर यह कोई महान् यशस्वी व्यक्ति बनेगा।’ वृद्धावस्था के अपने एकमात्र सहारे को छोड़ देना उन्हें कभी अभीष्ट नहीं था, अतः दीक्षा के लिए आज्ञा देने का उन्होंने स्पष्ट निषेध कर दिया।

बुआ का विरोध

परिवार के अन्य सम्बन्धी व्यक्तियों ने भी यथासाध्य भीखण्डजी को अपने निर्णय से विचलित करने का प्रयास किया। उनकी बुआ ने तो दबाव देते हुए यहां तक भय दिखलाया कि यदि तुम दीक्षा लोगे, तो मैं पेट में कटार भोंक कर मर जाऊंगी। परन्तु भीखण्डजी उन सब कठिनाइयों से घबराये नहीं। उन्होंने अपनी बुआ से कहा—‘कटार बहुत कठोर और तीक्ष्ण होती है। वह ‘पूनी’ नहीं होती कि कोई सहज ही उसे पेट में भोंक ले। ऐसी व्यर्थ की बातों से मुझे अटकाने का प्रयास करना निरर्थक है।’²

स्वप्न की सत्यता

आचार्य रुद्धनाथजी को जब भीखण्डजी के दीक्षा लेने के विचारों का पता लगा, तो वे स्वयं आकर दीपांबाई को आज्ञा देने के लिए समझाने लगे। उन्होंने कहा—‘साधुओं को

1. भिक्खु-दृष्ट्यान्त, दृ. 107।

2. वही, दृ. 240।

आहार, पानी, वस्त्र, पात्र तथा स्थान का दान देने वाले तो बहुत मिल जाते हैं, परन्तु पुत्र का दान देने वाला लाखों में कोई एक मिलता है। तुम्हारे पुत्र की दीक्षित होने की भावना है, अतः तुम्हें उसमें बाधक नहीं बनकर साधक बनना चाहिए।'

दीपांबाई ने कहा—‘महाराज! मेरे पुत्र के भाग्य में साधु होना नहीं, कोई वैभवशाली पुरुष होना लिखा है। जब वह गर्भ में आया था, मुझे स्वप्न में सिंह दिखाई दिया था। आप लोगों के व्याख्यानों में ही मैंने सुना है कि सिंह का स्वप्न देखने वाली माताएं चक्रवर्ती जैसे प्रभावक व्यक्ति को जन्म देती हैं। आप ही बतलाइये कि मैं अपने होनहार पुत्र को दीक्षा की आज्ञा कैसे दे सकती हूँ?’

आचार्य रुधनाथजी ने कहा—‘बहिन! तुम्हारा स्वप्न सचमुच ही महत्वपूर्ण है। इसे आगमोक्त चौदह महास्वप्नों में गिना जाता है। यह सत्य है कि इसे देखने वाली माताएं तीर्थकर, चक्रवर्ती, वासुदेव तथा बलदेव जैसे व्यक्तियों को जन्म देती हैं, परन्तु उन प्रभावक व्यक्तियों में एक नाम भावितात्मा अनगार का भी है। मुझे लगता है, तुम्हारा स्वप्न मिथ्या नहीं होगा। दीक्षा लेकर तुम्हारा पुत्र सिंह की तरह गूंजेगा। अवश्य ही वह भावितात्मा अनगार होगा।’

आचार्य रुधनाथजी की वह भविष्यवाणी वास्तव में ही सत्य निकली। स्वामीजी की सिंह-गर्जना ने जैन शासन के सेवकों में पुनः प्राण प्रतिष्ठित कर दिये। चिरकाल से सोई शुद्ध आचार-विचार की चेतना फिर से जागरित हो उठी। माता की धारणा के अनुसार स्वामीजी कोई वैभवशाली व्यक्ति भले ही नहीं हुए हों, परन्तु वे चारित्र-आत्माओं के प्रकाश-स्तम्भ और तत्त्वज्ञों के सम्राट् महापुरुष अवश्य निकले।

आचार्य रुधनाथजी की उपर्युक्त भविष्यवाणी ने माता के स्वप्न-विषयक विचार को एक नया मोड़ प्रदान किया। श्रमणों की वे भक्त थीं। उनकी बातों को उन्होंने महत्वपूर्ण माना। अपने पुत्र की श्रमण-संघ में सिंह के समान स्थिति-विषयक कल्पना ने उनके मन को एक समाधान प्रदान किया। वह समाधान ही स्वामीजी को दीक्षा की आज्ञा प्राप्त कराने में सहायक हुआ।

माता के मन में पहले उनके जीवन-सम्बन्धी जो कल्पनाएं थीं, वे सब आर्थिक वैभव से सम्बन्धित थीं, किन्तु बाद में उन सबका संयम-वैभव में संक्रमण हो गया। अपने स्वप्न का वह समाधान उनके मन में इतना गहरा बैठा कि बाद में स्वयं आचार्य रुधनाथजी भी उसे अन्यथा नहीं कर सके। स्वामीजी जब स्थानकवासी संप्रदाय से पृथक् हो गये, तब एक बार स्वयं आचार्य रुधनाथजी ने दीपांबाई को यह समझाने का बहुत प्रयास किया कि तुम्हारा पुत्र तुम्हारे स्वप्न के अनुरूप न होकर अविनीत सिद्ध हुआ, परन्तु दीपांबाई ने उस समय उन्हें ऐसा करारा उत्तर प्रदान किया कि उसके सामने आचार्यजी को निरुत्तर हो जाना पड़ा। उन्होंने कहा—‘महाराज! अब आप जो-कुछ भी कह रहे हैं, वह दूसरी स्थितियों से प्रभावित होकर कह रहे हैं, किन्तु पहले जो-कुछ कहा था, वह निष्पक्ष दृष्टि

40 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
से था। आप अपने पूर्व कथन का स्मरण कीजिए। इस समय के कथन से तो आप स्वयं
अपने को ही असत्य सिद्ध कर रहे हैं।¹

आज्ञा-प्राप्ति

आचार्य रुद्धनाथजी की तत्कालीन प्रेरणा काफी प्रभावकारी रही। उससे प्रेरित होकर दीपांबाई ने स्वामीजी को दीक्षा के लिए अनुमति प्रदान कर दी। वह उनका एक महान् त्याग था। वैधव्य-जीवन के एकमात्र सहारे अपने प्रिय पुत्र को दीक्षा की अनुमति देकर उन्होंने नारी-जाति की त्याग-वृत्ति का एक ज्वलन्त उदाहरण रख दिया। उनका वही महान् त्याग कालांतर में संसार के लाखों मनुष्यों के कल्याण का हेतु बना।

माता की व्यवस्था

माता की आज्ञा प्राप्त होते ही भीखणजी संयम ग्रहण करने के लिए उद्यत हो गये। आवश्यकतावश जो देर हो रही थी, वह भी उन्हें अखरने लगी। उन्होंने अत्यन्त शीघ्रता से अपने व्यापार तथा लेन-देन को समेटा और सारी पूँजी को व्यवस्थित किया। दीक्षा लेने से पूर्व वे अपनी माता की अच्छी व्यवस्था कर देना चाहते थे, ताकि वृद्धावस्था में उन्हें किसी प्रकार के आर्थिक संकट का सामना न करना पड़े। उन्होंने जमीन-जायदाद के अतिरिक्त लगभग एक हजार रोकड़ा रुपये अपनी माता को दिये। वस्तुओं के तत्कालीन सस्ते भावों को देखते हुए कहा जा सकता है कि उक्त धनराशि उनकी माता के निर्वाहार्थ काफी अच्छी थी।

वस्तुओं के भाव

स्वामीजी के युग में उपभोग्य वस्तुओं की कोई कमी नहीं थी। यों भी कहा जा सकता है कि वे बहुलता से प्राप्त थीं। न उस समय जनसंख्या का कोई स्फोट था और न मुद्रा का इतना विस्तार। इसलिए वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा अधिक मूल्यवान् थी। वर्तमान वस्तु-भावों के सामने उस समय के वस्तु-भाव अविश्वसनीय रूप से सस्ते थे। यही कारण था कि थोड़ी पूँजी होने पर भी लोगों को सुखपूर्वक जीवन-यापन करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। स्वामीजी की दीक्षा के समय (वि.सं. 1808 में) मारवाड़ में वस्तुओं के क्या भाव थे, इसका विवरण तो उपलब्ध नहीं हो पाया, परन्तु उसके कुछ वर्ष बाद की अनेक बहियां कंटालिया के निकटस्थ ग्राम मुसालिया में एक भाई के पास उपलब्ध हुईं, उनमें सर्वाधिक प्राचीन बही वि. सम्वत् 1843 की थी। उसमें विभिन्न वस्तुओं के उस वर्ष के भाव कच्चे मन² के आधार पर दिए हुए थे, वे इस प्रकार हैं :

1. आवक शोभजी कृत 'पूजगुणी' ढाल 9/6,7

'माता सुपना में सिंह देखियो, जद कीधी रुद्धनाथजी ने बूझ।
रुद्धनाथजी कहै सुत तुम तणो, रहसी केसरी जिम गूंज॥।
पूज्य शुद्ध हुआ कहै रुद्धनाथजी, कुमति हुओ तुम बाल।
माता कहै केसरी जिम गूंजसी, थांरे भाख्यो वचन संभाल॥।'

2. कच्चा मन 20 सेर का होता था। वर्तमान तोल के हिसाब से वह 18॥। किलोग्राम से कुछ अधिक कहा जा सकता है।

वस्तु	तोल	मूल्य
गेहूं	1 मन	12 आना ¹
मूँग	1 मन	12 आना
तिल	1 मन	9 आना
चना	1 मन	8॥ आना
कुरां	1 मन	4 आना
कपास	1 मन	1 रुपया
दाल	1 मन	1 रुपया
बाजरा	1 मन	1 रुपया
गुड़	1 मन	1 रुपया
घी	1 सेर ²	2॥ आना
सूत	3 छटांक ³	1 पैसा

उपर्युक्त बहियों में एक सं. 1866 की थी। उसमें वस्तुओं के जो भाव लिखे हुए थे, उनसे ज्ञात होता है कि वस्तुएं क्रमशः महंगी होती जा रही थीं। वे भाव इस प्रकार हैं :

वस्तु	तोल	मूल्य
गेहूं	1 मन	1॥ रुपया
मूँग	1 मन	1॥ रुपया
मोठ	1 मन	14 आना
चना	1 मन	13॥ आना
घी	1 सेर	8 आना

-
1. उस समय एक आना चार पैसों का तथा एक रुपया 16 आनों या 64 पैसों का होता था।
 2. एक सेर वर्तमान तोल के अनुसार 1 किलोग्राम से लगभग 67 ग्राम कम होता है।
 3. एक छटांक वर्तमान तोल के अनुसार 58 ग्राम से कुछ अधिक होती है।

भाव संयम की भूमिका

दीक्षा-ग्रहण

घर की सारी व्यवस्थाओं से निवृत्त होने के पश्चात् भीखणजी दीक्षा के लिए तैयार हुए। वे कंटालिया से चलकर बगड़ी शहर में आये। वहां वि. सं. 1808 मार्गशीर्ष कृष्णा 12 को आचार्य रुधनाथजी के पास दीक्षित हुए। अनुश्रुति है कि उनकी दीक्षा बगड़ी के बाहर नदी-तट पर विशाल बटवृक्ष की छाया में हुई। उस समय उनकी अवस्था 25 वर्ष एवं साढ़े चार महीने की थी। युवावस्था का नैसर्गिक तेज आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर देदीप्यमान हो उठा। स्वामीजी की वह दीक्षा वास्तव में उनकी भाव दीक्षा की एक अज्ञात तैयारी थी। वे उससे एक ऐसी भूमि पर आ गये, जिससे भाव संयम की उन्हें आवश्यकता प्रतीत हो सकी और वे उसके लिए उपयुक्त तैयारी कर सके।

मित्र रामचरणजी

बाल्यावस्था में स्वामीजी के अनेक मित्र रहे होंगे, पर आज उनमें से केवल एक कंटालिया-निवासी गुलोजी गाधिया का नाम ही उपलब्ध है।¹ उसी प्रकार से युवावस्था के मित्रों में भी एक विशेष उल्लेखनीय नाम है—शाहपुरा रामसेही संप्रदाय के आद्य प्रवर्तक स्वामी रामचरणजी। उनका यह नाम दीक्षित अवस्था का है। गृहस्थावस्था में उनका नाम रामकृष्ण था। वे विजयवर्गीय वैश्य थे। स्वामीजी की तरह वे भी बहुत विरक्त प्रकृति के थे। उनका जन्म सोढ़ा नामक ग्राम (दूंदाड़) में हुआ। वहीं उनका निवास-स्थान था। सोढ़ा में ही स्वामीजी की बुआ का घर था। उनसे मिलने के लिए वे समय-समय पर वहां जाया करते थे। कई बार कुछ दिनों के लिए ठहरते भी थे। संभव है ऐसे ही किसी अवसर पर रामकृष्णजी का उनसे सम्पर्क हुआ। यद्यपि अवस्था में स्वामीजी उनसे लगभग साढ़े छह वर्ष छोटे थे, फिर भी समान प्रकृति के कारण वे दोनों बहुत शीघ्र मित्र बन गये। कई बार के मिलन से वह मित्रता धीरे-धीरे प्रगाढ़ता में बदल गई। स्वामीजी के सम्पर्क से वे जैन धर्म से परिचित हुए और उसके प्रति श्रद्धा रखने लगे। कहा जाता है कि वे दोनों साथ-साथ दीक्षा ग्रहण करने के लिए परस्पर वचन-बद्ध हो गये।

1. भिक्खु-दृष्टांत, दृ. 4।

कालान्तर में रामकृष्णजी का सम्पर्क संत कृपारामजी से हुआ। उनके विराग की धारा धीरे-धीरे उधर मुड़ गई। वे स्वामीजी की दीक्षा से लगभग तीन महीने पूर्व वि.सं. 1808 भाद्रपद शुक्ला 7 को दांतड़ा में संत कृपारामजी के पास दीक्षित हो गये।¹ स्वामी भीखण्णजी के साथ किया हुआ वचन उन्हें विस्मृत तो नहीं हुआ होगा, परन्तु विचार-परिवर्तन की स्थिति में उसका पालन संभव नहीं रह गया।

वि.सं. 1815 में गलते के मेले में स्वामी रामचरणजी को तत्कालीन संन्यासियों के कलह, दुर्व्यवहार और नशा-प्रवृत्ति आदि के बड़े कटु अनुभव हुए। उनका मन उस ओर से हट गया। उन्हें तब निर्गुण भक्ति की अन्तःप्रेरणा हुई और वे मेवाड़ में जाकर उसके प्रचार में लग गये। फलस्वरूप रामस्नेही परम्परा में शाहपुरा-शाखा का प्रवर्तन हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी भीखण्णजी और स्वामी रामचरणजी यद्यपि भावीवशात् दो विभिन्न परम्पराओं में दीक्षित हुए थे, फिर भी उनका पारस्परिक सम्बन्ध चालू रहा। वे यदा-कदा एक-दूसरे से मिलते भी रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं। स्वामी रामचरणजी ने अपनी कृति में ‘तेरापंथ’ शब्द को काम में लिया है। वहां उन्होंने अपनी ओर से ‘तेरापंथ’ की जो व्याख्या की है, वह यह बतलाती है कि वे उस शब्द की मूल व्युत्पत्ति से परिचित थे। उनके पद्य इस प्रकार हैं :

सोही तेरापंथ का, मेरा कहे न कोय।
मैं मेरी से लग रह्यो, तो जगत-पंथ है सोय॥18॥
काम क्रोध तृष्णा तजे, दुविधा देय उठाय।
रामचरण ममता मिटे, तेरापंथ वह पाय॥19॥

अध्ययन और मीमांसा

दीक्षा के पश्चात् स्वामीजी ने अपना सारा ध्यान अध्ययन और चिन्तन में लगा दिया। कुछ ही वर्षों में उन्होंने जैन आगमों का गम्भीर ज्ञान अर्जित कर लिया। उनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी, अतः तत्त्व को पकड़ते उन्हें कोई देर नहीं लगती। दर्शन और धर्म का जो ज्ञान स्वामीजी ने किया, वह केवल रटं रूप नहीं था, किन्तु मीमांसा-पूर्वक होने के कारण तलस्पर्शी और गहरा था।³ आगमों के नैरन्तरिक अध्ययन और मन्थन से उन्हें ऐसा आभास होने लगा कि साधु-संघ में शुद्ध श्रद्धा और शुद्ध आचार, दोनों का ही अभाव है। पहले कुछ समय तक तो यह विचार-मन्थन मन-ही-मन में चलता रहा। ज्यों-ज्यों गहराई से सोचा गया, अधिकाधिक कमियां सामने आती गई। फिर भी स्वामीजी ने अपने कुछ वर्षों के अध्ययन के आधार पर कोई निर्णय कर लेना तब तक के

1. श्रीरामस्नेही संप्रदाय, पृ. 36।

2. वि.सं. 1981 में ‘रामनिवास धाम’ शाहपुरा से प्रकाशित स्वामी रामचरणजी की ‘अणभे-वाणी’ (अनुभव-वाणी), पृष्ठ 71 पर अन्तिम पद ‘तेरापंथ वह पाय’ के स्थान पर ‘तब पिव के पन्थ जाय’ लिखा है।

3. स्थानकवासी मुनि श्री मणिलालजी अपनी पुस्तक ‘श्री जैनधर्म नों प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभु वीर पट्टावली’ (पृष्ठ 249) में लिखते हैं—‘दीक्षा लई तेमणे खूब शास्त्राभ्यास कर्यो। अभ्यास ने अन्ते तेमणे जैनधर्म नी खूबी बधु ने बधु रहस्य भरी रीते प्रतिपादित थई।’

तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
लिए उचित नहीं समझा, जब तक कि उस पक्ष के समर्थन का आधार अच्छी तरह से नहीं
समझ लिया जाये। इसलिए आगम-मन्थन से उत्पन्न विचारों ने जिज्ञासा का रूप लिया
और वह जिज्ञासा समय-समय पर वाणी के माध्यम से प्रश्न के रूप में सामने आने लगी।
स्वामीजी जब-तब तत्त्व और आचार-विचार-विषयक गूढ़ प्रश्न आचार्यजी के सामने
रखते रहते। प्रश्न स्वयं साधु-समाज के आचार-विचार पर एक गहरी टिप्पणी जैसे होते।
आचार्य रुद्धनाथजी ऐसे प्रश्न उपस्थित होने पर टालमटोल उत्तर देकर बात को टाल देते,
फिर भी स्वामीजी खिन्न नहीं होते। वे अधिकाधिक लगन से अपने अध्ययन को अपनी
मीमांसा के साथ मुक्तभाव से आगे बढ़ाते रहते।

भावी आचार्य

आचार्य रुद्धनाथजी को स्वामीजी की तीक्ष्ण बुद्धि और ग्रहण-शक्ति पर बड़ा गर्व
था। वे उनके अत्यन्त प्रिय शिष्य थे। बार-बार गूढ़ प्रश्न पूछे जाने तथा तर्क-वितर्क किये
जाने पर भी वे न उन पर झल्लाते और न कोई सन्देह ही करते। वे उन प्रश्नों को उनकी
आन्तरिक विराग-वृत्ति और आचार-कुशलता के अनुरूप ही समझा करते थे।

मेधावी तथा सुयोग्य शिष्य को पाकर कोई भी आचार्य स्वयं को गण-तप्ति-
विप्रमुक्त अनुभव कर सकता है। आचार्य रुद्धनाथजी भी स्वामीजी को पाकर निश्चिंतता
और तृप्ति का अनुभव करने लगे थे। संघ के आन्तरिक वातावरण में प्रायः यह प्रकट हो
चुका था कि भावी आचार्य वे ही हैं।

गुरु-शिष्य का वह स्नेह-भाव लगभग सात वर्ष तक अबाध गति से चलता रहा।
शिष्य की निर्बन्ध जिज्ञासा-वृत्ति ने गुरु के मन पर और संघ के आचार-शैथिल्य ने शिष्य
के मन पर कोई द्वैध-भाव पैदा नहीं होने दिया। उस अद्वैध-भाव की छत्र-छाया में स्वामीजी
के व्यक्तित्व को अपनी परिपूर्ण क्षमता के अनुरूप विकसित होने का अवसर मिला।

श्रावकों में अश्रद्धा

समय अपनी गति से बहता रहा और कार्य अपनी गति से होते रहे। स्वामीजी की
दीक्षा का सप्तम वर्ष व्यतीत हो रहा था। उन्हीं दिनों में एक ऐसी घटना घटी, जिसने
उनके जीवन-प्रवाह को एकदम से मोड़ दिया। वह घटना वि.सं. 1815 की है। मेवाड़ के
राजनगर नामक नगर में आचार्य रुद्धनाथजी की आमाय के श्रावक काफी बड़ी संख्या में
रहते थे। उनमें चतरेजी पोरवाल तथा बच्छराजजी ओसवाल¹ आदि मुख्य थे। वे अच्छे
तत्त्वज्ञ होने के साथ ही समाज के प्रभावशाली व्यक्ति भी थे। राजनगर का श्रावक-वर्ग तो
उनके नेतृत्व को मानता ही था, आसपास के 'चोखलों' में भी उनका अच्छा प्रभाव था।

1. कहते हैं बच्छराजजी का जन-प्रचलित नाम 'बस्ताजी' था। गुरांसा की बही के अनुसार उनका गोत्र 'कर्णवट'
था। वे 'चोकटियाजी' पद से प्रख्यात थे। राज्य की ओर से प्राप्त उक्त पद आगे से आगे बढ़े पुत्र को मिलता
रहता था। उनके पुत्र ताराचन्दजी के लिए बही में लिखा है—'सा ताराचन्दजी के चोकटाइ लीधी सं. 1817।'
इसका निष्कर्ष यह हुआ कि बच्छराजजी या बस्ताजी का देहावसान सं. 1816 या 17 में हुआ।

वे लोग अनेक वर्षों से तत्कालीन साधु-समाज के शिथिलाचार से बड़े खिन्न थे। आए दिन शिथिलता के सूचना-पट्ट पर क्रमांक घटने के बजाय बढ़ते ही जा रहे थे। उस स्थिति में वहां के श्रावक-वर्ग में शिथिलाचार के विरुद्ध एक वातावरण बना और वह क्रमशः बढ़ता गया। मुनिजन वहां जाने से कतराने लगे। जो भी सिंघाड़ा वहां जाता उससे वहां का श्रावक-वर्ग आचार-शैथिल्य के विषय में अवश्य चर्चा करता। कई मुनि उनके प्रश्नों को यों ही टाल देते तो कई रुप्त होकर उन्हें ही बुरा-भला कहने लगते। उक्त दोनों ही पद्धतियों से श्रावकों में असंतोष बढ़ता और वे पहले से भी अधिक अश्रद्धाशील हो जाते।

शास्त्र-पत्र

अनुश्रुति है कि उन्हीं दिनों संतों का एक 'सिंघाड़ा' राजनगर पहुंचा। उनके अग्रणी मुनि स्वयं को अच्छा शास्त्रज्ञ तो मानते ही थे, उन्हें अपने तर्क-बल पर भी बड़ा विश्वास था। स्थानीय श्रावकों को संदेह-मुक्त कर देने के संकल्प से उन्होंने सभी को प्रश्न पूछने के लिए आह्वान किया। श्रावक तो यह चाहते ही थे कि मुनिजन या तो हमें समझाएं कि उनका आचार-व्यवहार शास्त्रानुमोदित है, या फिर उसमें आवश्यक परिवर्तन करें।

मुनियों के उक्त आह्वान पर उन्हें प्रसन्नता ही हुई और वे निर्दिष्ट समय पर धर्म-स्थान में एकत्रित हो गए। साधुर्चर्या के विषय में प्रश्नोत्तर चलने लगे। एक प्रसंग पर श्रावकों ने आगम-प्रमाण मांगा। मुनिजी ने सूत्र-पाठ निकाला, परन्तु वह उनके कथन को समर्थन देने वाला नहीं था। उन्होंने उसका कुछ अंश छोड़कर इस प्रकार से पढ़ा कि उससे उनके कथन का समर्थन हो। श्रावकों को वहां कुछ अंश छोड़ दिए जाने की आशंका हुई तब चतरोजी के पौत्र जवेरचन्दजी आदि ने उस पाठ को स्वयं पढ़कर देखना चाहा। उन्होंने पत्र मांगा तो मुनिजी क्रुद्ध होकर बोले—‘मैंने पढ़कर सुनाया है, क्या उस पर तुम्हें विश्वास नहीं है?’

जवेरचन्दजी ने कहा—‘हम भी श्रावक हैं। क्या आपको हमारा विश्वास नहीं है? हम पत्र को कहीं ले नहीं जाएंगे, यहीं पढ़कर आपको वापस सौंप देंगे।’

मुनिजी ने पत्र देना नहीं चाहा और श्रावकों ने लेना चाहा, इसी रस्साकशी में वह थोड़ा-सा फट गया। मुनिजी को अपने बचाव का उससे अधिक बढ़िया और कौन-सा अवसर मिल सकता था। उन्होंने आक्रोशपूर्वक हल्ला कर दिया—‘देखो-देखो, इन लोगों ने शास्त्र का पत्र फाड़ दिया। ये मिथ्यात्वी हैं, अनन्त संसारी हैं।’

खुला बहिष्कार

उस समय राजनगर के बयोवृद्ध तथा प्रभावशाली प्रायः सभी श्रावक वहां उपस्थित थे। उन्होंने जब देखा कि पत्र को पढ़ने में मायाचार किया गया है और पत्र के फट जाने पर अब उस मायाचार को ढंकने के लिए अनुपयुक्त शब्द-प्रयोग एवं अनुचित व्यवहार का आश्रय लिया जा रहा है, तो उन सबका मन ग्लानि से भर गया। अनेक वर्षों से वे लोग मुनिजनों के कदाचारों एवं असद् व्यवहारों से खिन्न थे। उनके मन में अश्रद्धा

46 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
का भाव बूँद-बूँद करके बढ़ता गया था। उपर्युक्त घटना ने उस भाव को आकंठ भर दिया। फलस्वरूप उन्होंने तत्कालीन शिथिल श्रमण-संघ को मान्य करना छोड़ दिया और साहसपूर्वक यह घोषणा कर दी कि जब तक श्रमण-संघ अपने में घुस आई शिथिलताओं को दूर करने के लिए कटिबद्ध नहीं हो जाता तब तक हम न तो उसे मान्य करेंगे और न बन्दन आदि से सत्कृत ही करेंगे।

श्रावक-वर्ग द्वारा खुले बहिष्कार की उक्त घोषणा का प्रभाव आस-पास के अनेक क्षेत्रों पर तो पड़ा ही, दूरवर्ती क्षेत्र भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे।

गुरु का आदेश

आचार्य रुधनाथजी उस समय मारवाड़ में विहार कर रहे थे। बहिष्कार का संवाद जब उनके कानों तक पहुंचा, तो वे चिन्तित हुए। श्रावकों को समझाकर मार्ग पर लाना जितना आवश्यक था, उतना ही कठिन भी। साधारण साधु से बन सकने वाला यह कार्य नहीं था। वहां तो किसी ऐसे विद्वान् साधु को भेजने की आवश्यकता थी जो सारी परिस्थिति को सम्भाल कर श्रावकों के सन्देहों को दूर कर सके। कारणवशात् स्वयं आचार्य रुधनाथजी का वहां जाना संभव नहीं था। वे सोजत के लिए अपने चतुर्मास की स्वीकृति दे चुके थे।¹

आखिर उन्होंने उस कार्य के लिए अपने प्रिय शिष्य भीखणजी को चुना, क्योंकि वे शास्त्रज्ञ होने के साथ-साथ असाधारण बुद्धिमान् भी थे।² स्वामीजी को बुलाकर उन्होंने वहां की सारी स्थिति बतलाते हुए कहा—‘तुम स्वयं बुद्धिमान् हो, अतः कोई ऐसा उपक्रम करना जिससे श्रावकों की शंकाएं मिटें और वे पुनः बन्दन करने लगें।’

राजनगर में

स्वामीजी ने गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य कर राजनगर की ओर विहार किया। राजनगर मेवाड़ की सुप्रसिद्ध झील राजसमन्द के किनारे बसा हुआ नगर है। उक्त झील को उत्तम शिल्प का एक नमूना माना जाता है। सं. 1732 में उसका निर्माण हुआ। कहा जाता है कि अकाल-निरोध के लिए किया गया वह भारत का प्रथम प्रयास था। संयोग ही कहा जाना चाहिए कि 83 वर्ष पश्चात् साध्वाचार के अकाल का निरोध करने के लिए भी उसी स्थान से प्रथम प्रयास प्रारम्भ हुआ। स्वामीजी का उस ओर विहार करना उसी उपक्रम की भूमिका कहा जा सकता है।

टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारमलजी—ये चार साधु उस समय स्वामीजी के साथ थे। चतुर्मास करने के लिए वे राजनगर पहुंचे, तो तत्रस्थ श्रावकों को

1. ‘सोजत’ चतुर्मास का उल्लेख स्थानकवासी आचार्य जवाहरलालजी की पुस्तक ‘सद्धर्म मंडनम्’ की भूमिका में है।
2. स्थानकवासी मुनि कनीरामजी विचित्र ‘सिद्धान्तसार’ के गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना में लिखा है—‘एकदा प्रस्तावे पूज्यश्री तेमने विचक्षण जाणी बीजा साधु साथे आपी मेवाड़ देश में आवेला राजनगरे चौमासुं करवा मोकल्या।’

बड़ी प्रसन्नता हुई, क्योंकि स्वामीजी एक विरागी और तत्त्वज्ञ साधु के रूप में प्रसिद्ध थे। श्रावकों ने उस अवसर का पूरा लाभ उठाने का निश्चय किया। साधु-समाज के विषय में जो-कुछ भी वे कहना चाहते थे, वह सब खुलकर कह देने के लिए ऐसा उचित पात्र उन्हें अनायास ही मिल गया था।

ध्यानाकर्षण

धर्म-क्रांति के आवाहक राजनगर के श्रावकों में चतरोजी पोरवाल तथा बच्छराजजी ओसवाल प्रमुख थे। वहां का समग्र श्रावक-वर्ग उन दोनों के नेतृत्व में था। चतरोजी के चार पुत्रों में ब्रजलालजी और लालूजी तथा पौत्रों में जवेरचन्दजी भी धर्म के मर्मज्ञ थे।¹ अन्य भी अनेक तत्त्वज्ञ श्रावक वहां थे। वे सब मिल कर स्वामीजी के पास आये। स्वामीजी ने उनकी शंकाओं तथा वन्दना-व्यवहार छोड़ देने आदि विषयों पर बातचीत की।

श्रावकों ने साधु-समाज के आचार-विचार की दयनीय स्थिति स्वामीजी के सम्मुख रखी। उन्होंने कहा—‘आप लोग अब जान-बूझकर दोषों का सेवन करने लगे हैं। कहीं आपके निमित्त स्थानक बनाये जाते हैं, कहीं मोल लिए जाते हैं, पर उस ओर किसी का जरा भी ध्यान नहीं है। मानो ‘उद्दिष्ट’ आदि दोष आप लोगों के लिए लागू हैं ही नहीं। वस्त्र-पात्र-सम्बन्धी मर्यादाओं का भी खुले रूप में उल्लंघन होता है, पर कोई बोलता तक नहीं। शिष्यों के लिए तो जो-कुछ न कर लें, वही थोड़ा है। बिना आज्ञा दीक्षित कर लेना, बहका कर अन्यत्र भगा ले जाना, दूसरे के शिष्य तथा भावी शिष्य को उलटी-सीधी बातें सिखाकर अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास करना आदि तो इतने सामान्य कार्य हो गये हैं कि उनके विषय में कुछ कहना ही व्यर्थ है। न आपमें शुद्ध श्रद्धा है और न शुद्ध आचार, फिर हम आपको वन्दन करें तो किसलिए?’

एक आश्वासन

श्रावकों के उद्गार सुन लेने के पश्चात् स्वामीजी से यह छिपा नहीं रहा कि ये जो दोषारोपण कर रहे हैं, वह सत्य है और साधुओं का आचार-विचार दूषित है, परन्तु गुरु की बात ऊंची रखने के व्यामोह ने तथा मत-पक्ष ने उनके मन को दोष-स्वीकृति की आज्ञा नहीं दी। उन्होंने अपने बुद्धि-बल से श्रावकों को समझाने का प्रयास किया और नरम-गरम अनेक उपायों का सहारा लेकर उन्हें वन्दन के लिए सहमत कर लिया।

श्रावकों ने वन्दन करना प्रारम्भ कर दिया। वे चरण भी छूने लगे, पर साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया कि आप एक विरागी साधु हैं, अतः हम आपके विश्वास पर वन्दन करते हैं, किन्तु हमारे मन की शंकाएं नहीं मिटी हैं।

1. इस समय राजनगर में प्रायः ओसवाल श्रावकों के ही घर हैं, किन्तु उस समय ओसवालों की अपेक्षा पोरवालों का आधिक्य था। घाणेराव के गुरांसा मांगीलालजी की बही के अनुसार कालान्तर में पोरवाल परिवार व्यापारार्थ उदयपुर, गोगूदा और सायरा में जा बसे। उस बही में चतरोजी के चार पुत्रों के नाम इस प्रकार हैं—तिलोकजी, सूरजमलजी, ब्रजलालजी और लालूजी। इनमें से ब्रजलालजी के दो पुत्रों के नाम लिखे हैं—जवेरचन्दजी और लिखमीचन्दजी।

स्वामीजी ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा—‘चार महीने हमारे सामने हैं, यह काफी लम्बा समय है; अतः धीरे-धीरे सारी शंकाओं का समाधान होता ही रहेगा।’

श्रावकों को इस कथन से जहां थोड़ा आश्वासन मिला, वहां स्वयं स्वामीजी के मन में एक तुमुल संघर्ष छिड़ गया। श्रावकों की शंकाओं ने उन्हें आत्म-निरीक्षण के लिए बाध्य कर दिया। उनका सत्य-प्रेम वस्तुतः उस समय कसौटी पर चढ़ गया। यही कारण है कि राजनगर का वह चतुर्मास उनके लिए मानसिक संघर्ष का काल रहा। उससे जो कुछ फलित हुआ, वह स्वयं उनके लिए ही नहीं, अपितु सारे संसार के लिए बहुत गुणकारक हुआ।

हृदय-मन्थन

संयोगवश उस घटना के पश्चात् रात्रि के समय स्वामीजी को बड़े जोर से ज्वर का प्रकोप हुआ। शीत से शरीर थर-थर कांपने लगा। ज्वर के उस आकस्मिक आक्रमण ने शरीर के साथ-साथ उनके मन को भी झकझोर डाला। उनकी विचारधारा में गहरी हलचल मच गई। कुछ समय पूर्व उन्होंने जिस मत-पक्ष से प्रेरित होकर श्रावकों की बातों को उलटने का प्रयास किया था, वह उन्हें स्पष्ट ही एक मोह ज्ञात होने लगा। असत्य को सत्य और सत्य को असत्य सिद्ध करने का वह प्रयास स्वयं उनकी ही आत्मा को कचोटने लगा। आत्म-गतानि और पश्चात्ताप की तीव्र अनुभूति करते हुए वे सोचने लगे—‘मैंने जिनेश्वर देव के वचनों को छिपाकर सच्चों को झूठा ठहराया, यह कैसा अनर्थ कर डाला? यदि इस समय मेरी मृत्यु हो जाये, तो अवश्य ही मुझे दुर्गति में जाना पड़े। क्या ऐसी स्थिति में यह मत-पक्ष और ये गुरु मेरे लिए शरणभूत हो सकते हैं?’ इन विचारों ने उनके मन के किसी कोने में छिपे पड़े मताग्रह के कालुष्य को धो डाला।

एक प्रतिज्ञा

दुःख के समय जहां पामर प्राणी हाय-तोबा मचाता है, वहां उत्तम पुरुष आत्म-कल्याण की ओर अधिक वेग से प्रवृत्त होता है। दुःख उसके लिए अभिशाप नहीं, वरदान बन जाता है। स्वामीजी को उस ज्वर-वेदना ने मानो झकझोर कर जगा दिया। सहसा उनकी आन्तरिक आंखें खुल गईं और अपना कर्तव्य-पथ सामने दिखाई देने लगा। रात्रि के नीरव एकान्त में चलने वाली हृदय-मन्थन की प्रक्रिया ने उनको अपार बल दिया। उन्होंने साहस और दृढ़ता के साथ प्रतिज्ञा की—‘यदि मैं इस अस्वस्थता से मुक्त हुआ, तो निष्पक्ष-भाव से खोज कर सत्य-मार्ग को अपनाऊंगा, जिन-भाषित आगमों के अनुसार अपनी चर्या बनाऊंगा और साधुओं के लिए निर्दिष्ट मार्ग के अनुरूप आचरण करने में किसी की भी परवाह नहीं करूँगा।’

स्वामीजी का ज्वर उस प्रतिज्ञा के पश्चात् क्रमशः शांत होता गया और रात्रि के साथ ही उसका अन्त हो गया। प्रभात के समय जब कुछ व्यक्ति दर्शनार्थ आये, तो स्वामीजी ने उनसे रात्रिकालीन अपने निश्चय का उल्लेख करते हुए कहा—‘मैंने जो बातें कहीं थीं, उनके विषय में एक बार फिर से विचार कर लेना चाहता हूँ। आगमों की कसौटी पर अपने विचारों को कस लेने के पश्चात् जो भी निष्कर्ष निकलेगा, वह मैं आप सबके सामने रख दूँगा।’

श्रावक-वर्ग स्वामीजी की विराग-वृत्ति से पहले ही प्रभावित था, सत्यान्वेषण के प्रति उनकी उदार भावना और तटस्थ वृत्ति को देखकर और भी प्रभावित हुआ। उसने स्वामीजी से जो आशा लगाई थी, वह फलवती होती हुई नजर आने लगी।

आगम-मन्थन

स्वामीजी पर एक असाधारण कर्तव्य का भार आ गया। उसकी न तो उपेक्षा करना ही उपयुक्त था और न अधीरता से किसी परिणाम पर पहुंचने की उतावल करना ही। उपेक्षा जहां तत्त्व-गवेषणा की ओर से उदासीन कर देती है, वहां अधीरता सत्य के निष्कर्ष पर पहुंचने में बाधक बन जाती है। स्वामीजी को दोनों दोषों से बचकर चलना था। एक ओर श्रावकों के द्वारा उठाये गये प्रश्न तथा अध्ययन-काल में स्वयं के मन में उठने वाले विचार थे, दूसरी ओर अपने सम्प्रदाय के आचार-विचार की प्रणाली थी। दोनों में जहां संघर्ष था वहां आगम ही निर्णायिक हो सकते थे। इसीलिए स्वामीजी ने दोनों प्रकार के विचारों को आगमों की कसौटी पर कसकर देख लेने का निर्णय किया। यद्यपि वह कार्य बहुत गम्भीर और श्रम-साध्य था, फिर भी सत्य तक पहुंचने के लिए सर्वाधिक उचित तथा न्याय-संगत वही एकमात्र मार्ग था।

विचार के पीछे जो ‘अपना’ अथवा ‘पराया’ विशेषण लगा रहता है, वह तटस्थता से निर्णय करने में बाधक बन जाता है। ‘स्व’ और ‘पर’ से ऊपर उठ कर केवल निर्विशेषण विचार को परखने की क्षमता एक विरक्त मुमुक्षु में ही हो सकती है। मुमुक्षु व्यक्ति अपना मन्तव्य पुष्ट करने में नहीं, किन्तु सत्य को पुष्ट करने में अपना गौरव समझता है। सत्य को परखने में गलती की संभावना हो सकती है, इसीलिए उसे फूंक-फूंक कर पैर आगे बढ़ाने पड़ते हैं। किसी भी विचार को एक बार या दो बार ही नहीं, किन्तु बार-बार सत्य की कसौटी पर कस लेने के पश्चात् जब कोई सन्देह नहीं रह जाता, तभी वह अपने अनुभव में आये हुए विचारों को साफ-साफ जनता के सामने रखता है।

स्वामीजी ने अन्तिम निर्णय के लिए उक्त मार्ग का ही आलम्बन लिया। उन्होंने तटस्थ बुद्धि से आगम-अध्ययन प्रारम्भ किया। स्थानीय श्रावक पिरथोजी खांटेड़ तथा लालजी पोरवाल ने उत्त्रेक बनते हुए कहा—‘स्वामीजी! आप आगमों का अध्ययन पूरी अनुप्रेक्षा के साथ करना।’¹ स्वामीजी ने वैसा ही किया। उन्होंने उस चतुर्मास में प्रत्येक आगम का दो-दो बार सूक्ष्मतापूर्वक पारायण किया। सत्य को असत्य बतलाना जहां आत्म-पतन का कारण होता, वहां गुरु का पक्ष लेकर असत्य को सिद्ध करना भी दुर्गति का कारण होता। न सत्य के प्रति अन्याय होना चाहिए था और न गुरु के प्रति। वह एक दुधारी तलवार पर चलने के समान कठिन कार्य था। उससे अक्षत बचने के लिए आगम-

1. पुर-निवासी महात्मा सोहनलालजी से एक प्राचीन प्रति के बीच के पांच पत्र (3 से 7) प्राप्त हुये हैं। उनमें पांचवें पत्र तक तेरापंथ के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखी हैं। उसमें लिखा है....‘भीखण्जी सं. 1815 को चौमासो राजनगर कीदो। सूत्र वांचना मांडया। जदी मारगी भाई परथो खांटड़ लालजी पोरवाल कहो—स्वामीजी सूत्र अणुपीयो देने बांचो। जदी सूत्रां उपरै अणुपीयो देने सूत्र बांच्या।’

50 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
मन्थन ही एकमात्र उपाय था। स्वामीजी ने उस चतुर्मास में अपना अधिक समय उसी कार्य में लगाया।

निष्कर्ष की घोषणा

स्वामीजी प्रायः चतुर्मासान्त तक शास्त्रों का अध्ययन-मनन कर रहस्यों को हृदयंगम करते रहे। अन्ततः आगम-मन्थन के उस महान् परिश्रम से उपनिषदभूत जो निष्कर्ष सामने आया, उससे उनका पूरा-पूरा विश्वास हो गया कि श्रावकों का पक्ष सत्य है। साधु-समाज जिन-आज्ञा के अनुसार नहीं चल रहा है। दर्शन और चारित्र, ये दो ही साधुता के अनिवार्य अंग हैं, किंतु यहां इन दोनों का सम्यग् भाव दृष्टिगत नहीं होता।

स्वामीजी अपने निष्कर्ष को गोल-मटोल भाषा में छिपाकर रखना नहीं चाहते थे। वे अपनी पूर्वकृत भूल को सुधार कर सब-कुछ स्पष्ट कह देने का निश्चय कर चुके थे। इसलिए पहले अपने साथ के अन्य साधुओं के सामने उन्होंने सारी बातें विस्तार सहित रखीं। साधु का वास्तविक आचार-विचार क्या होना चाहिए, यह उन सबको आगम-सम्मत दृष्टिकोण से समझाया। अच्छी तरह समझ लेने के पश्चात् चारों साधुओं ने स्वामीजी के उस दृष्टिकोण का अनुमोदन किया।

चतुर्मास जब समाप्ति के करीब आया, तब एक दिन श्रावकों की सभा के सम्मुख अपना चिर-प्रतीक्षित निर्णय सुनाते हुए स्वामीजी ने निर्भीकतापूर्वक उद्घोषित किया—‘श्रावको! तुम लोग सत्य-मार्ग पर हो, हम गलत हैं। वास्तव में ही साधु-वर्ग शास्त्र-सम्मत मार्ग से भटक गया है, किन्तु इसके लिए धैर्य खोने की आवश्यकता नहीं है। मैं आचार्यश्री के पास जाकर निवेदन करूँगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे इस पर ध्यान देकर साधु-संघ को नियंत्रित करेंगे, ताकि संघ में शुद्ध आचार और शुद्ध विचार का वातावरण फिर से फैल सके। अवश्य ही कोई न कोई ऐसा उपाय खोज लिया जायेगा जो लक्ष्य तक पहुंचने में सहायक होगा और गति में तीव्रता लायेगा। आप सब लोगों को तब तक के लिए धैर्यपूर्वक कुछ और प्रतीक्षा करनी चाहिए।’

स्वामीजी की उस खरी बात को सुनकर श्रावक बड़े ही प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—‘हमें आप से जैसी आशा थी, वैसा ही काम आपने कर दिखाया।’

संघ-कल्याण की दृष्टि

स्वामीजी ने सत्य-मार्ग को स्वीकार करने की प्रतिज्ञा की थी, उसका तात्पर्य यह नहीं था कि वे स्वयं आचार्य बनना चाहते थे, या अपना पृथक् पंथ चलाना चाहते थे। उनके सामने तो केवल सत्य का ही प्रश्न था। वे आत्म-कल्याण के पथ पर शिष्यत्व या गुरुत्व में कोई भेद नहीं मानते थे। किसी भी प्रकार से सत्य का पालन हो, आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो, यही उनका प्रमुख लक्ष्य था।

स्वामीजी अपना अकेले का ही नहीं, अपितु सारे संघ का कल्याण चाहते थे। इसीलिए गुरु को गलत समझ लेने पर भी उन्होंने उनसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं किया,

प्रत्युत उनके दृष्टिकोण को बदलकर सारे संघ को शुद्ध मार्ग पर प्रवृत्त करने का ही निश्चय किया। आचार्य के न मानने पर जो-कुछ करने का था, उसका निर्णय भी वे कर चुके थे, परन्तु उस निश्चय को काम में न लेना पड़े, इसीलिए पहले गुरु को सोचने तथा समझने का काफी अवसर दे देना चाहते थे। इतने पर भी यदि गुरु और सत्य, इन दोनों में से केवल एक को ही चुनना पड़े, तो वे सत्य को चुनने का निश्चय कर चुके थे।

आचार्य की ओर

चतुर्मास समाप्त होने पर स्वामीजी ने राजनगर से मारवाड़ की ओर विहार किया, क्योंकि आचार्य रुधनाथजी उस समय मारवाड़ में ही थे। स्वामीजी के मार्ग में छोटे-छोटे ग्राम पड़ते थे, अतः उन्होंने सुविधा की दृष्टि से साधुओं के दो दल कर दिये। दूसरे दल में वीरभाणजी आदि दो साधु थे। उनको अच्छी तरह से समझाते हुए स्वामीजी ने कहा—‘यदि तुम आचार्यश्री के पास पहले पहुंच जाओ, तो वहां इस विषय की चर्चा मत करना, क्योंकि अधूरी बातों को सुनकर यदि पहले से ही उनके मन में कोई आग्रह बढ़-मूळ हो गया तो फिर समझाने में कठिनाई होगी। वे अपने गुरु हैं, अतः अवसर देखकर विनयपूर्वक ही सब बातें उनके सामने रखनी होंगी। मैं स्वयं पहुंच कर सारी स्थिति उन्हें बतलाऊंगा और सत्य मार्ग को स्वीकार करने की प्रार्थना करूँगा।’

साथी की भूल

आचार्य रुधनाथजी उस समय सोजत में थे। संयोगवश वहां मुनि वीरभाणजी ही पहले पहुंचे। वन्दन और सुख-प्रश्न आदि के पश्चात् आचार्यश्री ने उनसे पूछा—‘श्रावकों की शंकाएं दूर हुईं या नहीं?’

मुनि वीरभाणजी ने कहा—‘श्रावकों के शंकाएं थीं ही कहां, जो दूर होतीं? उन्होंने तो सिद्धान्तों का सच्चा भेद पा लिया है। वे लोग जो बातें कहते हैं, वे शंकाएं नहीं, सत्य हैं। उनको सम्भालने के स्थान पर स्वयं हमें ही सम्भलना चाहिए। हम लोग दोषी हो गये हैं। उद्दिष्ट स्थान में रहना, अशुद्ध आहार ग्रहण करना, नित्य-पिण्ड लेना, मर्यादातिरिक्त वस्त्र-पात्र रखना और बिना आज्ञा दीक्षा देना आदि अनेक दोषों का हम सेवन करने लगे हैं। इतना ही नहीं, हम उन्हें उचित ठहराने का प्रयास करते हैं। श्रावक यदि ये दोष हम लोगों में बतलाते हैं तो वे सत्य ही कहते हैं। उनकी शंकाएं मिथ्या नहीं हैं।’

आचार्य रुधनाथजी ने जब ये बातें सुनीं तो स्तम्भित हो गये। उन्होंने वीरभाणजी को टोकते हुए कहा—‘तुम इस तरह कैसे बोल रहे हो?’

मुनि वीरभाणजी ने जोर देते हुए कहा—‘मैं सत्य ही कह रहा हूँ। साधु-संघ में दोष-सेवन होता है, यह निश्चित है। परन्तु मेरे पास तो सुनाने के लिए केवल नमूना मात्र ही है, पूरी बात तो भीखण्डी के आने से ज्ञात होगी।’

इस प्रकार मुनि वीरभाणजी ने अधैर्यवश सारी बातें पहले ही कह डालीं। स्वामीजी द्वारा सावधान कर देने पर भी वे बात को पचा नहीं सके। कौनसी बात कब और कैसे कहनी चाहिए, इसका उन्होंने कोई विचार नहीं किया।

आचार्य रुधनाथजी उनकी बातों से बहुत उदास हुए। वे बड़ी व्याकुलता के साथ स्वामीजी की प्रतीक्षा करने लगे। उनके पहुंचने से पूर्व ही वहाँ के बातावरण में एक अज्ञात कटुता घुलने लगी। साथी द्वारा अपने उतावलेपन से की गई थोड़ी-सी भूल ने कार्य की सफलता को काफी दूर ढकेल दिया और उनके मार्ग को भी कण्टकाकीर्ण बना दिया।

गुरु का रुख

स्वामीजी कुछ दिनों पश्चात् सोजत पहुंचे।¹ गुरु-चरणों में भक्तिपूर्वक वंदन किया। आचार्य रुधनाथजी ने न उनका बन्दन स्वीकार किया और न उनसे रुख ही जोड़ा। चतुर स्वामीजी ने तत्काल भांप लिया कि मुनि वीरभाणजी ने पहले ही सारी बात कहकर अवसर बिगड़ दिया है। वे बिगड़ी बात को भी सुधारना जानते थे, अतः नम्रतापूर्वक बोले—‘गुरुदेव! आपका चित्त उदास क्यों है? आपने न मेरे बन्दन को स्वीकार किया और न मेरे सिर पर अपना वात्सल्यपूर्ण हाथ ही रखा।’

आचार्य रुधनाथजी ने कहा—‘तुम्हरे मन में शंकाएं उत्पन्न हो गई हैं, इसलिए तुम्हारा और हमारा मन अब मिल नहीं सकता। आज से तुम्हरे साथ हमारा साम्भोगिक सम्बन्ध भी नहीं रहेगा।’

स्वामीजी ने सोचा—‘इनमें तथा हममें न सम्यक्त्व है और न साधुत्व, तब साम्भोगिक रहने या न रहने में कोई अन्तर नहीं पड़ता, फिर इस समय यह विवाद अनावश्यक होगा। अभी तो यही उचित है कि यदि इनके मन में यह आशंका हो कि शिष्य रूप में रहना मुझे स्वीकार नहीं है अथवा मैं स्वयं इनसे पृथक् होना चाहता हूँ, तो इस आशंका को दूर कर इनके हृदय में विश्वास पैदा करूँ कि मेरे मन में ऐसा कोई भी विचार नहीं है। समस्त साधु-संघ को सुधारना है तो पहले गुरु से सम्पर्क रखना और उन्हें सारी बातों से अवगत कराना आवश्यक है। यह सब विश्वास के बिना नहीं हो सकता। अविश्वास जहाँ कार्य को नष्ट करता है, वहाँ विश्वास नष्ट हुए कार्य को भी पुनः सुधार देता है।’

स्वामीजी ने तब गुरु को विश्वस्त करने के लिए कहा—‘यदि मेरे मन में व्यर्थ की शंकाएं उत्पन्न हो गई हैं, तो आप उनको दूर कीजिये और मुझे प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध करके सहभोजी कीजिये।’ इस प्रकार आचार्य की व्यर्थ की आशंकाओं को दूर कर वे साम्भोगिक बने और वार्तालाप करने का अवसर प्राप्त किया।

नम्र निवेदन

स्वामीजी ने कुछ समय पश्चात् अवसर देखकर आचार्य रुधनाथजी के साथ तत्त्व-मीमांसा करने का उपक्रम किया। उन्होंने नम्रतापूर्वक यथावसर एक के पश्चात् एक

1. पुर से प्राप्त पत्रों के अनुसार स्वामीजी ने राजनगर से अमर रायपुर की ओर विहार किया। वहाँ बाईंस दिन ठहरे, केसरजी डांगी तथा साध्वी बखतूजी से धर्म-चर्चा की। उन दोनों के वह श्रद्धा जम गई तब वहाँ से विहार करते हुए वे आचार्य रुधनाथजी से मिले।

आचार-विचार सम्बन्धी सारी बातें आगम-न्याय सहित सामने रखीं। उनके कथन का सार था—‘हम लोगों ने आत्म-कल्याण के लिए घर छोड़ा है, इसीलिए किसी प्रकार का आग्रह न रखकर आगम-वाणी के अनुसार ही अपनी मान्यताएं रखनी चाहिएं। जो मान्यताएं मिथ्या हैं, आगमों की कसौटी पर ठीक नहीं उतरतीं, उन्हें तत्काल छोड़ देना चाहिए। पूजा-प्रशंसा तो इस जीव को बहुत बार मिल चुकी है, परन्तु शुद्ध श्रद्धा का प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है, अतः दूसरी बातों को गौण समझकर पहले इसी का निर्णय करें। यदि आप आगम-कथित शुद्ध दर्शन और चारित्र का पुनरुद्धार करेंगे, तो आप मेरे पूज्य गुरु¹ होने के साथ-साथ संसार के लिए भी एक महान् प्रकाश-स्तम्भ होंगे। ऐसा किये बिना हम सबके लिए गृह-त्याग करने का अर्थ ही क्या रह जायेगा? अपने संघ की स्थिति को देखकर यह कहा जा सकता है कि यहां आगम-विरुद्ध आचार की परिपाटी चल रही है। श्रद्धा भी आगमानुमोदित नहीं है। खाने-पीने की अच्छी से अच्छी वस्तु में भी यदि उसके विपरीत स्वभाव वाली किसी वस्तु का मिश्रण हो जाता है तो वह बिगड़ जाती है, तब धर्म में अर्धम का तथा पुण्य में पाप का मिश्रण कैसे उपयुक्त हो सकता है? अपने संघ में एक ही क्रिया से दोनों, कुछ पुण्य और कुछ पाप का होना मान्य है, परन्तु वह विचारणीय है। आगम-दृष्टि है कि अशुभ योगों की प्रवृत्ति से पाप और शुभ योगों की प्रवृत्ति से पुण्य का बन्ध होता है। एक साथ दो योगों की प्रवृत्ति नहीं की जा सकती, जिससे पुण्य और पाप, दोनों का बन्ध हो सके। शुभ और अशुभ योगों के पृथक्-पृथक् अस्तित्व के अतिरिक्त कोई ऐसा तीसरा प्रकार नहीं है, जिसमें उन दोनों का मिश्रण हो सके। इस आगमिक दृष्टिकोण से स्पष्ट होता है कि एक क्रिया से एक ही बन्ध, पुण्य का या पाप का होता है। न तो मिश्र क्रिया होती है और न मिश्र बन्ध, अतः आपसे मेरा नम्र निवेदन है कि जिन-आज्ञा पर पूरा ध्यान देकर इन बातों को सोचिये। जिन-आज्ञा से बाहर कोई धर्म नहीं है। हम उसे आराध कर ही संयम-जीवन की आराधना कर सकते हैं।’

कोई प्रभाव नहीं

आचार्य रुद्धनाथजी पर स्वामीजी की उन बातों का कोई अनुकूल प्रभाव नहीं हुआ। वे और अधिक कुद्द हो उठे। चिर-परिचित और चिर-पालित धारणाओं का मोह कसौटी के लिए तैयार ही कब होता है? फिर भी कोई बलात् उसकी कसौटी करना चाहे, तो वह उसके लिए कैसे सह्य हो सकता है?

1. (क) स्थानकवासी मुनि कनीरामजी विरचित ‘सिद्धान्तसार’ के गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना में इस तथ्य को इन शब्दों में स्वीकार किया गया है—‘मटपति पणु छोड़ी फरी थी दीक्षा ग्रहण करो तो तमें अमारा गुरु, अने अमे तमारा शिष्य, नहीं तो हवे अमे अमारुं धारयुं काम करवाना छोए।’

(ख) जयाचार्य ने स्वामीजी की एतत् सम्बन्धी भावना को इन शब्दों में व्यक्त किया है :

‘जो थे मानो हो सूतर नी बात, तो थेहिज म्हारा नाथ,

नहिंर ठीक लागै नहीं॥।

म्हे घर छोड़यो हो आतम तारण काम, और नहीं परिणाम,

तिण स्यूं बार-बार कहूं आपनै।’

स्वामीजी सदा से आशावादी थे। निराशा उनके पास चाहे कभी आई हो, पर वह टिक कभी नहीं पाई। उन्होंने सोचा—‘गुरु का रुख इस समय काफी कठोर बना हुआ है। मताग्रह के कारण उसमें कड़वाहट भी आ गई है। इसलिए सत्य-सूर्य को देखने हेतु जिस दोषमुक्त दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह इस समय यहां नहीं है। सत्य को सीधा स्वीकार कर लेना अत्यन्त उच्च-कोटि की अध्यात्म-साधना की अपेक्षा रखता है। ऐसा भी सम्भव है, यह मत-पक्ष का सामयिक आवेश ही हो? समय पाकर जब वह आवेश का अंधड़ दूर हो जायेगा, तब कुछ सोचने का अवसर अवश्य मिलेगा। उस समय स्वतः ही सत्य का प्रकाश अप्रत्याहत गति से आत्मा में फैल जायेगा। ऐसे समय में सारी परिस्थिति नप्रतापूर्वक उनके सामने रखूँगा तो अवश्य ही यह समस्या बहुत सरलता से सुलझ सकेगी। उतावल करने से काम नहीं होगा। आग्रह अपना स्थान छोड़ने में कुछ समय मांगता ही है। मुझे तब तक बहुत धैर्य से काम लेना चाहिए।’

अवसर की प्रतीक्षा

स्वामीजी अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। जब-जब ऐसा अवसर मिला, उन्होंने अपने विचार विनयपूर्वक किन्तु दृढ़ता के साथ सामने रखे और उन पर चर्चा की। इस प्रकार काफी समय बीत गया। आगामी चतुर्मास के दिन समीप आने लगे।

एक दिन स्वामीजी ने निवेदन किया—‘इस बार का चतुर्मास साथ-साथ किया जाये तो अच्छा रहेगा। उससे चर्चनीय विषयों पर विचार करने तथा सत्यासत्य परखने का परिपूर्ण अवसर मिल जायेगा।’

आचार्य रुद्धनाथजी ऐसा करने को सहमत नहीं हुए। उन्हें भय था कि कहीं शिष्यों पर इसकी बात का प्रभाव न हो जाये। उन्होंने कहा—‘ऐसा करने पर तुम मेरे अन्य शिष्यों को भी अपने पक्ष में लेने का प्रयास कर सकते हो, अतः मैं साथ में चतुर्मास करने की मूर्खता कभी नहीं कर सकता।’

स्वामीजी ने उस भय को दूर करने के लिए सुझाव देते हुए कहा—‘यदि आपको ऐसा भय है, तो अपने ऐसे शिष्यों को ही साथ में रखिये, जो हमारी चर्चा के विषय में कुछ विशेष न समझ सकें। इसके अतिरिक्त आपको उचित लगे वैसा कोई अन्य उपाय भी काम में लिया जा सकता है, परन्तु इस अवसर का हमें अवश्य ही समुचित लाभ उठाना चाहिए। यदि इस समय आप जैसे समर्थ आचार्य शासन का कुछ सुधार कर सकें, तो सहज ही शुद्ध आचार का निर्माण होकर साधु-संघ सारे विश्व के लिए उपयोगी बन जायेगा, अन्यथा आचार-शैथिल्य के कारण वह एक भार बन जायेगा।’

आचार्य रुद्धनाथजी ने इतने पर भी स्वामीजी की बात को नहीं माना और साथ-साथ चतुर्मास करने के लिए सहमत नहीं हुए। स्वामीजी को इससे निराशा तो अवश्य हुई, परन्तु उन्होंने उसे इस भावना से निरस्त कर दिया कि आखिर प्राचीन संस्कारों को छोड़ने में कुछ समय तो लगता ही है। उन्होंने तब चतुर्मास के पश्चात् एक बार फिर प्रयत्न करने

का निर्णय किया और उपयुक्त अवसर की प्राप्ति तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने के मार्ग को ही अपनाया।

जोधपुर चतुर्मास

आचार्य रुद्धनाथजी के पास से विहार करके स्वामीजी चतुर्मास करने के लिए जोधपुर पधार गये। वहां उस वर्ष स्थानकवासी सम्प्रदाय के एक बड़े टोले के अधिनायक आचार्य जयमलजी का चतुर्मास था। वे आचार्य रुद्धनाथजी के गुरुभाई थे, अतः स्वामीजी के चाचा गुरु थे। स्वामीजी ने वह चतुर्मास उनके साथ ही किया।¹ स्वामीजी का चिन्तन था कि मेरे गुरु आचार्य रुद्धनाथजी इतना प्रयास करने के पश्चात् भी आचार-शुद्धि के लिए कुछ करने को उद्यत नहीं हो रहे हैं तो ऐसी स्थिति में क्यों न आचार्य जयमलजी को इस कार्य के लिए उद्यत किया जाए? यदि इस कार्य में सफलता मिल गई तो लक्ष्य को बहुत सहजता से प्राप्त किया जा सकता है।

आचार्य जयमलजी से विमर्शन

आचार्य जयमलजी शास्त्र-मर्मज्ञ होने के साथ ही प्रकृति से बहुत मिलनसार एवं भद्र-परिणामी थे। स्वामीजी ने उनसे आचार-उत्क्रांति की जो आशा की, वह कोई असंभव या असंगत बात नहीं थी, क्योंकि उनमें किसी प्रकार का पूर्वाग्रह नहीं था।

स्वामीजी ने चतुर्मास के उस लम्बे समय का पूरा-पूरा उपयोग किया। आचार्य जयमलजी के साथ यथासमय उन्होंने अनेक बार विचारों का आदान-प्रदान किया। अत्यन्त सौहार्दपूर्ण वातावरण में दोनों मनीषियों ने आचार-विचार तथा संघ-कल्याण अदि विषयों पर गंभीर विचार-विमर्श किया। संघ की तात्कालिक मान्यताओं तथा कार्य-प्रणालियों में शास्त्रीय विधान की दृष्टि से जो विरोध आ गया था, उसकी मीमांसा करते हुए उन्होंने सुधार की दिशा में करणीय उपक्रमों तथा उनमें आकांक्षित सक्रिय सहयोग के विषय में भी विमर्शन किया।

पूर्ण सहयोग का निर्णय

आचार्य जयमलजी स्वामीजी के उद्देश्य से बहुत प्रभावित हुए। सैद्धान्तिक आधार पर किये गये पारस्परिक विमर्शन से दोनों में विचारों का भी पूरा-पूरा सामंजस्य स्थापित

1. (क) कई प्राचीन पर्चियों में स्वामीजी का सं. 1816 का चतुर्मास नगर का लिखा मिलता है, परन्तु जयाचार्य की एक कृति 'दृष्टान्त' (दृ. 13) में लिखा है—‘स्वामीजी नवो साधपणो लेवा त्यार थया जद जोधपुर जैमलजी भेलो चोमासो कीधो।’ यह चतुर्मास सं. 1816 का ही हो सकता है, क्योंकि सं. 1815 के राजनार चतुर्मास और सं. 1817 के केलवा चतुर्मास के मध्य यही एक चतुर्मास पड़ता है। तेरापंथ-इतिहास से संबद्ध अन्य किसी प्राचीन ग्रंथ में उक्त वर्ष के चतुर्मास-स्थल का कहीं कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

(ख) जयध्वज (आचार्य जयमलजी की जीवनी), प्रकरण 59 के अनुसार भी आचार्य जयमलजी तथा स्वामी भीखण्णजी ने सं. 1816 का चतुर्मास जोधपुर में साथ-साथ किया था।

तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद हो गया। उन्होंने तब आचार-विचार संबंधी शुद्धीकरण के शुभ कार्य में अपना पूर्ण सहयोग देने का निर्णय व्यक्त किया। आचार्य जयमलजी के संप्रदाय के मुनि थिरपालजी तथा मुनि फतेचन्दजी आदि अनेक साधुओं ने भी स्वामीजी के विचारों को समझा। वे सब उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धावान् हो गये। स्वामीजी वहां के सहयोग तथा सद्भाव से बहुत संतुष्ट हुए।

परिणाम-भंग

आचार्य रुघनाथजी को जब पता चला कि आचार्य जयमलजी के भीखणजी की श्रद्धा बैठ गई है और वे उनका साथ देने को तैयार हैं, तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। उनके विचारों को परिवर्तित करने के लिए उन पर नाना स्थानों से दबाव डाले जाने लगे। स्वयं आचार्य रुघनाथजी ने भी अपने प्रभाव का उपयोग करते हुए उन्हें उस कार्य से पृथक् होने के लिए बाध्य किया। उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाला एक पत्र सोजत के भाईयों द्वारा जोधपुर में आचार्य जयमलजी के पास भेजा गया। उसका आशय था—‘यदि आप भीखणजी के साथ मिल जायेंगे, तो नाम आपका न होकर भीखणजी का ही होगा। अभी आपको फुसलाने के लिए चाहे कुछ भी कहा जाये, परन्तु निश्चित है कि टोला—सम्प्रदाय भीखणजी के ही नाम से चलेगा। आपके साथ निश्चित ही फकीर के दुपट्टे वाली कहानी घटित होगी। राजा ने किसी फकीर को एक बढ़िया दुपट्टा भेंट किया। सेठ ने उसे अपने पुत्र के विवाह पर मांगा। फकीर ने बरात में ले चलने की शर्त पर वह दे दिया। बरात गांव के समीप पहुंची, तब दर्शकों ने वर के रंग, रूप तथा वस्त्राभूषणों की प्रशंसा की, परन्तु सर्वाधिक प्रशंसा दुपट्टे की की। फकीर ने कहा—‘दुपट्टा तो मेरा है। राजा ने मुझे भेंट किया था।’ सेठ ने उसे चुप रहने को कहा। बरात गांव में पहुंची। वहां भी लोग दुपट्टे को देखकर वाह-वाह करने लगे। फकीर फिर बोल उठा—‘दुपट्टा तो मेरा है।’ सेठ ने उसे फिर टोकते हुए कहा—‘साईंजी! चुप रहिए।’ बरात तोरण पर पहुंची, वहां भी दुपट्टे की प्रशंसा हुई तो फकीर ने उसे अपना बतलाया। सेठ ने तब दुपट्टा लौटाते हुए उसे वहां से चलता कर दिया। ठीक इसी प्रकार की घटना कालान्तर में आपके साथ भी घटित होने वाली है। साधु-साधिव्यां आपके होंगे, किन्तु आपको उन्हें अपना कहने का कोई अधिकार नहीं होगा। यदि आप कभी भूल से भी उन पर अपना अधिकार व्यक्त कर देंगे तो आपको तत्काल टोका जाएगा। इतने पर भी चुप नहीं रह सकेंगे तो निश्चित ही आपको वहां से विदा कर दिया जाएगा। फकीर को तो दुपट्टा वापस मिल गया था, परन्तु भीखणजी आपको एक भी साधु वापस देने वाले नहीं होंगे। नया संगठन खड़ा करने का श्रेय वे अकेले लेंगे। सबके मुख पर उन्हीं का नाम होगा। सर्वत्र उन्हीं की प्रशंसा के गीत गाये जायेंगे। आपको कोई पूछेगा तक नहीं।

‘एक अन्य बात के लिए भी आपको सावधान कर देना उचित होगा कि यदि आप भीखणजी का सहयोग करेंगे, तो वे आपके विद्वान् साधु-साधिव्यों को तो छांट कर ले लेंगे, किन्तु अवशिष्ट सबको ‘ढीले’ कहकर अवश्य ही पृथक् रखना चाहेंगे। ऐसी स्थिति

में वे सारे निराधार हो जायेंगे। उनके पारिवारिक गृहस्थ उनकी दुविधाओं से दुःखी होकर आपको ही कोसेंगे। अपने इतने बड़े टोले की सुव्यवस्था छिन-भिन कर किसी बहाव में बह जाना आप जैसे सुविज्ञ संघ-नायक के लिए शोभास्पद नहीं है।'

पत्र को पढ़कर आचार्य जयमलजी के परिणाम भंग हो गये। उन्होंने स्वामीजी के साथ मिलकर आचार-शुद्धि के लिए जो निर्णय किया था, उसे बदल दिया। अपनी उस विवशता को व्यक्त करते हुए उन्होंने स्वामीजी से कहा—‘भीखण्णजी! मैं तो गले तक इसी वातावरण में ढूब चुका हूँ। मेरा इससे बाहर निकल पाना सहज नहीं है। तुम पंडित हो, मेरी स्थिति को अच्छी तरह समझ सकते हो। तुम शुद्ध साधुचर्या का मार्ग स्वीकार करो। मेरे लिए तो यह लाभ प्राप्त करना अशक्य ही है।’¹

नव-निर्माण की भूमिका

स्वामीजी को आचार्य जयमलजी के उत्तर से स्पष्ट भासित हो गया कि आचार्यपद पर आसीन किसी भी व्यक्ति से क्रियोद्धार की आशा करना व्यर्थ है। वह बाह्य वातावरण के दबाव से इतना धिरा होता है कि अपनी स्थिति से तिलभर भी इधर-उधर होने का विचार स्वयं उसे या उसके पद को खतरा पैदा कर देता है। पद को छोटे-बड़े किसी भी परिवर्तन से बड़ी घबराहट रहती है। इसीलिए पदासीन व्यक्ति की मनोवृत्ति क्रांति के लिए कभी उपयोगी नहीं हो सकती। पद और प्रतिष्ठा का प्रलोभन त्याग कर जो स्वतंत्र चिन्तन के आधार पर कार्य करने की क्षमता रखता है, वही क्रान्ति कर सकता है।

स्वामीजी को लगा कि अब जो-कुछ करना है, वह सब स्वयं के बलबूते पर ही करना है। दूसरों की प्रतीक्षा में और अधिक समय व्यतीत करना उचित नहीं। किसी पूर्व-गठित संघ का आचार-विचार के आधार पर उद्धार करने का लक्ष्य उनके अंतरंग से हटा नहीं तो धूमिल अवश्य हो गया। क्योंकि उसके लिए अनेक बार प्रयास करने पर भी उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। आगे के लिए कोई सम्भावना भी दृष्टिगत नहीं हुई। उनके सम्मुख तब आमूलचूल नव-निर्माण का ही मार्ग शेष रहा। उन्होंने उसके लिए भूमिका निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। इतना होने पर भी आचार्य रुद्धनाथजी से एक बार पुनः मिलकर अंतिम रूप से निर्णय कर लेने का उन्होंने निश्चय किया।

1. दृष्टान्त, दृ. 13 के अनुसार उक्त घटना संवत् 1816 के जोधपुर-चतुर्मास की है, अतः स्वामीजी के स्थानकवासी श्रमण-संघ में रहते समय की है। परन्तु भिक्खु जस-रसायन (6। दोहा 1 से 9) में उक्त विवरण वहां दिया है जहां स्वामीजी संघ-मुक्त होकर बरलू के आगे आचार्य जयमलजी से मिले। उक्त दोनों ही कृतियां जयाचार्य की हैं। ‘दृष्टान्त’ संवत् 1903 की तथा भिक्खु जस-रसायन सं. 1908 की है। द्वितीय कृति के समय अवश्य ही प्रथम कृति सामने रही होगी, परन्तु एक व्यक्ति से संबंधित विवरण को टुकड़ों-टुकड़ों में न देकर एक साथ देने की दृष्टि से ही संभवतः ऐसा किया गया है। जयाचार्य की ही एक अन्य कृति ‘उपदेश रत्न कथा कोश’ (प्रकरण 7, कथा 5) में लिखा है—‘भीखण्णजी! थे निकलो, महां सूं तो निकलणी आवै नहीं।’ यहां ‘थे निकलो’ शब्दावली स्पष्ट सिद्ध करती है कि उक्त घटना स्थानकवासी श्रमण-संघ में रहते समय की है।

अभिनिष्क्रमण

चतुर्मास समाप्त होने पर स्वामीजी ने जोधपुर से विहार किया और क्रमशः विहरण करते हुए बगड़ी में आकर आचार्य रुद्धनाथजी के दर्शन किये। उचित अवसर देखकर नम्रता-पूर्वक उन्होंने सत्य-शोध के लिए सानुरोध निवेदन करते हुए कहा—‘स्वामिन्! भगवान् महावीर के वचनों पर विचार करें। संघ में शुद्ध श्रद्धा और शुद्ध आचार की पुनः प्रतिष्ठा करें। आत्म-कल्याण के लिए इस कार्य की अनिवार्य आवश्यकता है।’ इस प्रकार विविध रूप से समझाने का प्रयास किया, परन्तु उनकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। वि. सं. 1815 के राजनगर-चतुर्मास की समाप्ति से लेकर वि. सं. 1817 के चैत्र शुक्ला नवमी तक प्रायः एक वर्ष और पैने पांच महीने व्यतीत हो गये।¹ उस अवधि में गुरु-शिष्य में परस्पर अनेक बार विचार-विमर्श हुआ, उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में चर्चाएं भी हुईं, पर सुधार की ओर एक चरण भी आगे बढ़ने का कोई आसार दृष्टिगत नहीं हुआ। स्वामीजी ने तब स्पष्ट रूप से समझ लिया कि धार्मिक उत्क्रान्ति के लिए यहां से किसी प्रकार की आशा करना व्यर्थ है।

स्वामीजी ने तब अपने चिन्तन-प्रवाह को दूसरी ओर मोड़ दिया। उन्होंने सोचा—‘आत्म-कल्याण के जिस महान् उद्देश्य से घर-बार छोड़कर मैं यहां दीक्षित हुआ, उसकी कुछ भी पूर्ति नहीं हो पा रही है। इस स्थिति में संघ के व्यामोह में फंसकर निरुद्देश्य यहां बैठे रहना मेरे लिए शोभास्पद नहीं हो सकता। मुझे आत्म-कल्याण को ही प्राथमिकता देनी चाहिए। उसके बिना प्रत्येक साधना केवल विराधना या विडम्बना बनकर रह जाती है।’ उक्त चिंतन-क्रम में उन्होंने संघ से सम्बन्ध-विच्छेद कर अभिनिष्क्रमण का निश्चय कर लिया।

उन्होंने उपयुक्त समय का निर्धारण किया और तदनुसार वि. सं. 1817 चैत्र शुक्ला नवमी को आचार्य रुद्धनाथजी से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। उनके साथ टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारमलजी; इन चार सन्तों ने भी उस मार्ग का अनुसरण किया। ये चारों वे ही संत थे, जो राजनगर चतुर्मास में भी स्वामीजी के साथ थे। तत्काल पांचों साधु ‘स्थानक’ को छोड़कर बाहर आ गये। ‘रामनवमी’ नाम से समग्र भारत में प्रख्यात वह पर्व-दिन स्वामी भीखणजी के लिए आत्म-विजय के पथ पर अभिनिष्क्रमण का पुनीत दिन बन गया।

1. ख्यात (पत्र 1) में लिखा है—‘इम खप करता बरस दो जाझा भेला रह्या।’ ख्यात का ही प्रमुख आधार लेकर लिखे गये ‘शासन-प्रभाकर’ में यति हुलासजी ने भी यही कहा है—

‘इम समझावण माटै खप करी, दोय बरस जाझा भेला रही सार।’ (2/57)

उक्त दोनों ही ग्रंथों में उपर्युक्त कालावधि दो वर्ष से भी कुछ अधिक बतलाई है; किन्तु यह संगत नहीं है; क्योंकि राजनगर और केलवा के चतुर्मासों के सम्बन्ध क्रमशः 1815 और 1817 सुनिर्णीत हैं, तब उनके मध्यवर्ती काल में होने वाले अभिनिष्क्रमण तक का समय साधिक दो वर्ष हो ही नहीं सकता।

नवजीवन की ओर

दृढ़ता के साथ

स्वामीजी ने स्थानकवासी सम्प्रदाय से पृथक् होकर शुद्ध साधुता के नवजीवन की ओर अपने चरण बढ़ाये। शुद्ध संयम के लिए जैनागमों में जिस आचार-विचार का प्रतिपादन किया गया है, उसे वे अपने जीवन में उतार कर प्रत्यक्ष कर देना चाहते थे। उस समय के अधिकांश व्यक्तियों में जब यह भावना घर कर चुकी थी कि इस युग में शुद्ध साधुता का पालन असम्भव है, तब स्वामीजी ने उसके विरुद्ध यह सिद्ध कर दिखाने का निर्णय किया कि असम्भव कुछ भी नहीं है, केवल दृढ़ आत्मबल की ही आवश्यकता है। वे उसी प्रकार के सुदृढ़ आत्म-बल को लेकर आगे बढ़े। वे जानते थे कि नवजीवन के इस मार्ग में अनेक बाधाएं आयेंगी। पहले-पहल तो सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति भी विरल ही मिलेंगे। सहयोग के नाम पर केवल अपना आत्म-विश्वास ही होगा। दूसरे तो प्रायः असहयोगी ही नहीं, बल्कि विरोधी होंगे। इतना सब-कुछ सोच-समझ लेने के पश्चात् ही उन्होंने पूर्ण दृढ़ता के साथ उस मार्ग पर आगे बढ़ने का निश्चय किया था।

संघ की 'आण'

आचार्य रुद्धनाथजी उस समय स्थानकवासी सम्प्रदाय के एक बड़े 'टोले'—सम्प्रदाय के आचार्य थे। स्वामीजी ने उनसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद किया, तो उन्होंने उनके विरुद्ध नाना विरोध और बहिष्कारों के रूप में विपत्तियों के पहाड़ खड़े कर दिये। फिर से स्थानक में अने को बाध्य करने के लिए योजना बनी। संघ ने सेवक के द्वारा सारे नगर में ढिँढ़ेरा पिटवा दिया कि कोई भी व्यक्ति भीखण्जी को ठहरने के लिए स्थान न दे। यह संघ की 'आण' है। यदि कोई स्थान देगा, तो संघ उसे आज्ञा-भंग का दोषी मानेगा और दण्डित करेगा।

स्वामीजी उस विरोध से विचलित होने वाले नहीं थे। वे अपने विचारों के पक्के थे। आने वाले किसी भी तूफान का सामना कर सकने का उनमें भरपूर आत्मबल था। उन्होंने नगर में रहने योग्य स्थान की काफी गवेषणा की, परन्तु संघ की 'आण' के भय से कोई भी व्यक्ति स्थान देने को तैयार नहीं हुआ। उन लोगों की यह एक चाल थी कि सारे नगर में जब कोई स्थान नहीं मिलेगा, तब अन्त में हारकर स्वयं ही इन्हें स्थानक में आना पड़ेगा। स्वामीजी उस चाल को अच्छी तरह से जानते थे, अतः उन्होंने सोचा—'स्थानाभाव से घबरा कर यदि मैं पुनः स्थानक में चला जाऊंगा, तो फिर से उसी छूटे हुए

60 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
जाल में फंस जाऊंगा। दुबारा वहां से निकल पाना अत्यन्त कठिन हो जायेगा।’ उन्होंने तब वहां से विहार कर अन्य ग्राम में चले जाने का निश्चय किया।

जैतसिंह की छत्री में

स्वामीजी विहार करके नगर से बाहर तक ही पहुंचे थे कि जोर से आंधी चलने लगी। तेज आंधी में विहार करना अकल्प्य है, इसलिए वे वहाँ पाश्व-स्थित शमशान-भूमि में बनी जैतसिंहजी की छत्री में ठहर गए। यह उनका प्रथम निवास-स्थान था। जगत् जिसे अपनी मंजिल का अन्तिम स्थान समझता है, स्वामीजी ने उसे अपनी मंजिल का प्रथम स्थान बनाया। वह था भी ठीक। सामान्य जन जहां अपनी सीमा को समाप्त करते हैं, विशेष वहाँ से अपनी सीमा का प्रारम्भ करते हैं। सामान्य और विशेष का अन्तर यहीं तो स्पष्ट होता है।

गुरु के मोहोद्वार

छत्री में ठहरने का संवाद जब आचार्य रुधनाथजी ने सुना, तो वे अनेक लोगों के साथ वहां आए¹ और स्वामीजी पर दबाव डालते हुए कहने लगे—‘तुम्हें समय देखकर चलना चाहिए। पंचमकाल में इतनी कठोर चर्या किसी प्रकार से निभ नहीं सकती, अतः निर्थक हठ को छोड़कर मेरे साथ फिर से स्थानक में चले आओ।’

स्वामीजी ने कहा—‘समय के बहाने से शिथिलाचार को प्रश्रय देना उचित नहीं हो सकता। पंचमकाल में भी साधु-चर्या के कठोर नियम उसी प्रकार निभाए जा सकते हैं जिस प्रकार पहले निभाए जाते थे। इसी विश्वास के आधार पर हम लोग जिन-आज्ञा के अनुसार शुद्ध संयम पालना चाहते हैं। आपसे भी इसीलिए निवेदन किया था कि यदि आप क्रियोद्वार के लिए उद्यत हों, तो अब भी पूर्ववत् आप हमारे गुरु हैं और हम आपके शिष्य। इससे न्यून अन्य कोई बात स्वीकार्य नहीं हो सकती।’

स्वामीजी के दृढ़ रुख से आचार्य रुधनाथजी को बड़ी निराशा हुई। संघ का गौरव बढ़ाने योग्य तथा असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न अपने प्रिय शिष्य के उस निष्क्रमण ने उनके हृदय और आंखों को द्रवीभूत कर दिया। उनके साथ सामजी ऋषि के शिष्य उदयभानजी नामक साधु भी आये हुए थे। वे उनके पास ही खड़े थे। उन्होंने कहा—‘आप एक टोले के नायक हैं, अश्रुपात करने की यह दुर्बलता आपको शोभा नहीं देती।’

आचार्य रुधनाथजी ने कहा—‘किसी का एक जाता है तो उसे भी चिन्ता होती है, यहां तो भला एक साथ पांच जा रहे हैं।’²

1. स्थानकवासी मुनि कनीरामजी रचित ‘सिद्धान्तसार’ की प्रस्तावना में आचार्य रुधनाथजी के छत्री में आगमन को इन शब्दों में व्यक्त किया है—‘करुणाशील परम प्रीतीय भाव धारण करता थका तेमने समजाववा खातर सामने पधार्या।’

2. (क) स्थानकवासी मुनि कनीरामजी रचित ‘सिद्धान्तसार’ की प्रस्तावना के अनुसार आचार्य रुधनाथजी को यह चिन्ता तथा मोह उस समय हुआ था, जब स्वामीजी उनसे पृथक् होने लगे थे तथा अपने साथ जाने वालों के नामों से उनको अवगत किया था। उस स्थिति को वहां इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—‘तो सांभली श्री गुरु ईष्ट धर्मानुराग-रूप सराग-वशे चिन्ता-ग्रसित थया।’ →

गुरु के उस मोह और अश्रुपात को देखकर भी स्वामीजी विचलित नहीं हुए। उन्होंने सोचा—‘जिस दिन मैंने घर छोड़ा था, उस दिन मेरी माता ने भी स्नेहवश आंसू बहाये थे, परन्तु मैंने उनकी कोई परवाह न करके गृह-त्याग किया था, तो अब इन आंसुओं का मूल्य ही क्या हो सकता है? यदि मैं इस मोह के प्रवाह में बह जाऊं, तो आत्म-कल्याण के अपने लक्ष्य को किसी भी प्रकार पूरा नहीं कर सकता।’ वे पूर्णरूपेण दृढ़-चित्त रहे और मोह का अपने पर कोई प्रभाव नहीं होने दिया।

एक धमकी

मोह मनुष्य को जितना द्रवित कर सकता है, उतना ही अधिक कठोर भी बना सकता है। स्वामीजी की दृढ़चित्तता से आचार्य रुधनाथजी के अभिमान को भारी धक्का लगा। वे कठोर हो गये और धमकी भरे शब्दों में कहने लगे—‘अच्छा, तो अब तू भी देखना। आगे तू है और पीछे मैं। तेरे पीछे इतने लोगों को लगा दूंगा कि तू फिर याद करता रहेगा।’

स्वामीजी उसी शान्त भाव से बोले—‘मैं अपने जीवन में सम्यक् चारित्र की साधना करने जा रहा हूं, अतः आप जो कह रहे हैं, वह तो स्वतः ही होने वाला है, फिर भी इस विशेष अवसर पर मैं आपके इन दोनों ही वाक्यों को अपने लिए आशीर्वाद ही मानता हूं। यदि आप इन वाक्यों में धमकी दे रहे हैं, तो भी मेरे लिए कोई चिन्ता की बात नहीं है, क्योंकि मैं तो परीषष्ठ सहन करने के लिए तुला हुआ ही हूं, तब फिर इस प्रकार की धमकियों से क्या डरूंगा? किन्तु आप स्वयं अपनी आत्मा के लिए सोच लीजियेगा और जैसा कल्याणकारी लगे, वैसा ही कीजियेगा।’

इस तरह के शान्त और सन्तुलित उत्तर से आचार्य रुधनाथजी हतप्रभ हो गये। आगे और कुछ कहने को न तो उनके पास कोई बात ही शेष रह गई थी और न साहस ही। जब वे अपनी नरम और गरम, दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियों से स्वामीजी को वापस आने के लिए उद्यत नहीं कर सके, तो अनन्योपाय होकर नगर में चले गये।

(ख) जयाचार्य ने भि.ज.र. 515 से 7 में इसे छत्री की ही घटना कहा है—उनके शब्द इस प्रकार हैं :

‘ए बचन सुणी द्रव्य गुरु भणी, तूटी आश तिवार।
मोह आयो तिण अवसरे, चिन्ता हुई अपार॥
सामजी ऋषि नो साध थो, उदैभाण कहै एम।
टोला तणा धणी बाज नै, आंसूपूच करो केम॥
किणरो एक जावै तरै, आवै फिकर अपार।
म्हार पांच जावै सही, गण में पड़ै बघार॥’

(ग) पुर-निवासी महात्मा सोहनलालजी से प्राप्त प्राचीन पत्रों (पत्र 5) के अनुसार भी उक्त घटना छत्री की ही है, परन्तु उसके अनुसार स्वामीजी अन्य किसी ग्राम से विहार कर बगड़ी आये थे। अंधड़ आ जाने के कारण वे छत्री में रुक गये। आचार्य रुधनाथजी भी उनके पीछे-पीछे ही विहार कर वहां पहुंचे थे। उक्त पत्र के अनुसार अश्रुपात के समय आचार्य रुधनाथजी को टोकने वाले साधु उदयभानजी आचार्य धर्मदासजी के टोले के थे। वे पहले से ही बगड़ी में आये हुए थे।

स्वामीजी ने अपनी शान्त वृत्ति के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि सत्यनिष्ठ और दृढ़निश्चयी को न तो स्नेह, मोह या नरमी ही विचलित कर सकती है और न धमकियां, विरोध एवं गरमी ही, प्रत्युत वे तो उसके आत्मबल की वृद्धि ही किया करते हैं। कई बार तो उन सबके साथ किया गया संघर्ष ही उसके विकास और आत्मबल का मापदंड बन जाता है।

ऐतिहासिक स्थल

बगड़ी और जैतसिंहजी की छत्री—ये दोनों ही तेरापंथ के लिए ऐतिहासिक स्थल बन गये। पहला धर्मक्रांति के लिए स्वामीजी द्वारा किये गये अभिनिष्क्रमण के कारण, तो दूसरा प्रथम प्रवास-स्थल बनने के कारण।

बगड़ी में उक्त छत्री राव जैतसिंहजी की स्मृति में बनी हुई है। वे बगड़ी पर शासन करने वाले अपने वंश के प्रथम पुरुष थे। उनके पूर्व वहाँ सिंधलों का राज्य था। उस समय बगड़ी का नाम वैरागढ़ था। सं. 1300 के आस-पास राव वैरीसालजी सिंधल (राठौर) ने उसे अपने नाम पर बसाया और अपनी राजधानी बनाया था। सिंधलों ने प्रायः पौने तीन सौ वर्षों तक वहाँ राज्य किया।

सोजत के राव पंचायणजी राठौर ने सिंधलों पर आक्रमण किया और उन्हें परास्त कर सं. 1573 में वैरागढ़ पर अपना अधिकार कर लिया। युद्धकालीन मार-काट तथा लूट-पाट ने नगर को वीरान बना दिया। काफी लंबे समय तक वहाँ की व्यवस्था ऐसी बिगड़ी हुई रही कि लोगों ने उसका नाम ही बगड़ी कर दिया।

राव पंचायणजी के पुत्र जैतसिंहजी सं. 1574 में बगड़ी के प्रथम शासक बने। उनके शासनकाल में पुनः लोगों में सुरक्षा की भावना पनपी, अतः बस्ती फिर से बढ़ गई। राव जैतसिंहजी सं. 1600 में एक युद्ध में वीर-गति को प्राप्त हुए। दसवीं पीढ़ी में उनके वंशज राव पहाड़सिंहजी हुए। उन्होंने अपने पूर्व-पुरुष जैतसिंहजी की स्मृति में बगड़ी के बाहर 'जैतल' तालाब और उसकी पाल पर उक्त छत्री का निर्माण करवाया।¹

सं. 1817 में रामनवमी के दिन स्वामी भीखणजी द्वारा किये गये अभिनिष्क्रमण ने बगड़ी को तथा स्वल्पकालीन प्रथम प्रवास ने उक्त छत्री को तेरापंथ के गरिमामय इतिहास से अवियोज्य रूप में संबद्ध कर दिया।

बगड़ी से विहार

स्वामीजी ने बगड़ी से विहार कर दिया। वे अपने अभिनिष्क्रमण सम्बन्धी सारे समाचारों से आचार्य जयमलजी को अवगत कराना चाहते थे। समान विचारवाले साधुओं से भी विचार-विमर्श करने का उनका ध्येय था। आचार्य जयमलजी उस समय जोधपुर से उत्तर-पूर्ववर्ती क्षेत्रों में विहार कर रहे थे। बरलू (जिसे अब 'भोपालगढ़' कहते हैं) या उसके आस-पास किसी क्षेत्र में उनके मिलने की संभावना थी। इसीलिए स्वामीजी ने उस

1. उक्त विवरण बगड़ी-राजधाने की ख्यात के आधार पर राव जैतसिंहजी के वर्तमान वंशज भूपालसिंहजी द्वारा उपलब्ध करवाया गया है।

ओर विहार किया। यद्यपि आचार्य जयमलजी ने धर्म-क्रांति में प्रत्यक्ष साथ दे पाने की अपनी असमर्थता जोधपुर-चतुर्मास में ही व्यक्त कर दी थी, फिर भी उनके मन में उक्त धर्म-क्रांति के प्रति जो सहानुभूति और सद्भावना थी, उसका आदर करना स्वामीजी अपना कर्तव्य समझते थे। साथ ही आचार्य जयमलजी के जिन शिष्यों ने साथ देने की तैयारी बतलाई थी, उन्हें लेने के लिए भी वहां जाना आवश्यक था।

बगड़ी से बरलू प्रायः सीधा उत्तर की ओर 32 कोस (लगभग 100 कि. मी.) दूर है। सोजत, बीलाड़ी, भावी और पीपाड़ आदि मार्गवर्ती मुख्य क्षेत्र हैं। स्वामीजी इसी सरल तथा उस समय के चालू मार्ग से बरलू पधरे-ऐसा कहा जा सकता है।¹

बरलू में चर्चा

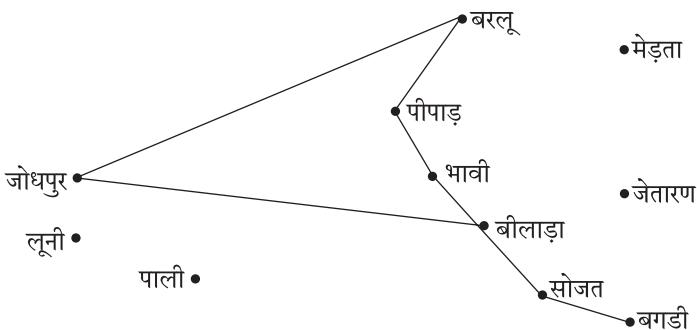
स्वामीजी बरलू पहुंचे। उनके पीछे के पीछे आचार्य रुद्धनाथजी भी पहुंच गये। वे अपनी पूर्व प्रदत्त धमकी को मानो क्रियान्वित करने के लिए ही वहां आये थे। उन्होंने आते ही चर्चा करने का वातावरण बनाया। स्वामीजी को उसमें कोई बाधा नहीं थी।

आचार-शैथिल्य के विरुद्ध वे अपना मंतव्य आचार्यजी के सम्मुख तो पहले अनेक बार रख ही चुके थे, अब यदि वही बात जनता के सम्मुख रखने का उन्हें सहज अवसर मिल रहा था तो वे क्यों चूकते? उन्होंने वह आह्वान स्वीकार कर लिया। साध्वाचार के विषय में तब डटकर चर्चा हुई।

आचार्य रुद्धनाथजी आचार-शैथिल्य को आगम-सम्मत तो बतला नहीं सकते थे, पर उसको छोड़ने का साहस भी उनमें नहीं था। ऐसी स्थिति में उन्होंने उसे पंचम काल के नाम पर डालते हुए कहा—‘यह दुष्प्रमकाल है। इसमें पूरी साधुता नहीं निभ सकती।’

स्वामीजी ने उसका उत्तर देते हुए कहा—‘दुष्प्रमकाल का तात्पर्य यह थोड़े ही है कि उसमें धर्म की पूर्ण साधना नहीं की जा सकती। उसका तात्पर्य तो इतना ही कहा जा सकता है कि उक्त काल में बल, संहनन आदि हीन होंगे, अतः धर्म-साधना में नाना प्रकार की शारीरिक और मानसिक कठिनाइयां रहेंगी। जो व्यक्ति चारित्र का पालन करना

1. स्वामीजी के उस समय के विहार-क्रम का मानचित्र (1 सेंटीमीटर 20 कि.मी. के बराबर) इस प्रकार है :



आचार्य रुद्धनाथजी ने बात का रुख बदलते हुए कहा—‘शुद्ध चारित्र क्या कोई साधारण बात है? यदि केवल दो घड़ी शुद्ध ध्यान कर ले अथवा शुद्ध चारित्र पाल ले, तो वह केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है।’

स्वामीजी बोले—‘संयम तो एक निरन्तर की साधना है। घड़ी या दो-घड़ी का कोई तात्पर्य नहीं। एक क्षण का भी प्रमाद किए बिना, लक्ष्य-प्राप्ति तक अविश्वान्त उसी मार्ग पर आगे बढ़ना आवश्यक है। यदि दो घड़ी की शुद्ध साधना से ही केवलज्ञान प्राप्त किया जा सकता हो, तो इतने समय के लिए तो मैं श्वास रोक कर भी शुद्ध ध्यान कर सकता हूँ। आचार्य जम्बू के पश्चात् वर्ती प्रभव और शश्यभव आदि आचार्यों को केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, तो क्या उन्होंने दो घड़ी के लिए भी शुद्ध संयम नहीं पाला? भगवान् महावीर के चौदह सहस्र शिष्यों में से केवल सात सौ ही केवली हुए, तो क्या अवशिष्ट साधुओं ने दो घड़ी के लिए भी शुद्ध संयम की आराधना नहीं की? स्वयं भगवान् महावीर भी संयम ग्रहण करने के पश्चात् लगभग साढ़े बारह वर्षों तक छद्मस्थ रहे। क्या आप कह सकते हैं कि उस अवधि में दो घड़ी के लिए भी उन्होंने शुद्ध ध्यान नहीं किया और शुद्ध चारित्र का निर्वहन नहीं किया? यों तो दो घड़ी क्यों, इससे कम समय में भी मरुदेवी और भरत आदि ने केवलज्ञान प्राप्त किया है, परन्तु देशोन करोड़ पूर्व तक शुद्ध संयम पालने पर भी किसी-किसी को केवलज्ञान नहीं होता। इसीलिए शुद्ध संयम जीवनभर के लिए एक साधना है, चाहे उससे केवलज्ञान प्राप्त हो अथवा न हो।’

स्वामीजी के निर्भीक कथन ने आचार्य रुद्धनाथजी के चर्चा-उत्साह पर तुषारापात कर दिया। यद्यपि पारस्परिक चर्चा का वह प्राथमिक दौर वहीं समाप्त हो गया, किन्तु स्थिति में किसी प्रकार का कोई अंतर नहीं आ सका।

आचार्य जयमलजी से मिलन

स्वामी भीखणजी बरलू (भोपालगढ़) में अधिक नहीं रहे। उन्हें आचार्य जयमलजी से मिलना था, पर वे कुछ ही दिन पूर्व वहां से विहार कर चुके थे। वे जोधपुर की ओर गये थे, अतः स्वामीजी ने भी उधर विहार किया और उनसे मिले। अभिनिष्ठक्रमण के पश्चात् वह उनका प्रथम मिलन था। उक्त मिलन के स्थान और समय सम्बन्धी असंदिग्ध जानकारी देने वाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। एतद्-विषयक ग्रन्थों से केवल इतना ही ज्ञान होता है कि वे बरलू से विहार करने के पश्चात् उनसे मिले थे।¹ सम्भव है वह मिलन बरलू और जोधपुर के मध्यवर्ती किसी क्षेत्र में हुआ हो।

1. (क) भि. ज. र. 6। दोहा 1।

(ख) लघु भि. ज. र. 3132 से 34।

स्वामीजी ने आचार्य जयमलजी के सम्मुख सारी घटना तथा परिस्थितियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया। अपने आगामी निश्चय से भी उन्हें अवगत किया। आचार्य जयमलजी का स्वामीजी के विचारों से पूरा सामंजस्य था, परन्तु बाह्य दबावों के कारण वे उनका साथ नहीं दे पाये। उनके टोले के मुनि थिरपालजी आदि छह संतों ने स्वामीजी का साथ देने का निश्चय किया और वे वहाँ से उनके साथ हो गये। दो संत अन्य टोले से आकर भी सम्मिलित हुए।

आचार्य जयमलजी ने अपने टोले से एक साथ छह संतों के चले जाने पर भी न उनको रोकने का प्रयास किया और न किसी प्रकार का विरोध ही प्रकट किया। मौन रहकर एक प्रकार से वे उनके सहयोगी ही बने। कहा जाता है कि आचार्य रुधनाथजी को जब उनके उक्त व्यवहार का पता चला तो वे बहुत रुष्ट हुए। स्वामीजी के प्रति प्रदर्शित उक्त सहानुभूति ने उनके मन को आहत कर दिया। गुरु-भाई होने पर भी उन्होंने उनसे बोलचाल तक का व्यवहार बंद कर दिया। आचार्य जयमलजी ने उनके रोष की कोई परवाह नहीं की। स्वामीजी के साथ उनका स्नेहपूर्ण व्यवहार यथावत् चालू रहा।¹

तेरह साधु

स्वामीजी का निर्णय था कि अब उन्हें विशुद्ध जिन-भाषित मार्ग को ध्येय बनाकर ही आगे बढ़ना है। कौन उनके साथी होते हैं और कौन नहीं, इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं करनी है। उनका दृष्टिकोण स्पष्ट था कि संयम-जीवन के प्रासाद का नया पाया रखते समय जो उसकी नींव में अपने आपको सर्वभाव से समर्पित करने के लिए उद्यत हों, वे ही साथ आयें। इसीलिए उनका साथ देने वालों की संख्या अधिक नहीं थी। बलिदानियों की संख्या अधिक हुआ भी नहीं करती। वे कुल मिलाकर तेरह साधु हो गए। उनमें एक तो स्वामी भीखण्णजी थे ही, जो उस अनुष्ठान के आद्य प्रेरक थे। शेष साधुओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं :

- | | |
|--------------|-----------------------|
| 1. थिरपालजी | 7. लिखमीचंदजी |
| 2. फतेचन्दजी | 8. बखतरामजी |
| 3. वीरभाणजी | 9. गुलाबजी |
| 4. टोकरजी | 10. भारमलजी (द्वितीय) |
| 5. हरनाथजी | 11. रूपचन्दजी |
| 6. भारमलजी | 12. पेमजी |

1. स्थानकवासी आचार्य जवाहललालजी द्वारा लिखित 'सद्धर्म-मंडनम्' की प्रस्तावना में उक्त तनाव अभिनिष्क्रमण से पूर्व ही प्रारंभ हो गया बतलाया है। वहाँ लिखा है-'इसके बाद वे (भीखण्णजी) आचार्यश्री के गुरु-भाई आचार्यश्री जयमलजी के पास चले गये। इस कारण उभय गुरु-भाइयों में मतभेद हो गया और वह 6 महीने तक चलता रहा।'

उक्त तेरह साधुओं में स्वामी भीखणजी, टोकरजी, हरनाथजी, भारमलजी और वीरभाणजी, ये पांच तो आचार्य रूद्धनाथजी के टोले के तथा थिरपालजी, फतेचन्दजी, लिखमीचंदजी, बखतरामजी, गुलाबजी और भारमलजी (द्वितीय), ये छः आचार्य जयमलजी के टोले के थे। अवशिष्ट दो साधु रूपचन्दजी और पेमजी किस टोले के थे, इस विषय में कहीं कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, परन्तु अनुश्रुति है कि वे श्यामदासजी के टोले के थे। सब अपने-अपने संघों से मुक्त होकर स्वामीजी के साथ सम्मिलित हुए थे।

जोधपुर में

स्वामीजी जोधपुर पधारे। पिछले चतुर्मास (सं. 1816) में जहां आचार्य जयमलजी तथा उनके अनेक साधु स्वामीजी के विचारों से प्रभावित एवं सहमत हुए थे, वहां अनेक श्रावकों ने भी उन विचारों को हृदयंगम किया था। अब स्वामीजी के सम्मुख ऐसा अवसर उपस्थित हो चुका था कि वे उन श्रावकों को एकत्रित करें और बिखरे मोतियों को पिरोकर बनाई गई एक माला का रूप प्रदान करें। उनके जोधपुर-पदार्पण की सार्थकता मुख्यतः इसी कार्य के साथ जुड़ी हुई थी।¹

जोधपुर में प्रवेश करने के साथ ही स्वामीजी के सम्मुख ठहरने के लिए उपयुक्त स्थान प्राप्त करने की समस्या उपस्थित हुई। यद्यपि विगत चतुर्मास उन्होंने जोधपुर के स्थानक में ही किया था, परन्तु परिवर्तित परिस्थितियों में वहां ठहरने का प्रश्न ही नहीं था। स्वामीजी का सिद्धांतवादी मन वैसा करने को कभी उद्यत भी नहीं हो सकता था। वे तो प्रचार करने से पूर्व प्रत्येक सिद्धांत को अपने जीवन की कसौटी पर कसकर देखने वाले व्यक्ति थे। उनकी क्रिया उनके कथन से पीछे रहने की अभ्यस्त नहीं थी।

1. स्वामीजी के जोधपुर-पदार्पण के विषय में भिक्खुचरित, भिक्षु-जस-रसायण तथा ख्यात आदि सभी प्राचीन इतिहास-ग्रंथ मौन हैं। वर्णन का संक्षिप्तीकरण ही संभवनीय कारण है। केवल भिक्षु-युगीन श्रावक गिरधरजी सियाल (नाडोल-निवासी) द्वारा रचित गीतिका में उसका स्पष्ट उल्लेख है। गीतिका का वह पद्य इस प्रकार है :

‘बरलू सूं कीधो विहार, आया जोधाणै सेहर मझार।

सुणो चित्त लाय, उठै तेरै भायां पोसा किया ए॥१२९

पाठभेद के कारण कई प्रतियों में उक्त पद्य नहीं भी मिलता। परन्तु स्वामीजी के सुप्रसिद्ध श्रावक गुमानजी लूणावत द्वारा लिखित पोथे में उक्त पद्य है। उसका लिपिकाल सं. 1880 फाल्गुन शुक्ला 12-13 है। पाठभेद भी लगभग उतना ही प्राचीन है, क्योंकि साध्वी कमलजी (साधना-काल सं. 1874-1902) द्वारा लिखित प्रति में उक्त पद्य नहीं है। वह प्रति सं. 1881 भाद्र कृष्णा 9 की है और लाडनूं के ग्रन्थ-भंडार में है।

यहां लूणावतजी की प्रति को ही प्रमाण माना गया है। उसमें निम्नोक्त दो कारण हैं :

- (1) उपलब्ध प्रतियों में वही सबसे प्राचीन है।
- (2) वर्षों तक स्वामीजी के प्रत्यक्ष संपर्क में रहने वाले तथा उनके सब ग्रंथों को कण्ठस्थ कर लिखने वाले व्यक्ति द्वारा लिखित प्रति की अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिकता प्रतीत हुई।

कंधों पर भार उठाये हुए स्वामीजी ने जब वहां ठहरने के लिए स्थान की गवेषणा प्रारम्भ की तो अनायास ही उन्हें बाजार में कुछ दुकानें खाली मिल गईं। उनके स्वामी की आज्ञा प्राप्त कर वे वहां ठहर गये। बाजार होने के कारण वहां लोगों का आगमन सहज ही अधिक था, फिर स्वामीजी के ठहर जाने से धर्म-चर्चा के निमित्त आने वालों से उसमें और वृद्धि हो गई। वस्तुतः उस समय वह स्थान धर्म-चर्चा का एक केन्द्र बन गया।

उस समय तक स्वामीजी ने अपने विचारों का प्रचार-प्रसार मुख्यतः साधुओं में ही किया था। गृहस्थों को समझाने का अवसर उन्हें स्वल्प्य ही उपलब्ध हुआ। परन्तु अब वे आगन्तुक व्यक्तियों को भी खुलकर अपने विचारों से अवगत कराने लगे। वे आगम-सम्मत आचार और विचार के सम्बन्ध में बहुत-सी सारगर्भित बातें बतलाते। प्रायः पूरे दिन जिज्ञासु व्यक्तियों का तांता लगा रहता। उनमें से अनेक व्यक्तियों के मन में स्वामीजी के विचार जमे और वे उनके भक्त बन गये। उन श्रद्धालु व्यक्तियों में गेरूलालजी व्यास आदि कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे, जिन्होंने स्वामीजी के विचारों को केवल समझा ही नहीं, अपितु दूसरों को समझाने में भी काफी भाग लिया। जोधपुर के उन व्यक्तियों को तेरापंथ के आद्य श्रावक होने का श्रेय प्राप्त है।

स्वामीजी उस समय जोधपुर में कुछ ही दिन ठहरे, परन्तु उतने ही दिनों में वहां के धार्मिक वातावरण में एक हलचल पैदा हो गई। उनका व्यक्तित्व और विचार उस समय के धार्मिक जगत् में चर्चा के मुख्य विषय बन गये। कोई उनके पक्ष में बोलता, तो कोई विपक्ष में। वह अवसर ही कुछ ऐसा था कि कहीं भी कोई धार्मिक चर्चा प्रारम्भ होती तो वह प्रायः घूम-फिर कर स्वामीजी पर आ जाती और ऊहापोह का एक द्वार ही खुल जाता। व्यासजी आदि श्रावक उस अवसर का अधिक-से-अधिक सदुपयोग करने में लग गये। स्वामीजी के द्वारा प्रज्वलित सत्‌श्रद्धा की ज्योति को वे अपने प्रयास की आहुति से अधिकाधिक तेजोमय बना देना चाहते थे।

एक केन्द्र

स्वामीजी ने जोधपुर से बीलाड़ा की ओर विहार किया। उनका अनुयायी साधुवर्ग भी उनके साथ ही चला गया। पीछे से जोधपुर के श्रावकों को यह चिंतन करना आवश्यक हो गया कि इतने दिन तो वे स्वामीजी के पास अनायास ही एकत्रित हो जाया करते थे, परन्तु अब क्या व्यवस्था की जाये?

स्वामीजी ने स्थानक का परित्याग कर दिया था, अतः उनके भक्तजनों के लिए भी आवश्यक था कि वे स्थानक को किसी प्रकार का प्रश्रय न दें और उसे अपनी गतिविधियों का आधार न बनायें। स्वामीजी के विचार स्थानक के विषय में बिल्कुल स्पष्ट थे। उनका कथन था—‘जिस प्रकार साधारण गृहस्थ के ‘घर’, सेठ के ‘हवेली’ और राजा के ‘प्रासाद’ होता है तथा विभिन्न संन्यासियों के मठ, अस्थल, आसन, मढ़ी आदि नाम से भवन होते हैं, उसी प्रकार जैन साधुओं के निमित्त ‘स्थानक’ बनाये जाते हैं। इन सबमें केवल नाम का ही अन्तर है, वस्तु-दृष्टि से तो ये सब घर ही हैं। यह एक प्रकार का प्रच्छन्न परिग्रह है,

तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
जो साधु को अपरिग्रही नहीं रहने देता। अन्य भवनों के निर्माण की ही तरह इनके निर्माण में भी जीव-हिंसा होती है। वह साधु के निमित्त होती है, अतः ऐसे भवनों में ठहरने से साधु अहिंसक नहीं रह सकता। उसे 'उद्दिष्ट' दोष का भागी होना पड़ता है।¹

स्वामीजी के विचारों पर श्रद्धा रखने वाले उन थोड़े-से लोगों ने तब यही निर्णय किया कि उन्हें प्रतिदिन उसी दुकान पर एकत्रित होना चाहिए, जहां कुछ दिन पूर्व स्वयं स्वामीजी ने निवास किया था। उसी दिन से वे लोग सामायिक, पौष्टि आदि धर्म-क्रिया तथा धर्म-चर्चा के लिए वहां एकत्रित होने लगे। आस-पास की अन्य दुकानों में, जहां सांसारिक व्यापार चला करता, वहां उस दुकान में धार्मिक व्यापार चलता। अनेक नये-नये तत्त्व-जिज्ञासु ग्राहक के रूप में आया करते और तत्त्व-चर्चा में भाग लिया करते। उन दिनों वह स्थान स्वामीजी के विचार-प्रसार का एक अच्छा केन्द्र बना हुआ था। इतना ही नहीं, स्वामीजी के सम्बन्ध में परिपूर्ण जानकारी भी लोगों को वहां से मिला करती थी।

किसनोजी की व्यवस्था

स्वामीजी जोधपुर के पश्चात् कुछ दिन बीलाड़ा में बिराजे। वहां बालमुनि भारमलजी के पिता मुनि किसनोजी ने दर्शन किये। पिता-पुत्र-दोनों को स्वामीजी ने ही दीक्षित किया था। पुत्र प्रारम्भ से ही स्वामीजी के साथ रहकर अध्ययन करने लगे और पिता अन्य मुनियों के साथ जनपद-विहार में लग गये। उन्हें जब स्वामीजी के अभिनिष्क्रमण सम्बन्धी समाचार मिले तब वे भी उनके साथ होने के लिए बीलाड़ा आ गये। उनकी प्रकृति बहुत कठोर थी, अतः स्वामीजी ने उनको अपने साथ रखने से इनकार कर दिया। स्वामीजी के उस अप्रत्याशित व्यवहार से वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए और अपने पुत्र भारमलजी को हाथ पकड़ कर बलात् अन्यत्र ले गये। उस स्थिति में बालमुनि ने अत्यन्त दृढ़ता का प्रतिचय दिया। उन्होंने पिता के द्वारा लाए हुए अन्न-जल का आजीवन प्रत्याख्यान कर दिया। किसनोजी की मनुहारें और घुड़कियां जब सर्वथा अकृतकार्य हो गई तब तीसरे दिन बाध्य होकर उन्हें स्वामीजी को सौंपना पड़ा। उन्होंने कहा—‘यह आपके पास ही रंजित है, अतः इसे रखिये और पारण करवाइये। मुझे अकेले न भटकना पड़े, अतः मेरा भी कोई स्थान जमा दीजिये।’ स्वामीजी ने तब मुनि भारमलजी को पारण करवाया और मुनि किसनोजी को आचार्य जयमलजी को सौंप दिया।² वे उन दिनों बीलाड़ा में ही प्रवास कर रहे थे। स्वामीजी का वह उनसे तृतीय मिलन था।³

1. भिक्खु दृष्टांत, द. 308।

2. उक्त घटना की विस्तृत जानकारी के लिए देखें—इसी पुस्तक के तृतीय परिच्छेद का तृतीय अध्याय ‘समस्या का वात्याचक्र’।

3. स्वामीजी धर्मकांति के सिलसिले में आचार्य जयमलजी से तीन बार मिले थे। परन्तु किसी भी प्राचीन इतिहास-ग्रंथ में इनका एकत्रित विवरण नहीं मिलता। शायद उसका कारण है—वर्णन का संक्षिप्तीकरण। इसीलिए क्षेत्रभेद और कालभेद को उपेक्षित कर समग्र विवरण एक साथ दे दिया गया। →

श्रावक और महामंत्री

जोधपुर के श्रावक एक दिन बाजार की उसी दुकान पर, जहां पहले स्वामीजी ठहरे थे, एकत्रित होकर सामायिक, प्रतिक्रमण आदि धर्मानुष्ठान कर रहे थे। संयोगवश उसी समय फतहमलजी सिंघी का बाजार में आगमन हो गया। वे एक जैन श्रावक थे और उस समय जोधपुर राज्य के महामन्त्री (दीवान) भी।¹ बाजार की दुकान में श्रावकों को सामायिक करते देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ। वे उस दुकान की ओर आये और श्रावकों से पूछने लगे—‘आप लोगों ने स्थानक में सामायिक न करके यहां बाजार में कैसे की है?’

श्रावकों में गेरूलालजी व्यास वहीं थे। उन्होंने आचार्य रुधनाथजी से स्वामी भीखण्णजी के पृथक् होने की सारी घटना कह सुनाई और बतलाया कि अनेक मतभेदों के साथ-साथ स्थानक के विषय में भी स्वामीजी अपना भिन्न मत रखते हैं। उनका कथन है कि साधुओं के निमित्त कोई स्थान नहीं होना चाहिए। मठाधीश और परिग्रही का साधुता से क्या सम्बन्ध हो सकता है? गृहस्थावस्था का अपना एक घर छोड़ने वाला साधु यदि ग्राम-ग्राम में घर बनवाकर बैठ जायेगा तो वह गृहस्थ से भी गया-गुजरा हो जायेगा। आगम-दृष्टि से भी अपने निमित्त बने स्थान का उपभोग करना सदोष है। स्वामीजी के इन विचारों से हम सब भी सहमत हैं, अतः स्थानक को छोड़कर यहां सामायिक कर रहे हैं।

→ ख्यात (भिक्खु-वर्णन) और भिक्खु-जस-रसायण (ढा. 6) के वर्णन उसके उदाहरण हैं। वहां तीनों मिलन-प्रसंग एक साथ वर्णित हैं। उससे लगता है, मानो स्वामीजी आचार्य जयमलजी से अभिनिष्क्रमण के पश्चात् ही तथा एक बार ही मिले। उसी में विचार-सहमति, आचार्य रुधनाथजी का पत्र-प्रेषण, विचार-भंग और किसनोजी को सौंपने तक की सारी घटनाएं घटित हो गई। परन्तु इन्हीं घटनाओं को जब इतिहास की अन्य विकीर्ण सामग्री के प्रकाश में देखते हैं, तब स्थान और समय का पार्थक्य स्पष्ट दृष्टिगत हो जाता है। जैसे—‘दृष्टान्त’ (दृ. 13) के अनुसार अभिनिष्क्रमण से पूर्व स्वामीजी ने सं. 1816 का चतुर्मास जोधपुर में किया। उसी में प्रथम मिलन, विचार-सहमति, पत्र-प्रसंग और विचार-भंग तक की घटनाएं घटित हुईं। वे वहां विस्तार से वर्णित हैं। उसके पश्चात् बगड़ी में अभिनिष्क्रमण, छत्री में चर्चा और बरलू में चर्चा तक की बात भिक्खु-जस-रसायण (ढा. 5) में विस्तार से दी गई है। वहीं आगे (ढा. 6 में) बरलू से विहार करने और आचार्य जयमलजी से मिलने का कथन है। यद्यपि यह द्वितीय मिलन था, पर जयाचार्य ने आचार्य जयमलजी से सम्बन्धित विचार-सहमति से लेकर किसनोजी को सौंपने तक की सभी घटनाएं यथों पर दी हैं। बरलू से जोधपुर पधारने की बात गिरधरजी सियाल की गीतिका में स्पष्ट है। उसके पश्चात् बीलाड़ा-पदार्पण और वहां किसनोजी एवं मुनि भारमलजी की घटना होने का वर्णन भारमल चरित्र (ढा. 1-6 से 11) तथा भिक्खु-दृष्टान्त (दृ. 202) में है।

- सिंघीजी का नाम भिक्खु-जस-रसायण, ख्यात आदि सभी प्राचीन ग्रंथों में फतहचन्दजी लिखा मिलता है, पर वस्तुतः वह फतहमलजी था। जोधपुर में समानान्त नाम देने की पद्धति प्रचलित रही है। अब तक भी वहां वह काफी रूप में चालू है। उनके वंशधरों का कथन है कि वे ‘मल्लोत’ (मल्लान्त) ही थे। सिंघीजी सं. 1793 से 1807 तक नागौर के दीवान रहे। फिर सं. 1808 से 1818 तक जोधपुर राज्य के दीवान रहे। सं. 1823 आश्विन शुक्ला 5 को वे पुनः जोधपुर राज्य के दीवान बनाये गये। वे फिर आजीवन (सं. 1837 आश्विन शुक्ला 10 तक) उस पद पर रहे। (देखें—ओसवाल जाति का इतिहास, ओसवास जाति के प्रसिद्ध घराने, पृष्ठ 490)।

अन्य मतभेदों के विषय में सिंधीजी ने जिज्ञासा की, तब श्रावकों ने कहा—‘सारी बातों को सुनने में काफी समय लग सकता है। आज तो आप किसी कार्यवश जाते हुए मार्ग में से यहां पधार गये हैं, फिर कभी पूरा समय निकालें तो सभी विषयों पर बात की जाये।’

महामन्त्री ने जिज्ञासा की उसी मुद्रा में कहा—‘इस समय मुझे अवकाश ही है। कोई ऐसा आवश्यक कार्य सामने नहीं है, जो अभी करना हो। आप लोग निश्चिंत होकर पूरा विवरण सुनाइये।’

श्रावकों ने तब श्रद्धा और आचार-सम्बन्धी सारे मतभेद उनके सम्मुख रखे और प्रत्येक के विषय में स्वामीजी के विचारों से उन्हें अवगत किया।

सारी बातों को ध्यानपूर्वक सुन लेने के पश्चात् उन्होंने पूछा—‘इस समय कितने साधु इस विचारधारा का समर्थन कर रहे हैं?’

श्रावकों ने उत्तर दिया—‘तेरह’।

उन्होंने फिर पूछा—‘अपने यहां जोधपुर में उनका अनुसरण करने वाले आप लोग कितने श्रावक हैं?’

श्रावकों ने कहा—‘हम लोग भी तेरह ही हैं, जो सभी यहां उपस्थित हैं।’

महामन्त्री ने तब हँसते हुए कहा—‘यह अच्छा संयोग रहा कि तेरह ही साधु और तेरह ही श्रावक।’

नामकरण

सिंधीजी के साथ उस समय ‘सेवग’ जाति का एक कवि भी था। वह उपर्युक्त सारी बातें बड़े ध्यान से सुन रहा था। साधुओं और श्रावकों की संख्या का वह आकस्मिक समान योग उस कवि-हृदय व्यक्ति को प्रेरणादायक बना और उसने उसी समय एक दोहा बनाकर सुनाया। उस दोहे में ‘तेरह’ की संख्या के आधार पर स्वामीजी और उनके अनुयायियों को ‘तेरापंथी’ नाम से सम्बोधित किया गया। वह दोहा इस प्रकार है :

साध साध रो गिलो करै, ते आप आपरो मंत।
सुणज्यो रे शहर रा लोगां, ए तेरापंथी तंत॥

पहले-पहल उस नाम को स्वामीजी के विरोधी व्यक्तियों ने ही पकड़ा। अल्प संख्या को आधार बनाकर उपहास के रूप में वे उसका प्रयोग करने लगे और जब-तब स्वामीजी के अनुयायियों को ‘तेरापंथी’ कहकर चिढ़ाने लगे। उन्होंने उस नाम को दूर-दूर तक फैलाने का भी कार्य किया, ताकि अन्यत्र भी स्वामीजी और उनके अनुयायियों को उपहास-पात्र बनाया जा सके।

तेरापंथ का अर्थ

स्वामीजी के पास नामकरण के समाचार पहुंचे। उस समय वे बीलाड़ा या उसके समीपवर्ती किसी क्षेत्र में थे। उन्होंने नामकरण के समय की उक्त सारी घटना को सुना तो उनकी मूलग्राहिणी प्रतिभा ने उस शब्द को तत्काल स्वीकार कर लिया। कवि द्वारा सहज रूप से व्यवहृत उस ‘तेरापंथी’ शब्द में उनको बड़ा अर्थ-गौरव जान पड़ा। उन्हें अपनी आन्तरिक विचारधारा की सारी अभिव्यक्ति उसी एक शब्द में होती हुई दिखाई दी। तत्काल उन्होंने उसे अपना ‘प्रतीक शब्द’ बना लिया और अपने संघ की ‘संज्ञा’ के रूप में स्वीकार कर लिया।

राजस्थानी भाषा में संख्यावाची ‘तेरह’ शब्द को ‘तेरा’ कहा जाता है और ‘तू’ सर्वनाम की सम्बन्ध-वाचक विभक्ति का एकवचन भी ‘तेरा’ बनता है। स्वामीजी ने उन दोनों ही शब्द-रूपों को ध्यान में रखते हुए अपनी प्रत्युत्पन्न बुद्धि के द्वारा उक्त शब्द की व्याख्या की। अपने आसन का परित्याग कर बन्दन-मुद्रा में बैठते हुए उन्होंने प्रभु को नमस्कार किया और बद्धाङ्गलि कहा—‘हे प्रभो! यह तेरापंथ है। हम सब निर्भ्रान्त होकर इस पर चलने वाले हैं, अतः ‘तेरापंथी’ हैं।’

मूलतः कवि की भावना को तेरह की संख्या ने ही प्रेरणा प्रदान की थी; अतः स्वामीजी ने उसे भी उतना ही महत्व दिया और उस शब्द का दूसरा संख्यापरक अर्थ करते हुए कहा—‘पांच महाब्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह), पांच समितियां (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग) एवं तीन गुप्तियां (मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति)—ये तेरह नियम जहां पालनीय हैं, वह तेरापंथ है।’

‘तेरापंथ’ शब्द का उपर्युक्त अर्थ यद्यपि स्वामीजी की प्रत्युत्पन्न बुद्धि द्वारा तत्काल प्रसूत हुआ था, फिर भी उसमें संयम के जिन तेरह नियमों का उल्लेख किया गया है, वे आगम-सम्मत तथा प्राचीन जैनाचार्यों द्वारा इसी संख्या के रूप में बहुमान्य रहे हैं। इस विषय में जैनाचार्य पूज्यपाद देवनन्दी का निम्नोक्त श्लोक दर्शनीय है :

तिसः सत्तमगुप्तयस्तनु-मनो-भाषानिमित्तोदयः

पञ्चर्यादिसमाश्रयाः समितयः पञ्चव्रतानीत्यपि।

चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दृष्टं परै-

राचारं परमेष्ठिनो जिनपतेर्वारान् नमामो वयम्॥¹

इसका तात्पर्य है—भगवान् महावीर को नमस्कार है। उन्होंने तेरह प्रकार के चारित्र का जैसा प्रतिपादन किया, वैसा पूर्व काल में अन्य किसी ने नहीं किया। वे तेरह प्रकार ये हैं—अहिंसादि पांच महाब्रत, ईर्यादि पांच समितियां और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियां।

1. चारित्र-भक्ति श्लोक 7।

नाम और काम का तादात्म्य

स्वामीजी ने 'तेरापंथ' शब्द के साथ उपर्युक्त अर्थ का तादात्म्य स्थापित किया और अपने संघ को इतना आचार-कुशल बनाया कि जो व्यक्ति व्यंग्य के रूप में उसका प्रयोग करना चाहते थे, वे अपनी चाल भूल गये। उन्हें 'तेरापंथ' के नाम से घबराहट होने लगी। उनकी अपनी आचार-शिथिलता ने उनके मन में इस नाम से एक भय उत्पन्न कर दिया।

स्वामीजी का विश्वास नाम पर नहीं, काम पर था। उन्होंने अपने अनुगामियों के सामने केवल काम ही प्रस्तुत किया। नाम की उन्होंने कोई चिन्ता की ही नहीं। सम्भवतः नामकरण के समय तक भी उनके मन में यह कल्पना नहीं उठी थी। जनता को पहचान की सरलता के लिए प्रत्येक वस्तु, भाव और क्रिया का कोई न कोई पृथक् नाम चाहिए। उसकी पूर्ति एक सेवग कवि ने की, तो प्रचार विरोधियों ने किया और अर्थदान स्वामीजी ने। अर्थ क्या दिया, वस्तुतः उस नाम को फिर से कार्य में पलट दिया। इसीलिए 'तेरापंथ' केवल संज्ञा ही नहीं रहा, बल्कि आचार-कुशलता और विचार-दृढ़ता का एक सक्रिय उदाहरण बनकर संसार के सम्मुख उपस्थित हुआ।

तेरापंथ का उदय

उषःकाल

तेरापंथ के उदय को यदि सूर्योदय से उपमित किया जाये, तो स्वामीजी के भाव-दीक्षा से पूर्ववर्ती समय को उषःकाल कहना उपयुक्त होगा। उषःकाल में जन-जागरण प्रारम्भ हो जाता है और धीरे-धीरे अंधकार का स्थान प्रकाश लेने लगता है। उसी प्रकार रामनवमी से आषाढ़-पूर्णिमा तक के उन सवा तीन महीनों में जन-जागृति के साथ-साथ सम्यक्त्व का प्रकाश फैलने लगा था। उन दिनों स्वामीजी तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट साध्वाचार जन-साधारण में चर्चा का विषय बनता जा रहा था।

स्वामीजी बीलाड़ा से विहार कर कांठा क्षेत्र के विभिन्न ग्रामों का स्पर्श करते हुए मेवाड़ की ओर बढ़ रहे थे। साथ ही सहवर्ती साधुओं के साथ सैद्धान्तिक चर्चाओं का क्रम भी चालू था। आगमों के मन्थन और मनन द्वारा स्वामीजी ने जो तत्त्व-नवनीत उपलब्ध किया था, उसका आस्वाद सभी के लिए शक्तिदायक बन रहा था। विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान के आधार पर श्रद्धा और आचार-विषयक मन्त्रव्यों को सभी मुनि पूर्णरूप से हृदयंगम करने में जुटे हुए थे।

जितना बड़ा वह काम था, उतने दिन हाथ में नहीं थे। चतुर्मास निकट आ जाने से कुछ विषयों पर अन्तिम रूप से विचार नहीं किया जा सका। स्वामीजी ने तब सभी साधुओं को सम्बोधित करते हुए कहा—‘चतुर्मास निकट है, इसलिए अवशिष्ट विषयों पर विचार करने का अवकाश नहीं रह गया है। चतुर्मास समाप्त होने पर हम सब फिर मिलेंगे और चर्चा करेंगे। श्रद्धा और आचार मिलने पर ही हम सम्मिलित रहेंगे, अन्यथा नहीं।’ इस प्रकार सबको पहले ही समझा दिया गया कि हमारा पारस्परिक सम्बन्ध किसी घटना-विशेष या आग्रह-विशेष द्वारा प्रेरित नहीं, किन्तु विशुद्ध आचार और विचार के आधार पर अवस्थित है। स्वामीजी ने सब साथियों के लिए चतुर्मास के स्थानों का निर्धारण कर दिया और कह दिया कि आषाढ़-पूर्णिमा के दिन सबको भाव-संयम ग्रहण कर लेना है।

व्यवस्था-सम्बन्धी निर्णय

चतुर्मास-काल की निकटता के उस अवसर पर व्यवस्था-सम्बन्धी जो निर्णय किये गये, वे इस प्रकार थे—स्वामीजी से दीक्षा-ज्येष्ठ मुनि थिरपालजी और फतेचन्दजी

74 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
को भाव-दीक्षा के पश्चात् भी ज्येष्ठ रखा जायेगा। आचार्य पद पर श्री भिक्षु
रहेंगे।¹

उक्त निर्णय किस ग्राम में किये गये, इसका उल्लेख किसी भी इतिहास-ग्रन्थ में
नहीं है। अनुमानित है कि बीलाड़ा से विहार करने के पश्चात् मारवाड़ के ही किसी क्षेत्र
में किये गये थे। उसके पश्चात् सभी मुनि अपने लिए निर्धारित चतुर्मास-क्षेत्रों की ओर
विहार कर गये।²

केलवा में

स्वामीजी मारवाड़ से विहार करते हुए मेवाड़ में पधारे। उन्होंने अपने चतुर्मास
के लिए केलवा नामक ग्राम को चुना। वह राजनगर से लगभग 11 किलोमीटर दूर है।
स्वामीजी वहां आषाढ़ शुक्ला 13 को पहुंचे।³

वर्षा ऋतु का प्रारम्भकाल ही था, फिर भी प्रथम बार में अच्छी वर्षा हो गई, अतः
प्रचुर अन्नोत्पत्ति की सम्भावना में सभी की आकृतियां हर्षोक्तुल्ल थीं। उत्तापहीन स्वच्छ
वातावरण और सुकाल के संकेत मानो स्वामीजी के पदार्पण की सफलता के सूचक शुभ
शकुन थे। उस वर्ष परिपूर्ण वृष्टि होने का समर्थन सुप्रसिद्ध श्रावक शोभजी की गीतिका
के एक पद्य से भी होता है। वे उस समय गर्भावस्था में थे। स्वामीजी के संयम-जीवन
सम्बन्धी जन्म-कल्याण का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है :

सोभो गर्भ मांहे वर्ष सतरै, जद बादल जादा झरिया।

जन्म किल्याण श्री पूज केलवै, साध थई संचरिया॥⁴

स्वामीजी के साथ उस समय चार साधु और थे। उनके नाम इस प्रकार हैं :
टोकरजी, हरनाथजी, भारमलजी और वीरभाणजी। यद्यपि वीरभाणजी का नाम किसी भी
ग्रन्थ में उल्लिखित नहीं है, परन्तु 'केलवा में स्वामीजी आदि 5 सन्त थे।' यह संख्या

1. (क) भि. ज. र. 8। दो. 3 :

‘थिरपालजी फतेहचन्दजी, बड़ा तात सुत बेह।

भिक्खु आचारज भला, ज्ञानकला गुण गेह॥’

(ख) पुर से प्राप्त गद्य कृति, पत्र 6 में उपर्युक्त कथन से भिन्न कहा गया है। उसका आशय इस प्रकार
है : 'चतुर्मास से पूर्व सभी सन्त राजनगर में एकत्रित हुए। ज्येष्ठता-कनिष्ठता पूर्ववत् रखी गई, अतः
रूपचन्दजी को सबसे बड़ा माना गया।'

2. स्वामीजी के अतिरिक्त अन्य मुनियों के चतुर्मास-क्षेत्रों का विवरण इतिहास-ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।
पुरावाली गद्य कृति में जो उल्लेख है, वह इस प्रकार है—स्वामीजी ने ठाणा 5 से केलवा में चतुर्मास किया
एवं रूपचन्दजी, बखतमलजी आदि ने ठाणा 4 से बूंदी में। आगे मुनि थिरपालजी, फतेहचन्दजी के
सिंघाड़े का नामोल्लेख तो किया है, पर स्थान और ठाणा की जगह खाली छोड़ दी है। अवशिष्ट संख्या
के हिसाब से ठाणा 4 का तो निश्चय किया जा सकता है, पर स्थान के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा
सकता।

3. उक्त तिथि राजनगर के बिरधीचन्दजी कोठारी के पास की एक प्राचीन चोपड़ी से ली गई है। वहां लिखा
है : 'सं. 1817 का आषाढ़ सुदी 13 श्री भीकमजी महाराज कंटालिया वाला केलवा पदार बराज्या।'

4. पूजगणी, 14। 17।

निर्धारण उपलब्ध है¹ तब यही सम्भावना की जा सकती है कि पांचवें सन्त वीरभाणजी ही थे, क्योंकि सं. 1815 के राजनगर-चतुर्मास में तथा अभिनिष्क्रमण के समय बगड़ी में वे स्वामीजी के साथ थे। उक्त स्थिति में उनका अन्य किसी के साथ जाना सम्भव नहीं लगता।

यद्यपि स्वामीजी चतुर्मास प्रारम्भ होने के लगभग ही केलवा में पहुंचे थे, फिर भी उनके पहुंचने से पूर्व ही वहां विरोधियों द्वारा उनके विरुद्ध प्रचार प्रारम्भ किया जा चुका था। अनेक अपवाद और भ्रान्तियां फैलाई गईं। सामाजिक स्तर पर उनका पूर्ण बहिष्कार करने के लिए श्रीसंघ की ओर से भी अनेक आज्ञाएं प्रचारित की गईं। स्थानीय जनता के मन में उनके प्रति घृणा और भय का प्रसार इस रूप में किया गया कि जब वे वहां पहुंचे, तब उन्हें कोई स्थान देने वाला भी नहीं मिला।

अंधेरी कोठरी

स्थान की गवेषणा करने में स्वामीजी को काफी परिश्रम और पूछताछ करनी पड़ी। आखिर ग्राम के कुछ व्यक्तियों ने परामर्श करके एक स्थान देने का निर्णय किया। वह स्थान था स्थानीय जैन मन्दिर² की एक अंधेरी कोठरी। उसमें न हवा का प्रवेश था और न प्रकाश का। मानो वह स्वयं स्वामीजी से नयी हवा और नये प्रकाश की एक लहर प्राप्त करने की प्रतीक्षा में ही इतनी सदियों तक मौन व एकाकी साधनारत खड़ी थी। लोग उसे स्थानीय बोली में ‘अंधेरी-ओरी’ कहा करते थे। सम्भव है, उसका यह गुणानुसारी नाम स्वामीजी के उस चतुर्मास-काल में ही प्रचलित हुआ हो। यद्यपि अब वहां काफी

1. (क) ख्यात में नाम किसी का भी नहीं है, पर संख्या 5 बतलाई है। वहां लिखा है : ‘आप केलवे 5 सन्तां सुं आसरे पथाया।’

(ख) शा. प्र. (2189) के अनुसार भी केलवे में 5 सन्त थे। वहां चार के तो नाम दिये हैं, पर पांचवें के लिए कहा है—‘एकां रो नाम लिख्यो न दिखात।’

(ग) पुर से प्राप्त गद्य कृति (पत्र 6) में लिखा है, ‘भीखण्डी तो चोमासो गाम केलवे कीदो जणां 5 सुं।’

(घ) मुनि-णीरामजी ने भिक्खु-चरित (3।13) में संख्या का निर्धारण तो नहीं किया, परन्तु तीन सन्तों के ही नामों का उल्लेख किया है, अतः वह संख्या निर्धारण जैसा ही है। वे लिखते हैं :

‘हरनाथजी हाजर हुंता, टोकरजी तीखा सुवनीत।

परम भगता सिख पाटवी, यां राखी पूजरी परतीत॥’

(ड) जयाचार्य ने भी पि. ज. र. 8।15 में उक्त क्रम से तीन नामों का ही उल्लेख किया है :

‘हरनाथजी हाजर हुंतां, टोकरजी भिक्खु पास।

परम भगता भारीमालजी, पूरो ज्यांरो विश्वास॥’

सम्भव है, उपर्युक्त दोनों ग्रंथों में वीरभाणजी का नाम इसलिए छोड़ दिया कि वे स्वामीजी के प्रति अपने विश्वास को आजीवन नहीं निभा पाये। ऊपर उद्धृत दोनों ही पद्यों के चतुर्थ पद शायद इसी बात की ओर संकेत करते हैं।

2. उक्त मन्दिर भगवान् चंद्रप्रभ का है। वहां एक शिलालेख भी है, जिसके अनुसार मन्दिर का निर्माणकाल सं. 1023 आषाढ़ शुक्ला द्वितीया है।

परिवर्तन कर दिया गया है, अतः न पूर्ववत् अन्धकार ही रहा है और न निर्वातता, फिर भी स्वामीजी के समय में तो उन दोनों का ही वहां साम्राज्य था। वर्षों पूर्व से वह शून्य और उपेक्षित स्थान रहता आया था, अतः भयप्रद भी हो गया था। लोग दिन में भी वहां जाने से सकुचाते थे। रात्रि में तो भूलकर भी कोई उधर नहीं जाता। जनता में यह अनुश्रुति प्रचलित थी कि वह स्थान भूत-प्रेत आदि अदृश्य शक्तियों द्वारा गृहीत है, अतः रात्रि में जो वहां रहेगा, वह प्रातःकाल तक बचकर बाहर नहीं आ पायेगा। उसी अनुश्रुति के आधार पर किसी दुरभिसन्धि से प्रेरित होकर लोगों ने स्वामीजी को वह स्थान देने की बात सोची। सांप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे—इस कहावत को वे चरितार्थ करना चाहते थे। स्वामीजी को स्थान बताते हुए उन लोगों ने कहा—‘हमारे पास तो यही एक स्थान है, वह बता दिया, अब रहने-न-रहने के विषय में आप स्वयं सोच लें।’

स्वामीजी के सामने न रहने का तो कोई कारण ही नहीं था। वे निर्णयपूर्वक ही वहां आये थे। चतुर्मास करना ही था। स्थान की प्रतिकूलता उन्हें क्या प्रभावित कर सकती थी, जबकि कुछ समय पूर्व वे शमशान-भूमि में भी ठहर चुके थे। अन्य स्थान न मिलने पर वह स्थान तो प्रायः हर ग्राम में मिल ही सकता है। वहां तो फिर उन्हें एक मन्दिर में स्थान मिल रहा था। वह चाहे कैसा भी क्यों न हो, शमशान-भूमि से तो ठीक ही होना सम्भव था। स्वामीजी अभाव में से भी भाव को निचोड़ लेने वाले व्यक्ति थे, अतः किसी प्रकार के अभाव का उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं था। उन्होंने उस स्थान को तत्काल स्वीकार कर लिया और वहां ठहर गये। गृहस्थ-वर्ग भी निश्चिन्त हुआ कि चलो, बला टलो।

वहां उस समय हर कोई स्वामीजी का विरोधी था। न कोई उनकी चर्या की चिन्ता करने वाला था और न अन्य आवश्यक सुविधाओं की। आत्मबली स्वामीजी और उनके संत निरपेक्ष भाव वाले थे। वे सब दिन-भर स्वाध्याय, अध्ययन तथा मनन आदि में निमन रहे। ऐसे कार्यों के लिए एकान्तता की अपेक्षा रहा करती है। उस दिन उन सबको वह परिपूर्णता से प्राप्त हुई। दिन-भर में कोई एक व्यक्ति भी सत्संग अथवा धर्म-चर्चा के लिए नहीं आया। सन्त जनों ने दैनिक चर्या के अपने सभी कार्य बिना किसी व्याघात के सानन्द सम्पन्न किये।

उपसर्ग-विजय

प्रथम दिन की ही बात है। सायंकालीन प्रतिक्रमण कर लेने के पश्चात् मुनि भारमलजी परिष्ठापन के लिए मन्दिर से बाहर गये। जब वे वापस आ रहे थे, तब द्वार के सामने ही एक सर्प ने उनके पैरों को अपनी कुण्डली में जकड़ लिया। चौदह वर्ष के बालक होने पर भी वे घबराये नहीं, हल्ला भी नहीं मचाया, वहीं पर स्थिर खड़े रह गये।

स्वामीजी ने उन्हें बाहर ‘अच्छाया’ में खड़ा देखा, तो वहीं से पुकार कर कहा—‘भारमल! अन्दर आ जाओ, बाहर क्यों खड़े हो?’

मुनि भारमलजी बोले—‘गुरुदेव! सर्प-जाति के जीव ने पैरों में आंटे दे रखे हैं, कैसे आऊं?’

परिस्थिति की विकटता को भांपते हुए स्वामीजी तत्काल वहां आये और 'नमस्कार-मंत्र' का उच्चारण कर कहने लगे—'आर्य! यदि तुम कोई देव हो और यहां तुम्हारा कोई स्थान है, तथा तुम यह चाहते हो कि हम यहां न रहें, तो हमें स्पष्ट बतला दो। तुम्हारी आज्ञा के बिना हम यहां रहना नहीं चाहेंगे। पर इस तरह का उपसर्ग करना तो बिल्कुल उपयुक्त नहीं है।'

स्वामीजी के उन शब्दों के साथ ही सर्प वहां से हट गया। वे भी मुनि भारमलजी को साथ लेकर अन्दर आ गये।

स्वामीजी को लगा कि इस स्थान के विषय में लोगों में जो भय की भावना बनी हुई है, वह बिल्कुल निष्कारण तो नहीं है। उस प्रथम रात्रि में उन्हें विशेष जागरूक रहने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अन्य सब साधुओं के सो जाने पर भी स्वामीजी धर्म-जागरण करने में लगे रहे।

अर्धरात्रि व्यतीत होने के पश्चात् स्वामीजी को मन्दिर में प्रवेश-द्वार की ओर से कोई श्वेत वस्त्रधारी व्यक्ति अन्दर आता हुआ दिखाई दिया। वह कुछ निकट आया और बन्दन कर कहने लगा—'आगे के लिए आपको कोई उपसर्ग नहीं होगा। सानन्द यहां रहिये। दो प्रार्थनाएँ हैं, प्रथम यह कि प्रातःकाल सर्प के द्वाग खींची गई एक रेखा आपको मिलेगी, उसके इस ओर कोई साधु परिष्ठापन न करे। द्वितीय यह कि गर्भ-गृह के द्वार पर दोनों ओर दो चबूतरियां हैं, उन पर आपके अतिरिक्त अन्य कोई न बैठे।'

स्वामीजी ने उसकी दोनों प्रार्थनाएँ 'ठीक है' कहकर स्वीकार कर लीं।

एक क्षण ठहर कर वह व्यक्ति पुनः बोला—'आप मुझे मनुष्य मत समझियेगा।'

स्वामीजी ने कहा—'नहीं, महानुभाव! मैंने तुम्हें मनुष्य नहीं समझा है। मनुष्य तो यहां दिन में आने से भी घबराता है, तब अर्धरात्रि की इस विकट वेला में आने का तो साहस ही कौन करेगा?'

उस व्यक्ति ने स्वामीजी को एक बार फिर नमस्कार किया और सहसा अन्तर्धान हो गया। स्वामीजी ने पूरी रात्रि धर्म-जागरण में ही व्यतीत की।

प्रातःकाल के प्रतिक्रमण और प्रतिलेखन से निवृत होने के पश्चात् स्वामीजी ने सब साधुओं को रात की घटना बतलायी और पूर्वोक्त रेखा को देखकर उसके इस ओर परिष्ठापन करने तथा चबूतरियों पर बैठने का सबको निषेध कर दिया।

सभी प्रभावित

जिन लोगों ने अपनी दुरभिसन्धि के आधार पर स्वामीजी को वह स्थान बतलाया था, वे प्रातःकाल होते ही उसका परिणाम देखने की उत्सुकता से वहां आ गए। उन्होंने देखा कि स्वामीजी तथा उनके सभी सन्त सानन्द हैं। वे बहुत चकित हुए। उनके विचार से वह कोई अघटित घटना थी। उनकी धारणा थी—'आज तक रात्रि में वहां रहकर कोई व्यक्ति जीवित बाहर नहीं निकल पाया।' उन सबको अपनी चाल के विफल हो जाने

78 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
का बड़ा दुःख हुआ। यद्यपि किसी ने भी उस समय अपने दुःख को व्यक्त करने के लिए मुख नहीं खोला, परन्तु उद्देश्य-पूर्ति की विफलता से उत्पन्न खिन्नता उनकी आकृतियों पर स्पष्ट उभर आई। सबसे बड़ा दुःख तो उनको यह था कि स्वामीजी को वहां चतुर्मास करने के लिए स्थान प्राप्त हो गया।

वे लोग प्रभावित भी हुए कि स्वामीजी उस भय-स्थान में भी निर्भय रहने की क्षमता रखते हैं। जब उन लोगों को सर्प-सम्बन्धी उपसर्ग का पता लगा, तब तो उन्होंने दांतों तले अंगुली ही दबा ली। मुनि भारमलजी की निर्भीकता और स्वामीजी की सतत जागरूक आत्म-शक्ति का उन लोगों को वह प्रथम परिचय प्राप्त हुआ। यद्यपि मानसिक स्तर पर उनका विद्वेष शान्त नहीं हुआ, फिर भी उस घटना से वह दब अवश्य गया। कुछ व्यक्तियों के लिए वह घटना कालान्तर में स्वामीजी के प्रति श्रद्धाशील बनने का हेतु भी बनी।

भाव-संयम

केलवा में स्वामीजी का प्रथम दिन उपसर्ग-विजय का रहा और द्वितीय दिन चातुर्मासिक चतुर्दशी का। तृतीय दिन वि. सं. 1817 की आषाढ़ पूर्णिमा¹ का था, जो कि भाव-संयम ग्रहण करने के लिए निर्णीत किया गया था। उस दिन एक प्रकार के नये जीवन का प्रारम्भ होने जा रहा था, अतः पुराने जीवन के लिए व्युत्सर्ग-भाव और नये जीवन के लिए स्वीकार-भाव से सब साधुओं की मुखाकृति आनन्दातिरेक से दमक रही थी। सभी का मन अपूर्व उत्साह से भरा हुआ था।

अनुश्रुति है कि उस दिन स्वामीजी आदि सभी सन्तों के तेले की तपस्या थी। सायंकाल में चातुर्मासिक पाक्षिक प्रतिक्रमण करने से पूर्व, रात्रि के प्रारम्भकाल में साढ़े सात बजे के लगभग² स्वामीजी और उनके सहवर्ती साधु सम्मिलित होकर पूर्व-दिशि ईशान कोण के अभिमुख बैठे। अरिहंत भगवान् की आज्ञा लेकर तथा सिद्धों के साक्ष्य से³ सर्वप्रथम स्वामीजी ने मेघ-मन्द्र स्वर से सामायिक-सूत्र का उच्चारण करते हुए सामायिक-चारित्र ग्रहण किया। तत्रस्थ अन्य साधुओं ने भी स्वामीजी द्वारा उच्चारित सामायिक-पाठ के द्वारा चारित्र ग्रहण किया। तेरापंथ की वास्तविक स्थापना स्वामीजी के भाव-संयम ग्रहण करने के साथ उसी दिन हुई।

1. ‘अष्टादश सोले समे, सुद पूनम आषाढ़।

संयम स्वाम समाचर्यो, गुण गिरवो दिल गाढ़॥’

उपर्युक्त प्रकार के कुछ पद्यों में सं. 1816 का उल्लेख मिलता है, वह संवत्-परिवर्तन के श्रावणादि-क्रम पर आधारित है।

2. भाव-दीक्षा ग्रहण करने के विषय में एक दूसरी अनुश्रुति इस प्रकार है—सभी ने चतुर्दशी का उपवास किया और उसके पारण से पूर्व पूर्णिमा की प्रातः संयम ग्रहण किया।

3. भि. ज. र. 814

‘अरिहंत नी लई आगन्या, पचख्या पाप अठार।

सिद्ध साखे करी स्वामजी, लीधो संजम भार॥’

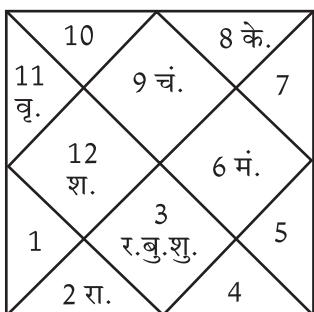
युग-प्रवर्तक स्वामीजी ने नये युग का प्रारम्भ करने के लिए जो दिन चुना, वह वस्तुतः जैनागम-सम्पत् ऐसा सन्धि-दिन था कि जहां से काल-परिवर्तन की गणना सदा से की जाती रही है। कालचक्र, अवसर्पिणी काल, उत्सर्पिणी काल, अर तथा सम्बत्-परिवर्तन के लिए मान्य सन्धि-दिन, द्रव्य-संयम और भाव-संयम का भी सन्धि-दिन हो गया।

तेरापंथ की कुँडली

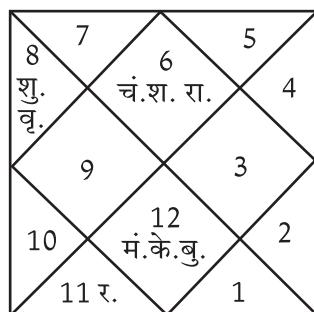
तेरापंथ का व्यावहारिक स्तर पर नामकरण कुछ दिन पहले जोधपुर में हो चुका था, परन्तु वैधानिक स्तर पर वह तब हुआ जब स्वामीजी ने उसे अपनी व्याख्या के साथ स्वीकार कर लिया। उसके पश्चात् क्रियान्वयन के स्तर पर उसमें प्राण-प्रतिष्ठा तब हुई जब भाव-संयम ग्रहण किया गया। उसी समय को आधार बनाकर निर्मित की गई तेरापंथ की जन्म कंडली¹ इस प्रकार है :

वि. सं. 1817 आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा तदनुसार ईस्वी सन् 29 जून², 1760, शनिवार, सायंकाल समय 7.30 इष्टकाल 34-14-37 घटी। स्थान—केलवा (जिला-राजसमन्द) राजस्थान-1

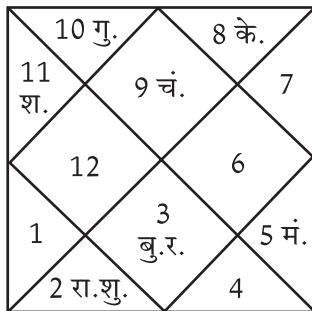
लग्न कुँडली



नवांश कुंडली



चलित कुंडली



1. उक्त कुंडली 'भविष्य दर्शन' संस्थान में विजयसिंह लौनिया द्वारा कंप्यूटर से निर्मित है।

2. 'ऐतिहासिक तिथि-पत्रक' (जगदीशसिंह गहलोत द्वारा संकलित) के अनुसार उक्त पूर्णिमा को दिनांक 28 जन, 1760 शनिवार होता है।

प्रथम दान

भाव संयम ग्रहण करने के पश्चात् श्रावण कृष्णा 1 को प्रथम गोचरी के लिए स्वयं स्वामीजी पधारे। पहले-पहल वे राजभवन में गये। उस समय वहां के शासक रावल मोखमसिंहजी थे। वे अत्यन्त भक्त प्रकृति के व्यक्ति थे। स्वामीजी को पधारते देखा तो बहुत प्रसन्न हुए। स्वयं रसोईघर तक साथ-साथ गये और सर्वप्रथम अपने हाथ से पात्र दान देने का लाभ प्राप्त किया। प्रथम दान का वह अवसर राज-परिवार के लिए एक वरदान ही सिद्ध हुआ। उसके पश्चात् उस परिवार के सदस्य सत्संगति का लाभ लेने लगे। कालान्तर में तो वे श्रावक के समान भक्त ही बन गये। तब से आज तक उस परिवार की भक्ति और निष्ठा तेरापंथ के प्रति अजस्र चलती आ रही है। उससे वह स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता रहा है।

ठाकुर मोखमसिंहजी

ठाकुर मोखमसिंहजी उस चतुर्मास में अनेक बार स्वामीजी के सम्पर्क में आये। उन्हें धर्म-चर्चा की अभिरुचि थी, तो स्वामीजी उसके अगाध समुद्र थे। प्रत्येक बार वे स्वामीजी से अधिकाधिक प्रभावित होकर गये। आगे के चतुर्मासों में तो उन पर स्वामीजी का ऐसा रंग चढ़ा कि एक दिन भी व्याख्यान में अनुपस्थित रहना उन्हें अखरने लगा। उनकी स्वामीजी के प्रति अत्यन्त दृढ़ आस्था हो गई। स्वामीजी के आगमन को वे अपने सौभाग्य का सूचक मानते थे।

मोखमसिंहजी प्रतिदिन व्याख्यान में आया करते थे। एक बार वर्षा के कारण गलियों में बड़ा कीचड़ हो गया। आधे मार्ग तक आने के पश्चात् इतना कीचड़ आ गया कि उसमें पैर रखे बिना आगे बढ़ सकना असम्भव था। उनको बड़ी निराशा हुई। वे सोच ही रहे थे कि अब क्या किया जाये? इतने में एक 'छुट-भाई' ने उनकी मानसिक असमंजसता को ताढ़ लिया। कीचड़ पर अपनी ढाल रखते हुए वह बोला—‘आप इस पर पैर रखकर पधार जाइये।’ ठाकुर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कीचड़ पार करके स्वामीजी के दर्शन किये और व्याख्यान सुना। जब वापस जाने का समय हुआ तब स्वामीजी को बन्दन करते हुए उस भाई की ओर संकेत करके कहने लगे—‘आज का सत्संग-लाभ तो इस भाई के कारण ही हो सका है। इस वर्ष में मैं इसे ‘केरिंगपुरा’¹ ग्राम प्रदान करता हूँ।’ लोगों को तब पता चला कि ठाकुर साहब के मन में स्वामीजी के प्रति कितनी गहरी भक्ति है।

श्रद्धा के अंकुर

केलवा का जैन समाज प्रारम्भ में स्वामीजी का कट्टर विरोधी रहा। विद्रेष-वश कुछ लोगों ने उनके विरुद्ध अनेक गलत धारणाएं फैलाई। फलस्वरूप कुछ दिनों तक लोगों का

1. उक्त ग्राम का पूरा नाम ‘केसरीसिंहपुरा’ है, किन्तु स्थानीय उच्चारण तथा संक्षेप की स्थिति में उसे ‘केरिंगपुरा’ ही कहा जाता है। ऐसा भी कहते हैं कि उस ‘छुट-भाई’ का नाम केसरीसिंह था; अतः ग्राम का उक्त नाम बाद में प्रचलित हुआ, पहले कुछ और ही नाम था।

आगमन अत्यन्त विरल रहा। जो आते, वे भी सहृदयता से नहीं, द्वेष-बुद्धि से प्रेरित होकर ही आते। तत्त्व-जिज्ञासा से तो कोई-कोई ही आया करता था। धीरे-धीरे लोगों की द्वेष-बुद्धि में परिवर्तन आने लगा। स्वामीजी की सहिष्णुता और शांत वृत्ति ने उनके द्वेष पर विजय पाई। श्रद्धा के अंकुर फूटने लगे। अनेक समझदार व्यक्ति जिज्ञासा लेकर भी आने लगे और तत्त्व को समझने का प्रयास करने लगे।

चतुर्मास के अन्त तक केलवा में अनेक परिवार स्वामीजी के भक्त बन गये। सर्वप्रथम वहां के कोठारी (चोरड़िया) परिवार ने गुरु-धारणा की। उनमें मुख्यतः ये व्यक्ति थे—केलवा ठिकाणे के प्रधान मूणदासजी, सुप्रसिद्ध श्रावक शोभजी के छोटे दादा भैरोजी और केसोजी आदि।

सफल चतुर्मास

केलवा के चतुर्मास का प्रारम्भ परीषहों के साथ हुआ, परन्तु उसकी सम्पन्नता अनेक परिवारों के भक्त बन जाने के साथ हुई। अंधेरी कोठरी पर प्राप्त विजय ने लोगों के हृदय की अंधेरी कोठरी पर भी विजय पाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। कालान्तर में तो राज-परिवार से लेकर साधारण किसान तक प्रायः सभी व्यक्ति स्वामीजी के प्रति श्रद्धावनत हो गये। परिपूर्णता की वह स्थिति धीरे-धीरे अनेक वर्षों में प्राप्त हुई।

प्रथम चतुर्मास में तो जो-कुछ हुआ, वह उसका बीजरूप ही कहा जा सकता है। प्रत्येक वृक्ष अपने विस्तार-काल से पूर्व एक छोटा-सा बीज ही होता है। उसका समग्र भाव-विस्तार उस समय उस नन्हे-से बीज में ही निहित रहता है। स्वामीजी के उस चतुर्मास में यद्यपि उपकार की अपेक्षा प्रतिकार की ही बहुलता रही, परन्तु संघर्षों पर विजय पाने का क्रम भी वहीं से प्रारम्भ हुआ। बाद में संघर्षों पर पाई गई प्रत्येक विजय के मूल में केलवा की सफलता का ही स्वर सुनाई देता है। इसलिए निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि स्वामीजी का वह प्रथम चतुर्मास अपनी बीजात्मकता में अत्यन्त सफल रहा।

तेरह में से छह

चतुर्मास समाप्त हुआ, तब पूर्व निर्णय के अनुसार तेरह ही सन्त एकत्रित हुए। एकमत हो जाने के पश्चात् ही आहारादि सम्भोग सम्मिलित करने की बात स्वामीजी ने चतुर्मास से पूर्व निर्णीत की थी, अतः उस समय वे अपने-अपने सिंघाड़े के साथ ही साम्भोगिक रहे।

अधिकांश सैद्धान्तिक 'बोल' भाव-संयम ग्रहण करने से पूर्व चर्चित हो चुके थे। जो अवशिष्ट थे, उन्हें समुचित रूप से चर्चित कर ऐकमत्य प्राप्त करने के लिए उक्त उपक्रम किया गया था। स्वामीजी ने एक-एक चर्चनीय विषय को लेकर सबके साथ पुनः चर्चा प्रारम्भ की। कई दिनों की चर्चा के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि तेरह में से आठ साधु ही एकमत हैं, शेष पांच साधुओं की मान्यता भिन्न है। उनमें से मुनि बखतरामजी और गलाबजी का झंकाव कालवादियों की ओर था तथा मुनि भारमलजी (द्वितीय),

82 ■■■■■ तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
रूपचन्द्रजी और पेमजी अनेक 'बोलों' में भिन्न मत रखते थे। स्वामीजी ने उक्त पांचों ही
साधुओं को अपने संघ में सम्मिलित नहीं किया। वे भाव-संयम के पश्चात् एक बार के
लिए भी स्वामीजी से साम्भोगिक नहीं बन सके, अतः तेरापंथ के अंग भी नहीं बन सके।
यही कारण है कि तेरापंथ के किसी भी इतिहासकार ने स्वामीजी के शिष्यों की क्रमिक
नामावली देते समय उनके नामों का उल्लेख नहीं किया।

अवशिष्ट आठ साधु उस समय साम्भोगिक बने और अनेक वर्षों तक तेरापंथ के
अंग बनकर रहे। कालान्तर में मुनि वीरभाणजी को अविनीत होने के कारण संघ से पृथक्
कर दिया गया। लिखमोजी भी कुछ वर्ष पश्चात् संघ से पृथक् हो गये। इस प्रकार आदि
के तेरह साधुओं में से केवल आचार्य भीखणजी, मुनि थिरपालजी, फतेचन्दजी, टोकरजी,
हरनाथजी और भारमलजी—ये छह साधु ही आजीवन साथ निभाकर तेरापंथ के अंगभूत
रहे। संघ के विकास और गौरव-वृद्धि में इन्हीं का प्रशस्य योगदान रहा, अतः ये ही हमारे
नमस्य आदि पुरुषों की गणना को अलंकृत कर सके।

जन-उद्घारक आचार्य

जन-भ्रांति

स्वामी भीखण्जी का मूल लक्ष्य आत्मोद्धार था, परन्तु जनोद्धार को भी वे बड़ा महत्वपूर्ण कार्य मानते थे। उनके विचार से वह आत्मोद्धार का ही अंग था। संयम, स्वाध्याय, ध्यान और तपश्चरण आदि से आत्मोद्धार के मार्ग पर वे निरन्तर अग्रसर थे, तो व्याख्यान, ध्यान, धर्म-चर्चा, वार्तालाप और प्रश्नोत्तर आदि से जनता में धार्मिक संस्कार भरने में भी पूरे प्रयत्नशील थे। परन्तु उनके लिए वह समय बड़ा विकट था। उनका प्रत्येक कार्य बाधाओं और विरोधों से धिरा हुआ था। वे जहां भी पहुंचते, वहां उन्हें विरोध का एक दावानल-सा सुलगता हुआ मिलता। आचार्य रुद्धनाथजी और उनके अनुयायियों ने उनके मार्ग में पग-पग पर काटे बिछा देने में कोई कसर नहीं रखी। केलवा की ही तरह प्रत्येक गांव उनके विरुद्ध किसी-न-किसी षड्यन्त्र में संलग्न हो गया। उनके प्रति जन-मानस में घृणा भर देने के लिए अनेक प्रकार की अनर्गल बातें फैलाई गईं। कोई उन्हें 'निह्रव' करार देता, तो कोई गोशालक और जमालि से उनकी तुलना करता। कोई कहता—‘उन्होंने देव, गुरु और धर्म को उठा दिया है। ये दान और दया के घोर विरोधी हैं। ये जीव को मारने में एक पाप और बचाने में अठारह पाप बतलाते हैं, आदि।’ कहा जाता है कि असत्य को सौ बार दुहरा देने से वह सत्य प्रतीत होने लगता है। स्वामीजी पर लगाये गये आरोप तो फिर सहस्रों बार दुहराये गये थे, अतः उनसे जन-साधारण का भ्रांत हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। स्वामीजी के प्रति घृणा का वातावरण बनाने के उक्त प्रयास की तुलना जयाचार्य ने आगम-वर्णित¹ भगु पुरोहित के प्रयास से की है। उसने अपने पुत्रों के मन में साधुओं के प्रति घृणा भरने की अत्यन्त व्यग्रता के साथ चेष्टा की, परन्तु उसका वह प्रयास पूर्णतः असफल रहा। वे कहते हैं :

भगु भिड़काया पुत्रां भणी, साधां में चूक बताय।
ज्यूं भिखु स्यूं भिड़काविया, ओ हिज मिलियो न्याय॥²

निराशा के क्षण

जनता में प्रायः गड्ढरी-प्रवाह चलता है। सत्यासत्य के निर्णय की तत्परता किसी विरल व्यक्ति में ही देखी जाती है, अधिकांश तो अनुकरण-प्रवण होते हैं। वे कुछ भी

1. उत्तराध्ययन; अ. 14।

2. मि.ज.र.; 9, दोहा 5।

सोचे-समझे बिना अंधे की तरह एक के पीछे एक, पल्ला पकड़ कर चल पड़ते हैं। विरोधी जनों ने जब स्वामीजी के विरुद्ध वातावरण निर्मित किया, तब मानो सर्वत्र वही हवा चल पड़ी। बाल, वृद्ध और युवा, हर कोई उसी में रस लेने लगा। स्वामीजी तथा उनके अनुयायियों को किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाना, उन्हें अपमानित करना अथवा अपशब्द कह देना आदि मानो समाज में सम्मान प्राप्त करने का प्रमाण-पत्र बन गया।

स्वामीजी चाहते थे कि भगवान् महावीर के सिद्धांतों का शुद्ध स्वरूप जनता के सम्मुख रखा जाये और उसके प्रकाश में समग्र धार्मिक आचार-विचारों का विशदीकरण किया जाये, किन्तु उस समय जनता की मानसिक स्थिति स्वामीजी के विचारों को सुनने और उन पर मनन करने के अनुकूल नहीं थी। विरोधियों के प्रचार ने स्वामीजी के विरुद्ध घृणा के भाव इतने तीव्र उभार दिये थे कि साधारणतया कोई उनके पास आता ही नहीं था। कभी कोई आता भी तो तत्त्व-जिज्ञासु होकर नहीं, किन्तु स्वामीजी को कुछ अवज्ञापूर्ण शब्द सुनाकर अपने मन की भड़ास निकालने के लिए ही।

लोगों की द्वेष-बुद्धि और अज्ञान को देखकर स्वामीजी को बड़ी निराशा हुई। उन्होंने सोचा—‘इस समय जनता धर्म-द्वेष से भरी हुई है। अन्ध-श्रद्धा का आवेग इतना तीव्र है कि सम्यग् दर्शन की उपलब्धि तथा सुरक्षा की ओर किसी का ध्यान नहीं है। स्थिति-पोषकता के विषमय वातावरण से बाहर निकलकर भगवान् महावीर के उदात्त सिद्धांतों के मलय-पवन का आसेवन उनके चिर-दूषित फेफड़ों को अनुकूल नहीं लग रहा है। सत्य को विवेक की तुला पर न तोल कर ‘करते आये हैं’ की तुला पर तोला जा रहा है। ऐसी स्थिति में धर्म-प्रचार के लिए समय लगाना, उसे सर्वथा व्यर्थ गमाना ही होगा। जब लोग बात सुनने से ही कतराते हैं तो शुद्ध श्रद्धा धारण कर श्रावक-श्राविका बनने तथा चारित्र धारण कर साधु-साध्वी बनने की बात तो बहुत दूर की है। धर्म-प्रचार सम्भव नहीं है, तब मुझे उस ओर से ध्यान हटाकर सर्वभाव से आत्म-कल्याण पर ही अपने आपको केन्द्रित कर लेना चाहिए।’

उक्त निर्णय के पश्चात् उन्होंने अपनी शक्ति के सम्पूर्ण प्रवाह को स्वकल्याण की ओर मोड़ दिया।

लोमहर्षक तपस्या

स्वामीजी के जीवन में वे क्षण अत्यन्त दुविधापूर्ण थे। सन्तजनों की परम्परा में स्व-पर कल्याण का मार्ग चिर-परिचित और चिर-अनुष्ठित रहा है, परन्तु स्वामीजी को उस उभयात्मक क्रम से हटकर एकात्मक क्रम पर लगाना पड़ा। इस प्रकार जीवनक्रम को सहसा बदल लेना बहुत कठिन होता है। वैसे क्षणों में साधारण व्यक्ति परिस्थितियों के सम्मुख हार मान लेता है और निराश होकर बैठ जाता है, परन्तु स्वामीजी एक असाधारण व्यक्ति थे। उन्होंने न तो परिस्थितियों के सम्मुख हार मानी और न निराश होकर ही बैठे। चट्टान से अवरुद्ध होकर स्रोत जिस तरह अपना मार्ग जरा हट कर निश्चित कर लेता है,

फिर भी उस चट्टान से लगातार टकराता रहता है और एक दिन उसकी जड़ खोद डालता है, वैसे ही स्वामीजी ने जन-कल्याण का मार्ग अवरुद्ध पाकर स्वयं को आत्म-कल्याण की ओर पूर्ण वेग से लगा दिया, किन्तु उनका संघर्षशील जीवन अंध-श्रद्धा और अंध-परम्परा से संधि करने को कभी उद्यत नहीं हुआ। जन-कल्याण और आत्म-कल्याण, इन दो प्रवाहों में बहने वाले जीवन की धारा का रुझान केवल आत्म-कल्याण की ओर ही हो जाने से उसमें और भी प्रखरता आ गई।

उन्होंने अन्य सहयोगी साधुओं के साथ एकान्तर तप प्रारम्भ कर दिया और नित्य सूर्य की आतापना लेने लगे। चौविहार उपवास, ग्रीष्म-ऋतु के दिन, मरु प्रदेश की झुलसा डालने वाली लू के झोंके और अंगार जैसी उत्तप्त वन्य धूलि—इन सबको मन की कल्पना में समन्वित करके जब स्वामीजी और उनके साथी साधुओं की उस तपस्या को समझने का प्रयास किया जाता है तो रोमांच होने लगता है। उनकी लोमहर्षक तपस्या इस बात का स्पष्ट संकेत करती है कि उनमें आत्म-कल्याण की कितनी उत्कट भावना थी।

पारणे के दिन भी स्वामीजी सहित सभी साधु गांव से यथाप्राप्त आहार-पानी लेकर जंगल में चले जाते। किसी वृक्ष की छाया में प्रासुक स्थान देखकर आहार-पानी को वहां रख देते और फिर आतापना लेने के लिए अंगारों से भरी अंगीठी की तरह धधकती हुई रेतीली धरती पर लेट जाते। आतापना के साथ-साथ ध्यान तथा स्वाध्याय का कार्य भी चलता रहता। उस कार्य से निवृत्त होने के पश्चात् भी वे दिनभर जंगल में ही रहते और वहीं गांव से लाया हुआ आहार-पानी ग्रहण करते। सायंकाल होने पर वापस गांव में आ जाया करते। जन-सम्पर्क के प्रायः सभी सूत्र उन्होंने स्वयं विच्छिन्न कर दिये। तपस्या के द्वारा अपने-आपको अधिकाधिक कस लेना ही उनका उस समय ध्येय हो गया था।

महापुरुषों की परम्परा में

विरोधी लोग स्वामीजी को कष्ट देने का प्रयास करते थे, पर स्वामीजी तपस्या प्रारम्भ करके उन कष्टों के साथ ही अपनी ओर से कुछ और कष्ट मिलाकर मानो जनता को यह जता देना चाहते थे कि तुम जो कष्ट पहुंचाना चाहते हो, उससे भी कहीं अधिक कष्ट सहन करने की क्षमता हम रखते हैं। कष्ट और तपस्या में वस्तुतः बहुत थोड़ा ही अन्तर होता है। भावनाहीन तपस्या कष्ट बन जाती है, तो समभाव से सहा गया कष्ट तपस्या बन जाता है। जनता की दृष्टि में जो कष्ट था, स्वामीजी की दृष्टि में वह कर्म-विनाश का एक साधन था। इसीलिए उन्होंने प्रत्येक कष्ट के सामने अपने-आपको पूर्ण रूप से उपस्थित किया और पूर्ण शक्ति के साथ उसका सामना किया। उन्होंने कष्ट-भोग को दैन्य के प्रतीक से उठाकर वीरत्व के सिंहासन पर ला बिठाया।

महापुरुषों की परम्परा में कष्ट-सहन की जो अनिवार्यता देखी गई है, स्वामीजी उसके अपवाद कैसे हो सकते थे? उन्होंने कष्ट सहे और वीरतापूर्वक सहे। अपना मार्ग चुनते समय उन्हें आगामी कष्टों का भान नहीं था, ऐसी बात नहीं है। वे जानते थे कि जरा-सा झुक कर या स्थिति-पोषकता के महायन्त्र का एक पुर्जा बनकर वे दुःख के स्थान

86 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
में परिपूर्ण सुख पा सकते हैं, किन्तु उन्हें वह स्वीकार्य नहीं था; किसी भी महापुरुष को
स्वीकार्य नहीं हो सकता। उसका मार्ग तो कांटों के ऊपर से ही जाता है। कष्ट उसके उस
महत्त्वपूर्ण जीवन के सम्बल होते हैं।

करेंगे या मरेंगे

स्वामीजी अपने कार्य को प्राणों की बाजी लगाकर करने वाले व्यक्ति थे। या तो
वे कार्य को कर लेते थे या फिर उसकी सिद्धि में अपने को मिटा देने को उद्यत रहते थे।
यही दृढ़ता उनकी सफलता का मन्त्र था। अपने कष्टमय जीवन और उसके पश्चात् मिली
आशातीत सफलता का उल्लेख करते हुए उन्होंने मुनि हेमराजजी को अपने संस्मरण
सुनाते समय जो कुछ कहा है, वह उनकी इसी दृढ़ता को सिद्ध करता है। उनके वे प्रेरक
शब्द इस प्रकार हैं :

म्हे उणा नै छोड़या जद पांच वर्ष ताँई तो पूरो आहार न मिल्यो...। आहार-
पाणी जाच नै उजाड़ में सर्व साध परहा जावता। रुंखरा री छायां आहार-पाणी मेल
नै आतापना लेता। आथण रा पाढा गांव में आवता। इण रीते कष्ट भोगवता, कर्म
काटता। म्हे या न जाणता, म्हासो मारग जमसी, नै म्हां में यूं दीक्षा लेसी, नै यूं
श्रावक-श्राविका हुसी। जाण्यो, आत्मा रा कारज सारसां, मर पूरा देसां, इम जाण नै
तपस्या करता....।¹

स्वामीजी के उपर्युक्त कथन से जहां यह अच्छी तरह जाना जा सकता है कि उन्हें
अनेक वर्षों तक जनता की उत्कट अवज्ञा का सामना करना पड़ा था और उन्हें जितनी
सफलता मिली थी, उसकी स्वयं उन्हें कोई सम्भावना नहीं थी, वहां यह भी स्पष्ट हो
जाता है कि वे अपने निश्चय से अंशमात्र भी विचलित होने वाले नहीं थे। जनता का
सहयोग न मिलने पर वे अकेले ही अभीष्ट मार्ग पर बढ़ चले थे। कवीन्द्र रवीन्द्र की
निम्नोक्त पंक्तियां उनके उस एकाकी गमन पर बहुत ही ठीक उत्तरती हैं :

जोदि तोर डाक सुने केउ ना आसे,
तबे एकला चल ओरे।
एकला चल, एकला चल, एकला चल ओरे॥

अर्थात् 'यदि तुम्हारा आहान सुनकर भी कोई साथ चलने को उद्यत न हो तो तुम
अकेले ही चल पड़ो, अकेले ही चल पड़ो।'

सत्य तथा न्याय के पथ पर चलते रहने का स्वामीजी का अद्वितीय आग्रह भरूहरि
के इस सूक्त को याद दिला देता है :

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।

1. भिक्खु दृष्टांत; द. 276।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥¹

अर्थात् ‘धीर पुरुष न्याय-पथ से एक पग भी इधर-उधर नहीं होते। ऐसा करने में लोग चाहे उनकी निन्दा करें या स्तुति, सम्पत्ति ठहरे या जाये, मृत्यु चाहे आज ही आ जाये या युगों के बाद, वे उनकी कोई परवाह नहीं करते।’ आत्मा रा कारज सारसां, मर पूरा देसां—स्वामीजी के ये शब्द कार्य वा साधयेयं, देहं वा पातयेयम् अर्थात्—‘करेंगे या मरेंगे’ की भारतीय ऋषि-मानस से उद्भूत शाश्वत प्रतिज्ञा को एक बार फिर से दुहरा देने वाले थे। उनकी वह अपराजेय प्रतिज्ञा ही उनके जीवन-सूत्र की संचालक थी।

जनभावना में मोड़

स्वामीजी की तपस्या चालू थी। उनका प्रायः समस्त समय अपनी ही धर्म-क्रियाओं में लगने लगा। लोगों पर विशेष परिश्रम करने का उनका ध्येय नहीं रहा। कोई आ जाता और जिज्ञासा करता तो उत्तर दे देते, अन्यथा अपने ही चिन्तन-मनन में लगे रहते।

एकान्त साधना और मौन तपस्या का धीरे-धीरे किन्तु अज्ञात रूप से जनता पर प्रभाव पड़ने लगा। लोगों ने समझना प्रारम्भ किया कि जो व्यक्ति शुद्ध जीवन के लिए प्राणों की भी बाजी लगा सकता है, वह बहुत बड़ा त्यागी और महान् ही हो सकता है। साधारणजन की तरह उसकी भावना खान-पान की समस्या में ही उलझ कर नहीं रह जाती। उसकी दृष्टि बहुत गहरी और लक्ष्य बहुत ऊँचा होता है। वह इन्द्रियों का दास बनकर नहीं, किन्तु स्वामी बनकर जीने वाला होता है। इस प्रकार जन-भावना में एक नया मोड़ आया और लोगों की सहानुभूति स्वामीजी के प्रति जागरित होने लगी। जो पहले उनके मार्ग में बाधक बनना ही श्रेयस्कर मानते थे, वे तब श्रेय की खोज में उनके पास आने लगे। जो नहीं आते थे उनके मन में भी यह भावना उठने लगी कि कम-से-कम उनकी बात तो सुननी ही चाहिए। इन भावनाओं से प्रेरित होकर जो लोग स्वामीजी के पास आते, उन्हें वे आगमिक आधार से धर्म-अधर्म, ब्रत-अब्रत आदि का तत्त्व बहुत ही विश्लेषणात्मक ढंग से समझाते। धीरे-धीरे लोग उनके सिद्धांतों की सत्यता को पहचानने और हृदयंगम करने लगे। अनेक व्यक्तियों ने स्वामीजी की शुद्ध श्रद्धा को ग्रहण भी किया, परन्तु स्वामीजी उस ओर से पूर्ववत् उदास ही बने रहे। वह उदासी सम्भवतः और भी लम्बी चलती, परन्तु एक प्रेरक घटना ने उनके जीवन-क्रम को ऐसा बदल दिया कि वे सहसा ही एक जन-उद्धारक आचार्य के रूप में जन-जीवन में आ गये।

एक प्रेरणा

शाक्य मुनि गौतम बुद्ध को बोधि प्राप्त हुई, तब उन्हें लगा कि सुखैषी लोग उनकी बात नहीं सुनेंगे और उसका अनुसरण नहीं करेंगे, अतः एकान्त में मौन धारण कर रहना ही ठीक होगा। उस समय ब्रह्मदेव ने आकर उन्हें प्रेरणा दी कि धर्म को समझने वाले

1. नीतिशतक; श्लोक 84।

तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
अनेक लोग आपको मिलेंगे, आप उपदेश दें। आपके मौन से उन धर्म-जिज्ञासुओं को भारी हानि हो रही है जो आपके धर्म-वाक्य सुनकर उद्बुद्ध होने वाले हैं।

स्वामी भीखण्णजी के जीवन में भी ऐसी ही घटना घटी। उन्हें भी मौन साधना करते देखकर ब्रह्मदेव की तरह दो साधुओं ने धर्म-प्रचार के लिए प्रेरित किया। उन प्रेरक संतों के नाम थे—मुनि थिरपालजी और मुनि फतेचन्दजी। वे दोनों ही साधु आचार्य जयमलजी के टोले से स्वामीजी के साथ आये थे और संसार-पक्ष से पिता-पुत्र थे। दोनों ही बड़े तपस्वी, भद्र और विचारशील साधु थे। स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहते समय वे दीक्षा पर्याय में स्वामीजी से बड़े थे, अतः परमार्थी और नम्र स्वभावी स्वामीजी ने अपनी निरहंकारिता और उदारता का परिचय देते हुए भाव-चारित्र लेते समय भी उन्हें दीक्षा-पर्याय में अपने से बड़ा ही रखा। पर्याय-बृद्ध सन्तों के प्रति स्वामीजी की आदर-भावना का यह सजीव उदाहरण कहा जा सकता है।

दोनों साधुओं ने जब देखा कि लोग आते हैं, जिज्ञासा करते हैं और अन्ततः समझते भी हैं, परन्तु स्वामीजी उन पर अधिक ध्यान नहीं देते, तब एक दिन वे आये और विनयपूर्वक स्वामीजी से निवेदन करने लगे—‘आप तपस्या के द्वारा अपने शरीर को इस प्रकार क्षीण मत कीजिये। तपस्या करने के लिए तो हम बहुत हैं, क्योंकि इससे आगे हमारी पहुंच नहीं है। आप धर्म-प्रचार कर सकते हैं। आपकी प्रत्युत्पन्न-बुद्धि, अगाध शास्त्र-ज्ञान, मर्मस्पर्शिनी प्रतिपादन-शैली और भावोपयुक्त भाषा संसार को प्रकाश देकर सन्मार्ग दिखला सकती है। आप भगवान् महावीर के अमृतमय धर्म का जनता को उपदेश दीजिये। आपके द्वारा प्रतिपादित धर्म-रहस्य को हृदयंगम करने की योग्यता रखने वाले अनेक व्यक्ति आपको मिलेंगे। जगत् में ऐसे अनेक जीव हैं, जिनकी ज्ञान-शक्ति पर काई आई हुई है। आपके धर्म-वाक्य कान में पड़ने पर वह हटेगी और जनता को ज्ञान-लाभ होगा। आपने जो आलोक पाया है, उस पर समस्त संसार का अधिकार है, क्योंकि आप समस्त संसार के आत्मीय हैं। अपने इस आलोक को मुक्त-भाव से वितरित कीजिये। हमें विश्वास है कि वह उत्तरोत्तर फैलेगा और जनता उससे अपना लक्ष्य प्राप्त करेगी।’

प्रेरणा की प्रतिक्रिया

मुनि-युगल के अन्तःकरण से निकली हुई सहज वाणी ने स्वामीजी के हृदय को बहुत प्रभावित किया। उन्होंने उस सत्परामर्श को सम्मान देते हुए कहा—‘मुनिजनो! आप दोनों रात्निक हैं, अतः पूजनीय हैं। आपकी यह लोक-हितैषिता बहुत ही प्रशंसनीय है। आप जिस कार्य की प्रेरणा देने आये हैं, वह तो मेरे स्वभाव के सदा अनुकूल रहा है, किन्तु जनता की उदासीनता ही उसमें बाधक थी। आज आपके सरल हृदय से उद्गत विचारों ने जो मांग की है, मैं उसे टुकराऊंगा नहीं। आपकी भविष्य-वाणी को कार्यरूप में परिणत करने के लिए जिस प्रयास की आवश्यकता है, उसका भार अपने ऊपर लेने में मुझे तनिक भी हिचकिचाहट नहीं है।’ मुनि थिरपालजी और मुनि फतेहचन्दजी अपने परामर्श की सहज स्वीकृति से गद्गद हो उठे।

अवसर पर दी गई उक्त छोटी-सी प्रेरणा उस समय केवल एक सामान्य बातचीत ही थी, परन्तु आज स्वर्णक्षणों में अंकित करने योग्य एक विशिष्ट गौरवपूर्ण घटना के रूप में वह हमारे सामने है। उस समय स्वयं प्रेरकों को भी यह अनुमान नहीं होगा कि उनकी वह साधारण-सी प्रेरणा लाखों जीवों के कल्याण की हेतु बनकर संसार के लिए एक अलौकिक देन सिद्ध होगी तथा नवोदित तेरापंथ के जीवन में एक नया मोड़ ला देगी। स्वामीजी के जन-उद्घारक जीवन का सूत्रपात करने का श्रेय इसी घटना को दिया जा सकता है।

धर्म-प्रचार की ओर

स्वामीजी उसी दिन से धर्म-प्रचार की ओर विशेष ध्यान देने लगे। जो लोग जिज्ञासु बनकर आते, उन पर अथक परिश्रम करते और आगम-न्याय के आधार पर उनके हृदय में सम्पूर्ण-दर्शन का बीजारोपण करते। क्रमशः लोगों का आगमन बढ़ने लगा और तात्त्विक विचारों की जिज्ञासा जोर मारने लगी। अनेक व्यक्तियों ने धर्म के मर्म को समझा और उसे ग्रहण किया।

स्वामीजी उस समय मारवाड़ में विहार कर रहे थे। केलवा-चतुर्मास के पश्चात् बहुत स्वल्प समय तक ही वे मेवाड़ में ठहरे प्रतीत होते हैं। तपस्या प्रारम्भ करने से लेकर धर्म-प्रचारार्थ मुनि-द्वय द्वारा दी गई प्रेरणा तक की सभी घटनाएं मारवाड़ में ही घटित हुईं। स्वामीजी जब पुनः धर्म-प्रचार में लगे, तब मारवाड़ में अच्छी धर्म-जागरण हुई। उससे उत्साहित होकर वे पुनः मेवाड़ में पधारे। प्रगढ़ मेवाड़ में पूज्य पथारिया¹—जयाचार्य का यह पद्यांश इसी बात की ओर इंगित करता है।

मारवाड़ की ही तरह मेवाड़ में भी उन्होंने लोगों की जिज्ञासा-वृत्ति को अतिशय जागरित पाया। यद्यपि उनकी द्वेष-बुद्धि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था, फिर भी वे आते और धर्म-चर्चा करते, तब सौ में से दो तो समझते ही। स्वामीजी उतने मात्र से भी अपने श्रम को सफल मानते। दिनभर लोगों को समझाते रहने पर स्वामीजी को लगा कि अपने विचारों को जन-सुलभ बनाने के लिए उन्हें पद्य-बद्ध कर देना चाहिए। तभी से उन्होंने आचार, अनुकर्मा, व्रत, अब्रत आदि तत्कालीन चर्चास्पद विषयों पर 'जोड़'-पद्य-रचना प्रारम्भ की।² उसके माध्यम से उन्होंने तत्कालीन जिज्ञासाओं को जहाँ समाहित किया, वहीं आगम-सम्मत विचारों की बहुत महत्वपूर्ण सामग्री भी संकलित कर दी। कालान्तर में तो उन्होंने नव पदार्थ, श्रावक के बारह व्रत और श्रद्धा आदि अनेक विषयों पर विवेचनात्मक तथा प्रेरणास्पद ग्रंथों का निर्माण किया।

जन-उद्घार के लिए विभिन्न प्रदेशों में स्वामीजी के विहार और प्रत्यक्ष परिचय ने जितना महत्वपूर्ण कार्य किया, उतना ही उनके ग्रंथों ने भी किया। साधारण श्रावक भी

1. ऐ.ज.र.; 10101

2. जिन रचनाओं में स्वामीजी ने रचना-काल नहीं दिया है, कहा जाता है कि वे सब उक्त प्रारम्भ-काल की रचनाएं हैं।

90 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
उनकी गीतिकाओं को सीखकर जहां तत्त्व तथा आचार-विषयक विशेषज्ञ हो जाता था,
वहां उस समय चलने वाले शास्त्रार्थों या चर्चाओं में भी अजेय हो जाया करता था।

आत्म-बल ही सहायक

स्वामीजी के पास उस समय हर प्रकार की सामग्री का प्रायः अभाव ही था। वे जहां जाते, वहां अधिकांश व्यक्ति उनके विरोधी होते, सहायक बहुधा कोई नहीं होता। यदि कोई होता भी, तो वह सामाजिक बहिष्कार के भय से खुलकर सामने नहीं आ पाता। प्रायः प्रत्येक गांव में शास्त्रार्थ या चर्चा का वातावरण बना रहता। अपने विरुद्ध प्रसारित की गई भ्रान्तियों का निराकरण करने में भी उन्हें काफी शक्ति लगानी पड़ती। स्वयं सहित आठ साधुओं का छोटा-सा संघ और अंगुलि-गणनीय श्रावक-वर्ग, बस इसी नगण्य सामग्री के आधार पर उन्होंने अपना कार्य प्रारम्भ किया। उस समय यदि कोई उनका प्रबल सहायक था, तो वह एकमात्र आत्म-बल ही था। उसी के आधार पर उन्होंने वैसा कार्य कर दिखाया, जैसा सभी प्रकार की साधन-सम्पन्नता में भी हो पाना सम्भव नहीं होता। चारों ओर से घुमड़ कर आती हुई विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने कभी अपना धैर्य नहीं खोया और धीरे-धीरे उन सभी पर विजय प्राप्त कर ली, यह उनके व्यक्तित्व की विरल-प्राप्य विशेषता थी।

संस्कृत-कवि वार्णीश्वर ने एक नीति श्लोक में लंका-अभियान के समय राम की विषम स्थितियों का वर्णन करते हुए लिखा है :

विजेतव्या लङ्घा चरण-तरणीयो जलनिधिः,

विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।

तथाप्येको रामः सकलमवधीद् राक्षस-कुलं,

क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे॥

अर्थात् 'लंका जैसी दुर्जेय नगरी को जीतना था, समुद्र के अगाध जल को लांघना था, रावण जैसे बलिष्ठ शत्रु से भिड़त थी, रण-भूमि में सहायक थे मात्र बन्दर, फिर भी अकेले राम ने समग्र राक्षस-वंश को पराजित कर दिया, क्योंकि कार्य-सिद्धि महापुरुषों के आत्म-बल पर जितनी आधारित होती है, उतनी बाह्य उपकरणों पर नहीं।' राम की उपर्युक्त स्थिति से स्वामीजी की तत्कालीन स्थिति बहुत-कुछ मेल खाती है। उनकी विजय का मूल भी उन्हें प्राप्त साधारण साधन-सामग्री में नहीं, किन्तु उनके अपार आत्मबल में निहित था। अन्यथा उतने बड़े सुनियोजित विरोध के सम्मुख अकेले व्यक्ति का टिक पाना और फिर उसमें विजय प्राप्त करना असम्भव ही होता। एकमात्र स्वामीजी के आत्मबल ने ही वहां असम्भव को भी सम्भव कर दिखाया। उसी के बल पर वे सभी समस्याओं के सम्मुख अड़िगा धैर्य के साथ डटे ही नहीं रहे, अपितु उन सभी को परास्त भी किया।

संदेशवाहक

धीरे-धीरे प्रचार-कार्य में उन्हें अकल्पनीय सफलता मिलने लगी। लोग उनसे अपने-अपने ग्रामों में पधारने के लिए प्रार्थना करने लगे। क्वचित् ग्राम के ग्राम उनके

भक्त बन गये। स्वामीजी का मन उस भक्ति-भाव से कभी अहंकार-पूरित नहीं हुआ। वे तो अपने आपको भगवान् का एक संदेश-वाहक ही मानते रहे। केलवा के रावल ठाकुर मोखमसिंहजी के एक प्रश्न पर दिये गये उत्तर से उनकी यह भावना एकदम स्पष्ट हो जाती है। एक बार केलवा में स्वामीजी विराजमान थे। धर्म-परिषद् जुड़ी हुई थी। रावल मोखमसिंहजी दर्शन करने तथा व्याख्यान सुनने के लिए आये। व्याख्यान के पश्चात् वे बातचीत करने के लिए उपपात में बैठ गये। कुछ लोग बाहर से आये हुए थे। वे स्वामीजी से अपने यहां पधारने के लिए प्रार्थना कर रहे थे। स्वामीजी जब उनसे निवृत्त हुए तो रावलजी ने प्रश्न करते हुए कहा—‘स्वामीजी! आपके पास गांव-गांव की प्रार्थनाएं आती हैं, लोग आपकी इतनी भक्ति करते हैं, आपको अपने यहां आया देखकर हर्ष-विभोर हो उठते हैं। आप में ऐसी क्या विशेषता है कि जिससे आपके प्रति लोगों का इतना आकर्षण है?’

स्वामीजी ने कहा—‘जिस प्रकार किसी पतिव्रता नारी का पति परदेश में हो और उसका संदेशवाहक बनकर कोई व्यक्ति उसके यहां आये, तो वह बहुत प्रसन्न होती है। उसको ससम्मान पास में बिठाकर सारे समाचार पूछती है, भोजन आदि सुविधाओं की भी व्यवस्था करती है। संदेशवाहक का वह सम्मान उसकी अपनी गुण-गरिमा से नहीं, किन्तु पति का संदेश लेकर आने से होता है। उसी प्रकार जनता हमारा जो सम्मान करती है तथा हमें जो चाहती है, उसका कारण भी यही है कि हम भगवान् के संदेशवाहक हैं। हम उन्हें भगवद्-वाणी सुनाते हैं। उससे सभी को आत्म-सुख और शांति की प्राप्ति होती है।’¹

ठाकुर मोखमसिंहजी का उपर्युक्त प्रश्न तथा स्वामीजी का उत्तर, इस बात के प्रमाण हैं कि स्वामीजी जब धर्म-प्रचार की ओर ध्यान देने लगे तब जनता में उनके प्रति आकर्षण बढ़ा और वह उनकी भक्त बनने लगी। स्वामीजी में एक चुम्बकीय शक्ति थी, जिससे लोग स्वतः ही उनकी ओर आकृष्ट होते चले जाते थे। जो लोग स्वामीजी के भक्त बने, उनके प्रति उनके पूर्व गुरुओं ने सम्भवतः पूर्ण निराश होकर ही यह कहा होगा—भीखण रा भरमाया, कदे न पाछा आया। स्वामीजी वस्तुतः एक महान् साधक, महान् सुधारक, महान् आचार्य तथा महान् जन-उद्घारक पुरुष के रूप में इस धरती पर आये और अपने लक्ष्य में पूर्णरूपेण सफल होकर जनता के हृदयेश्वर बन गये।

चतुर्विधि संघ

जैन परम्परा में संघ की परिपूर्णता उसकी चतुर्विधता में मानी गई है। प्रारम्भिक वर्षों में तेरापंथ में साधिक्यां नहीं थीं, अतः लगभग चार वर्षों तक वह त्रिविधि ही रहा। उस स्थिति पर व्यांग्य करते हुए एक दिन किसी व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—‘भीखण्जी! तुम्हारे संघ में तो केवल तीन ही तीर्थ हैं—साधु, श्रावक और श्राविका। साधिक्यों के अभाव में तुम्हारे संघ का यह मोदक अपूर्ण ही है।’

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 87।

स्वामीजी ने उस व्यंग्य का उत्तर देते हुए कहा—‘हमारा यह मोदक अपूर्ण भले ही हो, पर है चौंगुनी चीनी का। इसलिए जितना है, उतना पूर्ण रूप से स्वादिष्ट है’¹

स्वामीजी ने इस उत्तर से यह भी समझा दिया कि जिस प्रकार चीनी के अभाव में पूर्ण मोदक भी स्वादहीन होता है, उसी प्रकार चारित्र के अभाव में संघ की चतुर्विधता भी महत्वहीन ही होती है। जिस संघ में गुणी तथा चारित्रवान् व्यक्ति रहते हैं, वहां चतुर्विधता चाहे न हो, पर उसकी महत्ता और वास्तविकता कहीं नहीं जाती।

इस घटना के थोड़े दिन पश्चात् ही स्वामीजी के संघ में दीक्षित होने के लिए तीन बहिनें आईं। तीनों ने एक साथ मिलकर स्वामीजी से अपनी दीक्षा की भावना निवेदित की। स्वामीजी प्रत्येक कार्य को अत्यन्त दूरदर्शिता और सावधानी से किया करते थे, अतः अपने स्वभावानुसार उन्होंने सोचा कि जैनागमों के नियमानुसार कम-से-कम तीन साध्वियों का साथ रहना आवश्यक है। यदि इनके प्रब्रजित होने के पश्चात् किसी एक का भी वियोग हो जाये, तो शेष दो साध्वियों के लिए ‘संलेखना’ के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह जाता। उन्होंने अपना यह विचार दीक्षार्थिनी बहिनों के सम्मुख रखा और दीक्षा लेने से पूर्व उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेने के लिए कहा।

तीनों ही बहिनों ने उस बात पर गहराई से विचार कर स्वामीजी से निवेदन किया कि यदि हम में से किसी एक का वियोग हुआ, तो शेष दो संलेखनापूर्वक शरीर विसर्जन के लिए प्रस्तुत रहेंगी। बहिनों के उस वीरता-सूचक उत्तर से स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए। उनके वैराग्य-भाव से तो वे पहले से ही आश्वस्त थे, अब उनकी दृढ़ता का भी परिचय मिल गया। इस प्रकार पूर्ण परीक्षा कर लेने के पश्चात् स्वामीजी ने तीनों बहिनों को एक साथ दीक्षा प्रदान की। तेरापंथ में सर्वप्रथम दीक्षित उन साध्वियों के नाम क्रमशः कुशालांजी, मट्टूजी और अजबूजी थे।

साध्वियों के तीर्थ की वह स्थापना सं. 1821 में हुई। तेरापंथ की क्रमिक विकासशीलता में उक्त घटना को एक नई कड़ी कहा जा सकता है। चतुर्विधता की उस पूर्ति के पश्चात् वह परम्परा निरन्तर चालू रही। यद्यपि उन तीनों साध्वियों में से एक अजबूजी को प्रकृति की खराबी के कारण कालान्तर में संघ से पृथक् कर दिया गया, फिर भी शेष साध्वियों के समक्ष संलेखना करने की कोई परिस्थिति पैदा नहीं हुई, क्योंकि उस समय तक और भी बहिनें दीक्षित हो चुकी थीं।

संख्या वृद्धि

जनता स्वामीजी के विचारों को धीरे-धीरे, किन्तु विचारपूर्वक अपनाती गई, अतः श्रावकों और श्राविकाओं की संख्या संतोषजनक क्रम से वृद्धिंगत होती रही। बहिनों की दीक्षा हो जाने के पश्चात् संघ की त्रिविधता भी चतुर्विधता में परिणत हो गई। परन्तु साधुओं की संख्या में कोई वृद्धि नहीं हुई। वह आठ की आठ ही रही। अनेक वर्षों तक न

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 221

कोई भाई दीक्षित हुआ और न अन्य संघों से आकर कोई सम्मिलित ही हुआ। वह बाधा तब टूटी, जब सर्वप्रथम सं. 1822 में मुनि सुखरामजी दीक्षित हुए। वे नवम साधु थे।

यद्यपि तेरापंथ के नामकरण में साधुओं की तेरह की संख्या का महत्वपूर्ण योग रहा, फिर भी लम्बे समय तक वह संख्या पुनः प्राप्त नहीं की जा सकी। सं. 1844 और 47 के बीच में एक बार संतों की संख्या 12-14 हुई थी, परन्तु वह अल्पकालिक ही सिद्ध हुई। उस अस्थायी संख्या को नगण्य मानकर कहा जा सकता है कि लगभग 36 वर्षों तक संघ में आठ और बारह के बीच में ही साधु रहे। तेरहवीं संख्या की स्थायी पूर्ति सं. 1853 में तब हुई, जब स्वामीजी के पास मुनि हेमराजजी ने दीक्षा ग्रहण की। उसके पश्चात् उस संख्या में कभी हास नहीं हुआ।¹ तेरापंथ के लिए चतुर्मुखी प्रगति का समय वस्तुतः वर्हीं से प्रारम्भ हुआ समझा जाता है।

1. भि.ज.र.; 1114

‘द्वादश मुनि था तेपनै, स्वाम भिक्खु रै जोय।
तब हेम हुआ मुनि तेरमा, पछै न घटियो कोय॥’

जीवन-संग्राम

समस्या-संकुल वर्ष

स्वामीजी का जीवन सैनिक का-सा जीवन था। उन्होंने उसे सदैव एक संग्राम समझा। सफल योद्धा की तरह एक-एक मोर्चे पर विजय प्राप्त करते हुए वे अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर अग्रसर होते रहे। असंयम को पराजित कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संयम के वर्चस्व की स्थापना करना उनका लक्ष्य था। उसमें वे पूर्णतः सफल हुए।

आध्यन्तर मोर्चे पर यद्यपि अपने लक्ष्य में उन्हें निर्विकल्प विजय प्राप्त हुई थी, फिर भी बाह्य मोर्चे पर काफी लम्बे समय तक उनका संग्राम चालू रहा। भाव-संयम की स्थापना के पश्चात् वे प्रकृति-जनित तथा विरोधियों द्वारा उद्भावित परीषहों से ज़दूते रहे। वे उस संग्राम में कभी थके नहीं, ऊबे नहीं और झुके भी नहीं। पराजय तो कभी उनके सामने आ नहीं सकी। फिर भी जीवन-संग्राम के उस विजयी योद्धा को संन्यस्त जीवन के अपने अनेक वर्ष समस्याओं से घिरे रहकर बिताने पड़े।

स्थान, वस्त्र और आहार-शरीर-धारण के साथ ये तीन अनिवार्य आवश्यकताएं जुड़ी हुई हैं। इन्हें उत्तरोत्तर अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। स्वामीजी को इन तीनों में से किसी एक की भी पूरी सुविधा प्राप्त नहीं थी। उनके विरुद्ध किये जाने वाले दुष्प्रचार के प्रवाह में बहकर लोगों द्वारा वैयक्तिक रूप से तथा जहां संभव हो सका वहां सामाजिक रूप से भी उन पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जाते रहे। यही कारण था कि साधना-काल के उनके प्रारम्भिक वर्ष अत्यन्त समस्या-संकुल तथा कष्टपूर्ण रहे।

स्थान की समस्या

स्वामीजी किसी गांव में जाते तो पहले-पहल स्थान की समस्या उनके सामने आती। सहज रूप में उपयुक्त स्थान मिल पाना प्रायः कम ही सम्भव होता। जब कभी कोई स्थान मिल जाता, तो विरोधी लोग उसे छुड़ाने का प्रयत्न करने लगते। मकान-मालिक पर अनेक प्रकार से दबाव डाला जाता कि वह अपना स्थान खाली करा ले। उनके जीवन में ऐसे अनेक अवसर आये, जब उन्हें आवास छोड़कर और कभी-कभी गांव छोड़कर भी जाना पड़ा, परन्तु उन्होंने उन घटनाओं से कभी अपने मन को विशुद्ध नहीं होने दिया। वे एक

महान् सन्त थे। सन्त-पुरुषों की महान् परम्परा के अनुरूप ही उन्होंने उन सबको सम्भाव से सह लिया। उसके लिए कभी किसी पर दोषारोपण नहीं किया।

पाली में स्थान-परिवर्तन

एक बार पाली में चतुर्मास करने के लिए स्वामीजी पधरे। वहां बाजार में एक दुकान खाली थी। उसके स्वामी की आज्ञा लेकर वहां ठहरे। आचार्य रुद्धनाथजी भी पाली में ही थे। उन्होंने दुकान वाले के घर जाकर उसकी पत्नी को बहका दिया कि चतुर्मास प्रारंभ हो जाने के पश्चात् ये तुम्हारी दुकान किसी भी स्थिति में खाली नहीं करेंगे। बहिन ने स्वामीजी को स्थान खाली करने का निर्देश देते हुए कहा—‘यहां ठहरने के लिए मेरी आज्ञा नहीं है।’

स्वामीजी ने उसे समझाने का बहुत प्रयास किया, परन्तु वह टस-से-मस भी नहीं हुई। उसने कहा—‘मुझे तुम्हारे जैसे ही पट्टीवाले साधुओं ने आकर बतलाया है कि चतुर्मास प्रारंभ होने के पश्चात् तो तुम किसी भी प्रकार से यह स्थान नहीं छोड़ोगे, इसलिए मेरा मकान तो अब ही खाली कर दो।’

आखिर स्वामीजी ने दूसरे मकान की गवेषणा करके उसे खाली कर देने का निश्चय बतलाया तब वह मान गई। स्वामीजी स्वयं गोचरी के लिए गये तब स्थान-विषयक पूछताछ भी की। उदयपुरिया बाजार में एक दुकान की दूसरी मंजिल उन्हें प्राप्त हो गई। स्थानदाता को भ्रांत करके पीछे से कोई उसे बंद न करवा दे—इसलिए स्वामीजी वहीं ठहर गये और साथ के साधु को भेजकर उपकरण मंगवा लिए। दिन में ऊपर रहते और रात को नीचे बाजार में व्याख्यान देते। प्रथम स्थान की अपेक्षा वह कहीं अधिक अच्छा तथा मौके का था। रात्रिकालीन व्याख्यान में वहां लोग काफी आने लगे। आचार्य रुद्धनाथजी ने उस स्थान को छुड़ाने के लिए भी अनेक प्रयास किये, किन्तु गृहस्वामी ने कहा—‘कार्तिक-पूर्णिमा तक तो मैं वचन-बद्ध हूं, अतः किसी भी स्थिति में उन्हें निषेध नहीं करूंगा। उसके पश्चात् वे ठहरेंगे नहीं।’

उस चतुर्मास में वर्षा बहुत हुई। स्वामीजी जिस दुकान में पहले ठहरे थे, वह संयोगवश गिर गई। स्वामीजी को जब पता चला, तब उन्होंने कहा—‘स्थान छुड़ाने की प्रेरणा करने वालों पर छद्मस्थता के कारण आक्रोश की लहर आने का प्रसंग था, पर मानना चाहिए कि उन्होंने हमारा उपकार ही किया।’¹

स्वामीजी ने पाली में अपना प्रथम चतुर्मास वि. सं. 1823 में किया था। अनुश्रुति है कि उसी समय की यह घटना है।

किराये पर दे दो

उस युग में ऐसे मतान्ध व्यक्तियों की कोई कमी नहीं थी, जो हर प्रकार से स्वामीजी का विरोध करने को उद्यत रहा करते थे। यदि कहीं रुपये व्यय करके भी उन्हें स्थान या ग्राम से हटाया जा सकता, तो वे वैसा करने में किंचित् भी नहीं हिचकते थे।

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 2।

96 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
पाली के ही किसी चतुर्मास की घटना है। स्वामीजी बाजार की एक दुकान में ठहरे। लोगों का आना-जाना काफी होने लगा। विरोधी व्यक्तियों को उसमें खतरा दिखाई दिया। मूर्तिपूजक आन्याय के बाबेचा परिवार के कुछ व्यक्ति तो विद्रेषाग्नि में मानो जल उठे। वे नहीं चाहते थे कि स्वामीजी का वहां चतुर्मास निर्विघ्न सम्पन्न हो जाये। अनेक दिनों तक तो वे व्याख्यान आदि में तरह-तरह से विघ्न डालते रहे, पर छोटे-मोटे विघ्नों का जब कोई प्रभाव पड़ता दिखाई नहीं दिया, तब उन्होंने स्थान छुड़ाने की योजना बनाई।

गृहस्वामी के पास जाकर कहने लगे—‘हमें एक दुकान की आवश्यकता है। तुम्हारी वह दुकान दे दो तो बाजार भाव से दुगुना किराया दे दिया जायेगा।’

गृहस्वामी उन लोगों की भावना को तत्काल समझ गया। वह बोला—‘अभी तो वहां स्वामीजी ठहरे हुए हैं, अतः यदि तुम पूरी दुकान को रुपयों से मढ़ दो, तो भी नहीं दूँगा। चतुर्मास समाप्त होने पर जब वे विहार कर दें, तब भले ही ले लेना।’

उनको दुकान थोड़े ही लेनी थी? वह तो मात्र एक बहाना था। मूल उद्देश्य तो स्वामीजी से स्थान छुड़ाने का था। गृहस्वामी की दृढ़ता को देखकर वे समझ गये कि यहां कृतकार्य होना संभव नहीं है।¹

या भीखण्णजी, या हम

स्थान छुड़ाने में असफल होने पर भी बाबेचा आदि लोग चुप होकर नहीं बैठे। उन्होंने उससे भी बड़ी दूसरी योजना बनाई। वे स्वामीजी को पाली से ही निकलवा देने का स्वप्न लेने लगे। एक दिन वे सब मिलकर हाकिम जेटमलजी के पास गये। उनके सम्मुख अपने मकानों तथा दुकानों की चाबियां रखकर कहने लगे, ‘इन्हें संभालिये और हमें पाली से चले जाने की आज्ञा दीजिए।’

एक साथ अनेक साहूकारों द्वारा पाली छोड़ने की तैयारी देखकर हाकिम चकराये। उन्होंने पूछा—‘ऐसी कौन-सी विकट स्थिति उत्पन्न हो गई है कि आप सबको नगर-त्याग का निर्णय करना पड़ा?’

वे बोले—‘पाली में अब या तो भीखण्णजी रहेंगे या हम। दोनों कदापि नहीं रह सकते।’

हाकिम और भी अधिक चकराये। उन्होंने कहा—‘ऐसा अन्याय तो मैं कभी नहीं कर सकता। नगर में तो वेश्या तथा कसाई जैसे पापिष्ठ व्यक्ति भी रहते हैं। उन्हें भी जब नहीं निकाला जाता, तब भीखण्णजी को कैसे निकाला जा सकता है? वे तो एक असाधारण सन्त पुरुष हैं।’

उन लोगों ने कहा—‘ठीक है, आप उन्हें रखिये, हम जा रहे हैं।’

हाकिम ने आकृति पर थोड़ी अन्यमनस्कता लाते हुए कहा—‘कुछ ही वर्ष पूर्व की एक घटना सुनाता हूँ। जोधपुर राज्य में मोती नामक एक बनजारा आया करता था। वह बाहर से

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 95।

लाया हुआ माल यहां बेचता और यहां से नमक ले जाता था। व्यापारिक सामान को ढोने के लिए उसके पास एक लाख बैल थे। इसीलिए लोग उसे 'लक्खी बालदिया' अथवा 'लक्खी बिणजारा' कहा करते थे। वह जिस मार्ग से आता-जाता, उस मार्ग के खेत बैलों द्वारा रोंद दिये जाते थे। किसानों ने जोधपुर नरेश विजयसिंहजी के पास उसकी शिकायत की। नरेश ने मोती को बुलाया और कहा—‘खेतों को बचाकर आया-जाया करो।’

मोती अपनी व्यापारिक शक्ति के मद में बोला—‘मोती आयेगा, तब तो यों ही होगा।’

नरेश उसकी उद्दण्डता से क्रुद्ध होकर बोले—‘यों ही होगा, तो आगे के लिए मेरे राज्य में आने की आवश्यकता नहीं है। हमारे यहां नमक है, तो उसके ग्राहक अन्य व्यापारी आते रहेंगे। व्यापार के नाम पर तुम्हें अन्याय की छूट नहीं दी जा सकती।’

हाकिम ने कहा—‘मोती चला गया, तो जोधपुर राज्य का कुछ नहीं बिगड़ा। स्वयं उसी का व्यापार चौपट हो गया। तुम लोग भी अपना हानि-लाभ सोच लो। यदि चले जाओगे, तो हम यहां अन्य व्यापारियों को ला बसायेंगे। तुम्हारे लिए सन्तों को निकालने का अन्याय नहीं किया जायेगा।’

बाबेचों ने चाबियां उठाईं और चुपचाप अपने-अपने घर चले गये।¹

उदयपुर से निष्कासन

स्वामीजी शेषकाल में एक बार उदयपुर पथारे। वहां गवेषणा करने पर मौके का स्थान मिल गया। लोगों का आगमन काफी होने लगा। विरोधीजनों को वह कैसे अच्छा लग सकता था? उन्होंने स्वामीजी के विरुद्ध अन्दर-ही-अन्दर षट्यन्त्र करना प्रारम्भ कर दिया। उनमें अनेक प्रभावशाली तथा पहुंच वाले व्यक्ति थे। उन्होंने उलटी-सीधी बातें बताकर महाराणा को भ्रांत कर दिया। महाराणा ने भी आगे-पीछे का चिंतन किये बिना एक अविमृश्यकारी की तरह आदेश दे दिया कि भीखण्जी को उदयपुर से चले जाने के लिए कह दिया जाये।

महाराणा का आदेश-पत्र लेकर हरकारा स्वामीजी के पास आया और उक्त आदेश से उनको अवगत किया। उस अप्रत्याशित आदेश से स्वामीजी को आश्चर्य अवश्य हुआ, परन्तु वे क्षुब्ध किंचित् भी नहीं हुए। सहज भाव से उन्होंने वहां से विहार कर दिया।

उदयपुर में उस समय तक स्वामीजी के अनेक अनुयायी बन चुके थे। फिर भी वे बहुत स्वल्प थे। विरोधियों की संख्या के सम्मुख तो वे नगण्य थे। न उनके पास बहुत बड़ा अर्थ-बल था और न कोई विशेष पहुंच वाला व्यक्ति ही। महाराणा का आदेश उन्हें अत्यन्त अपमानजनक लगा, पर वे कुछ नहीं कर पाये। उन भक्तों में एक मनजी पोरवाल थे। वे मारवाड़ से आकर उदयपुर में बसे थे। व्यापार के द्वारा उन्होंने अच्छा धनार्जन किया था। व्यापारियों आदि में जान-पहचान काफी थी, पर महाराणा तक पहुंचने का

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 95।

98 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
कभी अवसर नहीं आया। उन्होंने कभी वैसा प्रयास भी नहीं किया। स्वामीजी के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा थी, अतः उनके नगर-त्याग से क्षुब्ध होकर उन्होंने महाराणा से मिलने का निर्णय किया। वे राजसभा में गये और 'नजराना' करके कुछ निवेदन करने की मुद्रा में खड़े हो गये। महाराणा ने उनको अपने समीप बुलाया, तब उन्होंने निवेदन किया कि नगर में सभी प्रकार के लोग रहते हैं, वहां सन्तों को नगर-त्याग का आदेश देना महाराणा-परिवार और उदयपुर की परम्परा के अनुकूल कैसे हो सकता है? महाराणा ने तब उनसे स्वामीजी के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त की। सारी स्थिति समझ में आने पर महाराणा को पश्चात्ताप हुआ कि उन्होंने भ्रान्त धारणाओं के फेर में आकर सन्तों का अपमान कर दिया। उन्होंने तत्काल अपना पूर्व आदेश वापस ले लिया।¹ इतना ही नहीं, अनुश्रुति है कि उन्होंने मनजी के साथ अपने व्यक्ति को भेजकर स्वामीजी को पुनः उदयपुर पधारने का निवेदन करवाया। स्वामीजी उदयपुर से विहार करके वेदला चले गये थे। महाराणा के उक्त निवेदन पर वे पुनः उदयपुर पधार गये।

नाथद्वारा से निष्कासन

वि. सं. 1843 में स्वामीजी ने नाथद्वारा में चतुर्मास किया। वहां पर उनका वह प्रथम चतुर्मास था। विरोधी लोग यह नहीं चाहते थे कि नाथद्वारा भी उनके विहार-क्षेत्र की सूची में आये। वे स्वामीजी के विरुद्ध जनता को उकसाने लगे। उस वर्ष वहां वर्षा बहुत कम हुई। विरोधी लोगों ने उसका दोष स्वामीजी पर ही मढ़ा। वे गोसाईंजी के पास पहुंचे और उन्हें इस प्रकार से बहका दिया कि जब तक ये लोग यहां रहेंगे, तब तक आपके नगर में वर्षा नहीं हो सकेगी। उन सबकी बातों में आकर गोसाईंजी ने अपने हरकारों को आज्ञा दी कि मुंहपट्टी वाले साधुओं को यहां से निकाल दो।

हरकारों ने आकर जब स्वामीजी को गोसाईंजी का आदेश बतलाया, तो उन्होंने किसी प्रकार का आग्रह या अनुनय किये बिना वहां से कोटारिया की ओर विहार कर दिया। नाथद्वारा से प्रस्थान करते समय मार्ग में स्थानक आ गया। वहां भी कुछ साधुओं का चतुर्मास था। उन्हें यह पता तो पहले ही लग गया था कि भीखणजी को यहां से चले जाने का आदेश हो गया है, फिर तत्काल यह भी पता चला कि वे इसी मार्ग से कोटारिया की ओर जा रहे हैं। सम्भवतः उनकी उस स्थिति का आनन्द लेने के लिए कुछ साधु स्थानक के मुख्यद्वार पर तथा कुछ ऊपर की खिड़कियों में खड़े होकर देखने लगे।

स्वामीजी जब स्थानक के सामने आये, तब उन लोगों को इस प्रकार खड़े देखकर सहज भाव से उधर बढ़े और ज्ञात तथा अज्ञात भाव से हुई किसी भी प्रकार की कटुता के लिए 'खमत-खामणा' करते हुए आगे बढ़ गये। स्वामीजी के साथ कुछ स्थानीय श्रावक भी थे। वे स्वामीजी के प्रति बहुत श्रद्धावान थे, परन्तु तत्काल कोई उपाय नहीं कर पाए। विवश होकर वे स्वामीजी को पहुंचाने के लिए आए थे। वे भी 'खमत-खामणा' करके आगे बढ़ गये।

1. प्रकीर्ण पत्र-संग्रह, पत्र 28।

हरकारों ने स्वामीजी तथा उनके अनुवर्ती भाइयों को उन लोगों से बातचीत करते देखा और उनको भी मुंह पर पट्टी बांधे हुए देखा, तो गोसाईजी का आज्ञा-पत्र दिखलाते हुए बोले—‘आप लोगों को यहां ठहरने की आज्ञा नहीं है, अतः यहां से चले जायें।’

उन लोगों ने इस विषय पर हरकारों से काफी उत्तर-प्रत्युत्तर किये और उन्हें समझाने का प्रयास किया कि यह आज्ञा तो केवल तेरापंथियों के लिए ही है, हम लोगों के लिए नहीं। हरकारों ने उनके उस कथन को नहीं माना। वे तो सभी मुंहपट्टी वालों को निकालने पर ही आज्ञा का पालन मान रहे थे। उनके श्रावकों को जब पता लगा, तो वे गोसाईजी के पास दौड़े। परन्तु अपने ही हाथों से किया कार्य उन्हें अपने ही लिए भारी पड़ गया। गोसाईजी को उनका कोई भी तर्क समझ में नहीं आया। वे बोले—‘मुंहपट्टी वाले साधुओं ने यदि वर्षा रोक रखी है, तो उनमें से एक को निकाला जाये और दूसरे को नहीं, यह न्यायसंगत कैसे हो सकता है?’

आखिर वे लोग अपने प्रयास में सफल नहीं हो सके। गोसाईजी ने भेदभाव करने से इनकार कर दिया। फलस्वरूप उन साधुओं को भी विवश होकर वहां से जाना पड़ा। स्वामीजी के विरुद्ध प्रयुक्त अपने ही शस्त्र के वे स्वयं शिकार हो गये। कहा नहीं जा सकता कि स्वामीजी का वह निष्कासन उन लोगों के लिए उल्लास का विषय रहा या विषाद का?

नाथद्वारा में उस समय दाऊजी तलेसरा उत्तरदायी श्रावक थे। वे स्वामीजी के परमभक्त तो थे ही, संपन्न होने के कारण नगर में भी सम्माननीय स्थान रखते थे। उन्होंने स्थानीय श्रावकों से विचार-विमर्श किया। सभी का कहना था कि स्वामीजी का निष्कासन हम श्रावकों का घोर अपमान है। स्वामीजी तो संत होने के कारण मानापमान में सम रहकर सहज रूप से अन्यत्र पधार गये, परन्तु हम तो गृहस्थ हैं। सम्मानपूर्वक जीना चाहते हैं। यदि एक बार चुपचाप अपमान सह लिया तो बार-बार अपमानित होते रहने की संभावना हो जाएगी। इसलिए या तो इस आदेश को बदलवाना चाहिए, अन्यथा हमें यह नगर छोड़ देना चाहिए। आदेश बदलवाने के लिए गोसाईजी पर दबाव डालने की पद्धति भी यही निश्चित की गई कि नगर-त्याग की तैयारी कर ली जाए। महाजनों का गांव से चले जाना उस समय ग्रामाधिपतियों की आय को प्रभावित करता था, अतः यथासंभव वे उनको अन्यत्र चले जाने से रोका करते थे।

दाऊजी आदि कई परिवारों ने नगर-त्याग का निर्णय किया। गृह-सामान से लदी बैलगाड़ियां उनके परिवारों को लेकर कोठारिया की ओर विदा हो गईं। दाऊजी आदि श्रावकों ने गोसाईजी के पास जाकर घरों तथा दुकानों की चाबियां उनके सम्मुख रख दीं। गोसाईजी ने ऐसा करने का कारण पूछा तो दाऊजी ने कहा—‘आपने हमारे धर्मगुरु स्वामी भीखण्णजी को निकाल दिया तब हमारा यहां रहना संभव नहीं रह गया है।’

गोसाईजी ने कहा—‘उन्हें निकालना तो प्रजा-हित के लिए आवश्यक था, क्योंकि वे वर्षा नहीं होने दे रहे थे। उनके विषय में अन्य भी अनेक शिकायतें हैं। वे दया और दान के विरोधी हैं।’

दाऊजी ने कहा—‘ये विचार लोगों को भ्रांत करने के लिए उनके विरोधियों द्वारा प्रचारित हैं। आप तो मालिक हैं। आप यदि दूसरे पक्ष की बात सुनकर सत्यासत्य के आधार पर आदेश देते तो शायद इस तीर्थभूमि से संतों को नहीं निकाला जाता। जो संत एक चींटी को भी कष्ट नहीं देते, वे कैसे दया और दान के विरोधी हो सकते हैं तथा वर्षा को रोककर कैसे लाखों प्राणियों को पीड़ित कर सकते हैं?’ प्रसंगवश तलेसराजी ने स्वामीजी की मान्यता और चर्या से भी उन्हें अवगत किया।

गोसाईंजी ने सारी स्थिति समझी तब उन्हें अपने आदेश पर बहुत अनुताप हुआ। उन्होंने दाऊजी आदि सभी श्रावकों से वहीं बसे रहने का आग्रह किया और अपने हरकारे को भेजकर बनास नदी के तट तक पहुंची हुई बैलगाड़ियों को ससामान वापस बुला लिया। एक हरकारे को कोठारिया भेज कर स्वामीजी को भी वापस पधारने की प्रार्थना करवाई।

स्वामीजी ने कहा—‘अब चतुर्मास-काल में कौन बार-बार इधर-उधर चक्कर मारता रहे?’ वे आश्विन कृष्णा 10 तथा आश्विन शुक्ला 14 के बीच किसी दिन कोठारिया पधारे थे।¹ चतुर्मास का अवशिष्ट काल उन्होंने वहीं व्यतीत किया।

वस्त्र की समस्या

शुरुआती वर्षों में स्वामीजी को वस्त्र बहुत कठिनता से मिल पाता था। जो मिलता था, वह भी अत्यन्त साधारण तथा स्वल्प मात्रा में होता था। एक बार अपने संस्मरण सुनाते समय स्वयं स्वामीजी ने उस स्थिति का वर्णन करते हुए मुनि हेमराजजी से कहा—‘कभी रूपये मूल्य की वासती (रेजा) मिल जाती, तब भारमल कहता कि आप इसकी पछेवड़ी बना लीजिए। मैं कहता कि पछेवड़ी नहीं, चौलपट्टे बनाओ। एक तुम्हारे काम आ जायेगा और एक मेरे।’²

वस्त्राभाव के ऐसे दिनों में भी उनके मुख पर कभी मालिन्य की छाया नहीं आई। एकमात्र संयम की आराधना के लिए जिसने सब-कुछ का परित्याग कर दिया हो, उसे वह वस्त्राभाव अपने गन्तव्य मार्ग से कैसे विचलित कर सकता था?

आहार की समस्या

आहार-प्राप्ति के लिए स्वामीजी को अनेक वर्षों तक असाधारण कष्ट उठाने पड़े। लगभग पांच वर्षों तक तो रुखी-सूखी रोटियां भी पूरी नहीं मिल पाई, घृत आदि स्निग्ध द्रव्यों की बात ही कहां थी। स्वामीजी की उक्त स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए जयाचार्य ने कहा है :

पंच वर्ष पहिछाण, अन्न पिण पूरो ना मिल्यो।
बहुल पणै वच जाण, धी-चोपड़ तो ज्यांहि रह्यो॥³

1. स्वामीजी ने ‘विरत-अविरत री चौपैर्झ’ चौथी ढाल की रचना आश्विन कृष्णा 10 को नाथद्वारा में सम्पन्न की तथा नवमी ढाल की रचना आश्विन शुक्ला 14 को कोठारिया में।

2. मिक्खु-दृष्ट्यान्त; दृ. 276।

3. भि. ज. र.; 10। दो. 21।

स्वामीजी को एक बार किसी ने पूछ लिया—‘क्यों भीखणजी! गोचरी में घृत आदि भी कभी आता है या नहीं?’

स्वामीजी ने अपने ही अभाव का आनन्द लेते हुए फरमाया—‘गोचरी में आने-न-आने की बात छोड़ो, पाली के बाजार में बिकता तो प्रायः प्रतिदिन देखते ही हैं।’

पूछने वाले ने संभवतः उन्हें चिढ़ाने के लिए व्यंग्य में ही पूछा था, परन्तु स्वामीजी ने अपने उत्तर के द्वारा मानो उस व्यंग्य की आधारभूमि को ही खिसका दिया।

रोटी पर दण्ड

संसार के प्रायः प्रत्येक क्रान्तिकारी महापुरुष को अज्ञ जनता के अन्ध प्रकोप का भाजन होना पड़ा है। स्वामीजी ही फिर उसके अपवाद कैसे हो सकते थे? विरोधी लोगों ने उनके विपरीत इतने प्रकार की भ्रान्तियां फैलाई कि लोगों में विद्वेषाग्नि जल उठी। गांव-गांव में कहीं व्यक्तिगत, कहीं सामूहिक प्रतिबंध किए जाने लगे कि जिससे उन्हें भिक्षाचरी में आहार-पानी तक मिलना बन्द हो जाए। एक बार बीलाड़ा में स्वामीजी पधारे। पता लगते ही समाज के प्रमुखों ने प्रतिबन्ध लगा दिया—‘जो भीखणजी को रोटी देगा, उसे प्रत्येक रोटी पर ग्यारह सामायिक दण्ड की दी जायेगी।’

एक दिन एक घर में स्वामीजी गोचरी पधारे। आहार-पानी की पूछताछ करने पर बहिन ने कहा—‘तुम्हें रोटी दे दूं तो स्थानक में सामायिक कर रही मेरी ननद की सामायिक गल जाये।’¹ इस प्रकार के अनेक भ्रम फैलाकर विरोधियों ने उन्हें पराजित करना चाहा, परन्तु वे सदा अपराजित ही रहे।

तीन गोचरी

लोगों ने संभवतः यह समझा था कि ऐसे प्रतिबन्ध लगा देने तथा भ्रान्तियां फैला देने पर आहार-पानी की प्राप्ति कठिन हो जायेगी, तब वे शीघ्र ही अन्यत्र चले जायेंगे। परन्तु स्वामीजी ने वैसा नहीं किया। उनकी प्रतिक्रिया भिन्न रही। उन्होंने सोचा—‘सम्पर्क के अभाव में लोग द्वेष करते हैं। यदि सम्पर्क में आयेंगे तो विचारों को समझेंगे। तब द्वेष-भाव में स्वतः ही न्यूनता आ जायेगी।’ उन्होंने सन्तों को बुलाकर कहा—‘अब तो यहां पूरा मासकल्प ही रहने का विचार है।’

सन्तों ने कहा—‘आहार-पानी की इतनी न्यूनता में पूरा महीना कैसे निकाला जा सकेगा?’

स्वामीजी बोले—‘गोचरी के लिए जैन-अजैन सभी घरों में जाओ। सामुदायिकता के भाव को और अधिक व्यापक बनाओ। केवल महाजनों पर ही आधारित मत रहो। इतने पर भी आहार-पानी की न्यूनता रहे, तो अपनी कष्ट-सहिष्णुता को और प्रखर बनाओ।’

1. भिक्खु-दृष्टान्त; दृ. 42।

स्वामीजी के उक्त कथन को सन्तों ने शिरोधार्य किया। दूसरे ही दिन से उन्होंने विभिन्न वर्गों में गोचरी जाना प्रारम्भ कर दिया। एक गोचरी गांव से बाहर की ओर बसने वाली खाती, कुम्हार, जाट आदि जातियों की कराई जाने लगी, तो दूसरी सेवगों के बास की और तीसरी महाजनों की।

पूरा या अधूरा, जितना और जैसा भी आहार उन्हें मिला, उसी में सन्तोष करके वे वहां पूर्ण मास तक रहे। आहार की समस्या को उन्होंने अपने पर कभी छाने नहीं दिया।¹

घी सहित घाट

प्रारम्भिक वर्षों में तो स्वामीजी को आहार सम्बन्धी अनेक कठिनाइयां रही ही थीं, अन्तिम वर्षों तक भी गोचरी में उन्हें कहीं-कहीं अनेक कटु अनुभव हो जाया करते थे। वि. सं. 1856 (श्रावणादि 1855) के आषाढ़ मास में स्वामीजी नाथद्वारा पधारे। उस समय उनके साथ काफी साधु तथा साधियां थीं। एक दिन साध्वी अजबूजी (जयाचार्य की संसार पक्षीया बुआ) किसी घर में गोचरी के लिए गई। वहां उन्हें घी दिया गया। दूसरे घर में गई, तो वहां एक बहिन ने 'घाट' लेने को कहा। अजबूजी ने घी वाले पात्र में ही 'घाट' भीले ली। अभी पात्र झोली में रखा भी नहीं गया था कि बहिन ने पूछा—‘आप कौन-से टोले की हैं?’

अजबूजी ने कहा—‘हम तो स्वामी भीखणजी के टोले की हैं।’ यह सुनते ही उस बहिन ने गुस्से में आकर कहा—‘अरे रंडियो! तुम पिछली बार भी भूल ही भूल में मेरे घर से आहार ले गयी थी। इस बार फिर आ गई। दे दो मेरी ‘घाट’ वापस।’ उसने आव देखा न ताव, पात्र को झट उठाकर घृत और ‘घाट’ को वापस अपने पात्र में उँड़ेल लिया।

उसकी पढ़ोसिन एक ब्रजवासिनी बहिन ने उससे कहा—‘कीकी! यह क्या कर रही हो? संन्यासी को दिया हुआ भी क्या कभी कोई वापस लेता है?’

कीकी ने उसका उत्तर देते हुए कहा—‘यह भोजन मैं कुत्तों को डाल दूंगी, किन्तु इन्हें नहीं दूंगी।’

अजबूजी ने आकर स्वामीजी को जब यह घटना सुनाई, तो उन्होंने कहा—‘इस कलिकाल में जो न हो जाये, वही कम है। आज तक ऐसी घटनाएं तो अनेक हो गई हैं कि कोई न दे, इनकार कर दे अथवा जान-बूझकर अशुद्ध होने का बहाना कर दे, किन्तु दिया हुआ वापस लेने की घटना तो यहीं सुनने में आई है।’

उस ब्रजवासिनी बहिन के द्वारा उपर्युक्त घटना का जब लोगों को पता लगा, तो वे कीकी के पति को चिढ़ाने लगे कि वाह साहब! दुकान पर तो तुम कर्माई करते हो और घर पर तुम्हारी पत्नी। वह बेचारा इस व्यंग्य से बड़ा लज्जित होता, पर कर क्या सकता था?

1. भिक्खु-दृष्टान्त; दृ. 42।

स्वामीजी के परम भक्त श्रावक शोभजी ने इस घटना पर एक व्यंग्यपूर्ण दोहा कह सुनाया। वह इस प्रकार है—

बादर साह री डीकरी, कीकी थारो नाम।
घाट सहित धी ले लियो, ठाली कर दियो ठाम॥

इस घटना के कुछ दिन पश्चात् राखी के त्योहार पर अचानक ही कीकी का लड़का गुजर गया। पुत्र का शोक मध्यम भी नहीं पड़ पाया था कि उसका पति भी गुजर गया। उन दोनों मौतों से कीकी के मन पर बड़ा आघात लगा। जन-क्षय के साथ ही उसे धन-क्षय की स्थिति का भी सामना करना पड़ा। मानसिक क्लेशों के अथाह समुद्र में भटकती हुई वह बिलकुल अकेली रह गई। इन दुःखद घटनाओं के पश्चात् कीकी को साधियों के साथ किये गये अपने व्यवहार का बहुत पश्चात्ताप हुआ। वह अपनी उस विपत्ति का मूल कारण उसी दुर्व्यवहार को मानने लगी।

तेरापंथी साधु-साधियों में कीकी का नाम और उसका द्वेष प्रसिद्ध हो गया, अतः वर्षों तक उसके यहां कोई गोचरी के लिए नहीं गया। अनेक वर्षों के पश्चात् कोई अपरिचित साधु उसके घर में गोचरी के लिए गया। कीकी ने बड़ी भावना से आहार दिया। उस अज्ञात घर में इतनी भावना और भक्ति देखकर उस साधु ने जब परिचय की जिज्ञासा की तो कीकी की आंखें भर आईं। पश्चात्ताप के दावानल में दध हुई वाणी में उसने कहा—‘क्या आप मुझे नहीं जानते? मैं तो वही पापिनी कीकी हूं, जिसने साधियों के पात्र से ‘घाट’ वापस ले ली थी। कोई तो इस भव के कर्म अगले भव में भोगता है परन्तु मैंने तो अपने किये का फल यहीं हाथों-हाथ पा लिया।’

उसका नाम सुनते ही वे साधु एक बार के लिए सकपका गए। उन्हें लगा कि अज्ञानवश उस घर में आकर उन्होंने गलती की है। वापस जाने के लिए वे तत्काल मुड़े ही थे कि कीकी ने कहा—‘महाराज! उस दिन के पश्चात् आप लोगों ने तो आज ही मेरे घर में पदार्पण किया है। आप आते रहिये, जिससे मेरा वह पाप कुछ तो धुलेगा।’¹

कीकी में परिवर्तन आया और उसमें गोचरी के लिए भावना भी आई, पर यह सब अनेक वर्षों के बाद की बात है। सम्भवतः स्वामीजी के देहावसान के भी बाद की। परन्तु इस घटना के पूर्वाश से यह स्पष्ट पता लग जाता है कि स्वामीजी के समय में आहार की उपलब्धि में कितनी बाधाएं रहा करती थीं।

हूं तो तेरापंथी ही

वि. सं. 1856 में स्वामीजी ने अपना चतुर्मास नाथद्वारा में किया। अस्वस्थता के कारण वे वहां लगभग 13 मास तक रहे। चतुर्मास से पूर्व आषाढ़ मास में कीकी द्वारा

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 291।

104 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
‘घाट’ वापस लेने की घटना घटित हो चुकने पर स्वामीजी ने जन-द्वेष को ध्यान में रखते हुए साधु-साधियों को निर्देश दिया कि अभी हमें श्रावकों के घरों में ही गोचरी जाना चाहिए। फलस्वरूप कई महीनों तक अन्यत्र गोचरी नहीं की गई।

एक दिन मुनि हेमराजजी ने स्वामीजी से निवेदन किया—‘गोचरी निषेध से तो अन्य लोगों के साथ हमारा सम्पर्क-सूत्र ही टूट गया। आप आज्ञा दें, तो इतर घरों में भी गोचरी के लिए जाने का विचार रखता हूँ।’

स्वामीजी ने कहा—‘लोगों के द्वेष-भाव को देखकर मैंने निषेध किया था, परन्तु तुम्हारी इच्छा हो तो भले ही जाओ।’

मुनि हेमराजजी तब मोहनगढ़ नामक मुहल्ले में गोचरी गए। वहां एक घर में आहार-पानी की एषणा की तो बहिन ने कहा—‘रोटियां तो नमक पर पड़ी हैं।’ तब वे उसी घर की ऊपर वाली मंजिल में गए। वहां एक अन्य परिवार रहता था। एषणा करने पर उस घर की स्त्री ने बहुत सारी जली-कटी बातें सुनाई, परन्तु अन्त में आहार दिया। ऊपर अधिक समय लगा, तब नीचे वाली बहिन ने समझा कि ये तो हमारे ही टोले के साधु थे, मैंने भूल से इन्हें तेरापंथी समझ लिया। मुनि हेमराजजी नीचे आये, तब उसने भी आहार लेने का आग्रह किया और बतलाया कि आहार नमक पर नहीं था, वह तो मैंने आपको तेरापंथी समझ कर बहाना बनाया था।

मुनि हेमराजजी के मुख पर स्मित-रेखा उभर आई। उन्होंने कहा—‘बहिन! मैं हूँ तो तेरापंथी साधु ही। आहार तेरी इच्छा हो तो दे, चाहे मत दे।’

बहिन बड़ी असमंजसता में पढ़ गई। आखिर लज्जित होते हुए उसने अत्यन्त अन्यमनस्कता से आहार दिया। मुनि हेमराजजी को उस दिन आहार के शुद्ध या अशुद्ध होने के एक बिलकुल ही नये प्रकार का पता लगा।¹

मुझे तो त्याग है

एक अन्य घर में मुनि हेमराजजी गोचरी के लिए गये तो बहिन ने कहा—‘मुझे तो तेरापंथियों को आहार देने का त्याग है।’

मुनि हेमराजजी ने बड़े शान्त भाव से कहा—‘कोई बात नहीं, आहार न सही, तू अचित पानी हो तो वही दे दे।’

आखिर उसने थोड़ा-सा पानी का दान किया।

मुनि हेमराजजी ने वापस आकर उस दिन की गोचरी के अपने अनुभव स्वामीजी को बतलाये तो वे उनकी सहिष्णुता और व्यवहारकुशलता से बड़े प्रसन्न हुए।²

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 2921

2. वही, दृ. 2921

प्रारम्भिक वर्षों में स्वामीजी के चारों ओर अभावों के घेरे बहुत सबल थे, परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, वे स्वयं ही ढीले होते गये। जिन महारथियों ने उनको उस चक्रव्यूह में फंसाकर परास्त करने की बात सोची थी, उन्हें यह पता नहीं था कि जीवन-संग्राम का यह महान् योद्धा चक्रव्यूह में प्रविष्ट होना ही नहीं, उसका भेदन भी जानता है। अभिमन्यु की तरह स्वामीजी को भी सब ओर से घेरा गया था, परन्तु उन्हें एक क्षण के लिए भी निरस्त्र नहीं किया जा सका। फलस्वरूप उनके अगाध शास्त्र-ज्ञान और समर्थ तर्क-बल के सामने सभी महारथियों को झुक जाना पड़ा। अभावों के घेरे पहले चरमराये और फिर छिन्न-भिन्न होकर बिखर गये। स्वामीजी न कभी अभावों से त्रस्त हुए और न भावों से बद्ध। उभय स्थितियों से निर्लिप्त रहकर उन्होंने जिस आत्म-विजय की अवस्था को प्राप्त किया था, वस्तुतः वही उनके जीवन-संग्राम की महान् विजय थी।

संघर्षों के निकष पर

प्रवाह के समान

स्वामी भीखणजी का जीवन एक संघर्षशील व्यक्ति का जीवन था। धर्म-क्रान्ति के निर्णय के साथ ही उन्होंने अपने जीवन को संघर्षों के लिए समर्पित कर दिया। वे संघर्ष ही कालान्तर में उनके जीवन के निखार की अद्वितीय कहानी बन गये। उनके गतिशील जीवन की तुलना महानदी के प्रवाह से की जा सकती है। उसके सम्मुख लक्ष्य तो निर्धारित होता है, किन्तु वहां तक पहुंचने के लिए मार्ग स्वयं ही बनाना पड़ता है। अनेक घुमाव, अनेक कटाव-छंटाव तथा अवरोधक बनकर खड़ी अनेक बाधाएं उसके मार्ग को दुर्गम बनाये रहती हैं। उस दुर्गमता की छाती को चीरते हुए ही उसे आगे बढ़ना होता है। प्रारम्भिक अवस्था में प्रवाह दुर्बल होता है और अवरोध प्रबल, किन्तु बाद में आगे बढ़ता हुआ प्रवाह क्रमशः प्रबल होता जाता है और अवरोध निर्बल। कोई भी महानदी अपने उद्गम पर महानदी नहीं होती। वहां तो वह एक छोटे से स्रोत के रूप में ही अवतरित होती है। महानदी तो वह तब बनती है, जब उसमें सहस्रों-सहस्रों अन्य स्रोत अपना आश्रय खोजते हैं। प्रवाह की उक्त कहानी ही स्वामीजी के जीवन की कहानी है। उनका जीवन आदि, मध्य और अवसान-तीनों ही अवस्थाओं में सफल संघर्षों से परिपूर्ण तथा निरन्तर गतिशील रहा।

स्थायी भाव

स्वामीजी अध्यात्म-योगी होने के साथ-साथ एक क्रान्तिकारी महापुरुष भी थे। कहा जा सकता है कि उनके जीवन-पट का ताना अध्यात्म का था, तो बाना संघर्ष का। उनका संघर्ष किसी व्यक्ति-विशेष से न होकर उस युग के धार्मिकों में फैले कदाचार और अनाचार से तथा कुरुद्धियों और मिथ्या धारणाओं से था। उस संघर्ष-पथ पर चलते समय सहस्रों-सहस्रों व्यक्ति उनके अनुगामी बने, तो सहस्रों ही विरोधी भी। यही कारण है कि सामान्य बातचीत से लेकर शास्त्रार्थ तक और सामयिक दृष्टांतों से लेकर कविता तक में, कहना चाहिए कि उनके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संघर्ष स्थायी भाव की तरह दृष्टिगत होता है। यद्यपि संघर्ष की प्रत्येक घटना का अपना एक पृथक् स्वरूप होता है, फिर भी वर्गीकरण की दृष्टि से उन सबको यहां दो विभागों में विभक्त किया गया है—बाह्य संघर्ष और आन्तरिक संघर्ष।

बाह्य संघर्ष

निकष पर समर्पित

स्वामीजी को अधिकांशतः बाह्य संघर्षों से ही जूझना पड़ा था। बाह्य संघर्षों से यहां तात्पर्य है—विरोधी व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न की गई विचार-मूलक या वृत्तिमूलक विरुद्ध स्थितियों के साथ संघर्ष। स्थान, वस्त्र और आहारादि वस्तुमूलक विरुद्ध स्थितियों की अपेक्षा उपर्युक्त स्थितियां कहीं अधिक सूक्ष्म और गम्भीर होती हैं। स्वामीजी ने उन सभी का सामना बड़े साहस और धैर्य के साथ किया।

संघर्षों को उन्होंने सदैव अपने लिए एक निकष समझा। सामान्य जन निकष पर चढ़ते घबराता है, क्योंकि उसे अपनी विशुद्धता पर पूर्ण आत्मविश्वास नहीं होता, परन्तु स्वामीजी कभी नहीं घबराये। जब-जब अनिवार्यता हुई, उन्होंने सहर्ष स्वयं को निकष पर समर्पित किया। प्रत्येक बार उस पर खरे उतरकर उन्होंने संसार को चकित कर दिया। ऐसा व्यक्ति संसार में प्रायः दुर्लभ ही होता है, जिसमें कोई खोट न हो, कोई मिलावट न हो। वस्तुतः स्वामीजी उन्हीं दुर्लभ पुरुषों में से एक थे। उनके विरोधियों में से अनेक इसी विशुद्धता के आधार पर उनके प्रशंसक बन गये। जो प्रशंसक नहीं थे, वे भी इसी आधार पर उनसे घबराते थे।

‘तूंतड़ों’ की तरह

स्वामीजी का सर्वाधिक विरोध आचार्य रुद्धनाथजी तथा उनके अनुयायियों ने किया। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि स्वामीजी उस सम्प्रदाय से पृथक् हुए थे। जो जितना समीप होता है, सामीप्य टूटने पर वह उतना ही अधिक दूर भी हो जाता है। आचार्य रुद्धनाथजी ने उस विरोध में आचार्य जयमलजी को भी अपने साथ मिलाने का प्रयास किया। उनका कथन था—‘हम बहुत हैं, वे तेरह ही हैं। सम्मिलित साहस करें, तो इन्हें ‘तूंतड़ों’ की तरह बिखेर दें।’

आचार्य जयमलजी उनके उस अभियान में सम्मिलित नहीं हुए, प्रत्युत उन्होंने उनको समझाते हुए कहा—‘हम लोग भीखण्णजी का सामना नहीं कर सकते। वे प्रबल आगमज्ञ हैं। तर्क-बल भी उनका उत्कट है। अपनी प्रत्येक मान्यता को वे आगम का आधार प्रदान करते हैं, जबकि हमें अपनी कमजोरियों के लिए वैसा कोई आधार नहीं मिल सकता। वे हमारे साथ वर्षों तक रहे हैं, अतः हमारी आन्तरिक दुर्बलताओं से सुपरिचित हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि वे आचार-विचार में हम सबकी अपेक्षा अधिक दृढ़ हैं। इसलिए पहले सोच लीजिए कि विरोध करने पर कहीं हमें पराजय का मुंह तो नहीं देखना पड़ेगा?’

आचार्य रुद्धनाथजी ने उक्त परामर्श पर कोई ध्यान नहीं दिया। उन्होंने लम्बे समय तक स्वामीजी का पीछा किया। गांव-गांव में शास्त्रार्थ करने की धूम मचा दी। फल यह हुआ कि उनके ही श्रावक स्वामीजी से अधिकाधिक प्रभावित हुए और तेरापंथी बने।¹

1. श्रावक-दृष्टान्त, दृ. 34।

छुरा मार दूँ

स्वामीजी के विरुद्ध उस समय इतना विषमय प्रचार किया गया था कि गृहस्थों के लिए क्या कहा जाये, अनेक मुनियों के मन में भी विद्रेष की ऐसी ज्वाला भड़क उठी थी कि वे उनके प्राणों के प्यासे हो गये। यद्यपि अपनी भावना को कार्यरूप में परिणत करने की स्थिति किसी के भी सम्मुख नहीं आ पाई, फिर भी वाचिक रूप में तो अनेक ने उन्हें मार डालने की भावना व्यक्त की ही थी।

एक बार एक विरोधी मुनि ने कहा—‘यदि एक भीखण्डी को छुरा मार दूँ, तो हमरे मार्ग की सब बाधाएं साफ हो जायें।’ कालान्तर में आचार-सम्बन्धी किसी स्खलना पर उस मुनि को नई दीक्षा दी गई। जनता में तत्संबंधी ऊहापोह उठा, तो उसे शांत करने के लिए प्रचारित किया गया कि इन्होंने भीखण्डी को छुरा मार देने की बात कही थी, उसी का यह दण्ड दिया गया है।

स्वामीजी ने भी वह बात सुनी, पर मन में उतरी नहीं। उनका अनुमान था कि अवश्य ही इसके पीछे कोई ब्रत-भंग की घटना है। वास्तविकता जानने के लिए एक दिन उन्होंने स्वयं उस मुनि से ही पूछ लिया कि तुम्हारा ब्रत-भंग अमुक स्थिति से हुआ या अमुक से? उसने किंचित् संकोच करते हुए दबे स्वर से बतलाया कि अमुक स्थिति में छोटा-सा दोष हो गया था। उसकी आत्म-स्वीकृति से स्वयं ही सिद्ध हो गया कि प्रचार अन्य दोष का किया जा रहा था, जबकि वह दण्ड किसी अन्य दोष के लिए दिया गया था।¹

स्वामीजी सोचने लगे—विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लिया जाता है, परन्तु जो लोग उसकी ओट में भी अपने असत्य का महल खड़ा करना चाहते हैं, उनका निस्तार कैसे होगा?

साला हो सकता हूँ

मुनि खंतिविजयजी बड़े उग्र स्वभाव के व्यक्ति थे। लोग उन्हें दुर्वासा का ही प्रतिरूप कहते थे। अहंकारी भी इतने कि आगमज्ञान में स्वयं को सर्वोपरि मानकर चलते थे। शास्त्रार्थ करने की अभिरुचि बड़ी तीव्र थी, परन्तु पराजय की सम्भावना होने पर न्याय, नीति और शालीनता को दूर ढकेल कर धौंस-पट्टी या हो-हल्ले द्वारा अपनी विजय घोषित करने में भी बड़े निपुण थे। एक बार पाली में आचार्य रुद्धनाथजी से शास्त्रार्थ करते समय सम्भावित पराजय से बचने के लिए उन्होंने आचारांग सूत्र का वह पत्र ही झपट कर फाड़ डाला, जो कि आचार्यजी ने अपने पक्ष के समर्थन में उनको दिखलाने के लिए निकाला था। साथ ही अपने समर्थकों द्वारा शास्त्रार्थ में अपनी विजय का ऐसा हल्ला मचवाया कि अन्य सारे कथन उसी के नीचे दब कर रह गये। उस तथाकथित विजय से उनके अहंकार की मात्रा अतिरिक्त रूप में बढ़ गई। वे कहने लगे—‘मैंने सब दूँढ़ियों

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 74

के मुंह में अंगुली डाल कर देख लिया है, कहीं भी दांत नहीं मिला। अब तो मात्र एक कालिया भीखण ही शेष रहा है।'

आचार्य रुदनाथजी बलात् थोपी गई उस पराजय से बहुत खिन्ह हुए। वे खंतिविजयजी को पराजित करने के उपाय खोजने लगे। उस स्थिति में उन्हें स्वामी भीखण्जी की बुद्धिमत्ता एवं प्रचंडता का स्मरण हो आया। उन्होंने अपने श्रावकों से कहा—‘खंतिविजयजी को जीत सके वैसा तो एक भीखण ही है।’

गुरु के इंगित को समझकर उनके श्रावकों ने तेरापंथी श्रावकों से कहा—‘प्रार्थना करो और भीखण्जी को मेवाड़ से यहां बुलाओ।’

तेरापंथियों ने जब उनकी उस भावना का कारण पूछा तो वे बोले—‘यह तो भीखण्जी के आने पर उनके सामने ही बतलाना ठीक रहेगा।’

कालान्तर में स्वामीजी मारवाड़ में पधार गये। क्रमशः विहार करते हुए वे पाली भी पधारे। वहां स्थानकवासियों के अनेक श्रावक मिलकर स्वामीजी के पास आये। उन्होंने कहा—‘पूज्यजी चाहते हैं कि खंतिविजयजी से शास्त्रार्थ करें। वे बहुत कटुभाषी एवं बड़बोले हैं। आप ही ऐसे व्यक्ति को वश में कर सकते हैं।’

स्वामीजी ने कहा—‘ठीक है, जैसा अवसर होगा, देखा जायेगा।’

कुछ दिनों बाद स्वामीजी काफरला पधारे। मुनि खंतिविजयजी भी वहीं आये हुए थे। उन्होंने शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया, तो स्वामीजी ने उसे स्वीकार कर लिया। बाजार में जन-सभा के बीच शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। हिंसा-अहिंसा की चर्चा में स्वामीजी ने कहा—‘धर्म के निमित्त की गई हिंसा में दोष नहीं है—यह अनार्य-वचन है, ऐसा भगवान् महावीर ने कहा है।’

मुनिजी बोले—‘ऐसा कथन कहीं नहीं है।’

स्वामीजी ने आचारांग की प्रति निकालकर जब उक्त विषय का पाठ पढ़कर सुनाया तो मुनिजी ने कहा—‘तुम्हारी प्रति का विश्वास नहीं किया जा सकता। मैं अपनी प्रति देखूँगा।’

उन्होंने अपनी प्रति मंगवाई और देखा, तो वहां भी वही पाठ मिला। बात हाथ से निकलती देखकर उनके हाथ कांपने लगे।

स्वामीजी ने कहा—‘जनता आगम-पाठ सुनने को उत्सुक है, अतः जो भी लिखा हो, पढ़कर सुना दीजिए।’

मुनिजी फिर भी चुप रहे, तब स्वामीजी बोले—‘आप कांप क्यों रहे हैं? कम्पन के चार कारण होते हैं—वायु प्रकोप, क्रोध, पराजय आदि का भय और कामोत्तेजना। आप इनमें से कौन से कारण से कांप रहे हैं?’

मुनिजी का क्रोध एकदम भड़क उठा। बोले—‘साले का सिर तोड़ दूँगा।’

स्वामीजी ने गम्भीर होते हुए कहा—‘मैं मुनि हूँ। संसार की सभी स्त्रियां मेरी बहिनें हैं। यदि आपके कोई पत्नी है तो वह मेरी बहिन है। उसी आधार पर आपने मुझे साला कहा है, तब तो कोई बात नहीं, किन्तु पत्नी के अभाव में यदि ऐसा कहा है, तो मुनि होकर मिथ्याभाषी बने हैं। दूसरी बात यह है कि मुझे साधु तो चाहे मानें या न मानें, किन्तु पंचेन्द्रिय प्राणी तो मानेंगे ही। मेरा सिर तोड़ देने की बात कहते हैं, तो क्या साधुता स्वीकार करते समय आपने मुझे मारने की कोई छूट रखी थी?’

स्वामीजी के उक्त प्रश्नों से जनता खिलखिला उठी, तो मुनिजी क्रोधावेश में और भी अधिक खौल उठे। मोतीरामजी चौधरी आदि उनके प्रमुख श्रावकों ने उनका हाथ पकड़कर चर्चा-स्थल से उठाते हुए कहा—‘यहां से अब चलो, अक-बक बोलकर आपने भरी सभा में हमको लजित कर दिया।’

उस जन-सभा में स्वामीजी ने शास्त्रार्थ में जो विजय प्राप्त की, उससे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण उन्हें एक दूसरी विजय प्राप्त हुई, जो कि वहां के जन-मानस पर थी। विपक्ष की कटुतम बातों को भी उन्होंने जिस अनुत्तेजित प्रकार से सह लिया और अपने व्यंग्य-मिश्रित विनोद द्वारा उन्हें निष्प्राण बना दिया, उससे वहां की जनता सहज ही उनकी भक्त बन गई।¹

निन्दित कर डालूँगा

स्वामीजी के विरोधियों में अनेक ऐसे थे, जो असत्य दोषारोपण करने में भी नहीं झिझकते थे। एक बार स्वामीजी बहिर्भूमि की ओर जा रहे थे। अन्य सम्प्रदाय के एक मुनि भी उधर ही जा रहे थे। स्वामीजी को देखा, तो वे भी साथ-साथ चलने लगे। मार्ग अधिक चौड़ा नहीं था, अतः दो व्यक्तियों का बराबर चल पाना कठिन था। वे संभवतः बराबर ही चलना चाहते थे, अतः न स्वामीजी के रुकने पर आगे हुए और न तेज चलने पर पीछे रहे। बराबर चलने के लिए उन्हें हरियाली पर चलना पड़ रहा था। स्वामीजी ने हरियाली की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—‘साफ मार्ग पड़ा है, तब हरियाली पर क्यों चल रहे हो?’

स्वामीजी के इतना कहते ही उन्होंने बड़ी अकड़ के साथ धमकी भरे स्वर में कहा—‘मेरे विषय में कहीं कुछ कहोगे तो मैं पूरे गांव में तुम्हें निन्दित कर डालूँगा और प्रचारित कर दूँगा कि भीखणजी हरियाली पर बैठे थे।’²

इससे झगड़

अनेक व्यक्तियों के मन में स्वामीजी के प्रति इतना रोष था कि उन्हें देखते ही आपे से बाहर हो जाया करते थे। न उन्हें अपने मुनि-वेष का ध्यान रहता और न व्यावहारिक

1. भिक्खु-दृष्ट्यान्त, दृ. 91।

2. वही, दृ. 56।

सीमा का ही। पुर की बात है। स्वामीजी शौच के लिए बाहर जा रहे थे। अन्य सम्प्रदाय के एक मुनि भी उधर ही जा रहे थे। उन्होंने स्वामीजी को देखा, तो उन्हें सुना-सुना कर अक-बक बोलने लगे। स्वामीजी ने उनकी बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया और चलते ही रहे। वे मुनि तब सम्मुख आकर मार्ग रोककर खड़े हो गये। स्वामीजी पाश्व से गुजरने लगे, तब उनके चारों ओर लकीर खींचकर बोले—‘इससे बाहर जाओगे, तो तुम्हें तीर्थकरों की सौगन्ध है।’ स्वामीजी फिर भी आगे बढ़ने लगे, तो उन्होंने पीछे की ओर धकेल कर रोकना चाहा।

वहीं पास में एक चरवाहा गायें चरा रहा था। उसने जब यह सब देखा, तो पास आकर उक्त मुनि से कहने लगा—‘ये तो गुरु हैं, इनसे क्यों झगड़ता है? झगड़ना ही है, तो इस जवान साधु से झगड़।’ उसका संकेत स्वामीजी के साथ चल रहे मुनि भारमलजी की ओर था।

आखिर चरवाहे की उस झिड़की ने स्वामीजी के मार्ग की उस बाधा को दूर हटाया, तब कहीं वे अपने गन्तव्य की ओर बढ़ पाये।¹

शत्रु-सेना से लड़ो

स्वामीजी आचारहीनता का बड़ी तीव्रता से खण्डन किया करते थे। परन्तु वे व्यक्ति-विशेष का नाम न लेकर समुच्चय के आधार पर ही अपनी बात कहा करते थे। इतने पर भी कुछ लोग यह सोचकर बहुत चिढ़ा करते कि यह सारा उल्लेख हमारे ही व्यक्तियों को आधार बनाकर किया जा रहा है। इस विचार वाले व्यक्ति पूर्वाग्रह के कारण प्रत्येक उल्लेख को अपने पर ले लेते और निष्कारण ही झगड़ने पर उतारू हो जाते।

वि. सं. 1857 में स्वामीजी भीलवाड़ा पधारे। रात्रिकालीन व्याख्यान में जनता बहुत एकत्रित हुई। साध्वाचार का विवेचन करते हुए स्वामीजी ने ‘तुम जोइज्यो अंधारो इण भेख में’—इस गीतिका के कुछ पद्य सुनाए और शिथिलाचारी साधुओं के आचार-व्यवहार की कुछ त्रुटियों की समीक्षा की। वहां के नागोरी बन्धुओं में उसकी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। व्याख्यान की समाप्ति पर उन्होंने स्वामीजी को घर लिया। वे दबाव देने लगे कि आप उस व्यक्ति का नाम बतलायें, जिसको लक्ष्य करके यह सब कहा गया है।

स्वामीजी ने कहा—‘मैं व्यक्ति-विशेष के लिए कुछ भी कहना नहीं चाहता। मैंने तो साध्वाचार और उसके दोषों की समुच्चय रूप से बात कही है। यदि आपको ऐसा कदाचार बुरा लगता है तो अपने साधु-संघ को टटोल कर देख लीजिए कि वहां ऐसा होता है या नहीं? यदि होता है, तो उसे सुधारने का प्रयास करिये। यदि नहीं होता है तो इस प्रसंग में चिढ़ने जैसी कोई बात ही नहीं है।’

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 58।

स्वामीजी द्वारा इतना स्पष्टीकरण करने पर भी वे लोग शान्त नहीं हुए। उन्होंने धर्मकी भरे स्वर में कहा—‘नाम बताये बिना आपको यहां से विहार नहीं करने दिया जायेगा। यदि जायेंगे, तो आपको तीर्थकरों की सौगंध है।’

स्वामीजी ने जब देखा कि उन लोगों का ध्यान दोष-सुधार की ओर न होकर केवल झगड़ने की ओर ही है, तो उन्होंने कुछ समय के लिए पूर्ण मौन ग्रहण कर लिया।

उन लोगों ने फिर भी काफी समय तक वहां बक-झक की। धनराजजी नागोरी ने कहा—‘अब प्रतिमा की तरह मौन होकर बैठ गये हैं, उत्तर क्यों नहीं देते?’

स्वामीजी फिर भी नहीं बोले। तब धर्मकियां देते हुए वे लोग चले गये।

उन्हीं दिनों उदयपुर राज्य के प्रधानमंत्री शिवदासजी गांधी किसी सैनिक कार्य के लिए वहां आये हुए थे। उन्होंने स्वामीजी के साथ लोगों द्वारा की गई बक-झक की बात सुनी तो धनराजजी नागोरी को उपालम्भ देते हुए कहा—‘संत पुरुषों के सम्मुख अयुक्त बोलने तथा झगड़ने में कौन-सी वीरता है? लड़ना ही चाहते हो तो देश पर आक्रमण करने वाली शत्रु-सेना के साथ क्यों नहीं लड़ते?’

प्रधानमंत्री के इस उपालम्भ के पश्चात् नागोरियों का लड़ने-झगड़ने का साहस समाप्त हो गया।¹

क्यों भ्रान्त करते हो?

तत्कालीन अनेक मुनि तथा आचार्य स्वयं तो स्वामीजी का विरोध करते ही थे, पर बहुत बार अजैन व्यक्तियों को भी उनके विरोध में खड़ा करने का प्रयास करते रहते थे। बीलाड़ा में आचार्य रघनाथजी ने ब्राह्मणों को सुलगा दिया कि मेरा शिष्य अविनीत हो गया है। वह हमें तो असाधु कहता ही है, किन्तु ब्राह्मणों को दान देने में भी पाप कहता है।

ब्राह्मण इस पर बहुत क्रुद्ध हुए। एकत्रित होकर वे स्वामीजी के पास आये और झगड़ा करने लगे।

स्वामीजी उनको समझाने के लिए कुछ कहें, उससे पूर्व ही वहां उपस्थित श्रावक रामचन्द्रजी कटारिया बोले—‘स्वामीजी! आप तो प्रतिदिन लोगों को समझाते ही रहते हैं। इन्हें समझाने का अवसर मुझे दीजिये।’

स्वामीजी ने उनके सुझाव को स्वीकार कर लिया। उन्होंने तब आगन्तुक ब्राह्मणों से कहा—‘स्वामीजी के मन्त्रव्य को समझने से पूर्व यह पता तो अवश्य लगा ही लेना चाहिये कि वे लोग तो इसमें धर्म ही मानते हैं न?’

ब्राह्मण—‘धर्म नहीं मानते होते तो वे तुम्हारे मन्त्रव्य के विरुद्ध हमें कुछ कह ही कैसे सकते थे?’

1. श्रावक-दृष्ट्यान्त, दृ. 24।

रामचन्द्रजी—‘ठीक है, मेरे सामने उनके मुख से धर्म कहलवा दो, तो मैं पच्चीस मन गेहूं तुम्हें दान कर दूंगा।’

ब्राह्मण—‘हमारे साथ चलो, यह तो अभी कहलवा सकते हैं।’

ब्राह्मण और रामचन्द्रजी आचार्य रुद्धनाथजी के पास आये। रामचन्द्रजी ने कहा—‘आप धर्म कहें, तो मैं पच्चीस मन गेहूं इन ब्राह्मणों को दे दूंगा। आप आज्ञा करें तो उनकी ‘धूधरी’ बनाकर खिला दूं, या फिर आटा पिसकर रोटी बनवाकर साथ में दो मन चनों के आटे की कढ़ी बनवाकर खिला दूं। जिसमें अधिक धर्म होता हो, वही बतलायें।’

आचार्यजी—‘हम साधु हैं। हमें इस विषय में कुछ भी कहना नहीं कल्पता।’

रामचन्द्रजी—‘जब आप स्वयं इसमें धर्म नहीं कहते हैं तो फिर स्वामी भीखण्जी का नाम लेकर इन्हें क्यों भ्रान्त करते हैं? वे तो आपसे कहीं अधिक कठोर चर्या का पालन करते हैं।’

आचार्यजी ने रामचन्द्रजी की उक्त बात का कोई उत्तर नहीं दिया। उनके मौन से ब्राह्मणों ने तत्काल समझ लिया कि उन्हें मूर्ख बनाया गया है।¹

रावण के सामन्त

अनेक व्यक्ति ऐसे थे, जो स्वामीजी तथा उनके सिद्धान्तों को ठीक समझते हुए भी केवल सम्प्रदाय-मोह के कारण उनका विरोध किया करते थे। मुनि दुर्गादासजी की गणना ऐसे व्यक्तियों में की जा सकती है। वे पहले स्थानकवासी सम्प्रदाय में थे, तब स्वामीजी के मन्तव्यों का बड़ी तीव्रता से विरोध किया करते थे। कालान्तर में जब उससे पृथक् हो गये, तब स्थानक आदि को उद्दिष्ट होने के कारण अकल्प्य बतलाते हुए उसका प्रचण्ड विरोध करने लगे।

एक बार स्वामीजी ने उनसे पूछा—‘जब हम स्थानक को सदोष बतलाते थे, तब तुम उसे निर्दोष बतलाया करते थे और हमारे से द्वेष किया करते थे, परन्तु अब स्वयं ही उसे अकल्प्य कैसे कहने लगे?’

मुनि दुर्गादासजी ने कहा—‘रावण के सामन्त उसे दोषी मानते थे, फिर भी युद्ध के समय राम की सेना पर ही बाण चलाते थे। हमारी भी वही स्थिति थी। पहले पक्षपात के आधार पर कहते थे, परन्तु अब स्वतंत्र बुद्धि से जैसा भासित होता है, वैसा कहते हैं।’²

मुंह भी न देखूं

स्वामीजी के प्रति फैलाये गये विरोध की तीव्रता ने न जाने कितने अज्ञजनों को निष्कारण द्वेष के प्रवाह में बहा दिया था। अनेक तो ऐसे थे जिन्होंने कभी स्वामीजी को देखा तक नहीं था, फिर भी वे उनके प्रति विद्वेष के भाव रखते थे। अग्रोक्त उदाहरण

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 42।

2. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 8।

114 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
से यह बहुत स्पष्ट हो जाता है। अणदोजी पटवा सोजत के रहने वाले थे। उनके मन में स्वामीजी के प्रति बड़ा द्वेष था। कहीं भी स्वामीजी के विषय में कोई बात चलती होती तो वे उनके प्रति अपमानजनक कटु शब्दों का प्रयोग किये बिना नहीं रहते।

एक दिन कुछ व्यक्तियों ने उन्हें चिढ़ाने के लिए कहा—‘अणदोजी! चलो, तुम्हें भीखण्जी से बातचीत करवा दें।’

अणदोजी ने मुंह बनाते हुए कहा—‘मैं तो उस काले-कलूटे भीखण्णिये का मुंह भी देखना पसन्द नहीं करता, तुम बातचीत की कह रहे हो।’

कहा नहीं जा सकता, उनकी विद्वेष-भावना की तीव्रता का उनके शरीर पर कोई प्रभाव पड़ा अथवा पूर्वकृत पाप-कर्मों का ही कोई उदय हुआ, उस कथन के दो दिन पश्चात् ही वे अन्धे हो गए।

लोग कब चूकने वाले थे। उन्होंने कहा—‘वचन का पालन करना तो कोई अणदोजी से ही सीखे। इन्होंने अपने वचन का पूरा-पूरा पालन किया है। अब तो यदि भीखण्जी स्वयं सामने आकर खड़े हो जायें तो भी इनके वचन का भंग करा पाना संभव नहीं है।’¹

आन्तरिक संघर्ष

एक विद्रोह

स्वामीजी को बाह्य संघर्षों के साथ ही कुछ आन्तरिक संघर्षों का भी सामना करना पड़ा। आंतरिक संघर्ष से यहां तात्पर्य है, संघ के व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न किया गया संघर्ष। स्वामीजी का शिष्य-वर्ग बहुत नम्र और अनुशासित था, फिर भी वैयक्तिक स्वार्थ तथा सामयिक स्थितियां किसी-किसी का मति-भ्रम कर ही देती हैं। मानव-स्वभाव की यह दुर्बलता हर युग तथा हर स्थान में अपना कार्य करती रही है।

स्वामीजी ने तेरापंथ संघ की नींव डाली, उस समय उसके सभी सदस्य स्थानकवासियों से आये थे। कुछ वर्ष पश्चात् नई दीक्षाएं भी होने लगीं, फिर भी स्थानकवासियों में से आगमन काफी रूप में चालू रहा। कुछ पूर्ववर्ती संघ में गृहीत संस्कारों के कारण तथा कुछ नवीन संघ के निर्मीयमाण संस्कारों की अपरिपक्वता के कारण समय-समय पर उनमें मतभेद और मनोभेद उत्पन्न होते रहे, परन्तु वे प्रायः कभी लंबे संघर्ष का रूप नहीं ले पाये। केवल एक संघर्ष ही ऐसा था, जो लंबा चलने के साथ-साथ स्वामीजी को बहुत चिन्तित भी करता रहा। वह था, मुनि तिलोकचन्द्रजी और मुनि चन्द्रभाणजी का विद्रोह।

उपयुक्त उत्तराधिकारी कौन?

स्वामीजी उक्त दोनों ही संतों को अपने संघ के विद्वान् और बुद्धिमान संत माना करते थे। वे उन्हें बहुमान भी दिया करते थे। वि. सं. 1832 में जब स्वामीजी ने अपने

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 25।

उत्तराधिकारी के रूप में मुनि भारमलजी को नियुक्त किया, तब संघ की सुव्यवस्था के लिए एक मर्यादा-पत्र लिखा। वह तेरापंथ का प्रथम मर्यादा-पत्र था। उसमें उन्होंने उक्त दोनों ही संतों के लिए बहुमान-सूचक शब्दों का प्रयोग किया और भावी आचार्य भारमलजी को निर्देश दिया कि वे तिलोकचन्दजी, चन्द्रभाणजी आदि बुद्धिमान साधुओं के परामर्श से कार्य करें।

उक्त अवसर तक उन दोनों का व्यवहार ठीक रहा, किन्तु युवाचार्य की नियुक्ति के साथ ही उनका व्यवहार पलट गया। संघर्ष के बीज तभी से अंकुरित होकर बाहर उभर आये। उन दोनों को वह नियुक्ति अच्छी नहीं लगी। स्वामीजी के सम्मुख अपना विरोध प्रकट करते हुए मुनि चन्द्रभाणजी ने एक बार कह भी दिया कि मुनि भारमलजी भोली प्रकृति के हैं। आचार्य-पद का भार निर्वहन करने जैसी योग्यता उनमें नहीं है।

स्वामीजी ने पूछा—‘तुम इस पद के योग्य किसे समझते हो?’

इस प्रश्न का उत्तर देने में उन्हें बड़ी असमंजसता का सामना करना पड़ा। व्यवहार की सीमाओं में रहकर वे अपना नाम प्रस्तुत नहीं कर सकते थे। उन्होंने तब अपने साथी मुनि तिलोकचन्दजी का नाम प्रस्तुत करते हुए कहा—‘वे इस पद के सर्वथा योग्य हैं।’

स्वामीजी ने उनकी धारणा को उचित नहीं माना और कहा—‘मैं उन्हें इस पद के उपयुक्त नहीं समझता। मेरी दृष्टि से भारमल ही सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति है।’

पृथक् होने की धमकी

उक्त घटना के पश्चात् एक घटना और हो गई। स्वामीजी ने किसी प्रसंग पर अनेक संतों के सामने मुनि चन्द्रभाणजी को उपालभ्य दे दिया। तब से वे स्वामीजी के प्रति द्वेष-भाव रखने लगे। अन्दर-ही-अन्दर अन्य संतों का मनोभंग कर उन्हें अपने पक्ष में करने लगे। श्रावकों में अश्रद्धा व्याप्त हो, वैसे प्रयास भी करने लगे। कई साधु उनके बहकावे में आ भी गये। स्वामीजी को इस स्थिति का पता चला, तब उन्होंने धीरे-धीरे अन्य सभी सन्तों को समझाकर सुस्थिर कर लिया। उसके पश्चात् मुनि तिलोकचन्दजी तथा मुनि चन्द्रभाणजी को भी समझाने का प्रयास किया। अपने पक्ष के सभी साधुओं के विचार बदल जाने के कारण वे शीघ्र नम्र हो गये। स्वामीजी के सम्मुख उन्होंने अपने दोषों को स्वीकार कर लिया और प्रायश्चित्त की भी याचना करने लगे। स्वामीजी ने उनको अत्यन्त सरल हुआ देखकर यह छूट दी कि अपने दोषों का वे स्वयं ही प्रायश्चित्त कर लें।

स्वामीजी के इस मृदु व्यवहार का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने कहा—‘हम ऐसा नहीं समझते थे कि इतना विरुद्धाचरण करने पर भी आप हमारे साथ इतना मृदु व्यवहार करेंगे।’ उन्होंने अपने अविनय के लिए बार-बार क्षमा-याचना की।

उनकी यह नप्रता स्वल्पकालिक ही सिद्ध हुई। वे पुनः पूर्ववत् स्वामीजी के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करने लगे। ऊपर से बड़ी नप्रता प्रदर्शित करते किन्तु अन्दर-ही-अन्दर अव्यवस्था फैलाने में सूत्रधार का कार्य करते रहते। जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि

116 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
अनेक साधु-साधियां उनके पक्ष में हो गये हैं, तब वे खुलकर स्वामीजी का विरोध करने लगे। उन्हें शिथिल और असाधु बताने लगे।

स्वामीजी को जब उनके बदले हुए रुख का पता चला तो तत्परतापूर्वक उनसे प्रभावित व्यक्तियों को एक-एक करके समझा लिया। उसके पश्चात् मुनि चन्द्रभाणजी से बातचीत की। वे उलटा स्वामीजी को ही दोषी बताने लगे और संघ से पृथक् हो जाने की धमकी देने लगे।

आओ, संथारा करें

स्वामीजी ने शान्तिपूर्वक समझाते हुए मुनि चन्द्रभाणजी से कहा—‘संघ को छोड़ने से तो अच्छा है कि संलेखना तथा संथारा करके आत्म-कल्याण करो।’

चन्द्रभाणजी ने कहा—‘मुनि भारमलजी करते हैं, तो मैं भी तैयार हूं।’

स्वामीजी बोले—‘आओ, हम दोनों करें।’

चन्द्रभाणजी ने कहा—‘आपके साथ नहीं, भारमलजी के साथ कर सकता हूं।’

निष्कासन और ग्रहण

स्वामीजी ने मुनि चन्द्रभाणजी के ईर्ष्या-भाव को बहुत अच्छी तरह से पहचान लिया। उन्होंने उसके पश्चात् मुनि तिलोकचन्द्रजी से बातचीत की। वे पूर्णतः मुनि चन्द्रभाणजी के ही पक्षधर बने हुए थे। स्वामीजी ने तब मांढ़ा गांव में उन दोनों को संघ से पृथक् कर दिया।

जाते समय चन्द्रभाणजी ने धमकीभरे स्वर में कहा—‘आपके श्रावकों को शीतदर्थ आक जैसा न कर डालूं तो मेरा नाम चन्द्रभाण नहीं।’

स्वामीजी की सेवा में बैठे श्रावक चतरोजी बोले—‘आप तो विहार करते हुए विलम्ब से पहुंचेंगे, मैं ‘कासीद’ के द्वारा पहले ही सर्वत्र सूचना करवा दूंगा कि आप संघ से पृथक् हो गये हैं। फिर आपको कोई नहीं पूछेगा।’

चतरोजी की बात सत्य निकली। न उनके पक्षपाती साधुओं ने साथ दिया और न विशेष किसी श्रावक ने ही। उन्हें तब अपनी स्थिति का अच्छी तरह से भान हो गया। अहंभाव को कहीं से कोई पोषण नहीं मिल पाया, तब वे पुनः गण में आने का प्रयास करने लगे। कई बार की बातचीत के पश्चात् स्वामीजी को लगा कि अब उनके भावों में सरलता आई है, अनुताप और प्रायश्चित्त के भाव भी उभेरे हैं। उन्होंने तब उनको पुनः गण में लेने का निर्णय तो किया, परन्तु उससे पूर्व कुछ शर्तें भी स्वीकार करवाई। उनमें कुछ शर्तें ये थीं—‘व्यक्तिगत शिष्य न करना, दलबन्दी न करना, दोष एकत्रित न कर तत्काल बतलाना, अपने पूर्व दोषों की आलोचना और प्रायश्चित्त करना इत्यादि।’ उक्त लेखपत्र पर चेलावास में उन्होंने साधुओं और श्रावकों की उपस्थिति में हस्ताक्षर किये। तब उन्हें संघ में ले लिया गया।

पुनः निष्कासन

उनका पुनरागमन संघ के लिए बड़ा गुणकारक रहा। जिन व्यक्तियों को उन्होंने शंकाशील बना दिया था, उन सबने अनुभव कर लिया कि संघ और स्वामीजी निर्देष हैं, ये ही दण्ड स्वीकार कर संघ में आये हैं। इस तरह की बात जब जनता में फैली, तो मुनि चन्द्रभाणजी के अहं को ठेस लगी। उनका मनोभाव बदल गया। लेख-पत्र की निर्धारित शर्तों से वे मुकरने लगे। स्वामीजी तथा अन्य साधुओं ने अनेक बार चेताया, फिर भी उन्होंने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। उनका आग्रह था—‘जनता में यह प्रचारित नहीं किया जाना चाहिए कि हम प्रायश्चित्त स्वीकार करके अन्दर आये हैं।’

स्वामीजी ने कहा—‘यदि कोई गृहस्थ इस विषय में जिज्ञासा करे, तो उसका क्या उत्तर दिया जाना चाहिए?’

मुनि चन्द्रभाणजी ने कहा—‘यही कहना चाहिए कि हमने अपनी पद्धति के अनुसार कार्य कर लिया है।’

स्वामीजी ने कहा—‘ऐसी संदिग्ध भाषा क्यों कहें? इससे तो जनता में यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि कुछ बातों का प्रायश्चित्त इन्होंने लिया होगा और कुछ का उन्होंने। हम तो यह स्पष्ट कहेंगे कि संघ के किसी सदस्य ने कोई प्रायश्चित्त नहीं लिया, ये ही प्रायश्चित्त स्वीकार करके संघ में आये हैं।’

मुनि चन्द्रभाणजी ने कहा—‘ऐसा तो बिल्कुल नहीं कहना चाहिए।’

स्वामीजी ने उनकी नीति को शुद्ध नहीं पाया, तब वि. सं. 1836 के शेषकाल में खैरवा में उन्हें संघ से पृथक् कर दिया। फिर मुनि तिलोकचन्दजी को बुलाकर कहा—‘चन्द्रभाण के साथ यदि तुम्हारी कोई सांठगांठ न हो तो तुम गण में रह सकते हो, अन्यथा नहीं।’ उन्होंने तब रहने की ही भावना व्यक्त की। वे रह तो गये, किन्तु मन की मलिनता दूर नहीं हुई। मुनि चन्द्रभाणजी की प्रत्येक बात का समर्थन तथा स्वामीजी की बात का प्रच्छन्न विरोध करना उनका स्वभाव हो गया। स्वामीजी ने तब उनको भी संघ से पृथक् कर दिया। वे तत्काल मुनि चन्द्रभाणजी से जा मिले।

थली की ओर

अनेक महीनों तक वे दोनों मारवाड़ के क्षेत्रों में विचरण कर स्वामीजी के श्रावकों को भ्रान्त करने का प्रयास करते रहे। परन्तु वे जहां जाते, वहां स्वामीजी भी पधार जाते, उनके द्वारा फैलाई गई भ्रान्तियों का तत्काल निराकरण कर देते। इस प्रकार उनके पैर कहीं भी जम नहीं पाये। उन्होंने तब थली की ओर जाने का निर्णय किया। उधर उस समय स्वामीजी के दो शिष्य मुनि संतोषचन्दजी और मुनि शिवरामजी विचरण कर रहे थे। उनका उद्देश्य उन्हें अपने साथ मिला लेने का था। उक्त दोनों साधु कुछ वर्ष पूर्व उनके प्रभाव में रह चुके थे, अतः उन्हें पुनः अपनी ओर आकृष्ट कर लेना कोई कठिन कार्य नहीं था।

स्वामीजी ने उनके विचारों को भांप लिया। वे नहीं चाहते थे कि उन साधुओं को भ्रान्त कर अपने साथ मिला लेने का उन्हें अवसर मिले। इसीलिए उन्होंने भी उधर ही विहार किया। बोरावड़ तक पहुंचे, तब मुनि भारमलजी को चेचक निकल आई। अधिक ठहर पाने का अवसर नहीं था, अतः दो साधुओं को उनकी सेवा में छोड़ा और केवल एक साधु को अपने साथ लेकर वे थली की ओर बढ़े। लादनू में सेवगों के बास में ठहरे। वहां से बीदासर और राजलदेसर होते हुए रत्नगढ़ पधारे। वहां पड़िहार राजपूत के घर में ठहरे। वहां से चूरू पधारे और रामनारायणजी मिर्धा की हवेली में ठहरे।

चूरू में

मुनि तिलोकचन्द्रजी और मुनि चन्द्रभाणजी स्वामीजी से कई दिन पूर्व चूरू पहुंचे थे। उन्होंने वहां मुनि संतोषचन्द्रजी तथा मुनि शिवरामजी को नाना प्रकार की बातें कहकर भ्रांत किया और फिर उनकी कुछ शर्तें मानकर परस्पर सम्मिलित हो गये।

स्वामीजी चूरू पहुंचते ही यथाशीघ्र वार्तालाप करने के लिए उनके पास गये। मुनि संतोषचन्द्रजी और मुनि शिवरामजी ने उनको आते देखा, तो तत्काल खड़े होकर आदर दिया तथा वंदन किया। मुनि चन्द्रभाणजी को उनका वह विनय-व्यवहार उचित नहीं लगा। उन्होंने टोकते हुए कहा—‘इनके साथ हमारा कोई साम्भोगिक सम्बन्ध नहीं है, अतः वंदन करना नहीं कल्पता।’

मुनि संतोषचन्द्रजी ने कहा—‘ये हम सबके गुरु हैं, अतः वन्दन तो करना ही चाहिए।’

स्वामीजी ने मुनि संतोषचन्द्रजी और मुनि शिवरामजी से बातचीत की। सारी स्थिति समझाई। वे बोले—‘इस समय तो हम उनके साथ वचनबद्ध हो चुके हैं, अतः अन्य कुछ सोचने का अवसर नहीं है, पर अन्त तक उनका साथ निभा पाना कठिन ही है, अवसर आते ही हम आपकी सेवा में पुनः उपस्थित हो जायेंगे।’ उन्होंने स्वामीजी को विश्वास दिलाया कि अब से मुनि चन्द्रभाणजी न आपकी निंदा करेंगे और न आपके विहार-क्षेत्र में ही जायेंगे। हमने इस विषय में उनसे बातचीत कर ली है।

स्वामीजी ने कहा—‘यदि वे अपनी बातों का पालन करते रहेंगे, तो हम भी बोरावड़ से आगे के क्षेत्रों में आने का विचार नहीं करेंगे।’

स्वामीजी कई दिन चूरू में ठहरे। वहां डागा परिवार की एक बहिन सरूपां ने तथा बांठिया और पारख परिवार के एक-एक भाई ने गुरु-धारणा की। उसके पश्चात् शीघ्र ही वे पुनः मारावड़ की ओर पधार गये। उस शेषकाल में उन्हें लगभग 700 कोस (2240 किलोमीटर) चलना पड़ा। उन्होंने अपना चातुर्मासिक प्रवास केलवा में जाकर किया।

राठों द्वारा हत्या

कालान्तर में मुनि संतोषचन्द्रजी और मुनि तिलोकचन्द्रजी के दलों में मनोमालिन्य बढ़ा और वे पृथक्-पृथक् हो गये। मुनि संतोषचन्द्रजी और मुनि शिवरामजी ने चूरू से रीणी (तारानगर) की ओर विहार कर दिया। उन्हीं दिनों रीणी और बूचास के पाश्वर्वर्ती

क्षेत्र में राठा जाति के मुसलमानों और राजपूतों में झगड़ा चलता था। राठा सरसा तथा राणिया की ओर से आकर उधर धावा बोला करते थे। दोनों सन्त उस क्षेत्र से गुजरते हुए सारंगसर के पास आये, तब राठों ने समझा कि गांव का ठाकर इस वेष की ओट में बचकर निकल जाना चाहता है। उन्होंने तत्काल उनको घेर कर मार डाला।¹

बिखराव

मुनि तिलोकचन्दजी और चन्द्रभाणजी भी मिलकर नहीं रह पाये। कुछ ही वर्षों के पश्चात् वे पृथक्-पृथक् हो गये। उन दिनों मुनि तिलोकचन्दजी की दृष्टि-शक्ति क्षीण होने लगी थी, अतः मुनि चन्द्रभाणजी को उनका विशेष ध्यान रखना पड़ता था। वह स्थिति उन्हें पसन्द नहीं थी। उन्होंने उनको संलेखना तथा संथारा करने को कहा। मुनि तिलोकचन्दजी को वह कथन अच्छा नहीं लगा। वे बोले—‘मेरा शरीर सबल है, अतः अभी संलेखना, संथारे की बात कैसे सोची जा सकती है?’

रीणी (तारानगर) और चूरू के मध्यवर्ती ग्राम जुहारिया के मार्ग में इसी बात पर मुनि चन्द्रभाणजी ने उनसे झगड़ा किया और उन्हें वहीं जंगल में अकेला छोड़कर पृथक् चल दिये।

स्वामीजी ने मुनि तिलोकचन्दजी को संघ से पृथक् होते समय चेताया था—‘तुम चन्द्रभाण के साथ जा तो रहे हो, पर वह तुम्हें कहीं जंगल में अकेला छोड़ेगा।’ उनका वह कथन सत्य सिद्ध हुआ।

इस दल के छिन्न-भिन्न होने के साथ ही आन्तरिक संघर्षों की रीढ़ टूट गई।

1. ऐसा भी कहा जाता है कि राठों ने उन्हें गुप्तचर समझ कर मार डाला।

जीवन के विविध पहलू

पुस्तक, नदी और ईश्व

स्वामीजी का समस्त जीवन उस पवित्र पुस्तक के समान था, जिसके प्रत्येक पृष्ठ की प्रत्येक पंक्ति प्रेरणादायक होती है। सार्थक व सोदेश्य शब्द-संयोजन, निर्भीक व निर्लिप्त अभिव्यक्ति और साद्यन्त सत्य-प्रतिबद्धता; ये उस पुस्तक की पवित्रता के साक्ष्य हैं। जिसने भी उसे पढ़ा, नई स्फूर्ति से भर गया। सहस्रों-सहस्रों व्यक्ति उनके सम्पर्क में आते रहते थे, उनमें अनुकूल और प्रतिकूल, दोनों ही प्रकार के होते थे, परन्तु उनसे प्रभावित हुए बिना शायद ही कोई बच पाता था।

नदी के प्रवाह की तरह निरन्तर गतिशील स्वामीजी की संयम-यात्रा की प्रत्येक लहर न जाने कितने व्यक्तियों की पिपासा शान्त कर गई, कितनों के उत्ताप हरण कर गई और कितनों की सूखती हुई खेतियां लहलहा गईं। साथ में यह भी सत्य है कि न जाने वह कितने अवरोधों को ढहाकर अपने साथ बहा ले गई।

जन-कल्याण के उद्देश्य से किया गया स्वामीजी का जन-सम्पर्क रत्नत्रयी की वृद्धि करने में अत्यन्त सफल रहा। सम्पर्क विषयक विचित्र घटनाएं ईश्व के छोटे-छोटे पोरों की तरह अत्यन्त सरस और सुमधुर तो हैं ही, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से बलदायक भी हैं।

घटनाओं के माध्यम से

स्वामीजी का जीवन-पट घटनाओं के ही ताने-बाने से बुना हुआ था, इसलिए कहा जा सकता है कि उन्हें घटनाओं के माध्यम से जितनी सरलता से समझा जा सकता है, उतनी सरलता से अन्य किसी माध्यम से नहीं। प्रत्येक घटना उनके विविधांगी जीवन के किसी-न-किसी नये पहलू को अवगति प्रदान करती है। हीरे के पहलुओं के समान सभी घटनाओं का अपना-अपना पृथक् सौन्दर्य और पृथक् कटाव-छंटाव है। फिर भी सम्पूर्ण जीवन-सौन्दर्य के साथ उनका अविकल सामंजस्य बना हुआ है।

अपनी समग्रता में स्वामीजी का जीवन समुद्र के समान गहरा और विशाल था, इसलिए दुरवगाहा भी था, परन्तु घटना-बिन्दुओं की आंशिकता उसे हमारे लिए सहज अवगाहा बना देती है। उनके घटना-संकुल जीवन की समस्त घटनाओं का विवरण दे

पाना तो अत्यन्त प्रयास-साध्य तथा अन्वेषण-सापेक्ष है, परन्तु यहां कुछ ऐसी प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया जा रहा है, जिनसे उनके जीवन की विविधता को समझने में सहयोग प्राप्त हो सकता है।

1. विरोध का सामना विनोद से

कीचड़ के ऊपर

स्वामीजी के समय में उनके अनुयायियों की संख्या से कहीं अधिक उनके द्वेषियों की संख्या थी। द्वेषी व्यक्तियों में रहकर भी अद्वेषी बने रहना साधारण कार्य नहीं है। कमल और सत्पुरुष—ये दो ही ऐसे होते हैं, जो अपने चारों ओर फैले कीचड़ से भी सार खींचते हैं और फिर उसे सुगंध में परिणत करके जगत् को बांट देते हैं। इतने पर भी स्वयं उस कीचड़ में कभी लिप्त नहीं होते, सदा उससे ऊपर उठे रहते हैं।

स्वामीजी वस्तुतः द्वेष-वृत्ति से बहुत दूर रहने वाले महापुरुष थे। न उन्हें द्वेषी-जनों के कर्ण-कटु शब्द विचलित कर पाते थे और न ही अपने विरुद्ध में किये जाने वाले कार्य। द्वेष-भरी बातों का उत्तर भी वे इस सहज भाव से देते थे कि पासा पलट जाता और कहने वाले को चुप हो जाने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं मिल पाता। वे विरोधी परिस्थिति को अपने विनोद से पराजित कर देते थे।

और तुम्हारा मुंह देखने से?

एक बार स्वामीजी विहार करते हुए देसूरी जा रहे थे। मार्ग में घाणेराव का एक भाई मिला। स्वामीजी को उसने बन्दन किया, पर पीछे आशंका होने पर पूछा—‘आपका क्या नाम है?’

स्वामीजी ने कहा—‘भीखण्ण।’

‘भीखण्णजी तेरांथी!!’ भय-मिश्रित आश्चर्य से विस्फारित नेत्र होकर उसने नाम को इस प्रकार से दुहराया कि स्वयं स्वामीजी को भी आश्चर्य हुए बिना न रहा।

स्वामीजी ने जिजासा-युक्त वाणी में पूछा—‘क्यों, क्या बात हुई?’

अन्तःकरण में छिपे द्वेष और तज्जन्य धृणा को अभिव्यक्ति देते हुए वह बोला—‘तुम्हारा तो मुंह देखने मात्र से ही मनुष्य को नरक मिलता है।’

स्वामीजी ने तत्काल उलट कर पूछा—‘और तुम्हारा मुंह देखने से?’

उसने सिर ऊंचा उठाते हुए गर्वाले स्वर में कहा—‘स्वर्ग!’

स्वामीजी बोले—‘किसी का मुंह देखने मात्र से स्वर्ग या नरक मिलता हो, यह बात मैं मानता तो नहीं, पर तुम्हारे ही कथन को सत्य मान लिया जाए, तो यह बतलाओ कि तुम कहां जाओगे और मैं कहां?’

उस भाई के पास बोलने को कुछ भी अवशिष्ट नहीं था, क्योंकि उसने अपने-आपकी नरकगामिता और स्वामीजी की स्वर्गगामिता स्वयं ही सिद्ध कर दी थी।¹

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 15।

तुम विधवा कैसे हो गई?

एक बार स्वामीजी पीपाड़ पधारे हुए थे। गोचरी के समय जब वे एक मुहल्ले में गये तो एक बहिन ने उन्हें स्थानकवासी साधु समझकर कहा—‘तेरापंथी बनने वाले को अपने-आप दण्ड मिल जाता है। हमारे मुहल्ले की अमुक स्त्री ने भीखणजी को गुरु धारण किया था, अतः थोड़े ही दिनों में वह ‘रांड’ हो गई।’

संयोगवश वह बहिन स्वयं विधवा थी, अतः स्वामीजी ने स्मितमुख होकर कहा—‘बहिन! तुम्हारी बातों से लगता है कि तुम भीखणजी की काफी निन्दा करती हो। पर यह तो बतलाओ कि फिर भी तुम इस छोटी अवस्था में ही विधवा कैसे हो गई?’

पास में खड़ी अन्य बहिनों ने बात के क्रम से भांप लिया कि ये स्वयं भीखणजी ही हैं। उन्होंने जब यह बात उस बहिन को बतलाई, तो वह इतनी लज्जित हुई कि खड़ी नहीं रह सकी और भागकर घर में घुस गई।¹

नृत्य को रोक क्यों रहे हो?

पाली में स्वामीजी का चतुर्मास था। वहां बाबेचा परिवार के मूर्तिपूजक भाई स्वामीजी के प्रति काफी द्वेष-भाव रखते। पर्युषण पर्व में उन्होंने महोत्सव मनाते हुए, इन्द्रध्वज का जुलूस निकाला। स्वामीजी जिस स्थान पर विराजते थे, उसके सामने से जुलूस लेकर वे आये और वहां काफी देर तक ठहरकर गाते, बजाते तथा नाचते रहे। व्याख्यान में बाधा पहुंच रही थी, अतः कुछ समय प्रतीक्षा करने पर भी जब जुलूस आगे नहीं बढ़ा, तो कुछ श्रावकों को क्रोध आ गया। वे उत्तेजित होकर जुलूस वालों को बुरा-भला कहने लगे। स्वामीजी ने उन्हें टोकते हुए जुलूस वालों को सुनाकर कहा—‘ये लोग प्रतिमा को भगवान् मानते हैं, अतः या तो भगवान् के सामने नाचते-गाते हैं या भगवान् के साधुओं के सामने, तुम भला क्रुद्ध होकर इन्हें रोक क्यों रहे हो।’

स्वामीजी के इस कथन से श्रावक तो वहां से हट ही गये, पर नाचने वाले भी अपने उद्देश्य से विपरीत प्रभाव हुआ देखकर आगे चलते बने। वे स्वामीजी को चिढ़ाना चाहते थे, पर स्वामीजी ने अपने व्यवहार से उनके मूल उद्देश्य को ही उलट दिया।²

पौता-चेला

स्थानकवासी साधु टीकमजी के एक शिष्य मुनि कचरोजी सिरियारी में स्वामीजी के पास पहुंचे। स्वामीजी ने आने का कारण पूछा तो बोले—‘आपके विषय में बातें सुनते-सुनते कान पक गये, अतः सोचा कि चलो, देखें तो सही, आखिर भीखणजी ऐसी क्या बला हैं?’

स्वामीजी ने सस्मित कहा—‘लो, देख लो, मैं ही हूं भीखण।’

1. भिक्खु-दृष्ट्यान्त, दृ. 38।

2. वही, दृ. 95।

देख लेने के पश्चात् मुनि कचरोजी स्वामीजी से बात करने का लोभ भी संवृत नहीं कर सके, अतः बोले—‘कुछ चर्चा तो पूछिये।’

स्वामीजी—‘जब देखने के लिए ही आए हो, तो तुम से क्या चर्चा पूछें?’

कचरोजी—‘फिर भी कुछ तो पूछ ही लें।’

स्वामीजी ने उनका आग्रह देखकर पूछा—‘तीसरे महाब्रत के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण क्या हैं?’

कचरोजी—‘यह सब तो मेरे पास पत्र में लिखा पड़ा है।’

स्वामीजी—‘पत्र फट जाए या गुम हो जाए, तब क्या करोगे?’

कचरोजी को जब इसका कोई उत्तर नहीं सूझा, तो बात को दूसरी ओर घुमाते हुए बोले—‘मेरे गुरुजी ने एक बार आप से चर्चा पूछी थी, उसका उत्तर आपको भी नहीं आया था।’

स्वामीजी—‘क्या हर्ज है, वही चर्चा तुम फिर से पूछ लो। यदि उन्हें उत्तर दिया है, तो तुम्हें भी दे देंगे।’

कचरोजी—‘आप तो मेरे दादा-गुरु की अवस्था के हैं, अतः मैं आपका पोता-चेला हुआ। आपको चर्चा में कैसे जीत सकता हूँ?’

स्वामीजी ने निर्थक बातों में समय जाता देखकर एक ही बार में सारे प्रकरण को समाप्त करते हुए कहा—‘कम-से-कम मुझे तो ऐसा पोता-चेला नहीं चाहिए।’

कचरोजी के सामने तब चुप होकर चले जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह गया था।¹

2. बुराई में भी भलाई की खोज

अवगुण-लेखन

संसार में ऐसे व्यक्ति बहुत कम मिलेंगे जो अपने कानों से अपनी निंदा सुनकर भी उत्तेजित न हों। स्वामीजी में यह विशेषता इतनी उत्कृष्ट थी कि वे अपनी निंदा को हँसते हुए सुन ही नहीं लेते थे, अपितु अपने ही हाथों से उन बातों को लिख भी लेते थे। उनके हाथ से लिखे हुए अनेक पत्र आज भी सुरक्षित हैं, जिन पर उनके तथाकथित अवगुण लिखे हुए हैं।

उनके जीवन में ऐसे अवसर अनेक बार आये, जब स्वयं उन्हीं के सामने तथा अगल-बगल के स्थानों पर विरोधी लोग विरुद्ध प्रचार करते और वे चुपचाप सुनते रहते। स्वामीजी अपने विरोधियों द्वारा किये गये किसी भी कार्य को प्रायः गुण रूप में लेने का ही प्रयास किया करते थे। कहा जा सकता है कि वे अनन्य रूप से गुणग्राही व्यक्ति थे।

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 46।

124 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
गुण को ग्रहण करना और मानना एक बात है, पर किसी के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निंदा किये जाने पर भी उसमें कहीं-न-कहीं गुण को खोज निकालने का प्रयास करना बिलकुल दूसरी बात है। यह तो किसी महापुरुष का ही कार्य हो सकता है। स्वामीजी निस्संदेह ऐसे ही व्यक्तियों में से थे, जो बुराई में भी भलाई खोज लेते हैं।

अवगुण निकालने ही हैं

किसी ने आकर स्वामीजी को बतलाया कि अमुक स्थान पर लोग एकत्रित हो रहे हैं और वहां अमुक व्यक्ति आपके अवगुण निकाल रहा है।

स्वामीजी बोले—‘निकाल ही रहा है, डाल तो नहीं रहा? यह तो बहुत अच्छी बात है। मुझे अवगुण निकालने ही हैं। कुछ मैं निकालूँगा, कुछ वह निकालेगा। चलो, इस प्रकार वे और भी शीघ्र निकल जाएंगे।’¹

समझ आने पर भक्ति भी करेगा

स्वामीजी के साथ चर्चा करते समय एक भाई बहुत कटु बोला करता था। इस पर किसी ने स्वामीजी से कहा—‘यह इतना उलटा-सीधा बोलता है, तो फिर आप इससे चर्चा क्यों करते हैं?’

स्वामीजी ने कहा—‘बालक जब तक नहीं समझता, तब तक अपने पिता की मूँछें पकड़ लेता है, पगड़ी पर भी हाथ मारता है, किन्तु समझ आने पर वही सेवा भी करता है। यह आज कटु इसलिए बोलता है कि इसे अभी तक साधुओं की पूरी पहचान नहीं है, पर जब वैसी समझ आ जाएगी, तब यह भक्ति भी करने लगेगा।’²

ठोक-बजाकर देखता है

एक बार चर्चा में पराजित होकर एक भाई ने आवेश-वश स्वामीजी के सिर पर ठोला मारा और चल दिया। साधुओं को यह बहुत बुरा लगा। उन्होंने स्वामीजी से प्रार्थना की कि ऐसे अयोग्य व्यक्तियों से चर्चा करने में कोई लाभ नहीं है।

स्वामीजी ने मुस्कराते हुए कहा—‘जब कोई मनुष्य दो-चार पैसे मूल्य की मिट्टी की हँडिया खरीदता है, तब पहले उसे ठोक-बजाकर देख लेता है कि कहीं फूटी हुई तो नहीं है? यहां तो फिर जीवनभर के लिए गुरुधारणा करने की बात है, अतः यह बेचारा ठोक-बजाकर देख लेना चाहे, तो अनुचित क्या है?’

3. आकर्षण के केन्द्र

रोकथाम के बावजूद

स्वामीजी जनता के लिए आकर्षण के केन्द्र बने हुए थे। वे जहां भी जाते, लोग उत्सुकतापूर्वक उनकी बाट देखते रहते। किसी स्थान पर कुछ दिन रहकर जब वे विहार

1. घिकखु-दृष्टान्त, दृ. 13।

2. वही, दृ. 287।

करते, तो लोग तरसते-से रह जाते। जिनको उनसे मिलने का कभी अवसर नहीं मिला होता, वे उनके विषय में नाना कल्पना करते रहते। जो मिल सकते थे, वे अवसर पाते ही मिलने को लालायित रहते। जो एक बार मिल लेते, वे प्रायः सदा के लिए उनके ही हो जाया करते थे। उनके विरोधी इसीलिए अपने अनुयायियों को उनके पास जाने से रोकने का प्रयास किया करते, किन्तु वे उस कार्य में बहुधा असफल ही रहते। स्वामीजी का आकर्षण सब रोकथामों के बावजूद उन्हें अपनी ओर खींच लिया करता था।

ऐसा हठ मत करना

स्वामीजी सिरियारी से विहार करने लगे। जनता ने कुछ दिन और ठहरने की प्रार्थना की। वे नहीं माने। प्रार्थना का रूप हठ में बदलने लगा। फिर भी नहीं माने, तो सामजी घंडारी ने आगे बढ़कर अपनी पगड़ी स्वामीजी के पैरों में रख दी और कहा—‘कम-से-कम आज तो आपको विराजना ही पड़ेगा, इस पगड़ी की लाज रखनी ही होगी।’

स्वामीजी ने उनका मन नहीं तोड़ा और उस दिन के लिए ठहरने की स्वीकृति देते हुए कहा—‘आज तो तुम्हारी प्रार्थना मान लेते हैं, पर फिर कभी ऐसा हठ मत करना।’¹

ऐसी प्रार्थना मत करना

आगरिया से स्वामीजी विहार करने लगे, तो लोगों ने कुछ दिन और विराजने की प्रार्थना की। उन्होंने उसे अस्वीकार करते हुए विहार कर दिया। जनता का मन एकदम उदास हो गया।

मुनि भारमलजी ने जनता की अत्यन्त उदासी देखी तो मार्ग में स्वामीजी से कहा—‘आपने विहार तो कर दिया, किन्तु यहां जनता बहुत उदास हो गई है। आप उनकी प्रार्थना मान लेते तो अच्छा रहता।’

दयालु स्वामीजी ने विहार स्थगित कर दिया और वापस ग्राम में पधार गये। उन्होंने सबको सावधान करते हुए कहा—‘संतों के विहार से ऐसी उदासी क्यों आनी चाहिए?’ मुनि भारमलजी से भी कहा—‘आज तो तुम्हारी बात मानकर वापस आ गये हैं, पर फिर कभी ऐसी प्रार्थना मत करना।’²

तभी इतनी महिमा है

पुर और भीलवाड़ा के मार्ग में स्वामीजी किसी वृक्ष की छाया में बैठे थे। वे वहां पीछे आ रहे साधुओं की प्रतीक्षा कर रहे थे। वहां ढूँढ़ाड़ की ओर का एक सनातनी भाई कहीं से आ गया। स्वामीजी को देखा, तो वन्दन किया और परिचय आदि पूछने लगा। उन्होंने अपना नाम ‘भीखण’ बतलाया, तो उसको इतना आश्चर्य हुआ कि मानो वह उसे मानने से ही इनकार कर देगा।

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 85।

2. वही, दृ. 86।

उसने कहा—‘मैंने कभी आपको देखा तो नहीं, पर आपकी महिमा इतनी सुनी थी कि देखने को मन ललचाया करता था। उस महिमा के आधार पर मैंने अपने मन में आपकी जो कल्पना की थी, वह तो यह थी कि आप किसी बड़े मठ की गद्दी के अधिपति होंगे। मैं तो समझता था कि आपके साथ हाथी, घोड़े, रथ-पालकी आदि बहुत बड़ा लवाजमा रहता होगा, पर आप तो उस कल्पना के सर्वथा विपरीत अकेले ही वृक्ष की छाया में बैठे हैं।’

स्वामीजी ने उसे जैन साधु की चर्या समझाते हुए बतलाया—‘ये सब आडम्बर नहीं रखते, तभी तो इतनी महिमा है, अन्यथा दूसरे मठाधीशों की तरह ही हमारी भी स्थिति होती।’¹

मोहर के योग्य

स्वामीजी ढूँढ़ाड़ के एक गांव में पधारे। वहां के ठाकुर दर्शन करने के लिए आये। नमस्कार करके उन्होंने एक अधेली (आठ आने) स्वामीजी के चरणों में चढ़ाई।

स्वामीजी ने कहा—‘हम पैसे नहीं लेते।’

ठाकुर असमंजस में पड़ गये। उन्होंने हाथ जोड़कर दीन स्वर से कहा—‘आप तो मोहर के योग्य हैं, किन्तु मेरा सामर्थ्य इतना ही है। अबकी बार आपका पदार्पण होगा, तब एक रूपया चढ़ाने की चेष्टा करूँगा।’

स्वामीजी उनके सरल अज्ञान पर द्रवित होते हुए बोले—‘हम साधुओं का व्रत तो अपरिग्रह है। अपरिग्रही के लिए पैसा, रूपया और मोहर आदि मिट्टी के समान हैं। जिसने घर का पैसा छोड़ दिया हो, वह दुनिया का पैसा किसलिए बटोरेगा?’

ठाकुर दुगुने आकर्षण से निःस्पृह स्वामीजी के चरणों में झुक गये।²

शिल्पियों की कमी

स्वामीजी के प्रति धार्मिक लोगों का आकर्षण इतना बड़ा कि स्थान-स्थान से स्वयं पधारने तथा सन्तों को भेजने की मांग होने लगी। उस समय एक व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—‘यह अवसर है, स्थान-स्थान पर सन्तों को भेजा जाये और पूरा उद्यम किया जाये, तो बहुत लोग समझ सकते हैं।’

स्वामीजी ने कहा—‘मकराना की खान में प्रतिमा बनाने योग्य श्वेत पत्थर बहुत हैं, किन्तु उतने शिल्पी कहां से आयें? साधु-साधियों के सीमित सिंघाड़ों द्वारा जनता की मांग को पूरा कर पाना सम्भव नहीं है।’³

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 125।

2. वही, दृ. 89।

3. वही, दृ. 158।

सरस व्याख्यान

स्वामीजी का हर कार्य बड़ा आकर्षक हुआ करता था। सामान्य बातचीत से लेकर शास्त्रार्थ तक में वे जनता को मंत्र-मुध कर लिया करते थे। कठिन-से-कठिन विषय को उदाहरण के द्वारा सरलता से समझाने की उनकी पद्धति को लोग अत्यन्त पसन्द किया करते थे। उनके व्याख्यान का तो अपना एक पृथक् ही आकर्षण था।

एक बार स्वामीजी ने रोयट में शालिभद्र का व्याख्यान सुनाया। लोगों ने कहा—‘शालिभद्र का व्याख्यान पहले भी अनेक बार साधुओं से सुना है, परन्तु इस बार जैसा रस आया, वैसा पहले कभी नहीं आया।’

स्वामीजी ने कहा—‘एक ही व्याख्यान वक्ताओं की भिन्न पद्धतियों के कारण सहज ही भिन्नता पा जाता है, इसमें इतने आश्चर्य की क्या बात है?’¹

गहराई तक पहुंचने वालों ने उस समय अवश्य ही यह निष्कर्ष निकाला होगा कि स्वामीजी के साथ उनका त्याग और विराग भी बोला करता है। यही कारण था कि अन्यत्र वैसा रस अप्राप्य नहीं, तो दुष्प्राप्य अवश्य था। आध्यात्मिकता के सुधा-सरोवर में डुबकी लगाकर निकला उनका प्रत्येक वाक्य जनता के मन में उतरकर उसे सहज ही मधुमय बना देता था।

भीखण्डी कैसे लगे?

पाली के बाबेचों ने शोभाचंद सेवग को स्वामीजी के विषय में निन्दापरक कविता करने को उकसाया। साथ में दस-बीस रुपये देने का प्रलोभन भी दिया।

उसने कहा—‘मैंने भीखण्डी के विषय में बातें तो अनेक प्रकार की सुनी हैं, पर जब तक एक बार उसे प्रत्यक्ष मिल नहीं लेता, तब तक उनके विषय में कुछ कहना उचित नहीं समझता।’

स्वामीजी उन दिनों खैरवा में थे। वहां जाकर उसने उनके दर्शन किये और बातचीत की। उसने पूछा—‘मैंने सुना है कि आप भगवान् का विरोध करते हैं।’

स्वामीजी—‘हमने तो भगवान् के वचनों पर ही घर छोड़ा है, अतः उनका विरोध करने की बात यदि तुमने सुनी है, तो वह सर्वथा मिथ्या है।’

सेवग—‘नहीं, मेरा तात्पर्य है कि आप मन्दिर को उठाते हैं।’

स्वामीजी—‘मन्दिर में तो हजारों मन पत्थर लगते हैं। उसे उठाने का सामर्थ्य हमारे में तो नहीं है।’

सेवग—‘नहीं, नहीं! मेरा तात्पर्य है कि आप भगवान् की प्रतिमा को पत्थर कहते हैं।’

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 226।

स्वामीजी—‘हमें झूठ तो बोलना है नहीं, अतः जो प्रतिमा जिस चीज की बनी होती है, उसी चीज की कहते हैं, जैसे सोने की प्रतिमा को सोने की और चांदी की प्रतिमा को चांदी की कहते हैं, वैसे ही जो पत्थर की प्रतिमा होती है, उसको पत्थर की कहते हैं, सबको नहीं।’

स्वामीजी ने इन उत्तरों के द्वारा उसे वह तत्व समझा दिया, जो उसके लिए अन्य किसी प्रकार से समझ पाना कठिन था। उसके पश्चात् उन्होंने उसको साध्वाचार आदि अन्य विषयों की भी जानकारी दी। स्वामीजी के स्नेह-सिक्त वचन और मधुर व्यवहार से वह बहुत प्रभावित हुआ।

वह वापस पाली में आया, तब बाबेचों ने पूछा—‘खैरवा गया था, तो वहां भी खण्डजी से मिला होगा और उनके विषय में कुछ कविता भी लिखी होगी?’

सेवग ने कहा—‘जी, मिला था और कुछ ‘कवित’ भी बनाकर लाया हूँ।’

पत्र निकाल कर सुनाने को उद्यत हुआ तो वे बोले—‘यहां नहीं, तेरापंथी श्रावकों के सामने ही सुनाना।’

वे उसे लेकर श्रावकों के पास आये और कहने लगे—‘यह तो एक सेवग है, अतः किसी के पक्ष का न होकर निष्पक्ष है। इसे न हमारे से कुछ मतलब है और न तुम्हारे से। यह तो जैसा जानता है, वैसा ही कहेगा।’

सेवग को बोलने के लिए प्रेरित करते हुए उन लोगों ने कहा—‘क्यों भाई शोभाचंद! तू भी खण्डजी के पास जाकर आया है, उनसे बातचीत भी करके आया है। बोल! तुझे वे कैसे लगे?’

सेवग ने अपना बचाव-सा करते हुए कहा—‘रहने दीजिए, उनके विचार उनके पास हैं और आपके विचार आपके पास। मुझे क्यों बीच में डालते हैं? मैं उनके विषय में क्या बतलाऊंगा?’

आग्रह करते हुए वे बोले—‘हम कोई तुझे झूठ बोलने के लिए थोड़े ही कह रहे हैं। जैसा देखा अथवा जाना है, वैसा ही कहना। इसमें हानि भी क्या है?’

सेवग ने तब स्वामीजी के गुणानुवाद की कविताएं सुनाई और कहा—‘वे तो अपनी कथनी के समान ही करनी वाले हैं। मैंने ऐसा सन्त-पुरुष आज तक कहीं नहीं देखा।’

अपनी आशा के विपरीत जब स्वामीजी के गुणानुवाद की कविता सुनी तो विरोधी व्यक्ति जल-भुन कर रह गये। श्रावक-वर्ग बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने सेवग को पुरस्कार स्वरूप बीस-पच्चीस रुपये दिये।¹

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 96।

4. अपराजेय व्यक्तित्व

महान् चर्चावादी

स्वामीजी केवल आकर्षण के केन्द्र ही नहीं थे, बल्कि कुछ व्यक्तियों के लिये विभीषिका के केन्द्र भी थे। उनके विरोधी सदैव उनसे घबराते थे। उनके साथ चर्चा करने का साहस कर पाना उन सबके लिए बहुत कठिन था। चर्चा में उन्हें जीत लेने का तो किसी को स्वप्न भी शायद ही आया हो।

धर्म-चर्चा करने की उनकी क्षमता सदा मार्गदर्शन देने वाली थी। तत्त्व-जिज्ञासु उन्हें कभी भूल नहीं सकते। आगमों के विवादास्पद विषयों का निर्णय करने के समय अवश्य ही भावी पीढ़ियों द्वारा वे याद किये जाते रहेंगे। उनके विषय में मुनि वेणीरामजी ने यह बिल्कुल उपयुक्त कहा है :

हिवै सोध्यां तो पावै नहीं रे, भिक्खु सरीखा साध।

करड़ो काम पड़सी चर्चा तणो रे, तिण वेलां आवसी याद॥¹

स्वामीजी के साथ चर्चा करना एक महत्व की बात समझी जाने लगी थी। किसी प्रसंग पर उनसे एक बार चर्चा कर लेने मात्र से समाज के दूसरे व्यक्तियों में उसका स्तर कुछ ऊंचा माना जाने लगता था।

कुछ व्यक्ति उनसे शास्त्रीय चर्चा करने आया करते थे, तो वे उन्हें शास्त्रीय ढंग से ही उत्तर दिया करते थे। पर कुछ व्यक्ति केवल बुद्धि-विलास के लिए भी आ जाया करते थे। स्वामीजी उन्हें भी निराश नहीं करते थे। उनको उनके ही ढंग का उत्तर देकर निरुत्तर कर देना भी उनके बायें हाथ का खेल था। इसलिए जब वे किसी ग्राम में जाते, तो उससे पूर्व ही वहां के विरोधियों में एक हलचल-सी मच जाती। सब पर इस प्रकार की विभीषिका का एक साप्राज्य छा जाता कि जिसका सामना करने में वे अपने-आपको असमर्थ पाते थे। वस्तुतः स्वामीजी का व्यक्तित्व पूर्णतः अपराजेय था।

मंत्रवादी के समान

किसी ने स्वामीजी से पूछा—‘आप जहां जाते हैं, वहां के विरोधी व्यक्तियों में इतना भय क्यों छा जाता है?’

स्वामीजी ने एक उदाहरण के द्वारा रहस्य समझाते हुए कहा—‘जिस ग्राम में डाकिनियां हों, यदि वहां कोई ऐसा मंत्रवादी आ जाये, जो उन सबका भेद खोल देने के साथ-साथ उन्हें अपनी मंत्र-शक्ति से नष्ट भी कर दे, तो उसके आगमन पर साधारण जनता को तो यह प्रसन्नता ही होती है कि भविष्य के लिए ग्राम में डाकिनियों का उपद्रव शांत हो जाएगा, पर डाकिनियों तथा उनके परिवार वालों के मन में धसका पड़ता है। वे सब मंत्रवादी को नहीं चाहते, क्योंकि उनसे सबके सामने उनकी पोल खुलती है। इसी

1. मुनि वेणीरामजी रचित भिक्खु-चरित्र 11।13।

130 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
प्रकार हमारे जाने से अन्य जनता तो प्रसन्न ही होती है, पर जिनके आचार में खामियां हैं, उनके तथा उनके अनुयायियों के मन में स्वतः ही भय छा जाता है।’¹

चर्चा महंगी पड़ती है

स्थानकवासी साधु गुमानजी के शिष्य रत्नोजी चाहते थे कि भीखणजी से चर्चा करें। मुनि गुमानजी ने उन्हें समझाते हुए कहा—‘उनसे चर्चा करते तो हमें भी भय लगता है, तब तू क्या चर्चा करेगा?’

मुनि रत्नोजी ने भय लगने का कारण पूछा, तो वे बोले—‘भीखणजी चर्चा का जो उत्तर देते हैं, पीछे उसकी ‘जोड़’ कर देते हैं, ग्राम-ग्राम में उसे भाइयों को सिखा भी देते हैं। इस प्रकार वे सारे ग्रामों को बिगाड़ देते हैं। हमें उस चर्चा का उत्तर देने के लिए तब एक भीखणजी ही नहीं, किन्तु फौज की फौज खड़ी हो जाती है। इसलिए भीखणजी से चर्चा हमारे लिए सदा ही महंगी पड़ती है।’²

अकबरी मोहरें

पुर में स्वामीजी से चर्चा करते हुए गुलाब ऋषि जब निरुत्तर हो गये, तो कहने लगे—‘मुझे निरुत्तर कर देने से कुछ नहीं होता। गोगुन्दा के हमारे श्रावक तुंगिया नगरी के श्रावकों जैसे हैं। उनसे चर्चा करोगे, तब तुम्हें पता लगेगा। वे तो सबके सब अकबर की मोहरें हैं।’

स्वामीजी बोले—‘अवसर आने पर उनसे भी चर्चा करने का भाव है।’

वह अवसर शीघ्र ही आ गया। स्वामीजी गोगुन्दा पधारे। वहां के श्रावकों से चर्चा हुई। स्वामीजी ने उन्हें आगमों के आधार पर आचार-विचार-सम्बन्धी सारी बातें समझाई। फलस्वरूप वहां का श्रावक-वर्ग स्वामीजी का भक्त बन गया।

गुलाब ऋषि ने जब यह संवाद सुना, तो स्वयं वहां आये और स्वामीजी से चर्चा करने लगे। श्रावकों ने स्वामीजी को रोकते हुए कहा—‘ये हमारे पहले के गुरु हैं, अतः हमें ही इनसे चर्चा करने का अवसर दें।’ स्वामीजी ने उनकी बात मान ली। भाइयों ने गुलाब ऋषि से ऐसी चर्चा की कि उन्हें निरुत्तर हो जाना पड़ा। आखिर क्रुद्ध होकर वे कहने लगे—‘गोगुन्दा के श्रावकों को मैं तो अकबर के समान समझा करता था, पर तुम तो बिल्कुल ही ठीकरी के सिक्के निकले।’³

किस न्याय से?

उदयपुर में अन्य सम्प्रदाय के एक मुनि स्वामीजी के पास आये और बोले—‘भीखणजी! कोई चर्चा पूछो।’

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 299।

2. वही, दृ. 94।

3. वही, दृ. 90।

स्वामीजी ने पहले तो टालने का प्रयास किया, पर जब वे आग्रह करने लगे, तो पूछ लिया—‘अच्छा, बताओ तुम संज्ञी हो या असंज्ञी?’

मुनि—‘संज्ञी।’

स्वामीजी—‘किस न्याय से?’

मुनि—‘नहीं-नहीं भीखण्णजी! मेरे कहने में गलती हो गई। मैं तो असंज्ञी हूँ।’

स्वामीजी—‘किस न्याय से?’

दोनों बार ही जब स्वामीजी ने न्याय पूछा, तो वे समझे कि संभवतः मेरे पूर्वोक्त दोनों ही कथन गलत थे। अबकी बार उस गलती को सुधारते हुए बोले—‘मैं तो संज्ञी या असंज्ञी दोनों ही नहीं हूँ।’

स्वामीजी—‘दोनों ही क्यों नहीं हो, इसका भी न्याय बतलाना होगा।’

वे क्रुद्ध होकर बोले—‘तुमने न्याय-न्याय की रट लगाकर हमारे सारे मत को ही बिखेर दिया।’

और वे स्वामीजी की छाती पर मुक्का मारकर चलते बने।¹

घोड़े के कितने पैर

स्वामीजी चर्चा में किसी से हारते नहीं थे, अतः कुछ व्यक्तियों ने षड्यंत्र रचकर उन्हें हराने की बात सोची। वे उनके पास आये और पूछने लगे—‘भीखण्णजी! घोड़े के कितने पैर होते हैं?’

स्वामीजी ने प्रश्न के पीछे छिपी दुरभिसन्धि को तत्काल भांप लिया। वे जरा सोचकर और जोर से एक, दो, तीन, चार—यों गिनकर बोले—‘चार होते हैं।’

वे व्यक्ति स्वामीजी के उत्तर देने के उस विचित्र ढंग को न समझने के कारण बोले—‘इस प्रश्न के उत्तर में इतनी देर तक सोचने और गिनने की क्या बात थी?’

स्वामीजी ने कहा—‘इसमें तो इतनी सोचने और गिनने की कोई बात नहीं थी, पर तुम इसके पश्चात् मुझसे कनखजूरे के पैरों की संख्या भी पूछ सकते हो। इसका चट से उत्तर दूँ और उसमें अटकूँ, इससे तो अच्छा यही है कि इसका गिनकर उत्तर दूँ, तो अगले के लिए भी गिनने का अवसर रह जाए।’

स्वामीजी के इस कथन पर वे व्यक्ति चकित होकर बोले—‘भीखण्णजी! आप वस्तुतः ही अपराजेय हैं। हम जो सोचकर आये थे, वह आपने बिल्कुल ठीक रूप से पहले ही भांप लिया।’

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 47।

5. समझाने की उत्तम पद्धति

अपच न होने पाये

स्वामीजी का किसी व्यक्ति को समझाने का प्रकार भी अपना पृथक् ही था। बहुत-सी बातों को वे दृष्टान्त देकर इतने सरल ढंग से समझा देते कि लोग आश्चर्यचकित रह जाते। दूसरा व्यक्ति परिश्रम कर लेने पर भी जो तत्त्व किसी के गले नहीं उतार पाता, स्वामीजी उसे सहज रूप में समझा देते। वे जैसी और जितनी समझ का व्यक्ति देखते, वैसी और उतनी ही मात्रा की बात कहा करते, ताकि समझने वाले को विचारों का अपच न होने पाये।

जैसा रोग वैसी औषधि

स्वामीजी वैद्य के समान थे। जैसा रोग देखते, उसी के अनुरूप औषधि का प्रयोग करते। किसी-किसी को तो वे अत्यन्त सौम्य दृष्टान्त से समझा दिया करते, पर कभी-कभी उनके दृष्टान्त बहुत कड़े हो जाया करते थे। इस विषय में एक भाई ने स्वामीजी से पूछा—‘स्वामीजी! आप इतने कड़े दृष्टान्त क्यों देते हैं?’

स्वामीजी ने अपनी उस विशिष्ट पद्धति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—‘साधारण खाज तो खुजाने मात्र से मिट जाती है, पर गंभीर वायु का रोग ऐसे नहीं मिटता। उसके लिए तो शरीर के अवयव-विशेष को अग्नि से लाल हुई हलवानी (कुश) से दागना आवश्यक हो जाता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व का रोग भी अत्यन्त भयंकर होता है। कभी-कभी मुझे कड़े दृष्टान्तों के द्वारा ही उसका शमन करना पड़ता है।’¹

गाय को क्या खिलाती हो?

काफरला गांव में साधु गोचरी गये। वहां एक जाटणी के घर पर धोवन का प्रासुक पानी था, पर वह देना नहीं चाहती थी। सन्तों ने उसे समझाने का बहुत प्रयास किया, पर सारा निष्फल ही सिद्ध हुआ। न देने में उसका तर्क यह था कि जो व्यक्ति जैसा देता है, वैसा ही आगे पाता है, अतः यदि मैं आपको धोवन दूंगी, तो मुझे भी आगे वही मिलेगा। मेरे से वह किसी भी प्रकार से नहीं पीया जायेगा।

सन्तों को पानी की आवश्यकता थी और पानी विद्यमान था, पर जाटणी दे नहीं रही थी। निरुपाय होकर वे वापस आ गये। उन्होंने जब वह सारी स्थिति स्वामीजी को बतलाई, तो वे बोले—‘चलो, मैं चलकर समझाता हूँ।’ उन्होंने जाटणी को प्रासुक पानी देने के लिये कहा, तो उसने अपना वही तर्क ‘जैसा देता है, वैसा ही पाता है’ दुहरा कर पानी देने से इनकार कर दिया।

स्वामीजी ने कहा—‘तुम अपनी गाय को क्या खिलाती हो?’

जाटणी—‘घास-फूस’।

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 69।

स्वामीजी—‘तो क्या गाय तुम्हें वापस घास-फूस ही देती है?’

जाटणी—‘नहीं, वह तो दूध देती है।’

स्वामीजी—‘तो फिर तुम यह कैसे कहती हो कि ‘जैसा देता है, वैसा ही पाता है।’

जाटणी के मस्तिष्क में यह बात झट से बैठ गई। उसने बड़ी प्रसन्नता से वह प्रासुक पानी स्वामीजी को दिया।¹

ज्ञान भी तो चारा बन गया

बूंदी में सवाईरामजी ओस्तवाल स्वामीजी से धर्म-चर्चा कर रहे थे। आचार, विचार, दान, दया, आज्ञा, अनाज्ञा आदि अनेक विषयों पर बहुत समय तक चर्चा कर लेने के पश्चात् भी जब उन्होंने बात का क्रम समाप्त नहीं किया, तो स्वामीजी ने कहा—‘गाय-भैंस के सामने जब चारा अधिक डाल दिया जाता है, तो वे उसे अधिक बिखेरती हैं, अतः आज जितनी चर्चा की है, पहले उसे हृदयंगम कर लो, आगे की चर्चा उसके पश्चात् करेंगे।’

सवाईरामजी कुछ अप्रसन्न होकर बोले—‘आपने तो मुझे पशु समझा है, तब फिर और चर्चा क्या करनी है।’

स्वामीजी ने उनकी अप्रसन्नता का उन्मूलन करते हुए कहा—‘यदि इस प्रकार उपमा देने मात्र से तुम पशु बन गये, तो साथ ही साथ मेरा ज्ञान भी चारा बन गया।’

यह सुनकर वे प्रसन्न हो उठे। स्वामीजी का ज्ञान यदि चारा बनता हो, तो उसे चरने के लिए पशु बनना उन्हें बिलकुल ही नहीं अखरा।²

साधु कौन और ढोंगी कौन?

किसी व्यक्ति ने स्वामीजी से पूछा—‘संसार में साधु का वेष पहनने वालों की संख्या बहुत है। उनमें सच्चे कौन हैं और ढोंगी कौन?’

स्वामीजी ने कहा—‘किसी वैद्य से एक अचक्षु व्यक्ति ने पूछा—इस नगर में नंगे कितने हैं और सवस्त्र कितने? वैद्य ने कहा—उनकी गिनती करना मेरा काम नहीं है। मैं औषधि के द्वारा तुम्हारी दृष्टि ठीक कर देता हूं, फिर तुम स्वयं गिन लेना। इसी प्रकार व्यक्तिशः किसी के विषय में कुछ कहना मेरे लिए उचित नहीं। मैं साधु के लक्षण बतलाकर तुम्हें दृष्टि प्रदान कर सकता हूं, फिर साधु और असाधु के विषय में जांच तुम स्वयं कर लेना।’³

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 34।

2. वही, दृ. 1।

(क) प्र.प.सं. पत्र 28 पर उक्त घटना प्रकारान्तर से दी है—स्वामीजी व्याख्यान समाप्त करने लगे, तब सवाईरामजी ने थोड़ी देर और सुनाने के लिए कहा। स्वामीजी बोले—‘धोड़े को अधिक घास डाला जायेगा, तो वह अधिक बिखेरेगा।’ क्षुब्ध होकर सवाईरामजी जाने को उद्यत हुए और बोले कि आप तो हमें पशु समझ रहे हैं। स्वामीजी ने कहा—‘तुलना मात्र से यदि तुम पशु बन गये, तो क्या मेरा ज्ञान घास नहीं बना?’ तब वे प्रसन्न हो गये।

3. वही, दृ. 99।

साहूकार और दिवालिया

एक बार उपर्युक्त प्रश्न एक अन्य भाई ने भी स्वामीजी से किया था। तब उन्होंने दूसरी प्रकार से वही तत्त्व यों समझाया—‘रूपये उधार लेकर जो व्यक्ति सम्मान सहित वापस चुका देता है, वह साहूकार होता है और जो नहीं चुकाता तथा मांगने पर झगड़ा करता है, वह दिवालिया होता है।’ इस लक्षण के आधार पर नगर के किसी भी व्यक्ति का परीक्षण किया जा सकता है। इसी तरह जो व्यक्ति ग्रहण किये हुए पांचों महाब्रतों को निष्ठापूर्वक पालता है, वह साधु होता है और जो उन्हें नहीं पालता वह असाधु। इस लक्षण के आधार पर तुम किसी भी साधु के लिए निर्णय कर सकते हो।’¹

एक टोला शेष रहा

पादू के उपाश्रय में स्वामीजी ठहरे हुए थे। वे गोचरी जाने की तैयारी कर रहे थे, तभी अन्य सम्प्रदाय के दो साधु ‘भीखणजी कहां हैं? भीखणजी कहां हैं?’—इस प्रकार पूछते हुए आए।

स्वामीजी ने कहा—‘कहिए! क्या काम है? मेरा ही नाम भीखण है।’

आगन्तुक साधु बोले—‘आपका बहुत नाम सुना है, अतः बहुत दिनों से देखने की इच्छा थी।’

स्वामीजी—‘आज वह इच्छा तो पूरी हो गई। अब और कुछ कहना हो तो कहिए।’

आगन्तुक—‘भीखणजी! आपने अन्य सब कार्य तो अच्छे ही किए, पर एक यह कार्य अच्छा नहीं किया कि हम बाईंसटोला के साधुओं को आप असाधु कहते हैं।’

स्वामीजी—‘आप किस टोले के साधु हैं?’

आगन्तुक—‘सामीदासजी के।’

स्वामीजी—‘आपके टोले में एक लिखित मर्यादा है, जिसमें लिखा है कि अन्य इक्कीस टोले का कोई साधु इस टोले में आना चाहे, तो उसे नयी दीक्षा देकर ही सम्मिलित किया जाए। क्या आप उक्त मर्यादा को जानते हैं?’

आगन्तुक—‘हाँ, जानते हैं।’

स्वामीजी—‘इस हिसाब से इक्कीस टोले के साधुओं को स्वयं आप लोगों ने ही असाधु ठहरा दिया। अन्यथा नयी दीक्षा की आवश्यकता क्यों होती? अब केवल आपके टोले की ही बात रही। उसे इस प्रकार समझिए—भगवान् ने कहा है कि बेले का प्रायश्चित्त आता हो, उसे यदि तेला दिया जाए तो देने वाला उतने ही प्रायश्चित्त का भागी होता है। इस हिसाब से यदि आप अन्य टोले वालों को साधु मानते हैं और अपने में सम्मिलित करते समय नयी साधुता देते हैं, तो स्वयं नयी साधुता के भागी बनते हैं। अब आप स्वयं ही सोचिए कि क्या स्वयं आपकी मर्यादा से ही आपका टोला असाधु सिद्ध नहीं हो जाता?’

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 100।

आगन्तुक दोनों साधु कहने लगे—‘भीखण्णजी! आपकी बुद्धि बड़ी तेज है। आपने हमारी मर्यादा से ही हमें असाधु सिद्ध कर दिया।’¹

वस्त्र रखने में दोष नहीं

स्वामीजी ढूँढाड़ में विहार कर रहे थे। एक गांव में दिगम्बर श्रावक चर्चा करने के लिए आये। वे स्वामीजी से कहने लगे—‘मुनि को तार मात्र भी वस्त्र रखना नहीं कल्पता। जो परीषह सहने में असमर्थ होते हैं, वे ही वस्त्र रखते हैं।’

स्वामीजी—‘परीषह कितने हैं?’

श्रावक—‘बाईस।’

स्वामीजी—‘पहला परीषह कौन-सा है?’

श्रावक—‘क्षुधा।’

स्वामीजी—‘दिगम्बर मुनि आहार करते हैं कि नहीं?’

श्रावक—‘एक समय करते हैं।’

स्वामीजी—‘तुम्हारे हिसाब से वह प्रथम परीषह सहने में असमर्थ हैं?’

श्रावक—‘आहार तो भूख लगने पर करते हैं।’

स्वामीजी ने उन लोगों से फिर पूछा—‘दिगम्बर मुनि पानी पीते हैं कि नहीं?’

श्रावक—‘तृष्णा शान्त करने के लिए पीते हैं।’

स्वामीजी—‘हम भी शीत आदि शांत करने के लिए वस्त्र ओढ़ते हैं। अब तुम ही बतलाओ कि भूख मिटाने के लिए अन्न और प्यास मिटाने के लिए पानी का प्रयोग करने पर यदि तुम्हारे मुनि परीषह सहने में अक्षम नहीं माने जाते, तब शीतादि मिटाने के लिए वस्त्र का प्रयोग करने पर हमें कैसे अक्षम कहते हो?’

श्रावक जन तुलनात्मक समाधान पाकर निरुत्तर हो गये।²

चौका और मस्तक

स्वामीजी माधोपुर पधारे, तब अनेक भाइयों ने तत्त्व को समझा और गुरु-धारणा की। स्वामीजी उन घरों में गोचरी जाते, तब भाई तो आग्रहपूर्वक ले जाते, पर उनकी स्त्रियां चौके में आने से रोक देतीं।

भाइयों ने अनेक बार स्वामीजी से कहा—‘महाराज! स्त्रियों को हमने कई प्रकार से समझाया, परन्तु चौके में आने देने की बात पर वे सहमत नहीं होतीं। आप कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे यह बात उनके मस्तिष्क में उतरे।’

1. मिक्खु-दृष्ट्यान्त, दृ. 10।

2. वही, दृ. 30।

स्वामीजी ने कहा—‘शरीर में सबसे ऊपर कौन-सा अंग है।’

भाई—‘मस्तक।’

स्वामीजी—‘और सबसे नीचे?’

भाई—‘पैर।’

स्वामीजी ने कहा—‘तुम लोग अपने घर की स्त्रियों को समझाओ कि जब हम अपने सबसे उत्तम अंग मस्तक को उनके सबसे नीचे अंग पैरों में रखते हैं, तब चौका कौनसी गिनती में आता है? क्या वह हमारे मस्तक से भी अधिक पवित्र है?’

भाईयों ने जब उक्त प्रकार से स्त्रियों को समझाया, तो वह बात तत्काल उनके मस्तिष्क में बैठ गई। फिर कभी उन्होंने सन्तों को चौके में जाने से नहीं रोका।¹

सात या आठ आत्मा

माधोपुर के तत्त्वज्ञ श्रावक गूजरमलजी और केसूरामजी एक दिन तत्त्व-चर्चा करते हुए झगड़ पड़े। गूजरमलजी श्रावक में आठ आत्मा बतलाते थे, तो केसूरामजी सात। केसूरामजी श्रावक में चारित्र आत्मा स्वीकार नहीं करते थे। उनके विपरीत गूजरमलजी का कथन था कि श्रावक में चारित्र आत्मा न हो, तो किसी एक वस्तु के त्याग से लेकर बारह व्रतों के धारण करने तक का कार्य निरर्थक हो जाएगा। दोनों का मनभेद शीघ्र ही मनभेद में परिणत हो गया।

वि.सं. 1848 में स्वामीजी माधोपुर पधारे। दोनों श्रावक सेवा में उपस्थित हुए, पर स्वामीजी ने एकान्त में किसी से बात नहीं की। दोनों आमने-सामने बैठे, तब उन्होंने उनकी सारी बात सुनी और कहा—‘श्रावक जो भी त्याग करता है, वह देश चारित्र कहलाता है। आगम में चारित्र के पांच भेद बतलाए हैं, उनमें देश चारित्र को नहीं गिना गया है, इसीलिए पूर्ण चारित्र की अपेक्षा से श्रावक में चारित्र आत्मा नहीं मानी जाती।’

स्वामीजी के उक्त कथन से गूजरमलजी को वह तत्त्व हृदयंगम हो गया। केसूरामजी के साथ उनका मनभेद भी उसी के साथ समाप्त हो गया।²

पूर्वजों का अस्तित्व

एक बार केलवा के ठाकुर मोखमसिंहजी ने स्वामीजी से पूछा—‘आप आगम सुनाते हैं, उसमें भूत और भविष्य सम्बन्धी अनेक घटनाएं आती हैं, परन्तु उन्हें किसी ने देखा नहीं है, अतः वे सत्य हैं या नहीं, इसका निर्णय कैसे हो?’

स्वामीजी ने कहा—‘तुम अपने पूर्वजों के नाम तथा उनके जीवन-सम्बन्धी अनेक घटनाएं जानते हो, परन्तु उनको तुमने देखा नहीं है, तब उनकी सत्यता पर कैसे विश्वास करते हो?’

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 33।

2. वही, दृ. 51।

ठाकुर बोले—‘पूर्वजों के नाम तथा उनकी जीवनियां भाटों की पुस्तकों में लिखी हुई हैं, उन्हीं के आधार पर हम जानते हैं।’

स्वामीजी ने कहा—‘भाटों के असत्य बोलने तथा लिखने का त्याग नहीं है, फिर भी उनकी लिखी घटनाओं को सत्य मानते हो, तब ज्ञानियों द्वारा प्रस्तुपित शास्त्रों को सत्य मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।’

ठाकुर बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—‘प्रश्नों का ऐसा प्रभावशाली उत्तर देने वाला अच्युत कोई व्यक्ति मैंने नहीं देखा।’¹

मिश्री और सन्त

पीपाड़-निवासी चोथमलजी बोहरा ने पाली में कपड़े की दुकान की, उस वर्ष स्वामीजी का चतुर्मास पाली में था। चतुर्मास की समाप्ति पर चोथमलजी ने स्वामीजी को ‘बासती’ के दो थान दिए। स्वामीजी ने जब उनको स्वीकार कर लिया, तब चोथमलजी ने पूछा—‘भीखणजी! मैं आपको साधु नहीं मानता, फिर भी वस्त्र-दान किया है, मुझे इसका शुभ फल होगा या अशुभ?’

स्वामीजी ने कहा—‘किसी व्यक्ति ने विष समझकर मिश्री मुख में रख ली। वह उससे मरता है या नहीं?’

चोथमलजी बोले—‘नहीं मरता। मिश्री तो मुंह मीठा करती है।’

स्वामीजी ने निष्कर्ष की भाषा में कहा—‘संत मिश्री की तरह होते हैं। उन्हें कोई असाधु समझता है तो वह उसके ज्ञान की कमी है। पात्र-दान का फल सदा शुभ होता है।’²

नदी और कलियां

स्वामीजी के पास कई मूर्तिपूजक लोग आए और कहने लगे—‘भीखणजी! आप सन्तों को नदी पार करने में धर्म मानते हैं, तब पूजा के समय हम भगवान् को फूल चढ़ाते हैं, उसमें भी धर्म मानना चाहिए।’

स्वामीजी ने कहा—‘एक स्थान पर नदी में पानी कटि तक हो, दूसरे पर घुटने तक और तीसरे पर नदी सूखी हो, तो हम दो-चार कोस का घुमाव लेकर भी वहीं से पार होंगे जहां नदी सूखी है। इसी तरह मान लीजिए, एक ओर सूखे फूल पड़े हों, दूसरी ओर दो-तीन दिन के कुम्हलाये हुए और तीसरे स्थान पर पौधों पर लगी कलियां हों, तो आप भगवान् को कौन से फूल चढ़ाना पसन्द करेंगे?’

उन लोगों ने कहा—‘पौधों पर से नई कलियां तोड़कर चढ़ाएंगे। बासी तथा सूखे फूल चढ़ाना अनुपयुक्त है।’

1. मिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 88।

2. वही, दृ. 92।

स्वामीजी ने कहा—‘बस, आपमें और हमारे में यही भावों का अन्तर है। हमारे परिणाम पानी को बचाने के रहते हैं, जबकि आपके परिणाम कच्ची कलियां तोड़ने के।’¹

शाह और साधु

किसी ने पूछा—‘भीखण्णजी! तुम जिन्हें असाधु मानते हो, उन्हीं को ‘अमुक साधु’ कहकर क्यों पुकारते हो?’

स्वामीजी ने कहा—‘किसी ने दिवाला निकाल दिया हो, फिर भी विशेष अवसर पर उसकी ओर से जब गांव में निमन्त्रण दिया जाता है, तब यही कहा जाता है कि आज अमुक शाह के घर का निमन्त्रण है। इसी तरह साधुत्व न पालने पर भी द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा से उसे साधु कहा जाता है।’²

तो संवर कर ले

हूँढ़ाड़ का एक श्रावक शंकाशील हो गया। संघ से पृथक् हुए मुनि वीरभाणजी ने स्वामीजी के विषय में अनेक असत्य बातें कहकर उसे भ्रांत बना दिया था। कालान्तर में जब स्वामीजी उधर पधारे, तब वह आया तो सही, पर नमस्कार नहीं किया। स्वामीजी ने उसे सामायिक करने के लिए कहा, तो बोला—‘सामायिक तो मैं नहीं करूँगा, क्योंकि सम्भव है बातचीत करते समय मेरे मुंह से आपके लिए ‘स्वामीजी’ शब्द का प्रयोग हो जाये, तो मुझे सामायिक में दोष लगे।’

स्वामीजी ने कहा—‘एक मुहूर्त का संवर करले। उसमें तू यथावश्यक आगार खब सकता है।’

उसने तब संवर किया। स्वामीजी ने उसकी एक-एक शंका का समाधान किया। निस्संदेह होने पर अपने अविनय के लिए क्षमा मांगता हुआ वह स्वामीजी के पैरों में गिर पड़ा।³

कौन-सा खपरेल लायेगा

मुनि वेणीरामजी बाल्यावस्था में थे, तब एक दिन स्वामीजी से कहने लगे—‘हमें हिंगुल से पात्र नहीं रंगने चाहिए, क्योंकि रंग की सुन्दरता पात्र के प्रति ममत्व पैदा करती है।’

स्वामीजी ने कहा—‘हमें तो ऐसा अनुभव नहीं हुआ, तुम्हें होता हो तो मत रंगना।’

मुनि वेणीरामजी ने कहा—‘मैं खपरेल से रंगने का विचार करता हूँ।’

स्वामीजी ने कहा—‘खपरेल लेने जाओगे, तब यदि पहले पीले रंग का कच्चा खपरेल दिखाई दे, फिर उससे कुछ आगे लाल रंग का पक्का खपरेल दिखाई दे तो तुम कौनसा लोगे?’

1. भिक्खु-दृष्ट्यान्त, दृ. 97।

2. वही, दृ. 98।

3. वही, दृ. 155।

मुनि वेणीरामजी ने कहा—‘उनमें से तो लाल रंग वाला पक्का खपरेल ही लूँगा।’

स्वामीजी ने कहा—‘तब तुम्हारी भावना तो अच्छा रंग खोजने की ही रही। खपरेल में जब अच्छा रंग खोजते हो, तो मूल रंग को ही काम में लेने में क्या बाधा है? ममत्व तो मन का दोष है, रंग तथा सुन्दरता का नहीं।’

मुनि वेणीरामजी के मन में स्वामीजी की उक्त बात पूर्णरूपेण बैठ गई। उसके बाद उनको उस संदेह ने कभी नहीं सताया।¹

छह महीने बचे

वि. सं. 1853 के शेषकाल में स्वामीजी मांढ़ा पधारे। वहां गृहस्थावस्था में हेमजी ने सिरियारी से आकर दर्शन किये। दूसरे दिन प्रातः स्वामीजी ने कुशलपुर की ओर विहार किया तथा हेमजी नीमली के मार्ग से सिरियारी की ओर चल दिये। मार्ग में स्वामीजी को अच्छे शकुन नहीं हुए, अतः वे भी उस मार्ग को छोड़कर नीमली की ओर ही आ गये। हेमजी की गति मन्द थी और स्वामीजी की तेज, अतः पीछे से चलने पर भी वे उनसे आ मिले। स्वामीजी ने आवाज देते हुए कहा—‘हेमड़ा! हम भी इधर ही आ रहे हैं।’

हेमजी ने स्वामीजी को देखा, तो ठहरकर बन्दन किया और पूछा—‘आपने तो कुशलपुर की ओर विहार किया था, फिर इधर कैसे?’

स्वामीजी ने कहा—‘यही समझ ले कि आज तेरे लिए ही आये हैं।’

हेमजी ने कहा—‘बड़ी कृपा की।’

स्वामीजी बोले—‘तू लगभग तीन वर्ष से कह रहा है कि मेरी दीक्षा लेने की भावना है, पर अब अपना निश्चित निर्णय बतला कि मेरे जीते जी लेगा या मरने के पश्चात्?’

स्वामीजी की उक्त बात हेमजी के हृदय में चोट कर गयी। वे खिन्न होकर बोले—‘आप ऐसी बात क्यों कहते हैं? मेरे कथन की सत्यता में आपको शंका हो तो नौ वर्ष के पश्चात् अब्रह्मचर्य का त्याग करा दें।’

स्वामीजी ने त्याग करवा दिये और कहा—‘लगता है, विवाह करने की इच्छा से तूने ये नौ वर्ष रखे हैं। परन्तु तुझे यह समझ लेना चाहिए कि लगभग एक वर्ष विवाह होते-होते लग जाएगा। विवाह के पश्चात् यहां की प्रथा के अनुसार एक वर्ष तक स्त्री पीहर में रहेगी। इस प्रकार तेरे पास सात वर्ष का समय रहा। उसमें भी दिन के अब्रह्मचर्य का तुझे परित्याग है, अतः साढ़े तीन वर्ष ही रहे। इसके अतिरिक्त तुझे पांचों तिथियों के भी त्याग हैं। उन दिनों को बाद देने पर शेष दो वर्ष और चार महीने का समय ही बचता है। उन अवशिष्ट दिनों में भी सारा समय भोग-कार्य में नहीं लगता। प्रतिदिन घड़ी भर का समय गिना जाये, तो लगभग छह महीने का समय होता है। अब सोच कि केवल छह मास के भोग के लिए नौ वर्ष का संयम खो देना कौनसी बुद्धिमत्ता है? यदि एक-दो संतान हो

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 160।

140 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
जाए, तब फिर व्यक्ति उनके मोह में उलझ जाता है। उस स्थिति में संयम-ग्रहण करना
कठिन हो जाता है।'

स्वामीजी के उक्त लेखे-जोखे ने हेमजी की संयम-भावना को उद्दीप्त कर दिया
और उन्होंने उसी समय पूर्ण ब्रह्मचर्य स्वीकार कर लिया। कुछ दिनों के अनन्तर तो वे
प्रव्रजित ही हो गये।¹

ऊपर के चावल

एक व्यक्ति ने स्वामीजी के पास तत्त्व को समझा। दान, दया, श्रद्धा और आचार
सम्बन्धी मूलभूत तात्त्विक बातें उसकी समझ में आ गई। इतना होने पर भी वह अपने-
आप में निर्णीत नहीं हो पाया। उसका कथन था—‘स्वामीजी! यह सब तो आप जैसा कह
रहे हैं, वैसा ही है, पर कुछ बातें ऐसी भी हो सकती हैं, जो ठीक न हों।’

स्वामीजी ने कहा—‘जब मूलभूत बातें ठीक हैं, तब अन्य को भी उसी आधार पर
समझना चाहिए। चावल पके या नहीं, इसकी परीक्षा ऊपर के पांच-चार चावलों को
देखकर ही कर ली जाती है, नीचे के चावलों को देखने के लिए बर्तन के नीचे तक हाथ
डालना व्यर्थ तो है ही, मूर्खता भी है।’

स्वामीजी के उक्त कथन ने उसके विवेक को एक ही क्षण में जागरित कर दिया।
वह उसी क्षण से स्वामीजी का भक्त बन गया।²

कितना दण्ड

पीपाड़ में स्वामीजी ने किसी प्रसंग पर अग्रोक्त पद्य सुनाया :

अचित वस्त नै मोल लरावें, समिति-गुप्ति हुवें खंड।

महाब्रत तो पांचूर्द्ध भागें, चौमासी रो दण्ड॥³

पद्य सुनकर मोजीरामजी बोहरा ने अपने पुत्र जसराजजी से कहा—‘चल, यहां से
चलें। ये तो पूरा घर लूट लेने के पश्चात् दण्ड और करते हैं। जब पांचों ही महाब्रत भंग हो
गये, तब फिर चौमासी का दण्ड किस बात का है?’

स्वामीजी ने उनको समझाते हुए कहा—‘यहां मैंने महाब्रतों का पूर्ण भंग हो जाने
के बाद दण्ड नहीं कहा है, अपितु यह कहा है कि चातुर्मासिक दण्ड आये, उतना पांचों
महाब्रतों का भंग होता है।’

स्वामीजी के उक्त स्पष्टीकरण ने उनके भ्रम को दूर कर दिया।⁴

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 179।

2. वही, दृ. 268।

3. आचार की चौपई; 115।

4. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 284।

दया माता है

एक बार कुछ भाई स्वामीजी से चर्चा कर रहे थे। प्रसंगवश स्वामीजी ने कहा—‘धर्म तो दया में ही होता है, हिंसा में नहीं।’

वे लोग मूर्ति के सम्मुख पुष्प आदि चढ़ाने में धर्म मानते थे, अतः उक्त कथन को अपने पर आक्षेप समझकर क्रुद्ध हो गये। उनमें से एक तो आवेश-वश कह उठा—‘दया रांड घूरे पर पड़ी है, उसे पूछता कौन है? तुमने दया-दया का शोर मचाकर निरर्थक ही झगड़ा खड़ा कर रखा है।’

स्वामीजी ने कहा—‘दया तो हमारी माता है। उसका अपमान न करके सम्मान करना चाहिए।’ उन्होंने दृष्टान्त के द्वारा समझाते हुए कहा—‘एक साहूकार दिवंगत हुआ। उसके पुत्रों में जो सपूत थे, वे अपनी माता का विनय करते और आदर-भाव रखते। इसके विपरीत जो कपूत थे, वे हर समय अविनय करते और ‘रांड’ आदि अपमानजनक शब्द बोलते रहते। इसी तरह कहा जा सकता है कि दया के स्वामी भगवान् महावीर मुक्ति-गामी हो गये। पीछे पुत्र-रूप में चतुर्विध संघ रहा। उनमें जो सपूत हैं, वे दया माता का आदर तथा सुरक्षा करते हैं। जो कपूत हैं, वे उसकी अवज्ञा करते हैं तथा अपशब्द कहते हैं।’

उक्त दृष्टान्त को सुनकर वे लोग बड़े लज्जित हुए और चुपचाप वहां से चल दिये¹

ऐसे ही समझदार

आउवा के उत्तमोजी ईशानी मूर्तिपूजक मान्यता के थे। उन्होंने स्वामीजी से कहा—‘भीखण्णजी! आप मंदिर का खंडन तो करते हैं, पर यह क्यों नहीं देखते कि बड़े-बड़े लखपतियों-करोड़पतियों ने मंदिर बनवाये हैं। वे सब अज्ञानी थोड़े ही थे?’

स्वामीजी—‘यदि तुम्हारे पास पचास हजार रुपये हो जायें, तो तुम मन्दिर बनवाओ कि नहीं?’

उत्तमोजी—‘अवश्य बनवाऊँ।’

स्वामीजी—‘तुम्हारे में जीव का भेद कौन-सा है? गुणस्थान कौन-सा है? योग तथा उपयोग कितने हैं?’

उत्तमोजी—‘यह तो मैं नहीं जानता।’

स्वामीजी—‘तो उस समय के धनिक भी ऐसे ही समझदार रहे होंगे। धन हो जाने मात्र से तत्त्व का ज्ञान नहीं हो जाता।’²

1. घिकखु-दृष्टान्त, दृ. 279।

2. वही, दृ. 39।

6. न्याय के विचित्र प्रकार

न्याय की तुला पर

स्वामीजी एक न्यायप्रिय एवं नीति-परायण आचार्य थे। व्यक्तियों का पारस्परिक मनोमालिन्य मिटाकर उनमें सद्भाव उत्पन्न करना उन्हें खूब आता था। पक्षपात सदैव न्याय और नीति का प्रतिपक्ष रहा है। स्वामीजी उसे कभी प्रश्न नहीं देते थे। यद्यपि छङ्गस्थावस्था के कारण मनुष्य राग और द्रेष से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाता, फिर भी स्वामीजी जैसे कुछ ऐसे महान् व्यक्ति होते हैं, जो अपने मानसिक संतुलन को किसी भी स्थिति में डिग्ने नहीं देते। स्वामीजी तर्कों के आधार पर नहीं, वास्तविकता के आधार पर न्याय किया करते थे। हर घटना को न्याय की तुला पर पूरा-पूरा तोलते थे।

कभी-कभी स्वामीजी का न्याय इतना विचित्र और प्रभावशाली होता था कि झगड़ने वाले स्वयं ही लज्जित होकर झगड़े से विरत हो जाया करते। वे किसी व्यक्ति को साधारण बातों पर झगड़ते देखना नहीं चाहते थे। अपने संघ के साधु-साधियों के लिए तो उन्होंने मर्यादा बनाते समय यहां तक लिख दिया कि यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे चलने, बोलने तथा प्रतिलेखन करने आदि की दैनिक क्रियाओं में सच्ची तथा झूठी भी त्रुटि निकाले, तो तुम उसका प्रतिवाद मत करो। आगे के लिए उस विषय में अधिक सावधान रहने का ही विचार व्यक्त करो। साधारण बातों को लेकर छङ्गस्थता के कारण यदि साधुजनों में कोई खिंचाव हो जाता, तो स्वामीजी का न्याय उन्हें आत्म-चिन्तन की ओर प्रेरित करने वाला होता।

रस्सी से नाप आओ

एक बार दो संतों में परस्पर विवाद हो गया। एक ने कहा—‘तुम गोचरी से आ रहे थे, तब तुम्हारे पात्र में से इतनी दूर तक पानी के टपके गिरते रहे।’

दूसरे ने कहा—‘टपके तो गिरे थे, पर तुम कहते हो उतनी दूर तक नहीं, उससे बहुत कम दूर तक गिरे थे।’

दोनों ही स्वामीजी के पास पुकार लेकर आये। एक कहता था—‘इसके पात्र से इतनी दूर तक टपके गिरे थे।’ दूसरा कहता था—‘यह बढ़ा-चढ़ा कर बतला रहा है। इतनी दूर से बहुत कम थे।’

स्वामीजी ने दोनों को समझाते हुए कहा—‘टपके गिरे थे, यह तो तुम दोनों ही कह रहे हो। तब फिर दूरी का क्या झगड़ा है? उसके विषय में तो दोनों का अपना-अपना अनुमान ही तो है।’

इस पर भी वे अपने-अपने कथन को ही सिद्ध करने पर तुले रहे। स्वामीजी ने कहा—‘तुम्हें अपने-अपने अनुमान की सच्चाई का इतना अधिक विश्वास है, तब क्यों न उसकी परीक्षा कर ली जाए? तुम दोनों ही एक रस्सी लेकर जाओ और उस स्थान को नाप आओ, ताकि हमें भी पता रहे कि किसका अनुमान पूर्ण सत्य निकलता है।’

रस्सी लेकर नापने की आज्ञा ने दोनों की व्यावहारिकता को जगा दिया। वे दोनों ही लज्जित हो गये। परस्पर क्षमा-याचना करते हुए उन्होंने अपना विवाद वहीं समाप्त कर दिया।¹

लोलुप कौन?

लोलुपता के विषय में किन्हीं दो संतों में परस्पर विवाद हो गया। एक ने कहा—‘तुम लोलुप हो।’ दूसरे ने कहा—‘तुम लोलुप हो।’ आखिर उस विवादास्पद विषय को लेकर वे स्वामीजी के पास न्याय कराने के लिए आये।

स्वामीजी ने दोनों को समझाते हुए कहा—‘हर एक व्यक्ति को स्वाद पर विजय पानी चाहिए, फिर भी जब तक छवस्थता है, तब तक विभिन्न अवसरों पर हर किसी की लोलुपता उभर सकती है।’

इतने पर भी उन दोनों का विवाद शान्त नहीं हुआ और वे एक-दूसरे को ही लोलुप सिद्ध करने का प्रयास करते रहे। स्वामीजी ने तब कहा—‘तुम दोनों मेरी आज्ञा का आगार रखकर ‘विगय’ का परित्याग कर दो। जो व्यक्ति पहले आज्ञा मांगेगा, वही दूसरे की अपेक्षा अधिक लोलुप समझा जायेगा।’

दोनों ने उस आदेश को मान लिया और आज्ञा का आगार रखकर ‘विगय’ का परित्याग कर दिया। लगभग चार महीने तक ‘विगय’ टालने के पश्चात् उनमें से एक ने आकर आज्ञा मांगी। स्वामीजी ने उसे आज्ञा दी, तब दूसरे को भी पूर्व निर्णय के अनुसार स्वतः ही आज्ञा हो गयी। पहले आज्ञा मांगने वाले ने अपेक्षाकृत अपनी अधिक लोलुपता को बिना किसी दबाव या कहे-सुने स्वयं ही मान लिया।²

7. आचार-हीनता के विरोधी

कहो साधु किसका सगा?

विभिन्न देशों, विभिन्न जातियों और विभिन्न प्रकृतियों के व्यक्ति संघम ग्रहण करके एक संघ में रहते हैं, तब उनके एकत्व का माध्यम एकमात्र आगम-निर्दिष्ट आचार ही होता है। उनका पारस्परिक स्नेह-भाव भी मोह-भाव न होकर केवल आचार-ऐक्य का प्रतीक ही होता है। किसी एक भी आचारहीन व्यक्ति को संघ में महत्व प्रदान करना, सारे संघ की प्रतिष्ठा को विनष्ट कर देना है। स्वामीजी इस विषय में अत्यन्त सावधान थे। उनका कहना था :

कहो साधु किसका सगा, तटकै तौड़े नेह।
आचार स्युं हिलमिलै, अणाचारी सूं छेह॥³

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 167।

2. वही, दृ. 168।

3. आचार की चौपई, 111।

वे शुद्ध आचार के ही पक्षपाती थे। आचारहीनता को कभी सहन नहीं करते थे। उन्होंने अपने संघ के अनेक साधुओं तथा आर्याओं को इसीलिए पृथक् कर दिया था कि वे आचार में परिपूर्ण नहीं थे। उस समय उनके पास साधु-साध्वियों की संख्या बहुत कम थी, किन्तु उन्होंने उसकी कोई परवाह नहीं की।

पांच का सम्बन्ध-विच्छेद

चंडावल में फत्तूजी आदि पांच आर्याओं को स्वामीजी ने कहा—‘आवश्यकतानुसार कपड़ा ले लो।’ उन्होंने जितनी आवश्यकता बतलाई, स्वामीजी ने उतना कपड़ा दे दिया। वे उसे लेकर अपने स्थान पर चली गई। पीछे से स्वामीजी को संदेह हुआ कि कहीं उन्होंने कल्प से अधिक कपड़ा तो नहीं ले लिया? तत्काल मुनि अखैरामजी को भेजकर साध्वियों से वह कपड़ा वापस मंगवाया और उसे नापा। वह कल्प से अधिक निकला। स्वामीजी ने तब उन्हें उपालम्भ तो दिया ही, पर आगामी काल के लिये भी कल्प-विषयक अप्रतीति हो जाने के कारण पांचों को अपने संघ से पृथक् कर दिया।¹

रातभर पीसा

आचारहीन साधुओं और श्रावकों के लिए स्वामीजी का कथन था कि जिस प्रकार आंधी से बचाव किये बिना घट्टी पीसने बैठे, तो रात भर पीसने के पश्चात् भी उसके हाथ विशेष आटा नहीं लगता, उसी प्रकार दोषों से बचाव किये बिना कोई भी साधु या श्रावक अपने ब्रतों का विशेष लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो केवल ‘रात भर पीसा, ढकनी में उसेरा’ वाली कहावत ही चरितार्थ करता है।²

सब काला ही काला

आचारहीन और सम्यक्त्वहीन व्यक्ति स्वामीजी द्वारा की गई समीक्षाओं से बौखलाकर कहते—‘भीखण्णजी हमारा समर्थन नहीं करके केवल विरोध ही क्यों करते हैं? उन्हें यदि हमारी कुछ बातें अच्छी नहीं लगतीं, तो उनको टाल देना चाहिए।’

स्वामीजी ने उदाहरण देते हुए कहा—‘एक बार कुछ अन्धों ने मिलकर गोठ करने का विचार किया। उसके लिए अमावस की रात्रि का समय उपयुक्त समझा गया। कोयलों को पीसकर आटे की जगह काम में लिया गया। उसे काली हाँड़ी में डालकर राब बनाई गई। बनाने वाले तो अन्धे थे ही, पर खाने और परोसने वाले भी सब अन्धे ही थे। जब सब अपनी-अपनी थाली को सामने लेकर खाने बैठे, तब खंखारा करते हुए एक-दूसरे को कहने लगे—‘सावधान! कोई काला-कलूटा न आ जाये, सब कोई ध्यान रखकर उसे टालते रहना।’ अब बताओ, उसमें से क्या टाले और क्या न टाले? इसी प्रकार जहां न आचार-विशुद्धि पर ध्यान दिया जाता है और न सम्यक्त्व-शुद्धि पर, वहां तो सब काला ही काला एकत्रित हो जाता है। उसमें से क्या टालें और क्या न टालें?’³

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 154।

2. वही, दृ. 175।

3. वही, दृ. 173।

स्थानकवासी श्रावक अपने किसी साधु की गलती पर रुष्ट होकर स्वामीजी से कहने लगे—‘भीखण्डजी! तुम इस घटना का तार निकालो।’

स्वामीजी ने कहा—‘जिन्हें बड़े-बड़े शहतीर भी दिखाई नहीं देते, उन्हें तार क्या दिखाई देगा? अभी तुम लोगों को उद्दिष्ट स्थानक आदि के बड़े दोष भी ध्यान में नहीं आ रहे हैं, तो फिर दूसरे छोटे दोषों का पता कैसे लग सकता है?’¹

लड़का और सगाई

स्वामीजी साधुओं के निमित्त बनाये गये स्थान में ठहरने को सदोष माना करते थे। आगमिक आधार पर वे उसे आचारहीनता का प्रतीक मानते थे, अतः जहाँ भी अवसर होता, उसका खंडन किया करते। उनके मन्तव्य तथा उक्तियों से तिलमिलाकर एक बार एक मुनि ने कहा—‘भीखण्डजी! आप झूटमूठ ही हम लोगों पर दोष मढ़ रहे हैं। हम कब कहते हैं कि हमारे लिए स्थानक बनाओ।’

स्वामीजी ने कहा—‘लड़का कब कहता है कि मेरी सगाई कर दो, किन्तु जब सगाई की जाती है तब मन-ही-मन प्रसन्न होता है। उसके पश्चात् विवाह उसी का होता है, पत्नी उसी के आती है और घर उसी का बसता है। यह सब उसे स्वीकार्य होता है, तब स्वतः सिद्ध है कि सगाई भी उसे स्वीकार थी। इसी तरह यदि यह सही मान लें कि आप लोग स्थान बनाने के लिए नहीं कहते, फिर भी बनता है तो प्रसन्न होते हैं, हमारे लिए बना है—यह जान लेने पर भी उसमें ठहरते हैं। आप लोगों के नाम पर आधारित वह अमुक महाराज का स्थानक कहलाता है। इन सब कारणों के रहते आप उद्दिष्ट दोष से मुक्त कैसे हो सकते हैं?’²

जमाई और हलुआ

एक बार उपर्युक्त कथन का उत्तर देते हुए स्वामीजी ने यह उदाहरण भी दिया था—‘जमाई ससुराल जाता है, तब वहां यह नहीं कहता कि मेरे लिए हलुआ बनाओ। परन्तु जब हलुआ बनाया जाता है तो वह उसे बड़ी प्रसन्नता से खा लेता है। इसीलिए ससुराल वाले आवश्यकता होने पर फिर उसके लिए हलुआ बनाते हैं। यदि वह उसका परित्याग कर देता है, तो उसके लिए हलुआ बनाना बन्द कर दिया जाता है। इसी प्रकार यदि कोई साधु स्थानक बनाने के पश्चात् उसमें रहने लगते हैं, तो उनके लिए आगे-से-आगे स्थानक बनते रहते हैं। परन्तु यदि वे स्थानक में रहना त्याग दें, तो फिर स्थानक बनने भी स्वतः ही बन्द हो जायें।’³

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 174।

2. वही, दृ. 63।

3. वही, दृ. 64।

8. आचार-निष्ठ व्यक्तित्व

पूर्ण जागरूक

स्वामीजी एक परिपूर्ण आचारनिष्ठ व्यक्ति थे। इसीलिए वे आजीवन आचार की शिथिलता के विरुद्ध अपनी सारी शक्ति लगाकर ज़ूझते रहे। वे जानते थे कि ऐसा करने पर वे लोग उनके विरुद्ध हो जायेंगे, जो आचार-पालन में ढिलाई रखते हैं। वे यह भी जानते थे कि कुछ लोग चिढ़कर अपने सुधार की अपेक्षा उनको कोसने में ही अधिक तत्पर हो जायेंगे तथा उनकी हर छोटी-से-छोटी क्रिया पर ध्यान रखकर उसमें त्रुटि खोजने का प्रयास करेंगे। परन्तु उन्हें उन सब स्थितियों का कोई भय नहीं था। वे स्वयं में परिपूर्ण जागरूक थे।

दूसरे की आलोचना करने वाला या त्रुटि बतलाने वाला यदि स्वयं अपनी सावधानी नहीं रखता हो, तो उसके कथन का दूसरों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। स्वामीजी इतने सावधान रहते थे कि जहां थोड़ी-सी भी शंका का स्थान होता, वहां वे आवश्यक होने पर भी उस काम को नहीं करते। इसीलिए वे दूसरों को बेधड़क सावधान किया करते थे और दूसरे उनकी ओर कहीं अंगुली उठाने का भी अवसर नहीं पाते थे।

व्यक्तिगत भी नहीं लेंगे

रींया के सेठ हरजीमलजी धनाढ़य व्यक्ति थे। विभिन्न सम्प्रदायों के साधुओं को उन्होंने अनेक बार कपड़े का दान दिया था। एक बार स्वामीजी से भी उन्होंने कपड़े की प्रार्थना की।

स्वामीजी ने कहा—‘तुम संतों के लिए कपड़ा मोल लेते हो, अतः हमें वह नहीं कल्पता।’

सेठ—‘दूसरे संत तो ले लेते हैं। इसमें क्या कोई दोष लगता है?’

स्वामीजी—‘यह तो उन लेने वालों से ही पूछना।’

सेठ—‘तो आप मेरे व्यक्तिगत कपड़े में से कुछ ले लें।’

स्वामीजी—‘हाँ, वह हमें कल्पता है, किन्तु हम उसमें से भी नहीं लेंगे, क्योंकि लोग तो यही समझेंगे कि तुम्हारे यहां से दूसरे साधु भी कपड़ा ले गये थे और भीखणजी भी ले गये। यह तार कौन निकालेगा कि भीखणजी उनके व्यक्तिगत कपड़ों में से ले गये, जो कि साधुओं के लिए खरीदा नहीं गया था।’¹

पात्र दिखलाओ

एक बार स्वामीजी किशनगढ़ में पांडियों के वास में गोचरी पधारे। वहां एक घर में मृत्यु-भोज था। अन्य संप्रदाय के साधु ऐसे अवसरों पर उस घर की गोचरी किया करते थे, परन्तु स्वामीजी उसका निषेध करते थे।

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 25।

अन्य सम्प्रदाय के एक मुनि ने अनुमान लगाया कि भीखण्णजी उस वास में गये हैं, तो अवश्य ही मृत्यु-भोज वाले घर में गये होंगे। उन्हें रंगे हाथों पकड़ने का अच्छा अवसर समझकर कुछ भाइयों के साथ वे उस वास की नुककड़ पर खड़े रहकर स्वामीजी की प्रतीक्षा करने लगे।

स्वामीजी गोचरी करने के पश्चात् वापस आये तब मुनिजी ने अपने अनुमान को सत्य मानकर व्यंग्य करते हुए कहा—‘भीखण्णजी! तुम तो विरागी कहलाते हो, फिर इस मिठाई पर मन कैसे ललचा गया?’

स्वामीजी उनकी मानसिक भावना को झट ताड़ गये, अतः इस घटना से भी लाभ उठाने का सोचकर बोले—‘क्यों, गोचरी में मिठाई ले आना भी कोई दोष है क्या?’

यह सुनकर मुनिजी को अपने अनुमान की सचाई पर और भी अधिक विश्वास हो गया। लोगों को एकत्रित करने की भावना से जोर-जोर से बोलते हुए उन्होंने कहा—‘तुम चाहे जो-कुछ कर लो, उसमें कभी कोई दोष थोड़े ही होता है। दोष तो हम करते हैं तब होता है। किन्तु जब तुम भोज में गोचरी जाने का निषेध करते हो, तो कम-से-कम स्वयं तो उसे पालते। संभवतः मिठाई के लालच ने ही तुमसे यह गलती करा दी है।’

इतनी देर में तो वहां काफी लोग एकत्रित हो गये। स्वामीजी ने अवसर देखकर स्पष्टीकरण करते हुए कहा—‘मैं तो भोज वाले घर में गोचरी नहीं गया।’

ये लज्जित होकर मुकर रहे हैं, अतः पोल पूरी ही खोल देनी चाहिए, ऐसा सोचकर मुनिजी ने कहा—‘यदि तुम सत्य कहते हो, तो अपने पात्र खोलकर दिखलाओ।’

स्वामीजी ने झोली को दृढ़ता से पकड़ते हुए कहा—‘मैं जब कह ही रहा हूं, तो फिर पात्र दिखलाने की क्या आवश्यकता है?’

इस कथन में स्वामीजी की निर्बलता का अनुमान लगाते हुए वे तथा उनके सहवर्ती भाई और भी अधिक जोर डालते हुए बोले—‘सचाई को भय नहीं होता, भय तो झूठ को होता है, अतः तुम सच्चे हो तो पात्र क्यों नहीं दिखलाते? पात्र न दिखलाने का कारण यही हो सकता है कि तुम्हें पात्र खुलते ही पोल खुल जाने का भय है।’

स्वामीजी ने पात्र खोलने में जितना विलम्ब किया, उतना ही अधिक उनका आग्रह बढ़ता गया। लोग भी उस विवाद का निष्कर्ष देखने को अधिकाधिक एकत्रित होते गये। जब स्वामीजी ने देखा कि उनका आग्रह चरम सीमा को छूने वाला है, तो उन्होंने अपने पात्र खोलकर दिखला दिये। उनमें मिठाई नाममात्र भी नहीं थी। आग्रह करने वाले स्वयं तो लज्जित हुए ही, वहां पर एकत्रित जनता ने भी उनका स्वरूप पहचान लिया।¹

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 28।

बतलाना नहीं कल्पता

रींया और पीपाड़ के मार्ग में एक स्थानकवासी साधु स्वामीजी से मिलने आये। उन्होंने स्वामीजी को एकान्त में ले जाकर कुछ समय तक वार्तालाप किया और वापस चले गये। स्वामीजी ने उस घटना की कोई बात नहीं चलाई, तो उत्सुकता-वश मुनि हेमराजजी ने पूछ लिया—‘वे क्या कह रहे थे?’

स्वामीजी ने कहा—‘किसी दोष की ‘आलोयणा’ करने आये थे।’

मुनि हेमराजजी ने जिज्ञासा से फिर पूछा—‘किस दोष की आलोयणा?’

कल्प-अकल्प में पूर्ण सावधान स्वामीजी ने तत्काल कहा—‘यह बतलाना नहीं कल्पता।’

मुनि हेमराजजी का ध्यान तब अपने प्रश्न की ओर गया। उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका दूसरा प्रश्न आवश्यक नहीं था।¹

हाथ कहां धोएगी

एक बहिन जब-जब आती, तब-तब स्वामीजी से गोचरी के लिए प्रार्थना किया करती थी। एक दिन स्वामीजी उसके घर पधार गये, तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुई। आहार देने लगी, तो स्वामीजी ने उससे पूछा—‘बहिन! आहार देने के पश्चात् संभवतः तुझे हाथ धोने पड़ें, तो सचित्त पानी से धोयेगी या उष्ण पानी से?’

वह बोली—‘उष्ण पानी से।’

स्वामीजी—‘कहां धोएगी?’

नाली की ओर संकेत करते हुए उसने कहा—‘यहां धोऊंगी।’

स्वामीजी—‘इस नाली से पानी नीचे गिरता है, अतः वायुकाय की अयत्ता होती है। ऐसी स्थिति में मुझे यह आहार लेना नहीं कल्पता।’

बहिन—‘आप तो अपना आहार शुद्ध देखकर ले लें। पीछे से हम गृहस्थ क्या करते हैं, इसका आपको क्या करना है? हम संसार में रहते हैं, तो अपनी पद्धति से ही काम करते हैं। उसे छोड़ना भी तो ठीक नहीं है।’

स्वामीजी—‘परन्तु रोटी के लिए मैं अपनी निरवद्य क्रिया को कैसे छोड़ दूँ, जबकि तू सावद्य क्रिया छोड़ने को भी तैयार नहीं है। ऐसा आहार लेने से मुझे ‘पश्चात् कर्म’ का दोष लगता है और वे वहां से आहार बिना लिये ही वापस आ गये।’²

वे निन्दा नहीं करते

स्वामीजी के आचारनिष्ठ व्यक्तित्व से रींया के सेठ हरजीमलजी बहुत प्रभावित हुए। धीरे-धीरे उनका झुकाव तेरापंथ की ओर अधिकाधिक होता गया। विरोधी लोगों को

1. घिकखु-दृष्टान्त, दृ. 571

2. वही, दृ. 321

उनका वह झुकाव अखरा। एक दिन विरोधी सम्प्रदाय के उरजोजी नामक एक साधु उनके पास आये और एक पत्र निकालकर पढ़ने लगे। उसमें उन्होंने लिख रखा था कि अमुक गांव में भीखण्णजी ने सचित्त पानी लिया, अमुक गांव में नित्यपिण्ड लिया, अमुक गांव में द्वार बन्द किये इत्यादि।

हरजीमलजी ने कहा—‘मुझे इन बातों को सुनाने का क्या तात्पर्य है? मैं कोई न्यायाधीश नहीं हूँ। आप उनमें इतने दोष बतलाते हैं, पर वे कहेंगे कि हमने इनमें से एक भी कार्य नहीं किया।’

मुनि उरजोजी बोले—‘मैं भीखण्णजी में जो दोष बतला रहा हूँ, यदि तुम उन पर विश्वास नहीं करते, तो फिर भीखण्णजी हमारे में जो दोष बतलाते हैं, उन पर विश्वास क्यों करते हो?’

हरजीमलजी ने कहा—‘वे किसी व्यक्ति का नाम लेकर निन्दा नहीं करते। वे तो सूत्र-न्याय से समुच्चय रूप से बतलाते हैं कि अमुक-अमुक कार्य साधु को नहीं कल्पिता या इन कार्यों को करने वाला साधुत्व से च्युत हो जाता है।’¹

त्रुटि पर ‘तेला’

स्वामीजी अपने संघ के प्रत्येक व्यक्ति को आचारनिष्ठ देखना चाहते थे। उनका प्रयास रहता कि किसी में कोई छोटी-सी त्रुटि भी न रहने पाये। एक बार उन्होंने अपने प्रमुख शिष्य मुनि भारमलजी से कहा—‘तुम्हारा कोई भी कार्य ऐसा नहीं होना चाहिये जिससे कोई गृहस्थ त्रुटि निकाल सके। गृहस्थ के त्रुटि निकालने पर तुम्हें उसके प्रायश्चित्त-स्वरूप एक तेला करना होगा।’

मुनि भारमलजी उस समय बाल्यावस्था में ही थे, फिर भी गम्भीरतापूर्वक सोच कर बोले—‘गुरुदेव! विद्वेषी लोग बहुत हैं, अतः पता लगने पर कोई द्वेष-वश झूठमूठ ही त्रुटि निकालने लगेगा तो?’

स्वामीजी ने कहा—‘यदि वास्तव में तुम्हारी त्रुटि हो तो तुम प्रायश्चित्त-स्वरूप तेला कर देना और यदि द्वेष-वश झूठी त्रुटि निकाली गई हो तो अपने पूर्व कर्मों का उदय समझकर तेला कर देना। तेला तो हर स्थिति में तुम्हें करना ही है।’

मुनि भारमलजी ने आगे कुछ तर्क-वितर्क किये बिना स्वामीजी की उस आज्ञा को शिरोधार्य किया। वे इतने सावधान रहे कि उसके लिए उन्हें जीवनभर में एक भी तेला नहीं करना पड़ा।²

1. भिक्खु-दृष्टान्त, द. 26।

2. वही, द. 181 में उपर्युक्त प्रकार से त्रुटिमात्र के लिए तेले के दण्ड का उल्लेख है, जबकि अनुश्रुति में यह दंड ईर्या समिति की त्रुटि के लिए प्रब्यात है। इसी दृष्टान्त में कहा गया है—‘इसा वनीत उत्तम पुरुष हुवै ते खंचणों कढ़ावै हीज किण लेखै।’ इस वाक्य से ध्वनित होता है कि उन्हें एक भी तेला नहीं करना पड़ा, परन्तु अनुश्रुति में कवचित् यह भी प्रसिद्ध है कि उन्हें एक तेला करना पड़ा।

वि. सं. 1855 में स्वामीजी कांकरोली पधारे। वहां सहलोतों की 'पोल' में विराजे। एक बार रात्रि के समय शारीरिक आवश्यकता से उन्हें बाहर जाना पड़ा। मुनि हेमराजजी को उन्होंने जगाया और दरवाजे की बारी खोलकर बाहर गये। वापस आने पर मुनि हेमराजजी ने पूछा—'किंवाड़ खोलने को आप अकल्प्य कहते हैं, तब इस बारी को खोलने में कोई दोष नहीं है क्या?' 1

स्वामीजी—'पाली का चोथमल सकलेचा यहां दर्शनार्थ आया हुआ है। वह अत्यन्त शंकाशील व्यक्ति है। पर यह शंका तो उसे भी नहीं हुई, तब तुझे कैसे हो गई?' 2

मुनि हेमराजजी—'मैं शंका नहीं कर रहा हूं। जानकारी के लिए पूछ रहा हूं।' स्वामीजी—'जिज्ञासा करना उचित है। उसका समाधान यह है कि किंवाड़ बड़ा होता है, उसे खोलते समय यत्ना रख पाना सम्भव नहीं। बारी छोटी होती है, अतः उसे देखा या प्रमार्जित किया जा सकता है। बारी में भी जहां दोष की सम्भावना हो, वहां नहीं खोलनी चाहिए।' 1

भीखण्णजी में सम्भव है

स्वामीजी की आचारनिष्ठता का लोहा उनके कद्दूर विरोधी भी माना करते थे। एक बार अमरसिंहजी के टोले के बद्ध मुनि बोहतजी से किसी व्यक्ति ने पूछा—'आप शीतलजी के टोले में साधुता मानते हैं या नहीं?' 2

बोहतजी बोले—'उनमें कहां से मानूंगा? मैं तो मेरे में भी नहीं मानता।'

उस व्यक्ति ने फिर पूछा—'भीखण्णजी में मानते हैं या नहीं?' 2

बोहतजी ने कहा—'वे तो साध्वाचार के प्रति बड़े सावधान हैं, अतः उनमें संभावना की जा सकती है।' 2

श्रेष्ठ साधु हैं

आचार्य जयमलजी पुर में व्याख्यान दे रहे थे। भरी परिषद् में एक व्यक्ति ने खड़े होकर कहा—'सभा में मिश्र भाषा बोलने वाले को महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है, अतः मेरे प्रश्न को गोलमाल भाषा में टालने का प्रयास न कर स्पष्ट भाषा में बतलाइये कि आप भीखण्णजी को साधु मानते हैं या असाधु?' 2

आचार्य जयमलजी एक क्षण के लिए असमंजस में अवश्य पड़े, परन्तु दूसरे ही क्षण सम्भलकर बोले—'हम भीखण्णजी को श्रेष्ठ साधु मानते हैं।'

वह व्यक्ति—'तो फिर इधर के अनेक साधु उन्हें 'निन्हव'-धर्म-द्रोही क्यों कहते हैं?' 2

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 172।

2. वही, दृ. 309।

जयमलजी—‘वे हमें वेषधारी कहते हैं, तब हम भी उन्हें ‘निह्व’ कह देते हैं।’¹

यही अन्तर है

जैतारण में धीरोजी पोकरणा को आचार्य टोडरमलजी ने कहा—‘भीखण्णजी छोटे-छोटे दोषों से भी साधुत्व का भंग मानते हैं, यह उचित नहीं। यदि इस प्रकार साधुत्व का भंग होता तो भगवान् पाश्वनाथ की अनेक साधियां अंग-विभूषा आदि कार्यों में प्रवृत्त होकर भी मरने पर इन्द्राणियां तथा एक भवावतारी कैसे होतीं?’

धीरोजी ने कहा—‘यदि एक भवावतारी होने का यही मार्ग है, तो फिर अपनी साधियों को भी विभूषा आदि की आज्ञा दी जानी चाहिए।’

आचार्यजी ने रोष व्यक्त करते हुए कहा—‘ऐसी मूर्खता की बात क्यों करते हो?’

धीरोजी बोले—‘और कैसी बात की जाये? आप तो दोष-सेवन को भी मानो एक भवावतारी होने का कारण मान रहे हैं। भीखण्णजी में और आपमें यही बड़ा अन्तर है कि प्रत्येक कार्य में उनका ध्यान आचार-पोषकता की ओर होता है, जबकि आप लोगों का दोष-पोषकता की ओर।’²

9. अध्यात्म-प्रेरक

अमृतमय प्रेरणा

आचार्य भिक्षु अध्यात्म-प्रेरणा के एक महान् स्रोत थे। उनका प्रत्येक कार्य व्यक्ति के अध्यात्म-भाव को जागरित करने वाला होता था। उनके मुख से निःसृत वाणी का निझर व्यक्ति के हृदय को विराग-भाव से सिंचित कर जाता था। जो उनके संपर्क में आता, वह मोह से अमोह की ओर, प्रमाद से अप्रमाद की ओर तथा अज्ञान से ज्ञान की ओर आगे बढ़ने की अमृतमय प्रेरणा प्राप्त करता था।

रूपांजी की चिंता छोड़

वि. सं. 1855 का चतुर्मास स्वामीजी ने पाली में किया। वहां मुनि खेतसीजी अचानक रुण हो गये। वमन और अतिसार ने उनके शरीर को शिथिल बना दिया। रात्रि में शारीरिक आवश्यकता से वे बाहर गये तो वापस आते समय मार्ग में ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े। धमाका सुनकर स्वामीजी जाग पड़े। उन्होंने मुनि हेमराजजी को जगाया। दोनों ने मिलकर मार्ग में मूर्च्छित पड़े मुनि खेतसीजी को उठाया और बिछौने पर लाकर लिटाया। उनकी शारीरिक दशा देखकर स्वामीजी ने मुनि हेमराजजी से कहा—‘देख, संसार की माया कितनी कच्ची है! खेतसीजी जैसा सबल व्यक्ति एक ही दिन में इतना निर्बल हो गया।’ वे उनके पास बैठकर शरण आदि दिलाने लगे। कुछ समय पश्चात् उनकी मूर्च्छी टूटी, तब स्वामीजी से कहने लगे—‘आप रूपांजी को पढ़ाने की कृपा करना।’

1. भिक्षु-दृष्ट्यान्त, दृ. 310।

2. वही, दृ. 311।

स्वामीजी ने तत्क्षण टोकते हुए कहा—‘रूपांजी की चिन्ता छोड़ और अपनी चिन्ता कर। तेरे लिये यह समय समाधिपूर्वक आत्म-चिन्तन में लगने का है। बहिन की चिन्ता करने का नहीं।’

मुनि खेतसीजी ने स्वामीजी का कथन शिरोधार्य किया। कुछ दिन पश्चात् वे रोग-मुक्त हो गये।¹

बहिन चली गयी

मुनि हेमराजजी गृहस्थ थे, उस समय का प्रसंग है। उनकी एक बहिन थी। मामा आये और उसे अपने साथ ले गये। हेमजी बहिन से बहुत प्यार करते थे, अतः उदास हो गये। स्वामीजी की सेवा में बैठे थे तो भी उनकी आकृति पर उदासी स्पष्ट लक्षित हो रही थी।

स्वामीजी ने पूछा—‘हेमड़ा! आज उदास कैसे है?’

हेमजी बोले—‘बहिन ननिहाल चली गई है। उसकी याद मन को मथ रही है। जी चाहता है कि असवार भेजकर उसे वापस बुला लूँ।’

स्वामीजी ने कहा—‘संयोग के साथ वियोग जुड़ा रहता है। संयोग से जो सुख का अनुभव करता है, उसे वियोग से दुःखी भी होना पड़ता है। दोनों में सम रहने वाला ही सारी व्यथाओं से मुक्त होता है।’

स्वामीजी के उक्त शब्दों ने हेमजी के उत्तप्त मन को बड़ी शान्ति प्रदान की।²

त्याग-भंग उचित नहीं

मुनि हेमराजजी दीक्षित होने को तैयार हुए, तब वि. सं. 1853 माघ पूर्णिमा के पश्चात् उन्होंने षट्काय जीवों की हिंसा का त्याग कर दिया। पारिवारिक जनों ने उनकी दीक्षा को रोकने के अनेक उपाय किये, पर किसी में सफल नहीं हो सके। अन्ततः बहिन के प्रति उनके स्नेह को ही बाधक बनाने का निश्चय किया। बहिन के विवाह की तिथि फाल्गुन कृष्ण 2 निश्चित की गई और फिर हेमराजजी पर दबाव दिया जाने लगा कि बहिन के विवाह तक तो उन्हें रुकना ही चाहिए। उन लोगों की वह चाल काम कर गयी। हेमराजजी ने विवाह तक रुकने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

स्वामीजी के पास आकर जब उन्होंने अपना निर्णय बतलाया तो उन्होंने कहा—‘यह तुमने गलत निर्णय किया है। माघ पूर्णिमा के पश्चात् तुम्हें हिंसा का त्याग है, उसे भंग कराने का ही यह षड्यन्त्र लगता है। अंगुली पकड़कर फिर वे पहुंचा पकड़ने का प्रयास करेंगे। तुम्हारी उपस्थिति में बहिन का विवाह कर देने की भावना यदि मुख्य होती, तो विवाह की तिथि माघ पूर्णिमा से पूर्व भी रखी जा सकती थी। मुझे लगता है कि बहिन के

1. भिक्खु-दृष्ट्यान्त, दृ. 253।

2. वही, दृ. 258।

प्रति तुम्हारे अनुराग को ये लोग तुम्हारी दुर्बलता समझते हैं। तुम्हें अपना त्याग सावधानी से पालना चाहिए, उसे भंग करना उचित नहीं।'

स्वामीजी के वचनों ने उनका मोह-भंग कर दिया। घर आकर उन्होंने परिजनों से स्पष्ट कह दिया कि वे माघ पूर्णिमा के पश्चात् एक दिन भी नहीं रुकेंगे। फिर उनकी दीक्षा माघ शुक्ला 13 को हुई।¹

कब भैंस ब्याए?

एक बार स्वामीजी खारचिया पधारे। वहां एक बहिन ने प्रार्थना करते हुए कहा—‘स्वामीजी! मेरी भैंस ब्याए उस समय यदि आपका यहां पदार्पण हो तो दान देने का आनन्द आये।’

स्वामीजी ने पूछा—‘क्यों! उस समय क्या विशेष बात है?’

बहिन ने कहा—‘भैंस ब्याती है, तब एक महीने तक हम बिलोना नहीं करते। जितना भी दूध या दही होता है, वह सब खा-पीकर ही उठाते हैं। देवी की मनौती के रूप में हमारे यहां यह क्रम बहुत पहले से चला आ रहा है।’

स्वामीजी ने गम्भीर होते हुए कहा—‘कब तेरी भैंस ब्याए, कब हमें समाचार प्राप्त हों और फिर कब हम यहां पहुंचें। यदि हम खाद्य पदार्थों के प्रलोभन में आकर अपने विहार-क्रम का निर्धारण करने लगेंगे, तो अपनी साधना से ही च्युत हो जायेंगे। तुम्हारे दूध से हमें अपनी साधना अधिक प्यारी है।’²

व्यर्थ का आरम्भ

स्वामीजी गृहस्थावस्था में थे, तब गुलोजी गाधिया नामक उनके एक मित्र थे। वे भी कंटालिया के ही थे। धर्म-क्रान्ति के पश्चात् वे स्वामीजी के भक्त हो गये। एक बार स्वामीजी कंटालिया पधारे। गुलोजी सेवा में बैठे थे। बातचीत के सिलसिले में स्वामीजी ने पूछा—‘गुला! इस वर्ष खेती की थी क्या?’

गुलोजी—‘हां गुरुदेव! कुछ की थी।’

स्वामीजी—‘उपज कैसी रही?’

गुलोजी—‘हल, निनाण और बीज आदि के लिए लगभग दस रुपये व्यय किये थे। मूँग, बाजरा, चारा आदि मिलाकर उतना-सा ही माल वापस आया है। लाभ कुछ भी नहीं रहा।’

स्वामीजी—‘धार्मिक कार्यों की ही तरह सांसारिक कार्यों में भी लाभ के आधार पर ही कार्य की सार्थकता मानी जाती है। इस हिसाब से तो तुम्हारा यह आरम्भ निरर्थक ही

1. भिक्खु-दृष्ट्यान्त, दृ. 179।

2. वही, दृ. 35।

154 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
हुआ। ये रूपये घर के किसी आले में पड़े रहते, तो तुम इस व्यर्थ के आरम्भ से तो बच जाते।’¹

वह बुद्धि किस काम की?

स्वामीजी का सिरियारी में चतुर्मास था। जोधपुर-नरेश विजयसिंहजी श्रीनाथजी के दर्शनार्थ नाथद्वारा जा रहे थे। वर्षा के कारण उन्होंने उस दिन का अपना पड़ाव सिरियारी में किया। नरेश के सामन्तों तथा दरबारियों को जब यह पता चला कि स्वामी भीखण्डजी यहां विराजमान हैं, तो वे दर्शनार्थ आये। उन लोगों ने एक ज्ञानी संत के रूप में स्वामीजी का नाम बहुत सुन रखा था, अतः सहज प्राप्त अवसर का लाभ उठाते हुए अनेक तात्त्विक तथा आध्यात्मिक प्रश्न भी पूछे।

स्वामीजी ने सभी प्रश्नों के उत्तर ऐसे युक्ति-युक्त दिये कि उन सबका चित्त प्रसन्न हो गया। उन्होंने कहा—‘इन प्रश्नों को अनेक विद्वानों से पूछने का अवसर मिला है, परन्तु आप जैसे युक्तिसंगत उत्तर अन्य किसी ने नहीं दिये। आपकी बुद्धि तो ऐसी है कि यदि आप किसी राजा के यहां दीवान होते, तो उसके राज्य को बढ़ाकर साप्राज्य बना देते।’

स्वामीजी ने उनके कथन के उत्तर में एक दोहा सुनाया—

बुद्धि तिणांरी जाणिये, जे सेवै जिन-धर्म।
और बुद्धि किण काम री, सो पड़िया बांधै कर्म॥

स्वामीजी की उक्त निःस्पृह और अध्यात्म-प्रेरक वाणी सुनकर सामन्त तथा दरबारी लोग और भी अधिक प्रभावित हुए²

‘धर्मो मंगल’ सुनाइये

स्वामीजी भगवती सूत्र का वाचन कर रहे थे। उसी समय एक भाई आया। उसे ग्रामान्तर जाना था, अतः वह मंगलपाठ सुनना चाहता था। स्वामीजी के समय मंगलपाठ सुननेवालों को ‘चत्तारि मंगलं’ न सुनाकर ‘धर्मो मंगल मुक्तिङ्गु’ सुनाया जाता था, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए आगंतुक ने कहा—‘स्वामीजी! मुझे ‘धर्मो मंगल’ सुनाइये।’

स्वामीजी ने फरमाया—‘भगवती का वाचन चल रहा है, यही सुन लो।’

आगंतुक ने कहा—‘नहीं, स्वामीजी! मुझे तो ‘धर्मो मंगल’ ही सुनाइये।’

स्वामीजी ने पुनः फरमाया—‘भगवती कौनसा ‘अधर्मो मंगल’ है? यह भी भगवान् की वाणी होने से ‘धर्मो मंगल’ ही है।’

1. मिक्खु-दृष्ट्यान्त, दृ. 4।

2. वही, दृ. 112।

उस व्यक्ति का फिर भी—‘धम्मो मंगल’ सुनाने का ही आग्रह रहा तब स्वामीजी ने फरमाया—‘लोग ग्रामान्तर जाते समय गधे आदि का शकुन लेते हैं, लगता है तुमने ‘धम्मो मंगल’ को भी वैसा ही समझ लिया है। तुम्हें निर्जरा हेतु सुनना चाहिए। उसका लाभ ही कुछ और होता है।’¹

अवकाश के क्षण

स्वामीजी मारवाड़ के एक गांव में पधारे। अनेक लोग सम्पर्क में आये, समझे भी, परन्तु वहां का प्रमुख व्यक्ति कभी नहीं आया। अनुश्रुति है कि एक दिन मार्ग में वह मिला, तो स्वामीजी ने सत्संग तथा धर्म-चर्चा करने के लिए कहा। उसने भी प्रसंग को टालने के लिए कह दिया—‘किसी दिन अवसर निकाल कर आऊंगा।’ उसके पश्चात् कई दिन निकल गये, फिर भी वह नहीं आया। एक दिन स्वामीजी फिर मार्ग में मिल गये। इस बार उसे धर्म-चर्चा के लिए कहा गया, तो उसने स्पष्ट कह दिया—‘आना चाहता तो था, पर अवकाश ही नहीं मिल पाया।’

स्वामीजी ने कहा—‘प्रातः या सायं कुछ-न-कुछ अवकाश तो मिलता ही होगा?’

उसने कहा—‘प्रातः दतौन-कुल्ला करता हूं, बस उसी को आप भले ही अवकाश समझ लें।’ यह कहकर वह अपनी दुकान की ओर चला गया। मन-ही-मन सोचने लगा कि इस बार मैंने सदा के लिए बला टाल दी है।

अगले दिन प्रातःकाल ज्योही वह दतौन-कुल्ला करने बैठा, तो देखा, स्वामीजी उसी की ओर आ रहे हैं। वह खड़ा हो गया और कुछ लज्जित-सा होकर बोला—‘इस समय पधारने की आपने कैसे कृपा की?’

स्वामीजी ने कहा—‘कल तुमने ये ही तो अवकाश के क्षण बतलाये थे।’

स्वामीजी की उस उदार और परोपकार-वृत्ति को देखकर लज्जावश वह मानो धरती में गढ़ गया।

उसने कहा—‘बस, स्वामीजी! मुझे क्षमा करें। मैं आज अवश्य आपकी सेवा में उपस्थित हो जाऊंगा।’

वह व्यक्ति उसी दिन से सम्पर्क में आने लगा। बातचीत और तत्त्व-चर्चा का क्रम प्रारम्भ हुआ। कालान्तर में वह एक दृढ़ श्रद्धालु श्रावक बन गया।

स्वामीजी ने इस प्रकार एक-एक व्यक्ति के लिए न जाने कितना परिश्रम किया था। किसके मन को कैसे अध्यात्म की ओर प्रेरित किया जा सकता है, इसके बे अद्वितीय मर्मज्ञ थे।

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 152।

10. सत्य-भक्त

सत्य समर्पित

स्वामीजी का सारा जीवन सत्य की आराधना के लिए ही समर्पित था। सब्बाइं विज्जाइं सच्चे पट्टियाइं¹ अर्थात् सारा ज्ञान सत्य में ही प्रतिष्ठित है, इस आगम-वाणी को उन्होंने पूर्णतः हृदयंगम कर लिया था। उन्हें अपनी बात का कोई आग्रह नहीं था, केवल सत्य की खोज थी। उस खोज में उन्हें जो तत्त्व भासित हुआ, उसी का उन्होंने प्रचार और प्रसार किया। फिर भी अपने मस्तिष्क का द्वारा उन्होंने कभी बंद नहीं होने दिया। आचार की सत्यता के प्रति भी उनका उतना ही दृढ़ आग्रह था, जितना कि विचारों की सत्यता के प्रति।

पछेवड़ी बड़ी नहीं निकली

पादू में एक भाई ने मुनि हेमराजजी से कहा—‘आपकी पछेवड़ी कल्प से बड़ी लगती है।’

मुनि हेमराजजी ने उससे कहा—‘स्वामीजी ने स्वयं अपने हाथ से नाप कर दी है, अतः बड़ी कैसे हो सकती है?’

इस पर भी उस भाई का संदेह बना रहा। वह बड़ी होने की आशंका कर रहा था और मुनि हेमराजजी उसका निराकरण। स्वामीजी कुछ देर तो उनकी बातें सुनते रहे, पर जब उस भाई का सन्देह निवृत्त होता नहीं देखा, तो मुनि हेमराजजी को अपने पास बुलाकर पछेवड़ी उतरवा ली और उसके सामने नाप कर दिखलाई। वह बराबर निकली, तब भाई ने अपनी गलती स्वीकार करते हुए कहा—‘मुझे झूठा ही भ्रम हो गया था।’

स्वामीजी ने कहा—‘यह तो पछेवड़ी थी, अतः नाप कर बतला दी, किन्तु तुझे तो यह भ्रम भी हो सकता है कि प्यास लगने पर हम मार्ग में नदी आदि का सचित्त पानी भी पी लेते होंगे। साधुता हम अपनी ही आत्मा की सचाई से पाल सकते हैं। चार अंगुल कपड़े के लिए यदि हम अपनी सचाई को खो देंगे, तो वह अन्यत्र भी हमारे जीवन में कहीं दृष्टिगत नहीं हो सकेगी।’²

बात सत्य है या असत्य

स्वामीजी ने अनुकम्पा-विषयक अपने विचार व्यक्त करते हुए एक पद्य बनाया :

छै लेश्या हुंती जद वीर में जी, हुंता आरूँ ई कर्म।

छज्जस्थ चूका तिण समै जी, मूरख थायै धर्म॥³

मुनि भारमलजी ने उसे देखकर कहा—‘इसका तीसरा पद लोगों में ऊहापोह खड़ा करने वाला लगता है, इसे परिवर्तित कर दें, तो अच्छा रहे।’

1. आचारांग 7।11।

2. भिक्खु-दृष्ट्यान्त, दृ. 77

3. अनुकम्पा की चौपई, 6।12

स्वामीजी—‘लोगों में ऊहापोह उत्पन्न करने वाला चाहे हो, पर सत्य है या असत्य?’

मुनि भारमलजी—‘है तो बिल्कुल सत्य।’

स्वामीजी—‘तो फिर लोगों का क्या भय? न्याय-मार्ग पर चलने वाले को भय की कोई परवाह नहीं करनी चाहिए।’¹

उस दिन दिग्म्बर बन जायेंगे

एक बार सरावगियों ने स्वामीजी से कहा—‘आपकी क्रिया तो बहुत ही उच्च कोटि की है, पर यह एक कमी है कि आप वस्त्र रखते हैं।’

स्वामीजी ने कहा—‘हमने श्वेताम्बर-आगमों के आधार पर संयम ग्रहण किया है। उनमें साधु के लिए निर्दिष्ट प्रमाण-युक्त वस्त्र रखने का विधान है। उन आगमों पर हमारा विश्वास है, इसीलिए हम वस्त्र रखते हैं। दिग्म्बर-आगमों पर जिस दिन उतना विश्वास हो जायेगा उस दिन वस्त्र छोड़ देने में हमें कोई हिचकिचाहट नहीं होगी।’²

11. असत्य के विरोधी

असत्य पर चोट

स्वामीजी सत्य का पालन करने में जितनी तत्परता रखते थे, उतनी ही असत्य का उघाड़ कर देने में भी। असत्य के वे पूर्ण विरोधी थे। वे उससे इतनी घृणा करते थे कि जहां थोड़ा-सा भी असत्य ज्ञात होता, वे उसकी पोल खोलकर ही दम लेते। यह स्वभाव उनका प्रारम्भ से ही था।

जिस काठ में घुन लग जाता है, वह बाहर से कितना भी अच्छा क्यों न दिखाई दे, पर अन्दर से थोथा हो जाता है। स्वामीजी असत्य को आत्मा के लिए ऐसा ही एक घुन माना करते थे। जो व्यक्ति असत्य को प्रश्रय देने लग जाता है वह आचार और विचार-दोनों ही पक्षों में थोथा हो जाता है। इसीलिए असत्य का आश्रय लेने वाले को वे फेरबी या पाखंडी माना करते थे। असत्य पर चोट करने को, वस्तुतः सत्य की स्थापना का ही एक अंग कहा जा सकता है।

गुड़ कौन लाया?

स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहते समय एक दिन स्वामीजी किसी दर्जी के घर गोचरी गये। वह भाई साधुओं के पास आया-जाया करता था, अतः कल्प-अकल्प के विषय में उसे पूरी जानकारी थी। वह बोला—‘कल आपका एक शिष्य गुड़ ले गया था, अतः आज मेरे यहां की गोचरी का कल्प नहीं है।’

स्वामीजी ने स्थान पर आकर सन्तों से पूछा कि कल उसका गुड़ कौन लाया था? पर किसी ने भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने पूछा तो साधारण रूप से ही था, पर जब

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 178।

2. वही, दृ. 31।

158 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
कोई भी नहीं बोला, तब उन्हें यह सोचकर बहुत बुरा लगा कि इतनी-सी बात को भी
सत्य कहने का जिसमें साहस नहीं है, वह साधुता का पालन कैसे कर सकता है?

झूठ को प्रकट करने के लिए उन्होंने एक उपाय सोचा और सन्ध्या के समय
बहिर्भूमि गये तब सबके साथ दर्जी के घर चले गये। उन्होंने गुड़ ले जाने वाले सन्त को
पहचानने के लिए कहा, तो दर्जी ने एक बालक साधु की ओर संकेत करके बतला दिया
कि ये ले गये थे। सबने उसकी स्खलना को पहचान लिया।¹

'क्यरे मग्गे मक्खाया'

एक पंडितजी को अपने संस्कृत-ज्ञान का बड़ा घमंड था। उन्होंने स्वामीजी से
पूछा—'क्या आपने संस्कृत व्याकरण पढ़ा है?'

स्वामीजी—'नहीं, मैंने संस्कृत व्याकरण नहीं पढ़ा है।'

पंडितजी—'संस्कृत पढ़े बिना प्राकृत भाषा के आगमों का अर्थ नहीं किया जा
सकता।'

स्वामीजी—'प्राकृत भाषा का अभ्यास होने पर संस्कृत पढ़े बिना भी उनका अर्थ
किया जा सकता है, अन्यथा संस्कृत पढ़ लेने पर भी नहीं किया जा सकता।'

पंडितजी उक्त कथन को मानने के लिए कर्तव्य तैयार नहीं हुए। स्वामीजी ने तब
उनके झूठे घमंड को तोड़ने के लिए पूछा—'पंडितजी, आप तो व्याकरण के अच्छे ज्ञाता
हैं, तो क्या आगमों का अर्थ कर सकते हैं?'

पंडितजी ने गर्वभरी वाणी में कहा—'अच्छी तरह से कर सकता हूँ। आशंका हो तो
पूछ कर देख लें।'

स्वामीजी ने तब पूछा—'क्यरे मग्गे मक्खाया शास्त्र के इस वाक्य का क्या
अर्थ है?'

पंडितजी ने थोड़ी देर सोचने के पश्चात् कहा—'यह तो कोई कठिन बात नहीं पूछी
गई है। इसका अर्थ तो सीधा ही है कि कैर और मूँग को अक्षत अर्थात् अखंड रूप में नहीं
खाना चाहिए।'

स्वामीजी—'यह अर्थ तो सही नहीं है।'

पंडितजी—'तो फिर सही अर्थ क्या है? यह आप बतलाइये।'

स्वामीजी—'इसका अर्थ तो यह है—तीर्थकरों द्वारा मोक्ष-मार्ग कितने बतलाए
गये हैं?'

पंडितजी के झूठे घमंड का पर्दाफाश हो गया।²

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 1991।

2. वही, दृ. 218।

जीवित हो ?

स्वामीजी मांडे में रात्रि के समय व्याख्यान दे रहे थे। सामने काफी संख्या में लोग बैठे हुए थे। स्वामीजी के बिल्कुल पास में बैठे हुए श्रावक आसोजी नींद लेने लगे। उन्होंने झोंकड़ी लेकर ज्योंही सिर ऊंचा उठाया, स्वामीजी ने टोकते हुए कहा—‘आसोजी! नींद ले रहे हो ?’

किसी सभा आदि में नींद लेते समय टोके जाने वालों के मुंह से प्रायः जो उत्तर अचानक निकल जाया करता है, ठीक उसे ही दुहराते हुए आसोजी ने कहा—‘नहीं, महाराज !’

थोड़ी देर पश्चात् वे फिर नींद लेने लगे। स्वामीजी ने फिर टोका। उन्होंने फिर वही बंधा हुआ उत्तर देते हुए कहा—‘नहीं, महाराज !’

जितनी बार उन्हें टोका गया, उन्होंने हर बार वही उत्तर दिया। अन्ततः स्वामीजी ने उनके उस असत्य को प्रकट करने के लिए उसी लहजे में पूछा—‘आसोजी! जीवित हो ?’

उन्होंने चट से कहा—‘नहीं, महाराज !’

उपस्थित लोग उनका उत्तर सुनकर हंस पड़े, तब वे सावधान हुए।¹

12. स्पष्टवादी

डंके की चोट

स्वामीजी अत्यन्त स्पष्टवादी थे। मुख देखकर तिलक करना उन्होंने कभी पसंद नहीं किया। बहुधा लोग स्पष्ट कहने में घबराते हैं। वे सोचते हैं, स्पष्ट कहने से दूसरा बुरा मान जायेगा। इसीलिए वे कहना चाहते हुए भी कथ्य को शब्दों की ओट में छिपाते हैं। स्वामीजी ऐसा नहीं करते थे। उन्हें जो नहीं कहना होता, उसमें वे मौन अवश्य रह जाते, पर जो कहना होता, उसे डंके की चोट कहते थे। उनकी स्पष्टवादिता के पीछे किसी को चोट पहुंचाने या नीचा दिखाने की भावना न होकर अवगुण-प्रतिकार की भावना हुआ करती थी।

हाथी तो दिखाई देता है ?

कुछ व्यक्तियों ने स्वामीजी से पूछा—‘प्रतिमाधारी श्रावक को शुद्ध आहार-पानी देने से क्या होता है ?’

स्वामीजी ने कहा—‘यह चर्चा बहुत सूक्ष्म और गम्भीर है, अतः इससे पूर्व कुछ स्थूल बातों को जान लो, तो अच्छा रहेगा। उन्होंने फिर अपनी ओर से ही प्रश्न की उद्भावना करते हुए पूछा कि किसी को सचित्त पानी पिलाने तथा मूला आदि खिलाने में तुम लोगों की क्या श्रद्धा है ?’

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 48।

उन लोगों ने कहा—‘इन बातों का हमें कोई पता नहीं, हमें तो प्रतिमाधारी के विषय में ही बतलाइये।’

स्वामीजी ने तब दृष्टान्त के द्वारा अपने कथ्य को आगे बढ़ाते हुए कहा—‘एक व्यक्ति लोगों से कहने लगा—‘मुझे चींटी और कुंथु दिखलाओ।’

‘लोगों ने उससे पूछा—‘यह सामने खड़ा हुआ हाथी तुम्हें दिखाई देता है या नहीं?’

‘उसने कहा—‘हाथी तो मुझे दिखाई नहीं देता।’

‘लोग बोले—‘जब हाथी भी दिखाई नहीं देता, तब चींटी और कुंथु कैसे दिखलाए जा सकते हैं? वे तो हाथी की अपेक्षा से बहुत ही छोटे प्राणी हैं।’

स्वामीजी ने प्रसंग का उपसंहार करते हुए कहा—‘तुम लोगों की स्थिति उस व्यक्ति जैसी ही है, जिसे हाथी तो दिखाई नहीं देता था, पर चींटी दिखाने का आग्रह करता था। हिंसा में धर्म-अधर्म की बात जब तुम्हारी समझ में नहीं आती, तब प्रतिमाधारी श्रावक कितना भी त्यागी व्ययों न हो, फिर भी उनके अव्रत शेष रहता है। और अव्रत का सेवन करना धर्म नहीं होता, यह तो तुम्हारी समझ में आयेगा ही कैसे? यह तो बहुत सूक्ष्म तत्त्व है।’¹

उत्तर भी सत्पात्र में

यति हीरजी स्वामीजी से अत्यन्त विद्रेष रखा करते थे। वे उनके मन्तव्यों तथा कथनों को तोड़-मरोड़कर जनता में इस प्रकार से अन्यथा प्रचार किया करते कि साधारण लोग उसे सुनकर भ्रांत हो जाते। स्वामीजी उन्हें कभी ऐसा अवसर नहीं देते कि जिससे वे अपने दुष्प्रचार में कुछ नई वृद्धि कर सकें।

एक दिन यति हीरजी ने स्वामीजी से कई प्रश्न पूछे और कहने लगे कि इनके उत्तर पाने अति आवश्यक हैं।

स्वामीजी उनकी दुर्नीति को जानते थे, अतः बोले—‘कोई व्यक्ति अशुचि-लिप्त भाजन लाये और कहे कि मुझे इसमें घी तोल दो। अब तुम्हीं बतलाओ कि कौन ऐसा व्यापारी होगा, जो उस अशुद्ध भाजन में घी तोल दे? मुझे तुम्हारा मन अपवित्र भाजन जैसा लगता है, अतः उत्तर देने में कोई गुण दिखाई नहीं देता। घी और उत्तर सत्पात्र में ही ठीक रहते हैं।’²

चोर की तरह नहीं

एक व्यक्ति स्वामीजी के पास धर्म-चर्चा करने के लिए आया। दान-दया, ब्रत-अव्रत आदि अनेक विषयों पर चर्चा की। प्रत्येक प्रसंग में उसे स्थान-स्थान पर अटकना पड़ा। जब उसके पास कोई उत्तर नहीं होता, तब अंट-संट बोलने लगता। एक बात को छोड़कर दूसरी और फिर दूसरी को छोड़कर तीसरी पूछने लगता। निरुत्तर हो जाने पर भी न उसने किसी न्याय-युक्त कथन को स्वीकार किया और न किसी विषय पर टिका ही रहा।

1. श्रावक-दृष्टान्त, दृ. 207।

2. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 223।

स्वामीजी ने उसके विचित्र व्यवहार को लक्ष्य कर कहा—‘खेत का स्वामी खेत काटता है, तब व्यवस्थित और संलग्न काटता है, परन्तु चोर घुस आता है, वह दो हाथ इधर मारता है और दो उधर। तुम्हें चोर की तरह नहीं, खेत के स्वामी की तरह होना चाहिए। एक विषय को पूरा समझ लेने के पश्चात् ही दूसरा विषय उठाना चाहिए।’¹

धूर्त चोर

कई शिथिलाचारी साधु स्वामीजी से चर्चा करने आते, परन्तु उनका दृष्टिकोण प्रायः तत्त्व-गवेषणा का न होकर लोगों को भ्रांत करने का ही हुआ करता था। वे स्वामीजी द्वारा प्रदत्त शास्त्र-न्याय की कोई परवाह नहीं करते। प्रत्येक बात को विरुद्ध प्रचार का साधन बनाते और कहते कि भीखणजी ने दान व दया को उठा दिया है, भगवान् महावीर में भी चूक बतलाते हैं, आदि।

उपर्युक्त प्रकार के व्यक्तियों की समालोचना करते हुए स्वामीजी ने कहा—‘धूर्त चोर केवल चोरी ही नहीं करता, वह जाते समय घर में आग भी लगा जाता है। लोग आग बुझाने में लगते हैं, तब तक वह पार हो जाता है। इन शिथिलाचारियों की वृत्ति भी वैसी ही है। शुद्ध आचार नहीं पाल पाते, तब लोगों का ध्यान उस तरफ से अन्यत्र फेरने के लिए द्वेषाम्नि भड़काते हैं।’²

पहले कैसे आ गए?

सं. 1857 में स्वामीजी का चतुर्मास पुर में था। वहां एक बार बाहर की किसी सेना के आक्रमण की संभावना हो गई। स्वामीजी ने तब अन्यत्र चले जाने का विचार किया। श्रावकों को पता लगा तो वे कहने लगे—‘हम यहां हैं, तब आप विहार क्यों करते हैं?’

स्वामीजी ने कहा—‘कुछ वर्ष पूर्व स्थानकवासी संतों का यहां चतुर्मास था। सैनिक आक्रमण के समय काफी लोग अन्यत्र चले गये, फिर भी सन्तों ने विहार नहीं किया। सुरक्षा की दृष्टि से वे नागौरियों के वास में चले गये। धनी घरों में लूट-पाट करते हुए सैनिक उस वास में भी आये। धन की खोज में पूछताछ करते समय उन्होंने सन्तों को काफी सताया। मिर्चों की धूनी दी तथा मुख पर मिर्चों का ‘तोबड़ा’ बांधा। हम वैसी स्थिति से बचना चाहते हैं, अतः विहार करने का विचार कर रहे हैं।’

श्रावकों ने कहा—‘विहार करना ही है, तो इतनी शीघ्रता क्या है? कल तक हम भी आपके साथ चलेंगे।’

श्रावकों की उक्त प्रार्थना पर स्वामीजी ठहर गये। उसी रात्रि को जब यह प्रवाद फैला कि सेना समीप आ गई है, तो लोगों में भगदड़ मच गई। काफी लोग रात्रि में ही वहां से भागकर अन्यत्र चले गये। उनमें वे श्रावक भी थे, जिन्होंने स्वामीजी को ठहरने

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 1321

2. वही, दृ. 1331

162 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
की प्रार्थना की थी। प्रातः स्वामीजी विहार करके गुरलां पधारे। वहां उन श्रावकों को देखा
तो स्वामीजी ने कहा—‘तुम लोग तो कहते थे कि हम आपके साथ ही चलेंगे, फिर पहले
कैसे आ गये?’

श्रावक—‘हम पहाड़ी पर से देख रहे थे कि स्वामीजी पधार रहे हैं।’

स्वामीजी—‘दूर खड़े होकर देखने से क्या हो? बात तो साथ में आने की थी।’

श्रावक—‘भय-वश हमें तो भागना ही याद रहा।’

स्वामीजी ने गम्भीर होते हुए कहा—‘गृहस्थ मूलतः अपनी और अपने परिवार की
सुरक्षा के विषय में ही सोचते हैं। हम साधुओं को उनके विश्वास पर अधिक अवलम्बित
नहीं रहना चाहिए।’¹

चूक हो गई

स्वामीजी को नीमली से चेलावास जाना था। विहार करने को उद्यत हुए, तब
भाइयों से मार्ग का विवरण पूछने लगे।

श्रावक जयचंदजी ने कहा—‘मैं मार्ग जानता हूं, अतः आप निश्चिंत पधरें। मैं
आपके साथ रहूंगा।’

स्वामीजी ने उनके विश्वास पर विहार कर दिया। कुछ दूर जाने के पश्चात् मार्ग
पांडंडी में बदल गया और फिर पांडंडी भी लुप्त हो गई। स्वामीजी ने जयचंदजी को
उपालम्भ देते हुए कहा—‘तुम तो कह रहे थे कि मैं मार्ग जानता हूं।’

जयचन्दजी ने उदास स्वर में कहा—‘स्वामीजी! जानता तो था, पर कहीं चूक हो
गई।’

स्वामीजी बोले—‘हमारी भी चूक हो गई। तुम्हारे विश्वास पर न रहकर यदि वहां
मार्ग का विवरण पूछ लेते, तो सम्भव है यह कठिनाई नहीं आती।’²

13. तीखे आलोचक

शल्य-क्रिया

स्वामीजी ने आचार-क्रान्ति की थी, अतः शिथिलाचार तथा कुरुद्धियों पर उनके
द्वारा कठोर प्रहर होना स्वाभाविक ही था। वे मानते थे कि शिथिलाचार इतनी गहराई
तक व्याप्त हो गया है कि उसे साधारण उपदेश मिटा नहीं पाते। वे उसे एक प्रकार का
फोड़ा मानते थे, जिसका मवाद शल्य-क्रिया द्वारा निकालना अपरिहार्य हो चुका था। वे
उस कार्य को तीखी आलोचनाओं के शस्त्र द्वारा संपन्न किया करते थे। उसके पीछे किसी
व्यक्ति-विशेष के प्रति उनका दुर्भाव नहीं होता था, अपितु आचार-स्तर पर रुण व्यक्ति

1. मिक्खु-दृष्ट्यान्त, दृ. 260।

2. वही, दृ. 261।

को स्वस्थता प्रदान करने की व्यग्रता हुआ करती थी। साध्वाचार-विषयक उनकी निर्भीक और तीखी आलोचनाएं उस युग के अनेक व्यक्तियों के लिए मोह-भंग का हेतु बनी थीं।

नन्-नृत्य

स्वामीजी के व्याख्यान में लोग बहुत आने लगे थे, यह देखकर विरोधियों को बड़ी जलन हुई। उन्होंने निन्दात्मक प्रवाद फैलाकर पहले तो लोगों को भ्रांत करना प्रारम्भ किया और फिर कदाग्रह करने पर उतर आये। स्वामीजी ने उनकी वृत्ति की आलोचना करते हुए कहा—‘एक व्यक्ति की दुकान पर ग्राहकों की बड़ी भीड़ रहा करती थी। पड़ोसी दुकानदार उससे जलने लगा। उसने भी लोगों को एकत्रित करने की ठानी। कई उपाय किये, परन्तु सफलता नहीं मिली। एक दिन उसने अपने वस्त्र उतार फेंके और नन्न होकर नाचने लगा। उसके उस पागलपन को देखने के लिए सैकड़ों व्यक्ति एकत्रित हो गये। दुकानदार तब मन-ही-मन प्रसन्न हुआ।’

प्रसंग का उपसंहार करते हुए स्वामीजी ने कहा—‘व्यापारिक बुद्धि के अभाव में जैसे उस व्यक्ति ने नन्न होकर लोगों को एकत्रित किया, वैसे ही साधुत्व का बल न होने पर ये लोग कलह उत्पन्न करके लोगों को एकत्रित कर रहे हैं।’¹

खोटा सिक्का

किसी व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—‘साधु चाहे कितना ही शिथिलाचारी क्यों न हो, गृहस्थ से तो अच्छा ही होता है।’

स्वामीजी ने उसको समझाते हुए उदाहरण दिया—‘एक व्यक्ति प्रभातकाल में ही एक पैसे का गुड़ लेने गया। दुकानदार ने तांबे के पैसे को आदरपूर्वक सिर से लगाया और उसे शुभ ‘बोहनी’—व्यवसाय का प्रारंभ माना।

दूसरे दिन उसी व्यक्ति ने उसी दुकान से एक रुपये की रेजगी मांगी। दुकानदार ने ‘बोहनी’ में आये उस चांदी के रुपये को भी आदरपूर्वक सिर से लगाया।

तीसरे दिन वही व्यक्ति उसी दुकान पर फिर रुपया भुनाने आया। दुकानदार बहुत प्रसन्न हुआ कि कल वाला ग्राहक आज फिर आया है। उसने रुपया हाथ में लेकर देखा, तो वह खोटा था। तांबे के पैसे पर चांदी का झोल चढ़ाया हुआ था। उसने उस खोटे रुपये को फेंकते हुए कहा—‘बोहनी में ही तुमने अपशकुन करवा दिया।’

ग्राहक बोला—‘परसों तांबे का पैसा लाया था और कल चांदी का रुपया। उन दोनों को तुमने आदर से ग्रहण किया, तब आज अपशकुन क्यों मानते हो? इसमें तो तांबा और चांदी दोनों हैं।’

दुकानदार ने कहा—‘पिछले दोनों सिक्के अपने स्वरूप में सत्य थे, परन्तु यह असत्य है। अन्दर से तांबे का पैसा है, किन्तु बाहर से रुपये का भ्रम पैदा करता है, अतः खोटा सिक्का है।’

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 252।

उपसंहार में स्वामीजी ने कहा—‘पैसे के समान श्रावक, रूपये के समान साधु और खोटे रूपये के समान शिथिलाचारी साधुओं को समझना चाहिए। श्रावक और साधु तो अपने ब्रत यथावत् पालते हैं, अतः प्रशंसनीय एवं आराधक होते हैं, किन्तु शिथिलाचारी साधु ब्रतों का भंग करता रहता है इसलिए न प्रशंसनीय होता है और न आराधक। वह वेष से साधु होने पर भी लक्षण से तो गृहस्थ से भी गया-बीता होता है। उसे ‘अधबेसरा’—अश्वतर कहना चाहिए। अश्वतर अर्थात् खच्चर, जो न घोड़ों की गणना में आता है और न गधों की। उसकी वह स्थिति निन्दनीय ही कही जा सकती है, बन्दनीय तो बिल्कुल नहीं।’¹

बलात् की गई सती

स्वामीजी के युग में अनेक व्यक्तियों ने साधु-वेष को उदरपूर्ति का साधन बना लिया था। कुछ व्यक्ति उनको भी साधु मानकर आदर देते और धर्म-रक्षा की आशा करते। स्वामीजी ने उनकी आलोचना करते हुए कहा—‘पति की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी को मतान्ध लोगों ने सीढ़ी से बांधकर बलपूर्वक जला दिया। अज्ञ-जन प्रार्थना करने लगे—‘सती माता! हमारी रक्षा करना, ‘तेजरा’ (हर तीसरे दिन आने वाला ज्वर) दूर करना।’ बलात् की गई सती क्या रक्षा करेगी और क्या ‘तेजरा’ दूर करेगी?’

‘शिथिलाचारी साधु बलात् बनाई गई उस सती की कोटि के ही हैं। उनसे धर्म-रक्षा की तो आशा ही क्या की जा सकती है, जब वे अपनी गृहीत साधुता की भी रक्षा नहीं करते?’²

मिठाई कड़वी है

किसी व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—‘कुछ व्यक्तियों को तो आप बहुत अच्छे लगते हैं, परन्तु कुछ व्यक्ति आपको बिलकुल पसन्द नहीं करते, इसका क्या कारण है?’

स्वामीजी ने कहा—‘ज्वरवाला एक व्यक्ति भोज में चला गया। वहां विभिन्न मिष्टान्न परोसे गये। जब ज्वर-ग्रस्त व्यक्ति ने खाना प्रारम्भ किया तो प्रथम ग्रास में ही बोल उठा कि यह मिठाई तो कड़वी है।

‘पास में बैठे अन्य व्यक्तियों ने कहा—‘यह तो बहुत अच्छी मिठाई है। हमें तो इसमें कोई कड़वापन नहीं लगता।’

‘एक वैद्य ने उसकी नाड़ी देखते हुए कहा—‘तुम्हें ज्वर है। ज्वरी को अच्छी मिठाई भी स्वादहीन या कड़वी लगाने लगती है।’

स्वामीजी ने कहा—‘जिसको मिथ्यात्व का ज्वर चढ़ा होता है, उसे सन्त अच्छे कैसे लग सकते हैं?’³

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 295।

2. वही, दृ. 302।

3. वही, दृ. 303।

कार्तिक के ज्योतिषी

एक व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—‘आपने ग्रंथों में शिथिलाचारी साधुओं के विषय में बहुत विवरण दिया है। उसे पढ़ने से मन में यह प्रश्न उठता है कि आपने यह सब कैसे जाना?’

स्वामीजी ने कहा—‘हम कार्तिक के ज्योतिषी हैं, आषाढ़ के नहीं। आषाढ़ में जो अन्न की उपज तथा भाव बतलाये जाते हैं, वे केवल भविष्यवाणी के रूप में होते हैं, मिल भी सकते हैं और नहीं भी। किन्तु कार्तिक मास में जो अन्न की उपज एवं भाव बतलाये जाते हैं, वे भविष्य की बात न होकर वर्तमान की वास्तविकता से सम्बद्ध होते हैं। उसी तरह मैंने शिथिलाचार के विषय में जो लिखा है, वह सब वर्तमान के निकट-दर्शन और अनुभव के आधार पर है। कल्पना का उसमें कोई समावेश नहीं है।’¹

कायर क्षत्रिय

कड़ियों की मान्यता थी कि विशिष्ट कारण में साधु अकल्पनीय आहार आदि भी ले सकता है। ऐसा दान देने वाले को भी वे अल्प पाप और बहु निर्जरा करने वाला कहते थे।

स्वामीजी ने उस मान्यता पर प्रहार करते हुए कहा—‘कारण के नाम से जो अशुद्ध वस्तु लेने तथा देने की स्थापना करते हैं, वे शुद्ध साधु नहीं हो सकते। वे तो उस क्षत्रिय के समान होते हैं, जो बातें तो वीरता की बनाता है, किन्तु युद्ध प्रारम्भ होते ही भाग खड़ा होता है। ऐसे कायर व्यक्ति न कोई राज-सम्मान पा सकते हैं और न सुयश। उसी तरह ऐसे शिथिल साधु भी साधना-क्षेत्र में न कोई महत्व पा सकते हैं और न कोई आत्म-कल्याण ही कर सकते हैं।’²

तेरे बाप का क्या जायेगा?

कुछ साधु तपस्या के पारणे पर समाज में मिठाई बांटने की बड़ी प्रेरणा दिया करते थे।

स्वामीजी का कथन था—‘तपस्या अध्यात्म साधना के लिए की जाती है। उसके उपलक्ष में यह आडम्बर उचित नहीं।’

कभी-कभी वे बड़े तीखेपन के साथ यह भी कहते—‘मिठाई बांटने की प्रेरणा देने वाले साधु अपनी लोलुपता ही प्रकट करते हैं। वे सोचते हैं कि समाज में बांटी जायेगी तो उन्हें भी मिलेगी।’

एक व्यक्ति ने कहा—‘वे तो उसमें से थोड़ी मिठाई ला पाते हैं। शेष सारी तो समाज के घरों में ही जाती है।’

स्वामीजी ने दृष्टान्त के द्वारा उत्तर देते हुए कहा—‘विवाह-मंडप में मंत्रोच्चारण करते हुए ब्राह्मण ने मंत्र की लय में अपनी पुत्री को संकेत किया—‘घी चुरा ले, घी चुरा ले।’

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 304।

2. वही, दृ. 233।

‘पुत्री समझ तो गई, परन्तु पास में कोई पात्र नहीं था, अतः पिता की लय में ही अपना स्वर मिलाती हुई बोली—‘किसमें डालूं, किसमें डालूं?’

‘ब्राह्मण ने मूर्ख पुत्री को समझाते हुए फिर कहा—‘नया सिकोरा, नया सिकोरा।’

‘पुत्री ने एक अन्य समस्या सम्मुख रखते हुए कहा—‘सूख जाएगा, सूख जाएगा।’

‘ब्राह्मण ने तब उक्ताहट के क्रुद्ध स्वर में कहा—‘तेरे बाप का क्या जायेगा? तेरे बाप का क्या जायेगा?’

स्वामीजी ने उपसंहार करते हुए कहा—‘यदि तपस्या के उपलक्ष में की गई अधिकांश मिठाई बांटने में चली जाती है, तो उनके बाप का क्या जाता है? उनके लिए तो जितनी पल्ले पड़ी, उतनी ही ठीक है।’¹

पोल न खुल जाए

उस युग के अनेक साधु और आचार्य अपने श्रावकों को स्वामीजी के सम्पर्क में नहीं आने देते थे। वे उन्हें उनके पास जाने का त्याग करवा दिया करते थे।

किसी ने पूछा—‘ऐसा करने में उनको क्या लाभ है?’

स्वामीजी ने कहा—‘आगम में ‘रयणा देवी’ के वर्णन में बतलाया है कि उसने जिनऋषि और जिनपाल को दक्षिण के उद्यान में जाने का निषेध किया था। वह जानती थी कि वहां जाने से उसकी पोल खुल जाएगी। वही ‘रयणा देवी’ वाली दशा उन साधुओं और आचार्यों की है। उन्हें भय है कि भीखण्णजी के पास जायेंगे तो उन्हें शिथिलाचारी समझने लगेंगे और सम्भवतः सदा के लिये ही चले जायेंगे।’²

14. जैसे को तैसा

स्वामीजी के पास बहुधा अध्यात्म-चर्चा-रसिक व्यक्ति ही आया करते थे, परन्तु कभी-कभी ऐसे व्यक्ति भी आ जाते थे, जो केवल फल्गुवादी या वितण्डावादी होते थे। स्वामीजी ऐसे व्यक्तियों से प्रायः बचने का ही प्रयास करते, परन्तु कभी-कभी उन्हें ऐसा उत्तर भी देते थे जिसे ‘जैसे को तैसा’ कहा जा सकता है। ऐसा उत्तर देने में उनका उद्देश्य झगड़ा तथा वितण्डा करने वालों को तत्काल चुप तथा निरुत्तर कर देना होता था।

‘ता’ और ‘तं’ कितने?

स्वामीजी आउवा में विराजमान थे। नगजी नामक व्यक्ति ने पूछा—‘भीखण्णजी! सुना है, आप बड़े आगमज्ञ हैं, तो तत्काल बतलाइये कि ‘तस्मुत्तरी’ पाठ में ‘ता’ कितने हैं और ‘तं’ कितने हैं?’

1. घिकखु-दृष्टान्त, दृ. 250।

2. वही, दृ. 203।

स्वामीजी उस विचित्र प्रश्न को सुनकर जरा मुस्कराये और बोले—‘मैं तो कोई बहुत बड़ा आगमन नहीं हूं, परन्तु लगता है तुमने तो आगमों के अक्षर-अक्षर गिन रखे हैं। तुम्हीं बताओ, भगवती में ‘का’ कितने हैं और ‘कं’ कितने हैं? ‘खा’ कितने हैं और ‘खं’ कितने हैं?’

आगे चर्चा का मार्ग अवरुद्ध पाकर फल्गुवादी चुपचाप वहां से चलता बना।¹

धर्म हुआ या अधर्म?

आचार्य रुद्धनाथजी ने स्वामीजी से पूछा—‘भीखणजी! जोधपुर-नरेश विजयसिंहजी ने सरोवरों और कूपों पर राज्य की ओर से छनने रखवा दिए हैं और आदेश भी घोषित किया है कि प्रत्येक व्यक्ति पानी को छानकर ले जाए। उन्होंने दीपक पर ढक्कन रखने तथा वृद्ध माता-पिता की सेवा करने आदि के भी आदेश घोषित किए हैं। तुम बताओ, इन कार्यों में राजाजी को धर्म हुआ या अधर्म?’

स्वामीजी ने कहा—‘धर्म-अधर्म के निर्णय से पूर्व यह तो बतलाइये कि आप नरेश को सम्यक्त्वी मानते हैं या मिथ्यात्वी? क्योंकि हमारे मन्तव्य से तो मिथ्यात्वी व्यक्ति भी यदि सत्क्रिया करता है तो उसे धर्म होता है, परन्तु आपका मन्तव्य इससे सर्वथा विपरीत है कि मिथ्यात्वी व्यक्ति चाहे शील, सत्य और तप का आचरण क्यों न करता हो, पर वह सब धर्म का हेतु न होकर भव-बंधन का हेतु ही होता है।’

आचार्य रुद्धनाथजी उत्तर में कुछ नहीं बोले, क्योंकि नरेश को सम्यक्त्वी वे मानते नहीं थे और मिथ्यात्वी कहने पर स्वयं उनके ही मन्तव्यानुसार उनकी हर क्रिया भववर्धक सिद्ध हो जाती।²

कलाल का पानी

चेलावास के ठाकुर जूझारसिंहजी संतों के बड़े भक्त थे। एक बार आचार्य रुद्धनाथजी और स्वामी भीखणजी दोनों ही वहां आ गए। आचार्य रुद्धनाथजी ने स्वामीजी के विरुद्ध वातावरण बनाने के लिए जूझारसिंहजी के पास जाकर कहा—‘भीखण मेरा शिष्य है, परन्तु उत्पथगामी होकर वह दान और दया का विरोध करता है।’ वे बातें कर ही रहे थे कि संयोगवश उसी समय स्वामीजी भी वहां आ गये। ठाकुर ने पूछा—‘क्या आप दान और दया का विरोध करते हैं?’

स्वामीजी उनके प्रश्न से ही समझ गए कि आचार्यजी ने उनको क्या-कुछ समझाया है। ठाकुर के प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा—‘दान और दया का विरोध करेगा, वह साधु ही कैसे होगा? मैं उनका विरोध नहीं करता, परन्तु उनमें शुद्धाशुद्धि का विवेक रखने की बात कहता हूं।’

ठाकुर—‘यह तो कोई विपरीत बात नहीं हुई।’

1. भिक्खु-दृष्ट्यान्त, दृ. 40।

2. वही, दृ. 114।

स्वामीजी—‘यही तो आश्चर्य है कि जो विपरीत नहीं है, उसे विपरीत सिद्ध करने में एड़ी-चोटी का पसीना एक किया जा रहा है और जो विपरीत है, उसकी ओर से आंखें मूंदी जा रही हैं।’

ठाकुर—‘वह कैसे?’

स्वामीजी—‘ऐसे अनेक कार्य हैं, परन्तु अभी उदाहरणस्वरूप एक कार्य आपको बतला रहा हूँ। हम जैन संत प्रासुक—उष्ण जल काम में लेते हैं। घरों में वह थोड़ा-थोड़ा मिलता है। कलाल के यहां एक ही स्थान पर पर्याप्त मिल जाता है। परन्तु जहां शराब बनती है, वहां जल के लिए जाना मुझे तो व्यवहार-विपरीत लगता है। आप ही कहिए, आपको कैसा लगता है?’

ठाकुर—‘आप जल-ग्रहण की बात कहते हैं? मेरी दृष्टि से तो संतों को वहां जाना ही नहीं चाहिए। वहां रात-दिन शराब की भट्टियां चलती हैं। ऐसे स्थान पर जाने से लोक-निंदा की सम्भावना है।’

स्वामीजी—‘आप आचार्यजी से पूछिये कि ये वहां से पानी ग्रहण करते हैं या नहीं?’

ठाकुर उनसे कुछ पूछे, उससे पूर्व ही वे उठकर चल दिए।¹

विवाह के बिना धर्म नहीं

कुछ व्यक्ति स्वामीजी के पास आए और चर्चा करते हुए बोले—‘आप अहिंसा की कितनी भी प्रशस्ति क्यों न करें, परन्तु हिंसा के बिना धर्म हो नहीं सकता।’ उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा—‘दो श्रावक थे। उन्होंने चने खरीदे। उनमें से एक को उस दिन अग्नि के आरम्भ का त्याग था, अतः वह तो कच्चे ही चने चबाने लगा। दूसरे को त्याग नहीं था, उसने चनों के भूगड़े बना लिए। उसी समय एक तपस्वी साधु वहां आ गए। भूगड़ेवाले ने पात्र-दान देकर तीर्थकर-गोत्र उपार्जन किया। अग्नि के आरम्भ का जिसे त्याग था, वह देखता ही रह गया। उसके पास दान देने योग्य कोई वस्तु नहीं थी। इससे सिद्ध होता है कि हिंसा के बिना धर्म नहीं होता।’

स्वामीजी ने कहा—‘यदि तुम लोग ऐसा मानते हो तो एक दृष्टान्त मैं भी सुनाता हूँ—दो श्रावक थे। उनमें से एक ने यावज्जीवन के लिए पूर्ण शीलब्रत स्वीकार किया, तो दूसरे ने विवाह किया। उसके पांच पुत्र हुए। बड़े होने पर उनमें से दो को विराग हुआ, तब पिता ने बड़े हर्ष से दीक्षा की आज्ञा दी और उससे तीर्थकर-गोत्र का उपार्जन किया। जिसे विवाह का त्याग था, वह देखता ही रह गया। उसके कोई पुत्र नहीं था, अतः दीक्षा दे भी तो किसे?’

दोनों दृष्टान्तों की तुलना करते हुए स्वामीजी ने कहा—‘तुम्हारी मान्यता से हिंसा के बिना दान नहीं होता, अतः हिंसा मैं भी धर्म है, तो तुम्हें यह भी मानना होगा कि पुत्रोत्पत्ति के बिना दीक्षा नहीं दी जा सकती, अतः विवाह मैं भी धर्म है।’

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 266।

स्वामीजी के उक्त कथन का वे कोई उत्तर नहीं दे पाए, अतः वह चर्चा वहीं समाप्त हो गई।¹

तुमने भी व्यापार नहीं छोड़ा

रिंया में व्याख्यान देते समय स्वामीजी ने आचार की चौपट्टे के कुछ पद्म गाकर सुनाये और उनकी व्याख्या करते समय शिथिलाचार के विरुद्ध कुछ विचार व्यक्त किये।

मोतीरामजी बोहरा व्याख्यान सुनने के लिए आए हुए थे। वे स्वामीजी के कट्टर विरोधी थे। उन्हें वे विचार बिलकुल रुचिकर नहीं लगे। उन्होंने स्वामीजी से कहा—‘भीखण्णजी! बंदर बूढ़ा हो जाता है तो भी छलांग लगाना नहीं छोड़ता। वही स्थिति तुम्हारी भी है। बूढ़े हो गए हो, फिर भी दूसरों का खंडन करना नहीं छोड़ा है।’

स्वामीजी बोले—‘मेरा कार्य साध्वाचार को सुदृढ़ करना तथा शिथिलाचार को दूर हटाना है। इसे छोड़ा कैसे जा सकता है? तुम अपना ही उदाहरण क्यों नहीं लेते? तुम्हारे पिता ने व्यापार किया और हुंडियां लिखीं, तुम्हारे दादा ने भी वैसा ही किया था और मैं देखता हूं कि अभी तक तुमने भी दुकान उठाई नहीं है।’

दीपचंदजी मुणोत मोतीरामजी के साथ स्वामीजी के पास गए थे। उक्त वार्तालाप के पश्चात् जब वे घर आए, तो अपने मित्रों और सम्बन्धियों से कहा—‘मोतीरामजी के लिए भीखण्णजी के जो शब्द निकले हैं, उनसे लगता है कि निकट भविष्य में ही उनकी दुकान बन्द हो जाएगी।’ संयोग ही कहना चाहिए कि कुछ दिन ही व्यतीत हो पाए थे कि दिवाला निकल जाने के कारण उन्हें अपना व्यापार बन्द कर देना पड़ा।²

पानी से ज्ञानी नहीं

रिंया में अमरसिंहजी के टोले के मुनि तिलोकजी स्वामीजी के पास आए और चर्चा करने लगे। जब स्वामीजी के उत्तरों पर प्रत्युत्तर देना कठिन पड़ने लगा, तब रोब जमाने की दृष्टि से बोले—‘मुझे क्या बताते हो, मैंने आगरे और दिल्ली का पानी पीया है।’

स्वामीजी ने कहा—‘आगरे और दिल्ली में तो कसाईखाने भी चलते हैं। वहां का पानी पीने से कोई ज्ञानी नहीं बन जाता। तत्त्व-चर्चा के लिए आगम-ज्ञान की गहराई चाहिए। वह हो तो बोलो, अन्यथा इधर-उधर की बातें करना निरर्थक है।’

मुनि तिलोकजी ने अपनी बात जमती नहीं देखी, तब चुपचाप वहां से चलते बने।³

दो अधिक सही

मुनि कुशलोजी और मुनि तिलोकजी स्थानकवासी सम्प्रदाय के अपने टोले से पृथक् होकर स्वयं को सर्वाधिक दृढ़ आचारी जतलाने के लिए इस प्रकार की प्रस्तुपणा करने

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 210।

2. वही, दृ. 23।

3. वही, दृ. 24।

170 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
लगे— साधु को केवल तीसरे प्रहर में ही गोचरी करनी चाहिए, गांव में नहीं रहना चाहिए, मिठाई आदि सरस तथा घृत आदि गरिष्ठ पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए आदि।

एक बार किसी गांव में स्वामीजी पधारे तो पाया कि उक्त दोनों मुनि वहां प्रथम प्रहर में गोचरी कर रहे थे। स्वामीजी कब चूकने वाले थे? तत्काल उनसे पूछ लिया—‘तुम लोग तो केवल तीसरे प्रहर में गोचरी करने की प्ररूपणा करते हो, फिर यह प्रथम प्रहर में गोचरी कैसे हो रही है?’

कुशलोजी ने तमकते हुए कहा—‘कौन कर रहा है गोचरी? हम तो धोवन-पानी की गवेषणा कर रहे हैं।’

स्वामीजी ने कहा—‘पानी कौनसा आहार से बाहर है? वह भी चतुर्विध आहार के अन्तर्गत आता है। पानी यदि प्रथम प्रहर में ले सकते हैं तो रोटी लेने में क्या अड़चन है?’

कुशलोजी इसका कोई उत्तर नहीं दे सके तब बौखलाते हुए बोले—‘तुम तेरापन्थियों ने दान और दया को समाप्त कर दिया है, अतः हम तुम्हें सारे संसार में बदनाम कर देंगे।’

स्वामीजी मुस्कराये और कहने लगे—‘कोई बात नहीं। मुझे यह धमकी और भी बहुत व्यक्ति देते रहते हैं। लोगों का कथन है कि मुनि-वेष में रहने वाले दो हजार व्यक्ति मेरे विरोधी हैं। यदि पूरे हैं, तो दो अधिक हुए सही। यदि दो कम हैं, तो चलो, आज पूरे हो गये। गाड़ी में छाज का कौनसा भार होता है?’¹

पांच रूपये की आज्ञा

पाली के बाबेचा परिवार के कुछ व्यक्तियों ने स्थानीय ब्राह्मणों को स्वामीजी के विरुद्ध खड़ा करने की दृष्टि से कहा—‘तुम लोगों को दान देने की इच्छा तो थी, परन्तु भीखण्जी कहते हैं कि इनको देने में पाप होता है, इसलिए अब देने से मन हट गया है।’

ब्राह्मण बहुत कुद्द दुःख हुए। वे एकत्रित होकर तत्काल स्वामीजी के पास आये और कहने लगे—‘आप हमें दान देने में पाप कहते हैं, अतः बाबेचा परिवार के लोगों ने हमें दान देना बन्द कर दिया है। यह कार्य आपने उपयुक्त नहीं किया। हमारी तो जीविका ही मारी गई।’

स्वामीजी ने कहा—‘मैंने बाबेचों को तुम्हें देने से कभी निषेध नहीं किया है। वे लोग यदि तुम्हें पांच रूपये भी दें, तो मुझे निषेध करने का त्याग है।’

ब्राह्मण भागते हुए बाबेचों के पास आये और बोले—‘स्वामीजी ने पांच रूपये देने की आज्ञा प्रदान की है। लाइये दीजिए।’

देना किसको था। वे तो केवल उन्हें स्वामीजी से भिड़ाना चाहते थे। परन्तु स्वामीजी ने ऐसा उत्तर दिया कि उलटे लेने के देने पड़ गये!²

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 75।

2. वही, दृ. 95।

15. पात्रानुसार उत्तर

भाजन देखकर

स्वामीजी प्रत्युत्पन्नमति वाले व्यक्ति थे। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर जैसे उनके पास तैयार रहता था। एक ही प्रसंग को अनेक प्रकार से समझाने का उनमें विचित्र सामर्थ्य था। वे उत्तर प्रायः समय और व्यक्ति को देखकर देते थे। पाव किलो के भाजन में पांच किलो और पांच किलो के भाजन में पाव किलो पकाने की वृत्ति उन्हें पसन्द नहीं थी। यह भी कहा जा सकता है कि वे उतना ही वैचारिक भोजन परोसने के पक्षधर थे, जिससे भोक्ता को न भूखा रहना पड़े और न अजीर्ण का ही सामना करना पड़े। वास्तव में पात्रानुसार उत्तर देने में वे बड़े निपुण थे।

जितना गुड़, उतना मीठा

सं. 1845 का चतुर्मास स्वामीजी ने पीपाड़ में किया। वहां एक गैबीरामजी चारण जाति के भक्त रहा करते थे। उनके वहां प्रतिदिन भजन-कीर्तन होता तथा समागम भक्तों को लपसी खिलाई जाती थी। स्वामीजी के विरोधियों ने भिड़ाने की दृष्टि से उनको कहा—‘तुम प्रतिदिन भक्तों को लपसी खिलाते हो, उसमें भीखणजी पाप कहते हैं, इस विषय में उनसे पूछकर तो देखो।’

गैबीरामजी उनकी बातों में आ गये। उन्होंने अपना घोटा उठाया और पैरों में धुंधरुओं को धमकाते हुए स्वामीजी के पास आये। उन्होंने पूछा—‘भीखण बाबा! मैं भक्तों को लपसी खिलाता हूं, इससे मुझे क्या फल होता है?’

स्वामीजी तत्काल समझ गये कि भिड़ाने की दृष्टि से किसी विरोधी ने इनको बहकाया है। ब्रत-अब्रत तथा संयम-असंयम आदि जैन तत्त्वों और मान्यताओं को उन्हें तत्काल समझा पाना संभव नहीं था, अतः स्वामीजी ने प्रसंग को जरा घुमाव देते हुए कहा—‘लपसी में जितना गुड़ डालते हो, वह उतनी ही मीठी होती है। उसका मीठापन जैसे गुड़ की मात्रा पर निर्भर है, वैसे ही शुभाशुभ फल भी भावना पर निर्भर है। तुम्हारी भावना जितनी अधिक विशुद्ध होगी, उतना ही अधिक शुभ फल होगा।’

स्वामीजी के उत्तर से वे बहुत प्रसन्न हुए। नाचते हुए बाजार में गये और उन लोगों से बोले—‘भीखण बाबा ने बहुत अच्छा उत्तर दिया है।’

विरोधी लोग चकित होकर सोचने लगे कि भीखणजी ने क्षणभर में ही इनको कैसे समझा दिया? क्या उन्होंने पहले से ही घड़ा-घड़ाया उत्तर तैयार कर रखा था? ¹

पांचलड़ा जीव

स्वामीजी पुर में पधारे। वहां मेघजी भाट चर्चा करने के लिए आये। वे कालवादी साधुओं के अनुयायी थे। उन्होंने कहा—‘भीखणजी! आपने एक पद्म में कहा है—‘एकलड़ो

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 201

172 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
जीव खासी गोता' परन्तु आपकी मान्यता के हिसाब से तो वहां 'पांचलड़ो जीव खासी
गोता' होना चाहिये, क्योंकि नव पदार्थों में आपने पांच को जीव माना है। तब वह सहज
ही पांचलड़ा सिद्ध हो जाता है।

स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा—यद्यपि मेरे पद्य में प्रयुक्त 'एकलड़ो' शब्द का अर्थ
'अकेला' ही है, 'इकहरा' नहीं, फिर भी यदि कालवादी उसका अर्थ 'इकहरा' मानकर
'पंचलड़े' का सुझाव देते हैं तो पहले स्वयं उन्हें 'चारलड़ा' जीव होने की अपनी मान्यता
घोषित करनी पड़ेगी।

मेघजी—‘वह कैसे ?’

स्वामीजी—‘कालवादी सिद्धों में कितनी आत्मा मानते हैं ?’

मेघजी—‘चार।’

स्वामीजी—‘उन चारों को वे जीव मानते हैं या अजीव ?’

मेघजी—‘जीव मानते हैं।’

स्वामीजी—‘कालवादी सिद्धों में चार आत्मा मानते हैं और उन चारों को जीव मानते
हैं, तब 'चोलड़ा' जीव तो उनके कथन से ही सिद्ध हो जाता है। हमारे और उनके कथन में
एक लड़ का ही तो अन्तर रहा।’

मेघजी—‘आपकी बुद्धि बड़ी गजब की है। हर चर्चा का उत्तर आपके पास तैयार
रहता है।’¹

अभी चर्चा मत करो

आमेट में स्वामीजी का पदार्पण हुआ। वहां पुर के काफी लोग दर्शन करने के
लिए आये। परस्पर तत्त्व-चर्चा करते समय एक प्रश्न उठा कि छह पर्याप्ति और दस प्राण
जीव हैं या अजीव ? कई व्यक्ति उन्हें जीव कहते थे, कई अजीव। कुछ गरम प्रकृति के
व्यक्तियों ने उस तत्त्व-चर्चा को विवाद में परिणत कर दिया। जब झगड़ा बहुत तीव्रता पर
पहुंच गया, तब किसी समझदार भाई ने उन सब से कहा—‘इसका निर्णय हमें स्वामीजी से
पूछ कर करना चाहिए।’ उसके दबाव देने पर वे लोग स्वामीजी के पास आये, परन्तु वहां
भी उन्होंने अपने-अपने पक्ष पर झगड़ा प्रारम्भ कर दिया।

स्वामीजी ने जब देखा कि दोनों ही पक्ष इस समय पूर्ण आग्रह पर हैं, जिज्ञासा किसी
को नहीं है, तब उन्होंने कहा—‘इस समय दिया गया मेरा उत्तर तुम्हरे में ज्ञान की अपेक्षा
जय-पराजय के भाव ही अधिक जगायेगा, अतः इस विषय में अभी मुझे कुछ नहीं कहना
है। तुम लोगों के लिए भी यही उचित है कि मौन हो जाओ और इस संबंध की अभी कोई
चर्चा मत करो।’ यों समझाकर दोनों पक्षों को शान्त किया और उनका तनाव मिटाया।²

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 50।

2. वही, दृ. 256।

अपने प्रश्न को संभालो

स्वामीजी भीलवाड़ा में थे। वहां कुछ व्यक्ति चर्चा करने के लिए आये। उन्होंने पूछा—‘भीखण्णजी! किसी श्रावक ने पाप का सर्वथा त्याग कर दिया हो, तो उसे आहार-पानी देने में क्या हुआ?’

स्वामीजी—‘धर्म हुआ।’

आगन्तुक—‘आप धर्म कैसे कहते हैं? आपकी श्रद्धा के अनुसार तो श्रावक को देना अब्रत का पोषण है, वह धर्म न होकर पाप ही होना चाहिए।’

स्वामीजी—‘तुम पहले अपने प्रश्न को संभाल लो। जिस श्रावक ने पाप का सर्वथा त्याग कर दिया, वह श्रावक न रहकर साधु ही हो गया। साधु को देना अब्रत का नहीं, ब्रत का पोषक है।’¹

आज्ञा दी, वह धर्म है

एक व्यक्ति ने स्वामीजी से पूछा—‘पौष्टि करने वाले को अपना मकान दिया, उसे क्या हुआ?’

स्वामीजी—‘अपने मकान में पौष्टि करने की आज्ञा देने वाले को धर्म ही हुआ।’

वह व्यक्ति—‘मैं आज्ञा देने की बात नहीं पूछता, मकान देने की बात पूछता हूँ?’

स्वामीजी—‘पौष्टि के लिए मकान देने का अर्थ उसका स्वामित्व देना नहीं है। उसका तात्पर्य तो अपने स्थान में पौष्टि करने की आज्ञा देना ही होता है, और वह धर्म है। स्थान तो परिग्रह है। उसका सेवन करना तथा करवाना धर्म नहीं होता।’²

16. मानव-मन के पारखी

तलस्पर्शी ज्ञान

स्वामीजी मनुष्य के मन में उठने-गिरने वाले भावों को बहुत शीघ्र पकड़ लिया करते थे। आवश्यक होने पर जब-कभी वे किसी की अन्तर्शिच्छित भावना को खोलकर बाहर प्रकट कर देते, तब लोग आश्चर्यचिकित होकर सोचा करते कि स्वामीजी ने इस रहस्य को कैसे जाना? वस्तुतः वे मानव-मन के एक अनन्य पारखी थे।

किसी भावना का कोई बिन्दु भी यदि उनकी पकड़ में आ जाता तो वे उसी के आधार पर अन्य अनेक बिन्दुओं का अनुमान लगाकर पूरी घटना को जान लेते। उनका प्रत्येक अनुमान प्रायः इतना सत्य निकलता कि देखने-सुनने वाला यही समझता, मानो स्वामीजी ने किसी विशिष्ट ज्ञान से उसे जाना है। उस युग में दूसरे की मनोभावना को परखने में उन जैसा पटु व्यक्ति शायद ही कोई दूसरा रहा हो। उनका ज्ञान सतही नहीं, तलस्पर्शी होता।

1. षिक्ख-दृष्टान्त, दृ. 2011।

2. वही, दृ. 237।

केलवा की एक बहिन अपना बड़प्पन दिखाने के लिए लोगों के समुख बार-बार कहा करती—‘इस बार स्वामीजी यहां पधारेंगे, तब मैं उनके पास दीक्षा ग्रहण कर लूँगी।’

कुछ समय के अनन्तर स्वामीजी विहार करते हुए वहां पधार गये। उस बहिन को जब यह पता चला तो ऐसी घबरायी कि सहसा ज्वरग्रस्त हो गयी। सन्ध्या के समय ज्वर कुछ हलका पड़ा, तब दर्शन करने आयी। थरथराती आवाज में उसने कहा—‘स्वामीजी! आपका पदार्पण हुआ और मुझे ज्वर चढ़ आया।’

स्वामीजी को उसकी दीक्षा-सम्बन्धी घोषणा का पता था; अतः उसके मन को पढ़ते हुए पूछा—‘कहीं दीक्षा के भय से तो तुझे ज्वर नहीं हो गया है?’

वह बोली—‘स्वामीजी! मन में थोड़ी घबराहट तो अवश्य हुई थी।’

स्वामीजी—‘तुम्हारा मन इतना निर्बल है, तब दीक्षा लेने की घोषणा क्यों करती रहती हो? दीक्षा कायरों का नहीं, वीरों का मार्ग है।’¹

जामाता रोने लगे तो?

खैरवा-निवासी चतरोजी ने स्वामीजी से कहा—‘मेरे मन में दीक्षा लेने की भावना उठती है।’

स्वामीजी—‘तुम्हारा हृदय बहुत कच्चा है। परिवार का मोह भी बहुत गहरा है। जब तक वह नहीं छूटता, दीक्षा कैसे आ सकती है? सम्भव है, दीक्षा की बात चलाते ही तुम्हारे पुत्र रोने लगें और फिर तुम भी उनके साथ-साथ रोने लग जाओ।’

चतरोजी—‘स्वामीजी! स्थिति तो यही है। परिवार वालों से जब कभी बिछुड़ने का अवसर आता है, आंखें तो भर ही जाती हैं।’

स्वामीजी ने उदाहरण दिया—‘जामाता गौना कराने ससुराल जाता है, तब विदा के समय माता-पिता आदि से बिछुड़ने के दुःख में लड़की रोने लगती है, पर उसे रोता देखकर जामाता भी रोने लगे, तो जग-हंसाई होती है। इसी प्रकार दीक्षा लेते समय सांसारिक व्यक्ति तो अपना स्वार्थ छूटने पर दुःख करने तथा रोने लगते हैं, पर जिसे दीक्षा लेनी हो—परमार्थ की ओर चलना हो, वह रोने लग जाये तो कितना विपरीत लगे? इसीलिए तुम्हारे जैसे निर्बल हृदय का व्यक्ति दीक्षा के योग्य नहीं हो सकता।’²

नया कलह मत कर आना

स्वामीजी का चतुर्मास सिरियारी में था। पोतियाबन्द सम्प्रदाय के कपूरजी नामक भाई तथा कुछ बहिनें भी वहीं चतुर्मास कर रही थीं। बहिनों के साथ किसी विषय को लेकर कपूरजी का तनाव हो गया। संवत्सरी आयी, तब ‘खमत-खामणा’ करने के लिए

1. भिक्खु-दृष्ट्यान्त, दृ. 36।

2. वही, दृ. 37।

कपूरजी बहिनों के स्थान की ओर जा रहे थे। स्वामीजी ने उनको देखा, तो पूछ लिया—‘कपूरजी! आज इधर कहां जा रहे हो?’

कपूरजी बोले—‘बहिनों से तनाव चल रहा था, अतः ‘खमत-खामणा’ करने जा रहा हूँ।’

स्वामीजी—‘जा तो रहे हो, परन्तु नया कलह मत कर आना।’

कपूरजी—‘पिछले कलह के लिए जब ‘खमत-खामणा’ करने जा रहा हूँ तब नये कलह की क्या बात हो सकती है?’

वे बहिनों के स्थान पर गये और कहने लगे—‘मैं तुम लोगों से ‘खमत-खामणा’ करता हूँ। तुमने तो दुष्टता करने में कोई कमी नहीं रखी, पर मुझे राग-द्रेष नहीं बढ़ाना है।’

बहिनों ने कहा—‘दुष्टता तुमने की या हमने?’

और फिर उत्तर-प्रत्युत्तर में पहले से भी अधिक झगड़ा हो गया।

कपूरजी वापस आते समय स्वामीजी से बोले—‘भीखण्जी! कलह तो मिटने के स्थान पर बढ़ ही गया। परन्तु आपको कलह बढ़ाने की पहले ही शंका कैसे हो गयी थी।’

स्वामीजी ने कहा—‘तुम्हारा बोलने का जो ढंग है, वह मुझसे छिपा नहीं है।’¹

मुझे ही सत्य किया

मुनि अखैरामजी कुछ अस्थिर परिणामी थे। एक बार उनके विषय में बात करते हुए मुनि खेतसीजी ने स्वामीजी से कहा—‘अब तो मुनि अखैरामजी स्थिर हो गये लगते हैं।’

स्वामीजी ने कहा—‘पूरा विश्वास नहीं आता।’

उक्त बात किसी ने मुनि अखैरामजी से कह दी। वे बहुत अप्रसन्न हुए। उसके पश्चात् वे राजनगर चतुर्मास करने के लिए गये। वहां स्वामीजी के अनेक दोष पत्र में लिखे और संघ से पृथक् हो गये? चतुर्मास की समाप्ति पर विहार करते हुए वे उन्हीं गांवों में आये, जहां स्वामीजी थे। उन्हें देखते ही मुनि खेतसीजी वन्दन करने के लिए उठे, तब मुनि अखैरामजी ने कहा—‘अब हम परस्पर साम्भोगिक नहीं हैं।’

मुनि खेतसीजी ने धैर्यपूर्वक उन्हें बहुत समझाया, तब वे स्वामीजी के पास आये और आंसू टपकाते हुए बोले—‘मुनि खेतसीजी ने तो मेरे प्रति विश्वास व्यक्त किया था, परन्तु आपने अविश्वास व्यक्त किया। उसी से मेरा मन अत्यन्त खिन्न हो गया और मैंने यह भूल कर दी।’

स्वामीजी ने कहा—‘मैंने अविश्वास व्यक्त किया था, तो तुम उसे अपने आचरण से मिटाते। पृथक् होकर तो तुमने मुझे ही सत्य सिद्ध किया। सरल-स्वभावी खेतसीजी ने तुम्हारा विश्वास किया, तो उन्हें असत्य सिद्ध होना पड़ा।’

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 82।

मुनि अखेरामजी स्वामीजी के चरणों में गिर पड़े और अपने सुधार का संकल्प किया। स्वामीजी ने तब उनको पुनः संघ में सम्मिलित कर लिया।¹

निंदा के लिए तो नहीं

स्वामीजी की मान्यता थी कि संयमी को दान देना मोक्ष-मार्ग है और असंयमी को देना संसार-मार्ग। उक्त तात्त्विक विवेचन को आधार बनाकर विरोधी लोग उन्हें दान-विरोधक या दान-निषेधक कहा करते थे। एक दिन एक व्यक्ति ने सभा में खड़े होकर स्वामीजी से कहा—‘मुझे असंयमी को दान देने का परित्याग करा दें।’

स्वामीजी ने उसकी अन्तरंग भावना को पढ़ते हुए कहा—‘ये प्रत्याख्यान तुम विराग-भाव से करते हो या हमें निन्दित करने की भावना से?’

स्वामीजी के इस अप्रत्याशित प्रश्न ने उसे हड्डबड़ा दिया। वह वस्तुतः स्वामीजी के विरुद्ध प्रचार करने के लिए ही वैसा कर रहा था।²

पूछते हैं, वहां नहीं जाते

मुनि चन्द्रभाणजी संघ से पृथक् होकर गांव-गांव में स्वामीजी की निंदा करने लगे। स्वामीजी ने तब उनका पीछा किया और उनके द्वारा फैलाये गये भ्रम को दूर किया। स्वामीजी उनका पीछा न कर सकें, इसीलिए वे मार्ग तो किसी अन्य गांव का पूछते और जाते किसी अन्य गांव में। स्वामीजी जब उनके विहार के विषय में पूछताछ करते, तो लोग कहते, अमुक गांव का मार्ग पूछ रहे थे। स्वामीजी तब उस गांव की ओर न जाकर अनुमान से किसी अन्य गांव की ओर विहार कर देते।

साथ के साथ स्वामीजी से कहते कि उन्होंने जब उस गांव का मार्ग पूछा है, तब आप उसे छोड़कर अन्य गांव की ओर क्यों पधारते हैं?

स्वामीजी कहते—‘मैं उनकी चालाकी को जानता हूं। वे हमें भ्रान्त करने के लिए ऐसा करते हैं।’

स्वामीजी का अनुमान ठीक निकलता। वे उसी गांव में आगे तैयार मिलते, जहां स्वामीजी अनुमान से पधारते।³

कलह के लिए आए हैं

स्वामीजी ढूँढाड़ के एक गांव में पधारे। वहां दिग्म्बर सम्प्रदाय के श्रावक चर्चा करने के लिए आये। उनका कथन था, वस्त्र रखना साधुता में बाधक है। उसका खंडन करते हुए स्वामीजी ने जो तर्क उपस्थित किये, उनका वे कोई प्रत्युत्तर नहीं दे पाये। एक प्रकार से पराजय का भाव लेकर ही वे लोग उस दिन वहां से गये। दूसरे दिन उन्होंने उस

1. भिक्खु दृष्टान्त, दृ. 49।

2. वही, दृ. 118।

3. वही, दृ. 195।

पराजय का बदला लेने का विचार किया और बहुत-सारे व्यक्ति एकत्रित होकर आये। एकत्रित होते समय एक-दूसरे की प्रतीक्षा में उन्हें बहुत विलंब हो गया। वे आये, तब स्वामीजी शौचार्थ जाते हुए उन्हें मार्ग में मिले। वे कहने लगे—‘हम तो कल की चर्चा का उत्तर देने के लिए आये थे, पर आप पहले ही बाहर की ओर चल दिये।’

स्वामीजी ने उनके बोलने के प्रकार को परखा और आकृति पर उभे भावों को पढ़ते हुए कहा—‘आज तो आप लोग चर्चा के लिए नहीं, किन्तु कलह के लिए उद्यत होकर आये लगते हैं।’

एक व्यक्ति गरम होकर बोल पड़ा—‘क्या आपको केवलज्ञान हो गया है, जो ऐसी बात कहते हैं?’

स्वामीजी बोले—‘इतना-सा जानने में केवलज्ञान की क्या आवश्यकता है? यह सब तो तुम्हारी मनःस्थिति को देखकर मतिज्ञान से भी जाना जा सकता है।’

उनमें से कुछ सरल व्यक्तियों ने स्वीकारते हुए कहा—‘भीखण्डी! हमारी मनःस्थिति को आपने ठीक-ठीक भांप लिया।’¹

17. विनोदी स्वभाव

आहाद बांटते

स्वामीजी स्वभाव के जितने गम्भीर थे, उतने ही विनोदी भी। समय-समय पर अपने शिष्य-वर्ग से तो विनोदभरी बातें वे करते ही थे, पर जो व्यक्ति उनका निरन्तर विरोध करते रहते थे, उनके साथ भी वे व्यावहारिक स्तर पर मधुर और विनोदपूर्ण वार्तालाप करने में कभी नहीं चूकते थे।

स्वामीजी का विनोद कभी शब्द-प्रधान होता तो कभी घटना-प्रधान। तात्त्विक प्रसंगों को भी कभी-कभी वे अपने विनोद से इतना मधुर बना देते कि सुनने वाले मुदित हो उठते। दैनिक जीवन तथा व्यवहार की साधारण से साधारण घटना को थोड़ा-सा शाल्विक या भावात्मक मोड़ देकर वे उसे अत्यन्त मनोमुग्धकारी बना दिया करते थे। यही कारण था, उनका जीवन विरोधियों एवं उनके द्वारा खड़ी की गई विविध कठिनाइयों से निरन्तर धिर होने पर भी नीरस न होकर सदैव सरस रहता था। इसीलिए वे अपने साथ रहने वालों तथा संपर्क में आने वालों को ऊब न बांटकर आहाद ही बांटा करते थे।

कितनी मूर्तियाँ?

स्वामीजी एक बार स्थानक में गये और वहां ठहरे हुए साधुओं से मिले। बातचीत करने के पश्चात् स्वामीजी ने उनसे पूछा—‘आप लोग यहां कितनी मूर्तियाँ हैं?’

उन साधुओं ने अपनी संख्या बतला दी। स्वामीजी जरा मुस्कराए और वहां से वापस अपने स्थान पर आ गये।

1. भिक्खु दृष्टान्त, दृ. 30।

स्वामीजी की मुस्कराहट ने उन लोगों को शंकाशील बना दिया। तभी वहां उपस्थित एक व्यक्ति ने कहा—‘भीखण्जी तो तुम्हें ‘भगत’ (वैष्णव साधु) बना गये।’

स्वामीजी के उस सूक्ष्म विनोद पर वे साधु बड़े चकराये। बदला लेने की दृष्टि से स्वामीजी के पास आकर उन्होंने पूछा—‘भीखण्जी! आप लोग कितनी मूर्तियां हैं?’

स्वामीजी ने हंसते हुए कहा—‘वह तो उसी अवसर की बात थी। अब इस प्रकार अपनी असावधानी का बदला नहीं उतारा जा सकता है। हम तो ‘मूर्ति’ नहीं, इतने साधु हैं।’¹

ढंडण से कम नहीं

सं. 1859 के शेषकाल में स्वामीजी देवगढ़ पधरे। स्वामीजी सहित 14 साधु और 24 साधियां, कुल 38 ‘ठाणे’ थे। कुछ दिन पश्चात् स्थानकवासी सम्प्रदाय के 3 साधु भी वहां आ गये। एक दिन गोचरी के समय मार्ग में वे स्वामीजी से मिले और खीझभरी निराशा के स्वर में कहने लगे—‘भीखण्जी! हम तीन साधुओं को भी पूरा आहार नहीं मिल पा रहा है, तब आप लोगों को—इतने साधु-साधियों को आहार कैसे मिलता होगा?’

स्वामीजी ने उनकी निराशा को अपने विनोद से हलका बनाते हुए कहा—‘आप लोग ढंडण मुनि से कोई कम थोड़े ही हैं? द्वारिका में सहस्रों साधु-साधियों को आहार मिलता था, परन्तु अकेले ढंडण मुनि के ही ऐसा कर्मोदय था कि उन्हें नहीं मिल पाता था।’

स्वामीजी के मुख से विनोद में ही सही, ढंडण मुनि से अपनी तुलना सुनकर वे कृतार्थ हो गये। आहार उनको पूरा न भी मिला होगा, पर स्वामीजी ने उनकी झोली प्रसन्नता से पूरी भर दी थी।²

एक अक्षर का अन्तर

एक व्यक्ति ने स्वामीजी से पूछा—‘आपमें और अमुक सम्प्रदायवालों में कितना अन्तर है?’

स्वामीजी अधिक विवरण में जाना नहीं चाहते थे, अतः बोले—‘मात्र एक अक्षर का ही अन्तर है।’

वह व्यक्ति आश्चर्यचकित होकर कहने लगा—‘मैंने तो समझ रखा था कि कोई बहुत बड़ा अन्तर होगा, तभी तो वे लोग प्रत्येक स्थान पर आपका तीव्र विरोध तथा खुली निन्दा करते हैं।’

स्वामीजी ने अपने भाव को थोड़ा-सा स्पष्ट करते हुए कहा—‘साधु बनकर भी यदि कोई साधुता के नियम न पाले, तो वह असाधु कहलाता है। साधु और असाधु में एक अक्षर का ही तो अन्तर होता है।’³

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 102।

2. वही, दृ. 110।

3. वही, दृ. 215।

आबू गढ़ या नहीं?

पुर में छाजूजी खाभिया स्वामीजी के पास आये। वे मूर्तिपूजक आम्नाय के थे। तीर्थक्षेत्रों का माहात्म्य बतलाते हुए उन्होंने स्वामीजी को एक गीतिका सुनायी। उसके एक पद्य में कहा गया था—

आबू गढ़ तीर्थ नहीं जुहार्यो, तिण अहल जमारो हार्यो।

स्वामीजी ने पूछा—‘तुम कभी आबू गढ़ गये या नहीं?’

छाजूजी बोले—‘मुझे अभी तक यह सौभाग्य नहीं मिला है।’

स्वामीजी ने कहा—‘तब तो आज तक का तुम्हारा जीवन निरर्थक ही गया।’

छाजूजी अपनी निरुत्तरता की खीझ मिटाते हुए बोले—‘आपने तो मेरी बात मेरे ही गले में डाल दी।’¹

जोड़ना अच्छा या तोड़ना?

एक व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—‘आप इतनी ‘जोड़’ (पद्य-रचना) क्यों करते हैं? आपकी ये जोड़ें झगड़ा बढ़ाती हैं।’

स्वामीजी ने कहा—‘एक साहूकार के दो पुत्र थे। उनमें से एक तो संपत्ति जोड़ता था और दूसरा तोड़ता—अपव्यय करता था। अब तुम ही बताओ उन दोनों में जोड़ने वाले को अच्छा कहा जाये या तोड़ने वाले को?’

वह व्यक्ति बोला—अच्छा तो संपत्ति जोड़ने वाले को ही कहा जायेगा।

स्वामीजी ने कहा—‘तो फिर तुम जोड़ने वाले को उपालम्भ देने क्यों आये हो?’

और तब उपस्थित व्यक्तियों की सम्मिलित हँसी में उनकी शिकायत वहीं समाप्त हो गई।²

बाजोट टूटे तो?

स्वामीजी अन्य सम्प्रदाय के कुछ साधुओं से बात कर रहे थे। उनमें से एक साधु ने अपने सम्प्रदाय की विशेषता की छाप डालने के लिए स्वामीजी से कहा—‘हमारे यहां तो सूई टूट जाने पर तेले का प्रायश्चित्त दिया जाता है।’

स्वामीजी कब चूकने वाले थे। वे बोले—‘बाजोट टूट जाने पर तो फिर आपके यहां संथारा करवाया जाता होगा।’

स्वामीजी के कथन ने शेखी बघारनेवाले को जहां चुप कर दिया, वहां अन्य सभी को हास्य-निमज्जित कर दिया।³

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 238।

2. वही, दृ. 243।

3. वही, दृ. 282।

वह पैर सरकाया

मुनि वेणीरामजी अपनी बाल्यावस्था में भी बड़े स्पष्टवादी थे। कभी-कभी तो वे स्वामीजी तक में दोष निकाल देते थे। एक दिन वे स्वामीजी से कुछ दूर सामने ही बैठे थे। स्वामीजी ने उनको छकाने की सोची। उन्होंने उनकी दृष्टि को बचाकर भूमि-प्रतिलेखन किया और पार्श्वस्थित सन्तों से यह कहते हुए पैर को आगे सरकाया कि देखें, अब बेणा क्या कहता है?

मुनि वेणीरामजी ने उसी समय उधर देखा और बोल उठे—‘वह स्वामीजी ने अयत्ता से पैर सरकाया है।’

स्वामीजी तथा वहां उपस्थित सभी साधु हंस पड़े। स्वामीजी ने कहा—‘बेणा की तीक्ष्ण दृष्टि भी आज चूक गई।’

मुनि वेणीरामजी ने तब क्षमा मांगकर अपनी झेंप मिटाई।¹

काचरी की कमी

मुनि हेमराजजी दीक्षित होने को तैयार हुए, तब एक व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—‘हेमजी दीक्षा को तैयार तो हुए हैं, परन्तु उनमें तमाकू पीने का व्यसन है। जब तक वे उसे नहीं छोड़ देते, उन्हें दीक्षित नहीं करना चाहिए।’

स्वामीजी ने कहा—‘काचरी की कमी से कोई विवाह थोड़े ही रोका जाता है?’²

सूत्र-व्यतिरिक्त

एक बार मुनि वेणीरामजी ने मुनि हेमराजजी की शिकायत करते हुए स्वामीजी से कहा—‘हेमजी को कोई भी व्याख्यान अस्खलित रूप से कण्ठस्थ नहीं है। जहां अटकते हैं, वहां मनमाने ढंग से जोड़कर गा देते हैं, यह अच्छा नहीं है।’

स्वामीजी ने बात को विनोद की ओर मोड़ते हुए कहा—‘केवली सदा सूत्र-व्यतिरिक्त ही होते हैं। वे जो बोलते हैं, वही सूत्र बन जाता है।’³

खोटा काम

पीपाड़ में आचार्य रुद्धनाथजी के एक शिष्य मुनि जीवणजी स्वामीजी से मिले। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने कहा—‘साधु का भोजन करना अब्रत-सेवन है।’

स्वामीजी साधु के भोजन को अब्रत-सेवन नहीं मानते थे, क्योंकि वह रस-लोलुपता या केवल शरीर-पोषण के लिए न होकर संयम-पोषण के लिए होता है। उन्होंने कहा—‘भगवान् अब्रत-सेवन की आज्ञा नहीं देते। साधु को भोजन करने की आज्ञा उन्होंने दी है, अतः वह अब्रत-सेवन कैसे हो सकता है?’

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 162।

2. वही, दृ. 167।

3. वही, दृ. 195।

मुनि जीवणजी—‘भीखण्णजी! आप चाहे कुछ भी कहें, वस्तुतः भोजन का त्याग ही अच्छा होता है, भोजन करना नहीं।’

स्वामीजी—‘साधु के भोजन को अच्छा कार्य नहीं मानोगे, तो क्या खोटा कार्य मानोगे?’

मुनि जीवणजी—‘प्रत्यक्ष ही खोटा है।’

स्वामीजी ने इस पर उन्हें कुछ भी नहीं कहा और वे अपने स्थान पर चले गये। उसके पश्चात् कभी गोचरी करते समय और कभी शौचार्थ जाते-आते वे प्रायः स्वामीजी को मिल ही जाया करते थे। वे जब मिलते, तब कभी-कभी विनोद में स्वामीजी पूछते—‘क्यों जीवणजी! खोटा काम कर आये हो या जाकर करोगे?’

मुनि जीवणजी को स्वामीजी के उक्त प्रश्न का प्रत्येक बार उत्तर देना बड़ा कठिन हो गया। उनके श्रावक ही उनसे पूछने लगे—‘भीखण्णजी आप से खोटे काम के विषय में क्या पूछ रहे थे?’

अन्त में एक दिन जब वे स्वामीजी से मिले, तो उनके पूछने से पूर्व ही बोले—‘भीखण्णजी! साधु का भोजन खोटा काम न होकर अच्छा काम ही है।’

स्वामीजी मुस्कराये और बोले—‘तब ठीक है।’¹

दिये हुए ‘डाम’

पीपाड़ के एक भाई ने स्वामीजी के पास गुरु-धारणा की। उसके घरवालों को पता लगा, तो वे तरह-तरह से उसे तंग करने लगे और धमकियां देने लगे। कोई कहता—भीखण्णजी ने इसे गुरु-धारणा क्या कराई है, ‘डाम’ लगाये हैं। कोई कहता—अब यह दागी हो गया है, अतः हमारे घर में रहने योग्य नहीं है। सब मिलकर उस पर दबाव डालने लगे कि यदि हमारे साथ सुख से रहना है, तो भीखण्णजी के पास की गई गुरु-धारणा उन्हें वापस दे आ।

विवश होकर वह भाई स्वामीजी के पास आया और कहने लगा—‘स्वामीजी! मेरे परिवार वाले मुझे कहते हैं कि भीखण्णजी ने इसके ‘डाम’ लगा दिये हैं। वे नाना प्रकार से मुझे कष्ट भी देते हैं, अतः आप अपनी गुरु-धारणा वापस ले लें।’

स्वामीजी ने कहा—‘तू उनसे ही पूछ ले, क्या भला दिये हुए ‘डाम’ कभी वापस लिए जा सकते हैं?’²

महापुरुष अब भी खाते हैं

अपने-आपको विरागी और तपस्वी मानने वाले स्थानकवासी मुनि कुशलोजी और तिलोकजी ने स्वामीजी से कहा—‘साधु को लड्डू आदि सरस पदार्थ तथा घी, दूध

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 3।

2. वही, दृ. 119।

182 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
आदि गरिष्ठ पदार्थ खाने नहीं कल्पते। उसे कौन-से बच्चे पैदा करने हैं, जो ऐसी वस्तुएं
खाये ?'

स्वामीजी—‘देवकी के पुत्रों ने गोचरी में मोदक (लड्डू) ग्रहण किए थे। ऐसा आगमों
में वर्णन आया है, तब तुम कैसे कह सकते हो कि साधु को लड्डू खाना नहीं कल्पता ?’

कुशलोजी—‘वे तो महापुरुष थे। उनकी क्या तुलना हो सकती है ?’

स्वामीजी—‘ठीक है, ठीक है। तुम नहीं खा सकते। जो महापुरुष होते हैं, वे तो अब
भी खाते ही हैं।’¹

नगजी का तत्त्व-ज्ञान

केलवा के नगजी नामक भाई अचक्षु थे। बुद्धि भी बहुत कम थी। वीरभाणजी वहां
रहकर आये, स्वामीजी से बोले—‘नगजी को मैंने तत्त्व-ज्ञान सिखाकर सम्यक्त्वी बना
दिया है।’

स्वामीजी ने कहा—‘उसकी तो ऐसी बुद्धि ही नहीं थी। तुमने उसको क्या तत्त्व-ज्ञान
सिखाया ?’

वीरभाणजी—‘ओलखणा दोरी भवि जीवां’ यह ढाल और ‘नन्दन मणियरे का
व्याख्यान’ सिखाया है।’

कुछ समय पश्चात् स्वामीजी केलवा पधारे, तब नगजी भी दर्शन करने आये।
स्वामीजी ने उनसे पूछा—‘नगजी! तुमने जो ‘नन्दन मणियरे का व्याख्यान’ सीखा है,
उसमें ‘मणिया’ सोने का है अथवा लकड़ी या रुद्राक्ष का ?’

नगजी—‘स्वामीजी! यह तो आगमों में आया है, अतः सोने का ही होगा, लकड़ी
या रुद्राक्ष का तो क्या होगा।’

स्वामीजी ने फिर पूछा—‘ओलखणा’ की ढाल में आया है—‘साधवियां नै जड़णो
चाल्यो’ यहां ये ‘धवियां’ (धमनी) कौन-सी हैं? गाड़ी-लुहारों वाली छोटी हैं अथवा
स्थानीय लुहारों वाली बड़ी।’

नगजी—‘आगमों में आई हैं, अतः छोटी कैसे हो सकती हैं, ये तो बड़ी ही हैं।’²

18. गहरे व्यंग्य

पैनी मधुरता

स्वामीजी बहुधा उदाहरणों तथा दृष्टान्तों आदि से अपना मनव्य समझाते थे।
कभी-कभी उनके कथन में गहरा व्यंग्य भी हुआ करता था। अपने छोटे-से व्यंग्य में वे

1. घिकखु-दृष्टान्त, दृ. 75।

2. वही, दृ. 220।

इतना-कुछ कह जाते कि फिर अन्य-कुछ कहने को स्थान ही नहीं रह पाता। अपने कथन को व्यंग्य की भाषा में वे प्रायः तभी कहते, जब उन्हें किसी की कटु भाषा का उत्तर मधुरता में देना होता, परन्तु उनकी वह मधुरता इतनी पैनी होती कि उससे कटुता भी स्वयं कट कर रह जाती। कभी-कभी उनकी व्यंग्य-भाषा तब स्फुटित होती, जब संक्षेप में ही किसी का मुंह बन्द करना होता। किसी का झूठा विश्वास या गलत स्वभाव छुड़ाने में तथा वास्तविकता को भांपने के लिए भी वे व्यंग्य का प्रयोग कर लिया करते थे।

दोनों ही सत्य हैं

स्वामीजी के समय में स्थानकवासी सम्प्रदाय में अनेक 'टोले' थे। बाईस टोले तो केवल एक धर्मदासजी महाराज के 99 शिष्यों के ही हो गये थे। स्वामीजी के समय तक तो वह संख्या और भी बढ़ गई थी। उनमें परस्पर इतना विरोध चलता था कि वे एक-दूसरे को साधु नहीं मानते थे। एक टोले का साधु दूसरे टोले में आता तो उसे नई दीक्षा दी जाती थी।

इसी विषय में किसी ने स्वामीजी से कहा—‘अमुक-अमुक टोले वाले परस्पर एक-दूसरे को झूठा कह रहे हैं।’

स्वामीजी ने संक्षेप में कहा—‘इस विषय में तो दोनों ही सत्य हैं।’¹

यह कला किससे सीखी ?

स्वामीजी एक बार आचार्य अमरसिंहजी के स्थानक में पधारे। वहां दरवाजे के एकदम पास ही ‘खेजड़ा’ उगा हुआ देखकर स्वामीजी ने आचार्य अमरसिंहजी से पूछा—‘रात को परिष्ठापन आदि के लिए जाते समय इसकी दया कैसे पलती होगी ?’

पास में ही खड़े उनके शिष्य ने मुंह बनाकर स्वामीजी की नकल उतारते हुए उसी वाक्य को फिर से दुहराया। स्वामीजी ने उसके ठहरते ही पूछा—‘यह कला तुमने स्वयं ही सीखी या गुरु ने सिखलाई ?’

गुरु अमरसिंहजी कट कर रह गये। शिष्य को वहां से चले जाने का कहते हुए उन्होंने स्वामीजी से कहा—‘यह तो मूर्ख है। इसने जो किया उसे मन में मत रखना।’²

दुःखी की रात

स्वामीजी ने सं. 1845 का चतुर्मास पीपाड़ में किया। वहां रात्रिकालीन व्याख्यान में जनता बहुत एकत्रित होने लगी। व्याख्यान का रस ही कुछ ऐसा था कि लोग सुनते हुए अघाते ही नहीं थे। विरोधी व्यक्तियों ने लोगों को रोकने के अनेक उपाय किये, पर सफलता नहीं मिली। उन्होंने तब यह प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया कि इनके व्याख्यान में सबा प्रहर, डेढ़ प्रहर तक रात्रि व्यतीत हो जाती है। अर्द्ध-रात्रि तक हल्ला मचाना कहां की साधुता है?

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 76।

2. वही, दृ. 93।

विरोधियों का उक्त कथन किसी ने आकर स्वामीजी को बतलाया तो उन्होंने फरमाया—‘दुःखी व्यक्ति को रात लम्बी ही लगा करती है।’

कथन का हार्द नहीं समझ पाने के कारण उस भाई ने पूछा—‘स्वामीजी! वह कैसे?’

स्वामीजी ने कहा—‘किसी के घर पर विवाह आदि उत्सव होता है तो समय का पता ही नहीं लगता। पूरी रात यों ही बीत जाती है, मानो कुछ ही घण्टे व्यतीत हुए हों। परन्तु किसी के घर पर सन्ध्या होते ही किसी की मृत्यु हो गई हो तो उस शोक-विह्वल परिवार को वह रात्रि युग जैसी लम्बी लगाने लगती है।’ अपने कथन का उपसंहार करते हुए उन्होंने कहा—‘व्याख्यान तो प्रहर रात्रि तक ही होता है, परन्तु जिनके मन में जनता के आगमन का दुःख है, उन्हें वह समय डेढ़-दो प्रहर जितना लम्बा लगता है।’¹

झालर और कुत्ता

पीपाड़ चतुर्मास में व्याख्यान के समय कुछ विरोधी लोग सभास्थल के आस-पास बैठ जाते। कभी वे परस्पर जोर-जोर से बातें करते, तो कभी स्वामीजी की निंदा। उनके उस व्यवहार की आलोचना करते हुए एक भाई ने स्वामीजी से कहा—‘ये कैसे व्यक्ति हैं, जो व्याख्यान तो नहीं सुनते और इधर-उधर बैठकर निन्दा करते हैं।’

स्वामीजी ने कहा—‘स्वभाव से विवश हैं। उन्हें पता ही नहीं है कि वे ज्ञान-प्राप्ति का एक अवसर खो रहे हैं। झालर बजने लगती है तब कुत्ते स्वभाववश रोने लगते हैं। वह किसी के विवाह पर बजाई जा रही है या मृत्यु पर, इतना समझ पाने योग्य विवेक उन बेचारों के पास होता ही नहीं।’²

दूंठ को नहीं

पीपाड़ में स्वामीजी व्याख्यान दे रहे थे। जनता बहुत थी। विरोधी सम्प्रदाय के मुख्य व्यक्ति ताराचन्दजी संघवी वहां आए और स्वामीजी के सम्मुख ही व्याख्यान सुनने वालों को लताड़ते हुए बोले—‘तुम लोग भीखण्जी का व्याख्यान सुनते हो, तुम्हें शीतदाह लग जाएगा।’

स्वामीजी ने कहा—‘कम से कम तुम तो उससे सुरक्षित हो, क्योंकि ‘शीत-दाह’ हरे वृक्षों को ही जलाता है, दूंठ को नहीं।’³

सर्वाधिक आघात

पीपाड़ के चतुर्मास में बहुत लोग सम्यक्तवी बने। उनमें एक अत्यन्त प्रतिष्ठित और तत्त्वज्ञ श्रावक जग्गूजी गांधी भी थे। उनके मत-परिवर्तन से विरोधी सम्प्रदाय को बहुत बड़ा आघात लगा। उनके मित्र खेतसीजी लूणावत के लिए तो वह असह्य-सा हो गया।

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 18।

2. वही, दृ. 19।

3. वही, दृ. 28।

एक भाई ने स्वामीजी से कहा—‘जगूजी का आघात तो बहुत लोगों को लगा, पर खेतसीजी को वह इतना तीव्र लगा कि रात-दिन उन्हीं की चिंता करते रहते हैं।’

स्वामीजी ने उनकी मित्रता की ओर संकेत करते हुए कहा—‘परदेश से किसी की मृत्यु के समाचार आते हैं तब चिन्तातुर तो अनेक होते हैं, पर पत्नी को जो आघात लगता है, वैसा अन्य किसी को नहीं।’¹

रूपयों के श्रावक

एक बार पाली में बहुत लोग समझे और तेरापंथी बने। विरोधियों ने उस विषय में प्रचार किया कि विजयचन्द्रजी पटवा रूपये दे-देकर इन लोगों को तेरापंथी बना रहे हैं।

स्वामीजी ने जब उक्त बात सुनी तो कहा—‘जब रूपयों के लिए उनके श्रावक तेरापंथी बन जाते हैं तो उन्होंने उस मार्ग को समझा ही कहां था? यदि ये सब रूपये लेकर ही समझे हैं, तो किसी के अवशिष्ट रहने की आशा भी उन्हें नहीं करनी चाहिए, क्योंकि रूपये मिलने पर वे भी आ सकते हैं।’²

गांव के निकट खेत

सं. 1853 में स्वामीजी ने अपना चतुर्मास सोजत में किया। वहां काफी लोग श्रद्धालु बने। उस कार्य की प्रशंसा करते हुए एक व्यक्ति ने कहा—‘स्वामीजी! यहां उपकार बहुत अच्छा हुआ। इतने लोगों के समझने की तो आशा ही नहीं थी।’

स्वामीजी बोले—‘खेती की तो है, पर वह गांव के निकट और मार्ग पर है, अतः घुसपैठ से बचा पाना जरा कठिन है।’³

नगजी का तेज

एक बार स्वामीजी करेड़ा पधारे। वहां के कुछ व्यक्तियों ने स्वामीजी को बतलाया कि यहां मुनि नगजी रहते हैं। वे बड़े तेजस्वी हैं।

स्वामीजी ने जिज्ञासा की—‘ऐसा क्या तेज देखा?’

लोग बोले—‘एक कुत्ती उन्हें देखकर बहुत भौंका करती थी। कई दिनों तक तो उन्होंने यह समझकर प्रतीक्षा की कि प्रतिदिन देखते-देखते परिचित हो जाएगी, तब भौंकना अपने-आप बंद कर देगी। परन्तु वह नहीं मानी और पूर्ववत् ही भौंकती रही। तब एक दिन उन्होंने उसकी टांग पकड़ी और घुमाकर दूर फेंक दिया। उस दिन के पश्चात् कुत्ती ने भौंकना तो बंद कर ही दिया, पर उन्हें देखते ही भागकर कहीं छिप जाती है।’

स्वामीजी मुस्कराये और पूछने लगे—‘कुत्ती जिस स्थान पर गिरी, उसका प्रतिलेखन तो पहले कर ही लिया होगा?’

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 17।

2. वही, दृ. 234।

3. वही, दृ. 21।

स्वामीजी का यह व्यांग्यपूर्ण प्रश्न सुनकर वे लोग झुङ्गला उठे और बोले—‘आप तो प्रत्येक कार्य में दोष ही खोजते रहते हैं।’¹

कसाई से भी बुरे

विरोधी सम्प्रदाय के एक साधु ने स्वामीजी के विषय में कहा—‘भीखण्जी तो करोड़ कसाइयों से भी कहीं अधिक बुरे हैं।’

स्वामीजी ने जब यह सुना तो कहने लगे—‘वे लोग अपने हिसाब से ठीक ही कहते हैं। कसाई केवल बकरों को मारता है। वह उनका कुछ नहीं बिगड़ता, परन्तु मैं उनके मन्तव्यों का खण्डन करता हूँ और उनके श्रावकों को अपना अनुयायी बना लेता हूँ। इस स्थिति में यदि वे मुझे कसाई से भी बुरा कहकर अपना दुःख कुछ हलका कर लेते हैं, तो मेरा इसमें क्या बिगड़ता है?’²

पत्र उड़ गया तो?

स्वामीजी पुर में विराज रहे थे। उन्हीं दिनों स्थानकवासी गुलाब ऋषि भी वहां आ गये। वे स्वयं को बड़ा आगमज्ञ समझते थे। बत्तीस ही सूत्र अपने पास रखते थे। एक बार वे चर्चा करने के लिए स्वामीजी के पास आये।

स्वामीजी ने उनके ज्ञान की क्षमता को टटोलते हुए पूछा—‘पांच महाब्रतों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव क्या हैं?’

गुलाब ऋषि ने अपने मस्तिष्क को काफी घुमाया, परन्तु कुछ भी स्मरण नहीं आया। खिसियाने होकर बोले—‘यह सब तो मेरे पास पत्र में लिखा पड़ा है।’

स्वामीजी ने कहा—‘साधुत्व पत्र पालता है या आप? यदि पत्र फट गया या उड़ गया तो?’

गुलाब ऋषि निरुत्तर होकर चुपचाप वहां से चल दिए।³

मूल ज्ञान आ गया

संघ की सुव्यवस्था के अभाव में उस समय अनेक धूर्त व्यक्ति मुनि-वेष पहन कर जनता को धोखा देते और अपना उल्लू सीधा किया करते। स्वामीजी के विरोध की लहर चली, तब उस बहती गंगा में उन्होंने भी खूब हाथ धोये। लोगों की बुद्धि पर द्वेष का ऐसा परदा पड़ा हुआ था कि स्वामीजी की निन्दा में दो शब्द कहकर कोई भी उनके लिए पूज्य बन सकता था। विरोधी लोगों की उप गहन अज्ञता पर स्वामीजी करारी चोट करते रहते थे। एक बार उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा—‘एक भांड साधु का वेष पहन कर गांव में आया। लोगों ने पूछा—‘आप किस टोले से हैं?’

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 54।

2. वही, दृ. 84।

3. वही, दृ. 90।

‘वह बोले—‘दूंगरनाथजी के टोले का।’

‘आप का नाम ?’

‘पत्थरनाथ।’

‘क्या कुछ ज्ञानाभ्यास किया है?’

‘पढ़ा तो विशेष नहीं, पर इतना अवश्य जानता हूं कि हम अच्छे और तेरापंथी बुरे हैं।’

लोग बोले—‘तब मूल ज्ञान आपको आ गया।’

‘और फिर वे सब ‘मत्थएण वंदामि’ कहकर चरणों में झुक गये।’

स्वामीजी ने उपसंहार करते हुए कहा—‘ऐसे मतान्ध व्यक्ति जहां हों, वहां न्याय तथा सत्यासत्य के निर्णय की क्या आशा की जा सकती है?’¹

महात्मा-धर्म

पुर में स्वामीजी व्याख्यान दे रहे थे। धर्म का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा—‘आगम में श्रमण-धर्म के दश भेद बतलाये हैं।’

जयचन्द्रजी विराणी, जो कि यति आम्नाय को मानने वाले थे, बीच में बोल पड़े—‘श्रमण-धर्म के नहीं, यति-धर्म के।’

स्वामीजी ने तत्काल कहा—‘तुम उन्हें महात्मा-धर्म के भेद भी कह सकते हो।’

स्वामीजी का उक्त कथन सुनकर जयचन्द्रजी चुप हो गये, क्योंकि उस समय जो यति घर बसा लेते थे, वे अपने आपको ‘महात्मा’ कहा करते थे। स्वामीजी का संकेत भी उसी ओर था, जबकि मूलतः श्रमण, यति और महात्मा पर्यायवाची शब्द हैं²

गधे पर बिठाएं तो

एक व्यक्ति ने स्वामीजी से पूछा—‘मार्ग में चलते-चलते कोई साधु थक जाए और उसी समय उधर जाने वाली कोई बैलगड़ी सहज रूप से आ जाए तो उस पर बिठाकर साधु को ले आने में क्या दोष है?’

स्वामीजी ने कहा—‘मान लो, गाड़ी नहीं आई, किन्तु गधा आ गया, तो उस पर बिठाकर ले आना कैसा रहे?’

वह व्यक्ति झल्लाकर बोला—‘आप गधे की बात बीच में क्यों लाते हैं? मैं गाड़ी की पूछ रहा हूं।’

1. घिक्खु-दृष्ट्यान्त, दृ. 1511।

2. वही, दृ. 123।

स्वामीजी ने कहा—‘अहिंसा की दृष्टि से साधु के लिए दोनों ही अकल्पनीय हैं, अतः किसी पर बिठाकर लाया जाये, क्या अन्तर पड़ता है?’¹

मेरणियां और दीक्षा

कंटालिया के एक भाई ने स्वामीजी से कहा—‘मेरे दीक्षा ग्रहण करने के भाव हैं, किन्तु माता के प्रति अत्यन्त मोह होने के कारण जब तक वे जीवित हैं, तब तक तो दीक्षा ली नहीं जा सकेगी।’

कुछ वर्षों पश्चात् जब उसकी माता गुजर गई, तब स्वामीजी ने उससे पूछा—‘दीक्षा के लिए तेरी भावना थी न? अब तो तेरी माता भी गुजर चुकी है। फिर विलम्ब किसलिए करता है?’

वह भाई बोला—‘स्वामीजी! मां तो गुजर गई, पर अब तो एक और अड़चन आ गई है। मैं पहाड़ी गांवों में व्यापार करता हूँ। वहां ‘मेर’ बसते हैं। मेरा मोह कुछ मेरणियों से हो गया है। सोचता हूँ, कुछ ठहर कर ही दीक्षा लूँगा।’

स्वामीजी उसकी दुर्बलता को लक्ष्य कर बोले—‘माता तो एक ही थी, पर ये मेरणियां तो बहुत हैं। कब वे मरेंगी और कब तुझे दीक्षा आयेगी? ऐसी निर्बल मनोदशा वाले को दीक्षा की आशा नहीं करनी चाहिए।’²

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 153।

2. वही, दृ. 43।

महान् साहित्य-सर्जक

साधना का साहित्य

स्वामी भीखणजी जहां तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक थे, वहां तेरापंथ के साहित्य-क्षेत्र में भी आद्य पुरुष थे। यद्यपि उनको अपने साधना-काल में भारी संघर्षों की घाटियों से गुजरना पड़ा था, परन्तु वे उस सारे समय में पग-पग पर मुंह बाये खड़ी विपरीतताओं का डटकर सामना करते हुए आगे बढ़ते रहे। इतने पर भी उन्होंने अपने जीवन-रस को निरर्थक कभी नहीं बहने दिया। विरोध में शक्ति का अपव्यय करने की अपेक्षा उन्होंने उसे रचनात्मकता की ओर मोड़ दिया। विरोध में खड़े लोगों ने जब आक्षेप किये, निंदा की और आवेशपूर्ण हो-हल्ला मचाया, तब स्वामीजी ने शान्तभाव से उनके उत्तर में आगम-मंथन किया। फलतः नवनीत-रूप में उन्हें जो निष्कर्ष प्राप्त हुए, उन्हीं को आधार बनाकर उन्होंने साहित्य-सर्जन किया। उनके उस कार्य से विरोधी को तो सटीक उत्तर मिला ही, पर उससे भी महत्वपूर्ण फल यह हुआ कि संसार को इतना गंभीर और खोजपूर्ण साहित्य उपलब्ध हुआ।

स्वामीजी के साहित्य में पांडित्य के स्थान पर सहजता के दर्शन ही अधिक होते हैं। वे अपने युग के एक महान् संत थे। कबीर जैसी निर्भयता और फक्कड़पन उनके जीवन में सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं। ऐसे संतों की साहित्य-साधना वस्तुतः सत्य की ही साधना होती है। इसीलिए स्वामीजी की सहज वाणी से निःसृत साहित्य-धारा सत्य से ही अनुप्राप्ति है। इसी अर्थ में वह अपने-आप में पूर्ण भी है। स्वामीजी के साहित्य का मूल आधार सत्य का उद्घाटन तथा जन-मानस को आदर्श की ओर उत्प्रेरित करना रहा। यही कारण है कि उसे प्रकाश-किरणों के समान सहस्रों-सहस्रों मनुष्यों के मानस-कमलों को विकस्वर करने में सफल्य प्राप्त हुआ। स्वामीजी के साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन-मनन करने वालों को अवश्य ही यह अनुभव होगा कि उनके उस उपक्रम को ‘साहित्य की साधना’ से कहीं अधिक ‘साधना का साहित्य’ कहना संगत होगा।

जन-भाषा में

स्वामीजी मारवाड़ के थे। उनका विहार-क्षेत्र भी मारवाड़, मेवाड़, ढूंढाड़ तथा हाड़ोती आदि ही प्रमुख रूप से रहा। ये सब मारवाड़ के ही संलग्न क्षेत्र हैं। वर्तमान में तो ये सब राजस्थान प्रांत के ही अंगभूत हो चुके हैं। इन सबकी भाषा कुछ आंचलिक भेदों को छोड़कर

एक ही है। उस समय उसे 'मारवाड़ी बोली' कहा जाता था और आज 'राजस्थानी भाषा' कहा जाता है। स्वामीजी ने अपनी रचना का माध्यम उसी जन-भाषा को बनाया। जन-भाषा को महत्व देने की परम्परा जैन श्रमणों में प्रारम्भ से ही रही है। स्वयं भगवान् महावीर ने अपने समय की जन-भाषा प्राकृत-अर्धमागधी को ही अपने उपदेशों का माध्यम बनाया था। उसी परम्परा के अनुसार स्वामीजी ने भी आबाल-बृद्ध के उपकारार्थ ऐसी सरल भाषा में साहित्य-रचना की कि अल्पज्ञ भी उसे सरलतापूर्वक हृदयंगम कर सकता है।

स्वामीजी का दृष्टिकोण तत्त्व एवं अध्यात्म की गहराइयों में लगा हुआ था, इसलिए उनके साहित्य में भी तत्त्व, आचार और अध्यात्म आदि का निरूपण ही प्रमुख रूप से है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि उसमें रस-तत्त्व का पूर्ण अभाव ही है। वह भी प्रचुरता से विद्यमान है, परन्तु अपने सर्जक द्वारा प्रदत्त सीमाओं के अन्दर। उनके व्याख्यान-साहित्य में अनेक ऐसे मार्मिक प्रसंग हैं जहां धार्मिकता की गोद में किलकारियां भरते हुए रस-तत्त्व का आनन्द लिया जा सकता है। उनकी कृतियों में शांतरस की प्रधानता है। अन्य रसों के प्रवाह को भी उन्होंने अन्तिम परिणति के रूप में शांतरस की ओर ही मोड़ने का प्रयास किया है। उनका साहित्य भाषाशास्त्र और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है, लाक्षणिक दृष्टि से चाहे उसका उतना महत्व न भी हो।

इतना सब-कुछ होने पर भी यह स्पष्ट है कि स्वामीजी की वाणी का सामर्थ्य उनके भाषा-सौष्ठव या रसात्मकता के कारण नहीं, किन्तु उनके उत्कृष्ट अध्यात्म-बल, उदात्त संयम और उत्कट लोक-कल्याण की भावना के कारण था। इन्हीं विशेषताओं को उनकी पूँजी कहा जा सकता है। इन्हीं के बल पर उन्होंने जन-मानस में निर्दन्द्र प्रवेश पाया था।

जन-उद्भोधन के लिए

स्वामी भीखण्डी एक सिद्धपुरुष थे। 'स्वान्तः सुखाय' साहित्य-रचना करने की उन्हें कोई आवश्यकता हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसीलिए कहा जा सकता है कि उन्होंने जो भी लिखा, वह मुख्यतः जन-उद्भोधन के लिए था। वस्तुतः उस समय की वह एक अनिवार्य आवश्यकता भी थी। वे अपने समय के एक महान् ऋषि थे। ऋषि स्वप्न द्रष्टा और तत्त्व-द्रष्टा-दोनों होता है, तभी वह मंत्र-द्रष्टा बन सकता है। उन्होंने धर्म-विशुद्धि का एक स्वप्न देखा। उसे अपने ही आत्म-बलिदान के आधार पर पल्लवित और पुष्पित करके फलित भी किया। उसका बीज-वपन उन्होंने तत्त्व-दर्शन की उर्वरा भूमि में किया। तत्त्व-शून्य थोथी धरती पर किसी भी स्वप्न का वृक्ष बढ़मूल नहीं हो सकता।

स्वामीजी ने स्वयं अपने जीवन में धार्मिकता का जो मूल रूप उतारा, उसी से उद्भूत अनुभवों के सार को उन्होंने जनोद्धार के लिए शब्द-बद्ध किया। इसीलिए उनका हर कथन सत्यानुभूति के अमृत-कुंड से निकला हुआ अनुच्छिष्ट अमृत बिन्दु-सा मोहक और प्राणदायी बन गया। लयबद्ध शब्दों में आबद्ध उनकी उस वाणी का केवल धार्मिक महत्व ही नहीं, साहित्यिक महत्व भी है। सत्यानुभूति की उपयुक्त अभिव्यक्ति ही तो साहित्य है। वही साहित्यकार अपने कर्तव्य का यथावत् पालन कर सकता है जो

अपनी अनुभूति को प्रामाणिकता एवं कलात्मकता के साथ अभिव्यक्ति प्रदान करता है। स्वामीजी ने यही कार्य किया था।

बाण की तरह

लोग स्वामीजी की पद्यबद्ध वाणी को 'स्वामीजी के बाण' कहकर पुकारते हैं। लोगों के उस कथन में वास्तविकता भी है, क्योंकि उनके बहुत-सारे पद्य वस्तुतः अनाचार, कदाचार और शिथिलाचार पर बाण की तरह ही बड़ी करारी चोट करते हैं। स्वामीजी ने अपनी इस पद्धति को कभी नकारा नहीं, वे तो बड़ी स्पष्टता के साथ उसे स्वीकार करते हैं।

एक बार किसी ने स्वामीजी से पूछा—'इतने तीखे पद्य लिखने तथा इतने तीखे उदाहरण देने के पीछे आपका उद्देश्य क्या है?' स्वामीजी ने उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा—'शिथिलाचार बहुत गहराई तक व्याप्त हो गया है। यह अब सामान्य सुझावों तथा उपदेशों से मिटने वाला नहीं है। जिस प्रकार गंभीर वात का रोग साधारण औषधोपचार से नहीं मिटता, उसके लिए तो 'दागना' ही एकमात्र उपचार होता है। मेरी ये तीखी बातें उनका मन दुखाने के लिए नहीं, किन्तु उनके अन्तर्गत को झकझोरने के लिए हैं।' वास्तविकता भी यही है। कोई वैद्य यदि रोगी को कड़वी औषधि देता है तो वह उसको पीड़ित करने के लिए नहीं, किन्तु अनन्योपाय होकर उसके कठिन रोग को शमन करने के लिए ही देता है।

स्वामीजी का साहित्य एक ऐसा दर्पण है जिसमें तत्कालीन जैन समाज के मानसिक उद्देलनों के प्रतिबिम्बों का स्पष्ट निरीक्षण-परीक्षण किया जा सकता है। उस समय का समाज, विशेषकर साधु-समाज, आचार-विषयक शिथिलता के सोपान उत्तरता हुआ क्रमशः नीचे, और नीचे चला जा रहा था। मार्गदर्शकों के उस शैथिल्य का अनुभव करता हुआ श्रावक-समाज किंकर्तव्य-विमूढ़ता के अजगर की गुंजलक में फंसा हुआ कुंठाग्रस्त होता जा रहा था। स्वामीजी अपने साहित्यिक शंखनाद से साधु-समाज एवं श्रावक-समाज को उद्बुद्ध कर धार्मिक विशुद्धि की ओर ले जाना चाहते थे। उनके प्रत्येक ग्रंथ के पद्यों में यही ध्वनि विविध लयों में सुनाई देती है। वे जानते थे कि सदोष धार्मिकता धर्म के साथ-साथ धार्मिक का भी विनाश कर डालती है।

आगमवाणी भी इस विचार का पूर्ण समर्थन करती है। वहां कहा गया है :

विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सन्थं जह कुगाहीयं।

ऐसे व धर्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो॥¹

'पीया हुआ कालकूट विष, अविधि से पकड़ा हुआ शस्त्र और अनियंत्रित प्रेत जैसे विनाशकारी होते हैं, वैसे ही सदोष धर्म भी विनाशकारी होता है।'

बाण की तरह सनसनाते हुए स्वामीजी के पद्य धार्मिकता की सदोषता को वेध डालने में पर्याप्त सफल रहे। आज भी सहस्रों-सहस्रों व्यक्तियों को वे कंठस्थ हैं और धार्मिक क्षेत्र में निर्देषता बनाये रखने की प्रेरणा देते हैं।

प्रत्येक भारतीय भाषा संत-साहित्य से अनुप्राणित होती रही है। राजस्थानी भाषा को जिन अनेक संत-पुरुषों की वाणी का अनुषेचन मिला है, उनमें स्वामी भीखण्झजी का योगदान भी बहुत मूल्यवान रहा है। यदि उन भाषाओं से संत-साहित्य को पृथक् कर दिया जाए तो यहां की प्रत्येक भाषा के साहित्य की पृष्ठभूमि ही विलुप्त हो जाए।

स्वामीजी के बाड़मय की धारा नदी के वेगवान् प्रवाह के समान अपना मार्ग बनाती हुई बड़े ऊर्जस्वल वेग से बही है। उनके सम्मुख आद्योपान्त अपना कथ्य रहा, अतः छंदशास्त्र या काव्यशास्त्र के नियमों के ऐकान्तिक निर्वाह के लिए उन्होंने स्वयं को प्रतिबद्ध नहीं माना।

साहित्य-रचना का कार्य स्वामीजी ने दीक्षित होने के कुछ वर्षों पश्चात् ही प्रारंभ कर दिया था। ‘जिनरिख जिनपाल का चोढ़ालिया’ नामक आच्युतन स्थानकवासी समाज में रहते समय की उनकी रचना कही जाती है।¹ अन्य रचनाएं भी हों तो आश्चर्य नहीं। उसके पश्चात् धर्म-क्रान्ति के कुछ प्रारंभिक वर्षों तक वे इस कार्य से पूर्णतः विरत रहे। एकांतर चौविहार तपस्या और आतापन के रूप में केवल आत्म-साधना ही उस समय उनका ध्येय रहा। मुनि थिरपालजी और मुनि फतेचन्दजी ने तब तपस्यालीन स्वामीजी को धर्म-प्रचार के लिए जो प्रेरणा दी, उसी बीज में से तेरापंथ के आदि-साहित्य का अंकुर फूटा। स्वामीजी ने तब जन-उद्बोधन की दृष्टि से ग्रन्थों का निर्माण प्रारंभ किया। यही है तेरापंथ-साहित्य के आदिस्रोत की कहानी।

ऐसे कर लेता हूं

स्वामीजी की चलने की गति तेज थी, उसी प्रकार से रचना की गति भी काफी तेज थी। मूड़-निर्माण, भाव-प्रवाह तथा अनुकूल शब्द-चयन के लिए उन्हें कभी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती थी। मानो ये सब उनकी कलम की नोक पर ही निवास करते थे। ज्यों-ही स्याही में डुबोकर कलम के अग्रभाग को कागज पर रखा जाता कि अनायास ही एक रचना-यात्रा प्रारम्भ हो जाती। उनकी रचना-त्वरता को देखकर एक बार आगरिया-निवासी श्रावक प्रतापजी ने पूछ लिया—‘आप इतनी शीघ्रता से कविता कैसे कर लेते हैं?’ स्वामीजी ने तत्काल सामने उधाड़ी पड़ी किसी साधु की सफेदे की ‘टोपसी’ की ओर लक्ष्य किया और उसी भावना को शब्द-परिधान देते हुए कहा :

छोटी-सी-क टोपसी, मांहे भर्यो सफेतो।
जतन घणा कर राखज्यो, पड़े नहीं ज्यूं रेतो॥

उन्होंने प्रतापजी से कहा—‘मैं इसी प्रकार से अन्य रचनाएं भी कर लेता हूं।’

1. जैन-इतिहास-निर्णय-समिति, जयपुर द्वारा प्रकाशित ‘पट्टावली-प्रबंध-संग्रह’ में संगृहीत ‘मरुधर पट्टावली’ में लिखा है कि सं. 1813 में भीखण्झजी ने ‘जिनरिख का चोढ़ालिया’ बनाकर आचार्य रुद्धनाथजी को दिखलाया।

साहित्य-परिक्रमा

आचार री चौपई

स्वामीजी के पूरे वाड्मय का स्वर जन-जागरण का स्वर है। आचार और विचार—इन दोनों क्षेत्रों में व्याप्त उस समय की शिथिलता एवं विपरीतता उनके मन को सदा मथती रही थी। मुनिजन तो मार्गदर्शक होते हैं, उन्हें आचार और विचार के क्षेत्र में परिपूर्ण आदर्श होना चाहिए। वे ही जब शैथिल्य एवं वैपरीत्य से आक्रान्त हो जाएं तब उन्हें देखकर स्वामीजी जैसे आदर्शवादी व्यक्ति का मन पीड़ा का अनुभव करने लगे तो कोई आश्चर्य नहीं। यही एकमात्र कारण कहा जा सकता है कि साध्वाचार की शिथिलता पर उनकी वाणी मानो गाज बन कर गिरी।

यद्यपि स्वामीजी ने व्यक्तिगत रूप से न किसी को शिथिलाचारी कहा और न किसी का खंडन किया, परन्तु सामूहिक रूप में प्रचलित आचार और विचार की कमियों पर उन्होंने भरपूर बार किये। इसी कारण ‘आचार री चौपई’ में उनके पद्य आचार-शैथिल्य पर बड़ी तीखी और करारी चोट करने वाले हैं। वे कहते हैं :

बिन अंकुस जिम हाथी चालै, घोड़ो बिगर लगाम।
 एहवी चाल कुगुरु री जाणो, कहिवा नै साधु नाम॥¹
 आधे फाटे थीगरी, कुण छै देवणहार।
 ज्यूं गुरु सहित गण बिगड़ियो, त्याँरै चिहुं दिस पड़िया बघार॥
 एक-एक तणा दोषण ढांकै, अकारज करता नहीं सांकै।
 त्यांनै कोई नहीं हटकण वालो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो॥
 साथे लियां फिरै पुस्तक पोथा, आचार पालण जाबक थोथा।
 ते फस रहा माया-जालो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो॥
 विकलां नै मूँड किया भेला, ते नाच रहा कुबदी खेला।
 जाणे भरभोलियां तणी मालो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो॥
 वैराग्य घट्यो न भेष बधियो, हाथ्यां रो भार गधां लदियो।
 थक गया बोझ दियो रालो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो॥
 इण भेष तणा कूड़ कपड़ तणी, कितली-एक कहूं हो त्रिभुवन धणी।
 रुलियारां तणो नहीं रुखवालो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो॥²
 साध्यपणो थां सूं सझतो न दीसे, तो श्रावक नाम धरावो।
 सगत सारू वरत चोखा पालो, दोषण मतीय लगावो॥
 आचार थां सूं पलतो न दीसे, तो ओरां रे माथे मत न्हाखो।
 भगवंत रा केड़ायत बाजो, झूठ बोलता क्यूं नहीं सांको॥³

1. भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर (खंड 1), आचार री चौपई, 1135।

2. वही, 6। दो. 4, गा. 1, 4, 6, 28, 34।

3. वही, 9। 19, 20।

उपर्युक्त पद्मों में स्वामीजी के मन में शिथिलाचार को देख कर वेदना की जो कसक उठा करती थी, वह बड़ी मार्मिकता के साथ अभिव्यक्त हुई है। बिना अंकुश के हाथी और बिना लगाम के घोड़े की उपमा देकर उन्होंने शिथिल साधुओं की स्वेच्छाचारिता के विषय में इतनी सटीक बात कह दी है कि वह सौ विवरणों का काम कर देती है। जब वे कहते हैं कि आकाश फट जाये तब उसके 'थेगली' कौन लगा सकता है?—यह उस समस्या की विकटता की ओर ध्यान आकृष्ट करने वाली बात है कि जहां गुरु सहित सारा गण ही शिथिलता को प्रश्रय देने लगता है, तब उस संघ के 'बघारों'-छेदों को कौन सांध सकता है?

साधुओं की शिथिलता में मुख्यतः उनकी वृत्तियां ही कारण बनती हैं। इसलिए स्वामीजी कहते हैं—वे एक-दूसरे के दोषों को ढांकते हैं, अतः बड़े से बड़ा अकृत्य करने में भी किसी को संकोच नहीं होता। कोई उन्हें टोकने वाला भी तो नहीं होता। वे धर्म-ग्रंथों का केवल भार ढोते हैं। आचार पक्ष में तो बिल्कुल थोथे हैं। ऐसे व्यक्ति संसार के माया-जाल से बाहर नहीं निकल पाते।

स्वामीजी ने अयोग्य व्यक्तियों को दीक्षित कर संख्या बढ़ाने की उनकी वृत्ति पर भी बड़ा बेधक प्रहार किया है। उन्होंने उसे 'भरभोलियों'-गोबर के मणकों की माला जैसा बतलाया है। ऐसी माला किसी काम की तो होती ही नहीं, अपितु निर्माता की मूर्खता प्रदर्शित करती है और घर में कचरा बढ़ाती है। इसी प्रकार वे अयोग्य शिष्य भी अपनी दुर्बुद्धिपूर्ण प्रवृत्तियों द्वारा जहां अपने दीक्षक को लज्जित करते हैं वहां जिन-शासन की भी अवहेलना करवाते हैं। 'भरभोलिया' ग्राम-संस्कृति से संबद्ध एक साधारण-सा शब्द है। स्वामीजी ने रूपक के रूप में उसका प्रयोग कर उक्त प्रकार की दीक्षा की व्यर्थता को जिस गहराई से व्यक्त कर दिया है, वैसा शायद अन्य किसी एक शब्द से नहीं किया जा सकता था।

उक्त प्रकार की वृत्तियों के उत्पन्न होने का मूल कारण खोजते समय स्वामीजी का यह कथन सहज ही ध्यान आकृष्ट कर लेता है—वैराय घट गया है, वेष बढ़ रहा है। संयम तो हाथियों का भार है, पर वह गधों पर लदा हुआ है। वे उसे वहन नहीं कर पाते, अतः गिराकर एक तरफ हो जाते हैं।

तद्युगीन साधुओं की दयनीय दशा का खाका खींचते हुए स्वामीजी अपनी मानसिक पीड़ा को भगवान् से निवेदित करते हुए कहते हैं—हे त्रिभुवन के स्वामी! साधुवेष में रहकर छल-छद्म करने वालों की आपको कितनी बातें बतलाऊं? वे तो अपार हैं। इन आवारा लोगों का कोई रखवाला नहीं है।

स्वामीजी उन शिथिल साधुओं को परामर्श देते हैं कि साधुता सध सके—ऐसा दिखाई नहीं देता, तब क्यों न श्रावक कहलाने लगो? पूर्ण ब्रतों के नाम पर धोखा करने से तो यह अच्छा है कि श्रावक के यथाशक्य ब्रत ग्रहण करो और उनका निर्दोष पालन करो। अपने आचार-शैथिल्य का दोष 'पंचम अर' (कलिकाल) के सिर पर मत डालो। तुम भगवान् महावीर के अनुयायी कहलाते हो। उन्होंने 'पंचमकाल के शेष तक साधुता रहेगी' ऐसा कहा है। उनके कथन को झुठलाने का प्रयास करने में तुम क्यों नहीं लजाते हो?

जीवन में माता-पिता, मित्र और गुरु—इनका सर्वोपरि प्रभाव पड़ता है। प्रथम माता-पिता का, द्वितीय मित्रों का और तृतीय गुरु का होता है। गुरु का प्रभाव श्रद्धा से जुड़कर आता है, अतः वह इन तीनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। परन्तु गुरु सत् भी हो सकता है और असत् भी। सदगुरु से पवित्र प्रेरणा मिलती है और असद् गुरु—कुगुरु से अपवित्र। आगम में ‘जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो’¹ सुसाधु—संत पुरुष को ही गुरु कहा है। स्वामीजी ने अपने ग्रन्थों में स्थान—स्थान पर सुगुरु—कुगुरु की पहचान कर लेने पर बल दिया है। वे कहते हैं :

विनें मूल धर्म जिन कहो, ते जाणै विरला जीव।
जे सतगुर रो बिनो करै, त्यां दीधी मुगत री नींव॥
जे कुगुरु तणो विनों करै, ते किम उतरै भव पार।
ज्यां सुगुर कुगुर नहीं ओळख्या, ते गया जमारो हार॥
केई अज्ञानी इम कहै, गुर नें बाप एक होय।
भूंडा भला जे गुर कर्या, त्यांनें न छोडणा कोय॥
जिन-आगम मांहें इम कहो, गुर करणा गुण देख।
खोटा गुर नें नहीं सेवणा, त्यांरी कीमत करणी विशेष॥²

स्वामीजी का कथन है कि आगमों में विनय को धर्म का मूल बतलाया है, पर सुगुरु का विनय ही मुक्ति का हेतु बनता है, कुगुरु का नहीं। सुगुरु—कुगुरु के भेद को नहीं पहचानने वाले व्यक्ति जीवन को हार जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि गुरु और बाप तो एक ही होता है, जैसा भी है, बदलना नहीं चाहिए। आगम कहते हैं कि गुणों के आधार पर ही किसी को गुरु स्वीकार करना चाहिए। कुगुरु के तो पास बैठने से भी बचना आवश्यक है। उन दोनों में भेद जानने के लिए बड़ी गहराई से मूल्यांकन करना चाहिए।

संतों के वेष में रहने वाले असंतों की इस संसार में कमी नहीं है। साधारण जन वास्तविकता को कम देखता है, अतः बाह्य वेष के भुलावे में फंस जाता है। खुला कुआं प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है, अतः उससे बचना अधिक कठिन नहीं, परन्तु ढका हुआ कुआं प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, उससे बचना कठिन है। सुगुरुवेषी कुगुरु ढके कुएं के समान होते हैं, अतः उनका संपर्क अधिक दुष्परिणामकारी होता है। स्वामीजी कहते हैं :

जाजम बिछाई कुवा ऊपरे, चिहुं कानी रे मेल्यो ऊपर भार।
भोला बेसे तिण ऊपरे, ते डूब मरे रे तिण कूवा मझार॥
तिम कुगुर छै कुवा सारिखा, जाजम सम रे कने साध रो भेख।
त्यांने गुर लेखव बंदणा करे, ते डूबे रे मूरख अंध अदेख॥
कुगुर भड्भूंजा सारिखा, त्यांरी सरधा हो खोटी भाड़ समाण।
भारी करमां जीव चिणां सारिखा, त्यांने झोखे हो खोटी सरधा में आंण॥³

1. आवस्संयं, दंसणाइयार सुतं।

2. आचार री चौपई, 11। दो. 1 से 4।

3. वही, 1016, 7, 8।

यहां बतलाया गया है कि कुएं पर जाजम बिछी हो और उसे चारों ओर भार रखकर अच्छी तरह से दबा दिया गया हो तो कोई भी अजाण व्यक्ति भुलावे में आकर उस पर बैठ जाता है और कुएं में ढूब मरता है। इस रूपक में बतलाया गया है कि कुगुरु कुएं के समान होते हैं और उनका साधुवेष जाजम के समान। वेष के भुलावे में आकर जो उन्हें गुरु मानने लगता है, वह उनकी कुशिक्षाओं के जल में ढूब जाता है।

दूसरे रूपक में कुगुरु को भड़भूंजे के समान, उनकी असत् मान्यता को भाड़ के समान और बहुलकर्मी जीवों को चनों के समान बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि कुगुरु अज्ञ जीवों को मिथ्यात्व की भाड़ में भूनते रहते हैं।

अनुकंपा री चौपई

स्वामीजी ने आचार-शुद्धि पर जितना बल दिया, विचार-शुद्धि पर भी उससे कम नहीं दिया। वे जानते थे कि अन्ततः विचार ही आचार में ढलता है। वे बहुत गहरे तत्त्व चिंतक थे। अहिंसा आदि का गूढ़ चिंतन उन्होंने दिया, वह बहुत सूक्ष्म और तर्कपूर्ण है। ‘अत्तसमे मन्निज्ज छप्पि काए’¹ भगवान् महावीर की उक्त वाणी सदा उनके समुख रही। इसीलिए उन्होंने छोटे जीवों, पेड़-पौधों से लेकर बड़े जीवों, पशु-पक्षी और मनुष्यों तक के प्रति अहिंसक वृत्ति को प्रोत्साहन दिया। उस युग में अनेक लोग ऐसे थे जो जीवन-यापन में होने वाली अनिवार्य या आवश्यक हिंसा को हिंसा नहीं मानते थे। अनेक ऐसे थे जो बड़े जीवों के हित या सुख के लिए छोटे जीवों की हिंसा को धर्म मानते थे। अनेक ऐसे थे जो उक्त हिंसा में अल्प-पाप तथा बहुत प्राणियों को तृप्ति मिलती है, अतः बहुत धर्म मानते थे। इस प्रकार वे एक ही क्रिया में पाप एवं धर्म—दोनों का मिश्रण मानते थे। स्वामीजी ने उन सबका निरसन करते हुए विशुद्ध अहिंसा या दया को ही धर्म की कोटि में मान्य किया। जीवन की दृष्टि से कुछ हिंसा अनिवार्य हो सकती है, सामाजिक दृष्टि से क्वचित् वह कर्तव्य भी हो सकती है, पर वह धर्म कदापि नहीं हो सकती। किसी भी प्राणी की पीड़ा या हिंसा पर आधारित दया विशुद्ध दया नहीं, अतः वह आध्यात्मिक या लोकोत्तर न होकर लौकिक सीमा तक ही मान्य हो सकती है। इस विषय में ‘अनुकंपा री चौपई’ में स्वामीजी का कथन इस प्रकार है :

हिंसा री करणी में दया नहीं छै, दया री करणी में हिंसा नाही।

दया नैं हिंसा री करणी छै न्यारी, ज्यूं तावड़ो नैं छांही॥

ओर वसत में भेल हुवे पिण, दया मैं नहीं हिंसा रो भेलो॥

ज्यूं पूर्व नै पिछम रो मारग, किण विध खाये मेलो॥

केरई दया नै हिंसारी मिश्र करणी कहे, ते कूड़ा कुहेत लगावे॥

मिश्र थापण नै मूढ मिथ्याती, भोला लोकां नै भरमावे॥

जो हिंसा कियां थी मिश्र हुवै तो, मिश्र हुवै पाप अठारो॥

एक फिर्यां अठारे फिरे छै, कोई बुधवंत करज्यो विचारो॥

जिन मारग री नींव दया पर, खोजी हुवे ते पावे।
जो हिंसा मांहें धर्म हुवे तो जल मथियां घी आवे॥¹

यहां स्वामीजी बतलाते हैं कि हिंसा की क्रिया में दया और दया की क्रिया में हिंसा नहीं हो सकती। इन दोनों की क्रियाएं धूप और छाया के समान परस्पर बिल्कुल भिन्न हैं। अन्य वस्तुओं में मिलावट हो सकती है, परन्तु दया में हिंसा की कोई मिलावट नहीं हो सकती। पूर्व और पश्चिम—दो भिन्न दिशाओं में जाने वाले मार्ग कैसे मिल सकते हैं? कुछ लोग एक ही क्रिया में दया और हिंसा का मिश्र मानते हैं। वे मिश्र धर्म की स्थापना के लिए अवास्तविक तर्क प्रस्तुत करते हैं और अल्पज्ञ लोगों को भ्रांत करते हैं।

स्वामीजी तर्क प्रस्तुत करते हैं कि यदि दया के साथ हिंसा का मिश्रण हो सकता है तो वह फिर अठारह ही पायों का हो सकता है। अर्थात् दया के निमित्त की गई हिंसा को यदि धर्म कहा जाएगा तो उस निमित्त किए गए सभी पाप धर्म बन जायेंगे। अठारहों पर समान तर्क लागू होता है, अतः एक की स्थिति में फेर-बदल होते ही वह अठारहों की स्थिति में हो जाएगा। बुद्धिमान इस पर गहराई से विचार करें।

निष्कर्ष की भाषा में स्वामीजी कहते हैं कि जैन धर्म की तो नींव ही दया पर अवस्थित है, परन्तु उसके विशुद्ध स्वरूप को कोई खोजी ही प्राप्त कर सकता है। जो हिंसा में धर्म कहते हैं, उन्होंने गहराई से खोज नहीं की है। यदि हिंसा में धर्म होने लगेगा तो फिर जल को मथने पर भी घी निथर कर आने लगेगा।

नव पदार्थ

जिन-धर्म में सम्यक्त्वी को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में अगे बढ़ने के लिए उसे प्रथम सोपान कह सकते हैं। नव पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होने पर ही कोई सम्यक्त्वी बन सकता है। स्वामीजी ने 'नव पदार्थ' नामक अपने ग्रंथ में उनका विशद विवेचन किया है। एक-एक पदार्थ का भेद-प्रभेदों सहित इतना गंभीर वर्णन प्रायः कम ही उपलब्ध होता है। केवल विवेचन ही नहीं, यथावसर सजगता की सीख भी उसमें है। पुण्य पदार्थ का विवेचन करते हुए वे कहते हैं :

पुन तो पुद्गल री परजाय छै, जीव रे आय लागे ताम।
ते जीव रे उदय आवे सुभ पणे, तिण सूं पुद्गल रो पुन छै नाम॥
च्यार कर्म ते एकंत पाप छै, च्यार कर्म छै पुन ने पाप।
पुन कर्म थी जीव ने, साता हुवे पिण न हुवे संताप॥
अनंता प्रदेस छै पुन तणा, ते जीव रे उदय हुवे आय।
अनंतो सुख करे जीव रे, तिण सूं पुन री अनंती परजाय॥
निरवद जोग वरते जब जीव रे, सुभ पणे लागे पुद्गल ताम।
त्यां पुद्गल तणा छै जू जुआ, गुणा परिणामे त्यांरा नाम॥²

1. भि. ग्रं. र. (खंड 1) अनुकंपा री चौपई, 9170 से 74।

2. भि. ग्रं. र. (खंड 1), नव पदार्थ 31 से 4।

उपर्युक्त पद्यों में पुण्य के विषय में कहा है कि वह पुद्गल का ही एक पर्याय है। वे पुद्गल बाहर से आकर जीव के चिपकते हैं। वे जीव के शुभ रूप में उदय में आते हैं, अतः उनका नाम पुण्य है।

चार घनघात्य कर्म एकान्ततः पाप हैं। शेष वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु-ये चार पुण्य-पाप दोनों हैं। पुण्य कर्म से जीव को साता प्राप्त होती है, असाता दूर हो जाती है।

पुण्य के अनंत प्रदेश होते हैं। वे उदय में आते हैं तब जीव को अनन्त सुख प्रदान करते हैं। इसलिए पुण्य के अनंत पर्याय हैं।

जब जीव के निरवद्य योगों—शुभ योगों की प्रवृत्ति होती है तब शुभ पुद्गल चिपकते हैं। उन पुद्गलों के गुण-परिणमों के अनुसार पृथक्-पृथक् नाम दिये जाते हैं, जैसे—साता वेदनीय, शुभ नाम, उच्च गोत्र, शुभ आयु आदि।

पुण्य से प्राप्त होने वाले सुख पौद्गलिक होते हैं, अतः वे व्यक्ति को भोग की ओर ही ले जाते हैं। उनसे बचने की प्रेरणा देने वाले स्वामीजी के शब्द इस प्रकार हैं :

पुन रा सुख छै पुद्गल तणा, काम भोग शब्दादिक जाण।

ते मीठा लागे छै कर्म तणे वसे, ग्यानी तो जाणे जेहर समान॥

जेहर सरीर में त्यां लगे, मीठा लागे नींब-पान।

ज्यूं कर्म उदय हुवे जीव रे जब, लागे भोग इमरत समान॥¹

पुन तणीं वंछा कियां, लागे छै एकंत पाप।

तिण सूं दुख पामे संसार में, बधतो जाये सोग संताप॥²

जिण पुन तणीं वंछा करी, तिण वंछिया काम नै भोग।

संसार बधे काम भोग सूं, तिहां पामे जनम मरण सोग॥³

स्वामीजी चेतावनी देते हुए कहते हैं कि पुण्य से प्राप्त पौद्गलिक सुख केवल शब्दादि काम-भोगों के सुख हैं। मोहवश वे मीठे लगते हैं, पर ज्ञानी तो उन्हें विषतुल्य समझते हैं।

शरीर में विष का प्रभाव रहता है तब तक नीम के पत्ते मीठे लगते हैं। इसी प्रकार से कर्मोदय रहता है तभी तक इन्द्रिय-सुख अमृतोपम लगते हैं।

पुण्य की वांछा करने मात्र से भी एकांततः पाप का बन्ध होता है। उससे दुःख, शोक एवं संताप की परम्परा आगे बढ़ती रहती है।

जिसने पुण्य की वांछा की उसने भोग की वांछा की। भोग से संसार की वृद्धि होती है और तब जन्म, मरण तथा शोक का क्रम चालू रहता है।

1. नव पदार्थ, 3। दो. 2,3

2. वही, 3। 52

3. वही, 4। 62

विनीत अविनीत री चौपई

स्वामीजी मानव-मन की गहराइयों में झाँक कर देखने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने जन-साधारण से लेकर अपने शिष्यों तक की मानसिकता को परखने का सफल प्रयास किया था। प्रत्येक व्यक्ति में गुण बढ़े—यह उनका निरंतर प्रयास था। धर्म-क्षेत्र में विनय को सर्वोत्कृष्ट गुण तथा अविनय को सर्वोत्कृष्ट अवगुण माना जाता है। विनयी सर्वत्र आदर पाता है एवं अविनयी अनादर। इसीलिए स्वामीजी ने अपने धर्म-संघ में विनय के क्रमिक विकास की एक परिपाठी डाली। उसमें उनकी रचना ‘विनीत अविनीत री चौपई’ का बड़ा सहयोग रहा। स्वामीजी ने उसमें विनीत तथा अविनीत शिष्य की वृत्तियों तथा कार्यों का बड़ी सूक्ष्मता से विश्लेषण किया है। वे कहते हैं :

कोई उपगारी कंठ कला धर साधु री, प्रशंसा जस कीरति बोले लोग।

अविनीत अभिमानी सुण सुण परजले, उण रे हरष घटे ने वधे सोग॥

जो कंठ कला न हुवै अविनीत री, तो लोकां आगे बोले विपरीत।

यां गाय-गाय रीझाया लोक ने, कहे हूं तत्त्व ओलखाऊं रुड़ी रीत॥

ओ गुर रा पिण गुण सुण ने विलखो हुवे, ओगुण सुणे तो हरखत थाय।

एहवा अभिमानी अविनीत तेहने, ओलखाऊं भवजीवां ने इण न्याय॥

बले करे अभिमानी गुर सूं बरोबरी, तिण रे प्रबल अविनो ने अभिमान।

ओ जद-तद टोला में आछो नहीं, ज्यूं बिगड़यो बिगडे सड़ियो पान॥¹

स्वामीजी ने यहां अविनीत की मनोवृत्ति का दिग्दर्शन कराते हुए कहा है—किसी साधु का कंठ मधुर है। वह अच्छा गाता है। लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। अविनीत साधु के मन में उससे जलन पैदा होती है और वह शोकाकुल बन जाता है। यदि अविनीत के कंठ मधुर न हों तो वह लोगों से कहता है—यह गा-गाकर लोगों को प्रसन्न करता है। यह कोई महत्व का कार्य नहीं। मेरी तरह लोगों को तत्त्व सिखलाए तब पता चले।

वह गुरु के गुण सुनकर उदासीन हो जाता है। अवगुण सुनता है तो बड़ा प्रसन्न होता है। वह प्रबल अभिमान रखता है और गुरु की बराबरी करता है। ऐसे अविनीत साधु संघ के लिए हितकर नहीं होते। वे तो सड़े हुए पान की तरह होते हैं, जो औरों में भी संडाध पैदा करते हैं।

अविनीत की दुरंगी चाल एवं दूषित स्वभाव का वर्णन करते हुए स्वामीजी कहते हैं :

गुर भगता श्रावक श्रावका कने, गुर रा गुण बोले ताम।

आप रे वश हुओ जाणे तिण कने, ओगुण बोले तिण ठाम॥

अविनीत ने अविनीत श्रावक मिले, ते पामे घणो मन हरख।

ज्यूं डाकण राजी हुवे, चढवा ने मिलियां जरख॥

बांध्यों काला री पाखती गोरियो, वर्ण नावै पण लखण आवे।

ज्यूं विनीत अविनीत कने रहे, तो उ कांयक कुबद सीखावे॥

1. भि. ग्रं. र. (खंड 1), विनीत अविनीत री चौपई, 1122, 23, 25, 28।

कांदा ने सो बार पाणी सूँ धोवियां, तो ही न मिटे तिणरी वास।
ज्यूँ अविनीत ने गुर उपदेश दिये घणो, पिण मूल न लागे पास।।
कांदा री तो वास धोयां मुधरी पड़े, निरफल छै अविनीत नें उपदेश।।
जो छेड़वे तो अविनीत अंबलो पड़े घणो, उणरे दिन-दिन इधक कलेश।।¹

उक्त पद्यों में बतलाया है कि अविनीत व्यक्ति गुरुभक्त श्रावक-श्राविकाओं के सामने तो गुरु की प्रशंसा करता है, परन्तु जब अपने से प्रभावित व्यक्ति आ जाता है तब गुरु के अवगुण बोलने लगता है। उसको यदि श्रावक भी अविनीत मिल जाता है, तब तो मन में ऐसा प्रसन्न होता है मानो डायन को चढ़ने के लिए जरख मिल गया हो।

कहावत है कि काले बैल के पास गोरिया बांधा जायेगा तो वर्ण चाहे न आये, लक्षण अवश्य आ जायेंगे। यही बात स्थियों पर भी लागू होती है। विनीत और अविनीत साथ में रहेंगे तो अविनीत उसे कोई न कोई कुबुद्धि अवश्य सिखला देगा।

अविनीत की दुर्बोध्यता की स्वामीजी ने प्याज से तुलना की है। प्याज को सौं बार पानी से धोया जाये तो भी उसकी दुर्गंध मिटती नहीं। उसी तरह अविनीत को यदि गुरु सौं उपदेश दें तो भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्याज की गंध तो बार-बार धोने पर कुछ मंद हो जाती है, परन्तु अविनीत को दिये गये सारे उपदेश निष्फल हो जाते हैं। इतना ही नहीं, वह उलटी दिशा पकड़ लेता है और प्रतिदिन अधिकाधिक क्लेश करने लगता है।

स्वामीजी ने अविनीत की अन्तरंगता को सोरे-बारूद की तुलना से उजागर किया है। उनके शब्द हैं :

सोर ठंडो लागे मुख में धालियां, अग्नि माहें धाल्यां हुवे तातो।
ज्यूँ अविनीत ने सोर री ओपमां, सोर ज्यूँ अलगो पड़े जातो॥
आहार पाणी वस्त्रादिक आपियां, तो उ श्वान ज्यूँ पूँछ हलावे।
करड़ो कह्यां उठे सोर अग्नि ज्यूँ गण छोड़ी एकल उठ जावे॥
सोर आप बले बाले ओर नै, पछे राख थई उड़ जावे।
ज्यूँ अविनीत आप ने पर तणा, ग्यानादिक गुण गमावे॥²

सोरा मुख में डालने पर ठंडा लगता है, पर अग्नि में डालते ही भभक उठता है। अविनीत के लिए यह तुलना ठीक बैठती है। उसे आहार, पानी एवं वस्त्रादि देते रहो तो श्वान की तरह पूँछ हिलाता रहेगा। उपालंभ दोगे तो विस्फोट कर देगा, अर्थात् गण से पृथक् हो जायेगा। सोरा स्वयं जलता है, दूसरों को जलाता है और फिर राख या धुआं होकर उड़ जाता है। वैसे ही अविनीत भी अपने और दूसरों के ज्ञानादि गुणों की राख कर डालता है।

1. विनीत अविनीत री चौपई, 21 दो. 3,5।28,2।24,3।29,30।

2. वही, 2।31-33।

विनीत एवं अविनीत के पास प्रतिबोध पाने वालों में भी गुणों का अन्तर हो जाता है। उनमें कितना अन्तर हो सकता है—यह प्रश्न उपस्थित कर स्वयं स्वामीजी ही उसका समाधान करते हुए कहते हैं :

समझाया विनीत अविनीत रा, त्यां में फेर कितोयक होय।

ज्यूं तावड़ो ने छांहड़ी, इतरो अन्तर जोय॥

विनीत तणा समझाविया, सालदाल ज्यूं भेला होय जाय।

अविनीत रा समझाविया, ते कोकला ज्यूं कांनी थाय॥¹

विनीत और अविनीत द्वारा प्रतिबुद्ध व्यक्तियों में उतना ही अन्तर होता है, जितना धूप और छाया में। विनीत के समझाये हुए व्यक्ति सबके साथ चावल और दाल की तरह घुलमिल जाते हैं। अविनीत के समझाये हुए ‘कोकलों’ की भाँति अलग-थलग रहते हैं।

आख्यान

स्वामीजी ने जन-उद्बोधन के लिए आख्यानों का बहुलता से उपयोग किया। आचार, तत्त्व एवं अहिंसा आदि विषयों पर लिखते समय रचनाकार को एक सीमित दायरे में ही अपनी बात कहने का अवसर मिलता है, परन्तु आख्यानों में सभी प्रकार के चरित्र-चित्रण का अवसर उपलब्ध होता है। स्वामीजी द्वारा रचित 21 आख्यान उपलब्ध हैं। कथानक, रागिणी और सुबोध्य भाषा ने उनकी महत्ता को शतगुण बना दिया है। ‘सुदर्शन चरित’ नामक आख्यान में वसंतऋतु का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

आयो आयो हे सखी! कहीणे मास वसंत,
ते रितु लागे छै अति ही सुहामणी।
सहु नर नारी हे सखी! इण रितु हुवे मयमंत,
त्यां ने रमण खेलण ने छै रितु रलियामणी॥
फूल्यो रहे सखी! चंपो मरवो अथाय,
फूल्या छै जाइ जुही ने केतकी।
फल्या फूल्या हे सखी! पाडल फूलड़ा ताय,
फूल्या छै रुंख धवला ने सेतकी॥
तिण ठामे हे सखी! कोयल करे टहुकार,
वले मोर किंगार शब्द करे घणा।
चकवा चकवी हे सखी! शब्द करे श्रीकार,
वले अनेक शब्द गमता पंखियां तणा॥²

यहां रानी अभया ने अपनी सखी को नाना पुष्पों और वृक्षों के फलने-फूलने तथा नाना पंखियों के मनोज्ज शब्दों की याद दिलाते हुए वसंत-क्रीड़ा की तैयारी के लिए प्रेरणा

1. विनीत अविनीत री चौपई, 5114, 15।

2. भि. ग्रं. र. (खंड 2), सुदर्शन चरित, 711, 2, 5।

202 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
दी है। उद्यान का यह प्रसाद गुण संवलित प्रकृति-चित्रण वास्तव में स्वामीजी के शब्द
शिल्प का एक अनुपम उदाहरण है।

सास और बहू का झगड़ा एक प्रकार से शाश्वत जैसा है। उस ओर इंगित करते हुए
स्वामीजी ने कहा है :

घर में धन माल छतें थके, पिण सासू न करे बहु नों बेसास।
आछो खावा पहरवा दे नहीं, वांटी नी परे रोलवे तास॥
सासू दुख दिया ते भूले नहीं, आ पिण नारी नी जात जहर।
कदे डाव पडे जद एहनो, आ पिण लेवे सवेखो वेर॥
जो दोनंडु हुवे बथोकड़ी, जब लड़ती काढे दिन रात।
त्यां ने फिट-फिट लोक करे घणी, परपूठे करे मांहोंमांहिं तात॥¹

गर्भस्थ शिशु के शुभाशुभ कर्मों का प्रभाव अदृश्य रूप में पूरे परिवार को प्रभावित
करता है। कहावत है—‘पूत के पग पालने में ही पहचान लिए जाते हैं।’ स्वामीजी का
कथन है कि वे तो पेट में ही पहचान लिये जाते हैं। वे कहते हैं :

पापी जीव जो गर्भ में आवे, मां ने ईंट लीयाला भावे।
घर में आवे खांचाताण, पापी जीव रा ए अहलाण॥
पापी जीव गर्भ में थकां ताहि, तब माता रे सूल चाले पेट मांहि।
बले दिन-दिन वेदन इधकी थावे, माता दिन-दिन गलती जावे॥
लोक माँहें पिण छै ओखाणो, पूत रा पग पालणा में पिछाणो।
ते पालणो तो ज्यां ही रह्हो ताहि, पूतरा पग जोवो पेट रे मांहिं॥²

मनुष्य की कर्मजन्य विभिन्नताओं का वर्णन करते हुए स्वामीजी ने बहुत-सारे
उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। सभी उदाहरण ऐसे हैं जो हम प्रतिदिन हमारी आंखों से देखते
हैं। उनका कथन है कि इस संसार में सारे शुभ फल सुकृत से ही प्राप्त होते हैं। दुष्कृत
करने वाले को हर क्षेत्र में केवल अभाव का ही सामना करना पड़ता है। किसी को कोई
उपालंभ नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह सब स्वयं की क्रियाओं एवं व्यवस्थाओं के
वैपरीत्य का ही फल है। स्वामीजी का कथन है कि वृक्ष निष्फल हो सकता है, स्त्री भी
निष्फल हो सकती है, परन्तु की हुई शुभ या अशुभ करणी कभी निष्फल नहीं होती।
एतद्विषयक उनके पद्य इस प्रकार हैं :

एक नर पंडित प्रवीण, एकण ने आखर ना चढ़े।
एक नर मूरख दीन, भाग बिना भटकत फिरै॥
एक एक रे भर्या भंडार, रिद्ध संपत घर में घणी।
एकण रे नहीं अन्न लिगार, दीधा सोई पाइये॥
एकण रे भूषण अनेक, गहणा वस्तर नित नवा।

1. भि. ग्रं. र. (खण्ड 2), चेड़ा कोणिक री सिंध, 18। 29-31।

2. वही, मृगालोद्धा रो बखाण, 11। 11, 12, 16।

एकण रे नहीं एक, वस्त्र विना नागा फिरे॥
 एक नर जीमे कूर, सीरा पूरी ने लापसी॥
 एक बूके बूकस बूर, भीख मांगत घर-घर फिरे॥
 एक नर पोढे खाट, सेट बिछाइ ऊपरे॥
 एक नर जीमे हाट, आदर मान पावे नहीं॥
 एक नर होवे असवार, चढे हस्ती ने पालखी॥
 एक चले शिर भार, गाम-गाम हिंडतो फिरे॥
 एक एक नर ने हजूर, हाथ जोड़ी हाजर रहे॥
 एक नर ने कहे दूर, निजर मेले नहीं तेह सू॥
 एक सुन्दर रूप सरूप, गमतो लागे सकल ने॥
 एकज कालो कुरूप, गमतो न लागे केह ने॥
 एक एक नी निर्फल देह, एक ने रोग पीड़ा घणी॥
 किसो कीजे अहमेव, कियो जिसो ई पाइये॥
 एक बालक विधवा नार, रात दिवस झूरे घणी॥
 एक सज सोले सिणगार, नित नवला सुख भोगवे॥
 एक नर छत्र धराय, आण मनावे देश में॥
 एक अलवाणे पाय, घर-घर टुकड़ा मांगतो॥
 एक बैठे सिंधासन पाट, हुकम चलावे लोक में॥
 एक फिरे हाटोहाट, एक कोड़ी के कारणे॥
 निर्फल रुखज होय, निर्फल होय जावे अस्त्री॥
 सुणज्यो भवियण लोय, पिण करणी कदे निर्फल नहीं॥¹

कुलटा स्त्रियां अपने ही अपलक्षणों से सर्वत्र अनादर पाती हैं। शायद ही कोई उनका अन्तरंग से विश्वास करता है। उनका व्यवहार बाहर से जैसा दिखलाई देता है, आभ्यन्तर में प्रायः उससे बिल्कुल उलटा होता है। वे दिखावा भीरुता का करती हैं, परन्तु होती हैं अत्यन्त दुस्साहसी। स्वामीजी ने उनके उस द्विरूप को बड़े मननीय ढंग से प्रस्तुत किया है। जन-जीवन में रची-बसी शब्दावली, सहजगम्य उपमाओं, रूपकों एवं प्रतीकों का ऐसा मन को छूने वाला प्रयोग प्रायः विरल व्यक्ति ही कर पाते हैं। स्वामीजी ने तत्कालीन समाज का बड़ी गहराई से अध्ययन किया था। उस धरातल पर जो-कुछ निरखा-परखा एवं मनन किया, उसी आधार पर वे लिखते हैं :

डेली चढती डिंग डिंग करै, चढ जाये ढूंगर असमान।
 घर मांहें बैठी डर करे, राते जाय मसाण॥
 देख बिलाइ ओजके, सिंह ने सनमुख जाय।
 सांप ओसीसे दे सुवे, उन्दर स्यूं भिड़काय॥

1. सुदर्शन चरित्र, 212 से 13, 17।

कोयल मोर तणी परे, बोले मीठा बोल।
 भीतर कड़वी कटुक-सी, बाहिर करे किलोल॥
 खिण रोवे खिण में हसे, खिण मुख पाड़े बूम।
 खिण राचे विरचे खिणे, खिण दाता खिण सूम॥
 नारी ने काजल-कोटड़ी, बेहूं एकज रंग।
 काजल अंग कालो करे, नारी करे शील भंग॥
 नारी ने बन-वेलड़ी, बेहूं एक स्वभाव।
 कंटक-रुख कुशील नर, ताहि विलंबे आय॥
 मोर तणी पर मोहिनी, बोले मीठा बोल।
 पिण सांप सपूँछो ही गिले, आ ले नर ने भोल॥
 पुरुष पोत कपड़ा जिसो, निर्गुण नित नवी भांत।
 नारी कातर वश पड़यो, काटत है दिन रात॥
 त्रिया मदन तलावड़ी, बूड़ो बहु संसार।
 केइक उत्तम उग्राया, सद्गुरु वचन संभार॥¹

नारी की जातिगत कमियों पर भी स्वामीजी ने प्रकाश डाला है। जैन-अजैन प्रायः समग्र संत-साहित्य में नारी के प्रति बड़ी कटुक्षियां मिलती हैं। प्रायः सभी ने उन्हें मोक्ष की बाधा, नरक में ले जाने वाली, मलमूत्र की कोथली आदि विशेषणों से विभूषित किया है। प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्मचर्य की दृढ़ता के लिए स्त्री-जाति की ओर से आकर्षण हटाने के निमित्त कहा गया है। क्योंकि धारणा में प्रायः यह रहा है कि पुरुष के विषय में भी स्त्री की ऐसी ही अशुचि आदि की भावना से स्वयं को उस आकर्षण से विरक्त करना चाहिए। वस्तुस्थिति के आधार पर सोचने से हर किसी को यह स्पष्ट ध्यान में आ सकता है कि पुरुष और स्त्री समान रूप से ही एक-दूसरे के भले-बुरे का निमित्त बनते आये हैं। स्वामीजी ने तो स्पष्ट ही संतुलन किया है। नारी के अवगुण बतलाते हुए वे कहते हैं :

माठी मति छै नारनी, ऊंधी छै तिण री चाल।
 पाणी नी परे नीचो स्वभाव छै, आ नरक तणी दलाल॥
 वले मायां भेद घलावणी, तोरावे सजन सूं नेह।
 घणी पीत मांडै भरतार सूं, सवारथ नहीं पूर्ण छेह॥
 मात पिता सूं मन भांग दे, कामणी रा चरित अनेक।
 कलह लगाय कुल रो खय करे, आछी नहीं बुध विवेक।
 आ तो मन में ओर ही चिंतवे, वले कहे करे कुछ ओर।
 कपटाई घणी छै नार ने, संगत कियां लागे झोर॥²

1. सुदर्शन चरित्र, 615 से 8,10,11,16,17,21।

2. चेड़ा कोणिक री सिंध, 511 से 4।

स्वामीजी ने इसी प्रकार से पुरुष की कमियों को भी स्थान-स्थान पर व्यक्त किया है। उसका सार-संक्षेप बतलाना हो तो निम्नोक्त एक पद्य में ही सब-कुछ समा जाता है। वे कहते हैं :

छड़ी नरक ताँई जावे अस्तरी, पुरुष सातवीं ताँई जाय।
ए तो अस्तरी बिचै पापी घणा, ओ देखो उघाड़ो न्याय॥¹

कुल मिलाकर निष्कर्ष की भाषा में कहें तो कहा जा सकता है कि इस विषय में स्वामीजी ने बहुत अच्छा संतुलन बिठाया है। निम्नोक्त पद्य उस संतुलन का एक अप्रतिम उदाहरण है। वे कहते हैं :

सगला नर सरिखा नहीं, नहीं सारखी नार।
केइ भला ने केइ बुरा, चलियो जाए संसार॥²

गद्य

स्वामी भीखण्णजी द्वारा रचित वाङ्मय का अधिकांश भाग पद्य में है, फिर भी अल्पांश में ही सही, उन्होंने गद्य में भी लिखा है। जैन तत्त्व-विद्या की प्राथमिक जानकारी के लिए उन्होंने थोकड़े लिखे। उनमें एक है 'तेराद्वार'। उसके तेरह अध्याय-द्वार हैं, अतः उसका नाम 'तेराद्वार' दिया गया। उसमें दुर्बोध सैद्धान्तिक तत्त्वों को भी बड़ी सुबोध भाषा में समझाया गया है। अनेक योनियों में परिभ्रमण करते हुए एवं अनेक प्रकार के शरीर धारण करते हुए भी आत्मा तथा उसका मूल चेतन्य गुण कभी नष्ट नहीं होता। स्वामीजी ने उदाहरण के द्वारा उसे इतना सरल कर दिया कि एक बालक भी समझ सकता है। वे कहते हैं :

जिम सोना रो गहणो भांजी-भांजी और-और आकारे घड़ावै तो आकार नो विनाश थाय, पण सोना रो विनाश नहीं, तिम कर्मा ने उदय थी जीव की पर्याय पलटै, पण मूल चेतन गुण को विनाश नहीं।

एक अन्य थोकड़ा है—'181 बोलां की हुंडी।' उसमें साधुओं के कल्पाकल्प के संबंध में आगम-कथनों का संकलन एवं अति संक्षिप्त समीक्षा है। उसके उपोद्घात में स्वामीजी ने लिखा है :

जे कोई हलुकर्मी जीव हुसी ते सुण-सुण नै हर्ष पामसी। त्यां नै न्याय मार्ग बतायां सुध साधां नै उत्तम जाणसी नै कुगुरु छोड़ सतगुरु आदरसी। अनें भारी कर्मा जीव हुसी ते सुण सुण नै धेख पामसी। त्यां नै न्याय मार्ग बतायां उल्टी निंद्या जाणसी। त्यां नै आचार री बात न सुहावसी।

स्वामीजी ने सं. 1832 में अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति की और तभी प्रथम मर्यादा-पत्र का निर्माण किया। उसमें वे मर्यादा-निर्माण की प्रक्रिया बतलाते हुए लिखते हैं :

1. चेड़ा कोणिक री सिंध, 18|42।

2. वही, 19। दो. 1।

रिख भीखण सर्व साधां नै पूछ ने सर्व साध साधवियां री मरजादा बांधी। ते साधां नैं पूछ नैं, साधां कनां थी कहिवाय नैं ते लिखिये छै—सर्व साध साधवी भारमलजी री आज्ञा मांहें चालणों। विहार चोमासो करणो तो भारमलजी री आज्ञा सूं करणो। दिख्या देणी ते भारमलजी रा नाम दिख्या देणी। चेलारी, कपड़ारी, साता करिया खेतर री आदि देङ्गे नैं ममता कर-कर नैं अनंता जीव चारित गमाय नैं नरक निगोद मांहें गया छै। तिणसूं सिखादिक री ममता मिटावण रो नै चारित चोखो पालण रो उपाय कीधो छै। विनै मूल धर्म नै न्याय मारग चालण रो उपाय कीधो छै।

उक्त मर्यादा-पत्र की समाप्ति पर लिखा है—सर्व साधां रा परिणाम जोयनै रजाबंध कर नै, यां कना सूं पिण जूदो जूदो कहवाड़ नै मरजादा बांधी छै। जिन रा परिणाम मांहिला चोखा हुवै ते मतो घाल जो। कोई सरमा सरमी रो काम छै नहीं। मंडै और नै मन में और इम तो साधां नै करवो छै नहीं।

वर्गीकरण

स्वामीजी ने गद्य और पद्य—दोनों विधाओं में प्रचुर साहित्य लिखा। वह 38 हजार पद्य-प्रमाण है। पद्य-साहित्य प्रायः दोहों तथा विभिन्न राजस्थानी रागों में आबद्ध है। गेयात्मकता का अधिकांश पद्य-साहित्य ‘भिक्षु-ग्रंथ-रत्नाकर’ नाम से दो विशाल खंडों में प्रकाशित है। ‘अधिकांश’ शब्द का प्रयोग मैंने यहां इस आशय से किया है कि कुछ गीतिकाएं अनध्यवसायवश उनमें नहीं आ पाई हैं। गद्य तो अभी पूरा का पूरा ही अप्रकाशित अवस्था में है।

विषयानुसार स्वामीजी के पद्य-साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

1. आचार-मीमांसा

- | | | |
|-------------------------|--------------------------|----------------|
| 1. आचार री चौपई | 2. श्रावक ना बारह ब्रत | 3. एकल री चौपई |
| 4. विनीत अविनीत री चौपई | 5. विनीत अविनीत री ढालां | |

2. सिद्धान्त-मीमांसा

- | | | |
|------------------------|-------------------------|----------------------------|
| 1. श्रद्धा री चौपई | 2. अनुकंपा री चौपई | 3. विरत अविरत री चौपई |
| 4. निक्षेपां री चौपई | 5. जिनाज्ञा री चौपई | 6. मिथ्यात्वी करणी री चौपई |
| 7. समकित री ढालां | 8. पेतियाबंध री चौपई | 9. टीकम डोसी री चौपई |
| 10. पर्यायवादी री चौपई | 11. इंद्रियवादी री चौपई | 12. कालवादी री चौपई |

3. तत्त्व-मीमांसा

1. नव पदार्थ

4. आख्यान

- | | | |
|------------------------|--------------------|----------------------|
| 1. भरत चरित | 2. जंबूकुमार चरित | 3. सुदर्शन चरित |
| 4. चेड़ा कोणिक री सिंध | 5. द्रौपदी रो बखाण | 6. उदाई राजा रो बखाण |

- | | |
|--------------------------|-----------------------------|
| 7. तेतली प्रधान रो बखाण | 8. थावच्चापुत्र रो बखाण |
| 9. नंद मणिहार रो बखाण | 10. पुंडरीक कुंडरीक रो बखाण |
| 11. जिनरख जिनपाल रो बखाण | 12. मल्लिनाथ रो बखाण |
| 13. सकडाल पुत्र रो बखाण | 14. तामली तापस रो बखाण |
| 15. मृगालोढा रो बखाण | 16. उंबरदत्त रो बखाण |
| 17. सुबाहुकुमार रो बखाण | 18. धन्ना अणगार री चौपई |
| 19. गोसाला री चौपई | 20. चेलणा रो चोढालियो |
| 21. सास-बहू रो चोढालियो | |

5. उपदेश

1. वैराग री ढालां 2. गणधर सीखामणी ढालां 3. दान री ढालां

6. इतिहास

1. निहव री चौपई 2. अविनीत रास

7. विविध

- | | |
|------------------------------------|------------------------------------|
| 1. व्यावलो | 2. निहव रास |
| 3. दसवें प्रायछित री ढाल | 4. मोहिनी कर्मबंध री ढाल |
| 5. जिण लखणा चारित आवै न आवै री ढाल | 6. सूंस भंगावण रा फल री ढाल |
| 7. जुआ री ढाल | 8. उरण री ढाल |
| 9. सामधर्मी सामद्रोही | 10. तात्त्विक ढालां |
| 11. दुगंछणी कुल निषेधन नी ढाल | 12. गांव गरदोड़ा गुडला पाणी की ढाल |
| 13. भगवंत भाख्या रे श्रावक एहवा | 14. दृढ़ समकितधर थोडला |

स्वामीजी के गद्यात्मक वाङ्मय का विषयानुसार वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

1. हुंडी

आगमों के विशेष विषयों की नोंध को 'हुंडी' कहते हैं। वे अग्रोक्त हैं :

1. 306 बोलां री हुंडी 2. 181 बोलां री हुंडी

2. चर्चा

आगमज्ञान का प्रश्नोत्तर रूप में किया गया संकलन 'चर्चा' कहलाता है। व्यक्तिशः किये गये आगमिक प्रश्नों और उनके उत्तरों के संकलन को भी 'चर्चा' कहते हैं। स्वामीजी की इन चर्चाओं में 9 प्रथम कोटि की और अन्तिम दो दूसरी कोटि की हैं :

- | | | |
|-------------------------|--------------------------------|-----------------------|
| 1. पांच भावां री चर्चा | 2. जोगां री चर्चा | 3. खुली चर्चा |
| 4. आस्रव संवर री चर्चा | 5. जिनाज्ञा री चर्चा | 6. कालवादी री चर्चा |
| 7. इंद्रियवादी री चर्चा | 8. द्रव्य जीव भाव जीव री चर्चा | 9. निक्षेपां री चर्चा |
| 10. टीकम डोसी री चर्चा | 11. भिक्खु-पृच्छा | |

3. थोकड़ा

आगमिक ज्ञान का विषयानुवर्ती संक्षिप्त विवरणात्मक संकलन ‘थोकड़ा’ कहलाता है। स्वामीजी द्वारा निर्मित थोकड़े ये हैं—

1. तेराद्वार
2. जीव पदार्थ ऊपर पांच भावां रो थोकड़ो
3. आठ आत्मा रो थोकड़ो
4. उदय निष्पन्नादिक बोलां ऊपर पांच भावां रो थोकड़ो

4. लिखत-1

संघ-व्यवस्था के लिए स्वामीजी द्वारा समय-समय पर लिखे गये मर्यादा-पत्रों को ‘लिखत’ कहा गया है। वे ही सामूहिक रूप में आज तेरापंथ का संविधान कहलाते हैं। ऐसे ‘लिखत’ अग्रोक्त हैं :

1. युवराज पदवी रो लिखत। (सं. 1832 मिगसर बदी 7)
2. समचै आर्या रो लिखत-1। (सं. 1834 जेठ सुदी 9)
3. सर्व साधां रै मर्यादा रो लिखत-1 (सं. 1841 चैत बदी 13)
4. प्राचित रो लिखत। (सं. 1841)
5. आंख्यांदिक र कारणीक री चाकरी रो लिखत। (सं. 1845 जेठ सुदी 1)
6. सर्व साधां रै मर्यादा रो लिखत-2। (सं. 1850 माघ बदी 5)
7. सर्व आर्या रै मर्यादा रो लिखत-2। (सं. 1852 फागुण सुदी 14)
8. सर्व साधां रै मर्यादा रो लिखत-3। (सं. 1859 माघ सुदी 7 शनिवार)
9. विगयादिक खावा रै परिमाण रो लिखत। (सं. 1859)

5. लिखत-2

व्यक्ति-विशेष के लिए अनुशासनार्थ लिखे गये व्यवस्था-पत्रों को भी ‘लिखत’ ही कहा गया है। स्वामीजी ने ऐसे अनेक पत्र अपने पास में रखे व्यक्तियों के लिए भी लिखे तथा दूरस्थ व्यक्तियों के लिए भी। दूरस्थ साधु-साधियों के लिए लिखे गये व्यवस्था-पत्र साधु-साधियों के द्वारा ही पहुंचाये जाते थे। उन्हें ‘कागद’ भी कहा गया है। ऐसे ‘लिखत’ अग्रोक्त हैं :

1. अखैरामजी पाछा गण मांहें आया, त्यांरो लिखत। (सं. 1829 माघ सुदी 12 बृहस्पतिवार, बुसी)
2. वीरभाणजी ने प्राचित देणो थाप्यो, ते लिखत। (सं. 1832 जेठ सुदी 11)
3. फतूजी आदि च्यार आर्या गण में आई, त्यांरो लिखत। (सं. 1833 मिगसर बदी 2 बुधवार)
4. ऋषि अखैरामजी रे अने ऋषि सिंघजी रे विगय खावा रा त्याग रो लिखत। (सं. 1841 चैत बदी 13 बृहस्पतिवार)
5. ऋषिरामजी रो अभिग्रह पूरो हुवो, तिणरो लिखत। (सं. 1841 चैत्र दूजा बदी 10, सोमवार, लाटोती)
6. बड़ा रूपचन्दजी रो लिखत। (सं. 1850)

7. अखैरामजी दूजी बार पाछा गण में आया, त्यांरो लिखत। (सं. 1850 मिगसर बदी 8)
8. आर्या चन्दू ने गण मांहें लीधा पहली करार कीधो, तिण रो लिखत। (सं. 1851)
9. आर्या सरूपां रो लिखत। (सं. 1854 चैत बदी 6)
10. आर्या मैणांजी रो लिखत (कागद)। (सं. 1855 जेठ बदी 6)
11. ओटोजी रो लिखत। (सं. 1857 पौष)
12. आर्या नन्दूजी रो लिखत (कागद)। (सं. 1858 जेठ बदी 12)

6. विगत

घटनाओं, वार्ताओं तथा सूचनाओं के विवरणों को यहां 'विगत' कहा गया है। कहीं-कहीं इनके लिए 'विवरण' या 'लिखत' शब्द का भी उपयोग किया गया है। स्वामीजी द्वारा लिखित ऐसी विगतें अग्रोक्त हैं :

1. वीरभाणजी दोष काढ्या, तिणरी विगत। (सं. 1832)
2. वीरभाणजी अवगुण बोल्या, ते पन्नै लिखाया, तिणरी विगत। (सं. 1833)
3. गांव चूरू में फत्तूजी रा दोष उघड़िया, त्यांरो विवरण। (सं. 1837)
4. फत्तूजी आदि पांच आर्या नै गण बारै काढी, त्यां रो लिखत। (सं. 1837 फागण बदी 2)
5. तिलोकचन्द चंद्रभाण रा कूड कपट नै दगा रो विवरण। (सं. 1837)
6. तिलोकचन्द चंद्रभाण नै विश्वासघाती जाण नै गण बारै काढ्या, तिण रो लिखत। (सं. 1837 माघ बदी 9)
7. संतोषजी शिवरामजी रो मन भांग नै आपरा कीधा, तिणरी विगत। (सं. 1837)
8. सुखोजी रो मन भांग नै आपरा कीधा, तिणरी विगत। (सं. 1837)
9. तिलोकचन्द चंद्रभाण री बातां गाम ईङ्वा में सांभली, तिणरी विगत। (सं. 1838)
10. तिलोकचन्द चंद्रभाण री बातां गाम बाजोली मांहें भायां कही, तिणरी विगत। (सं. 1845 पौष सुदी 11)
11. रूपचन्दजी अखैरामजी पाछा न्यारा होय नै दोष काढ्या, तिण री विगत। (सं. 1850)
12. रूपचन्दजी द्वेषवश अखैरामजी आगै अनेक बातां कही, त्यांरी विगत। (सं. 1850)
13. चंदू वीरा नै गण बारे काढी, तिणरी विगत। (सं. 1852 बैशाख बदी 1)
14. सिरियारी में चंदू अवगुण बोल्या, त्यांरी विगत। (सं. 1852)
15. वीरां नै फाडण ताँई चन्दू साध साधवियां रा अवगुण बोल्या, तिणरी विगत। (सं. 1852)
16. चन्दू अवगुण बोल्या, ते अजबांजी लिखाया, त्यांरी विगत। (सं. 1852)
17. चन्दू नै बारै काढ्यां पछै आर्या रै आल दीधा, तेहनी विगत। (सं. 1854)

जीवन का संध्याकाल

सक्रिय जीवन

स्वामीजी का सारा जीवन एक सक्रिय व्यक्ति का जीवन था। विश्राम की न उन्हें कभी आवश्यकता अनुभूत हुई और न कभी उन्होंने उसे महत्व ही दिया। जीवन के संध्याकाल में भी वे युवकोचित साहस और सामर्थ्य से कार्य करते रहे। वृद्धावस्था उनकी कार्यक्षमता पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकी। जनपद-विहार, धर्म-प्रसार, आगमिक चर्चाएं, साहित्य-निर्माण और शिष्यों के प्रशिक्षण आदि कार्यों में उनकी दैनिकचर्या अत्यन्त व्यस्त रहा करती थी।

'नांगला' और 'झोलका'

अपना कार्य स्वयं अपने ही हाथों से करने की वृत्ति स्वामीजी में प्रारम्भ से ही थी। वृद्धावस्था में भी वह तद्रूप बनी रही। वे गोचरी के लिए प्रायः स्वयं जाया करते थे। विहार में अपनी निशा के भंडोपकरणों का 'झोलका' तो उनके पास रहता ही था, उसके अतिरिक्त दो पुस्तकों का 'नांगला' भी वे वहन करते थे। दोनों को मिला कर लगभग दस किलो भार उनके कंधों पर रहता था। शिष्यों के अनेक बार आग्रह करने पर भी उन्होंने उसे नहीं छोड़ा। सं. 1838 में मुनि खेतसीजी दीक्षित हुए। उन्होंने स्वामीजी से इतना आग्रह किया कि उन्हें 'नांगला' देना ही पड़ा। उसके पश्चात् सं. 1853 में मुनि हेमराजजी की दीक्षा हुई। उनके आग्रह पर 'झोलका' भी दे दिया। उस समय उनकी अवस्था लगभग सत्तर वर्ष की थी।

खड़े होकर प्रतिक्रमण

स्वामीजी प्रातः और सायं-दोनों ही समय का प्रतिक्रमण खड़े-खड़े किया करते थे। वे इस मानव-स्वभाव से पूर्ण परिचित थे कि अनुयायी प्रायः अपने नेता का ही अनुकरण किया करते हैं। यदि नेता अपनी चर्या में थोड़ी-सी भी ढील करता है, तो अनुयायी उसे और भी बड़े प्रमाण में करने लगते हैं। यदि नेता अधिक कठिनता से काम लेता है, तो अनुयायी कम-से-कम एक मध्यम सीमा तक की कठिनाई को तो स्वीकार कर ही लेते हैं।

एक बार किसी ने स्वामीजी से कहा—‘इस वृद्धावस्था में आप खड़े-खड़े प्रतिक्रमण क्यों करते हैं? बैठ कर करने में सुविधा रहेगी।’

स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा—‘मैं यदि बैठकर प्रतिक्रमण करूँगा तो मेरे पाछे वाले सम्भव हैं सोकर करने लगें। मैं खड़ा-खड़ा करूँगा, तो आशा की जा सकती है कि वे लोग कम-से-कम बैठ कर तो अवश्य ही करेंगे।’¹

सोया ही कौन था ?

स्वामीजी के जीवन की सक्रियता अनुकरणीय थी। अग्रोक्त घटना उसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कही जा सकती है—एक बार पाली में रात्रिकालीन व्याख्यान के पश्चात् दो भाई स्वामीजी के पास तत्त्वचर्चा करने के लिए आये। उनमें एक थे तत्कालीन स्थानकवासी समाज के अग्रणी विजयचन्द्रजी पटवा और दूसरे थे मूर्तिपूजक समाज के प्रमुख वर्धमानजी श्रीश्रीमाल। दोनों ही समृद्धिशाली व्यक्ति थे और परस्पर गहरे मित्र थे। समाज-भय से दिन में आना उन्हें कठिन लगा, अतः एकान्त अवसर देखकर प्रहर रात्रि व्यतीत होने के पश्चात् ही आये।

स्वामीजी ने संतों को सो जाने के लिए कहा और स्वयं आगन्तुकों के साथ तत्त्वचर्चा करने बैठ गये। दोनों व्यक्ति दुकान की चबूतरी के पास खड़े रहकर प्रश्न-प्रतिप्रश्न करने लगे। चर्चा लम्बी चली तब दोनों चबूतरी पर बैठ गये। फिर तो वे स्वामीजी के तत्त्वचिंतन की गहराइयों में ऐसी डुबकियां लगाने लगे कि समय का भान मानो खो ही गया। तत्त्वचर्चा आगे से आगे बढ़ती गई और रात्रि क्रमशः घटती गई। प्रातःकालीन प्रतिक्रमण की वेला आ गई। दोनों व्यक्तियों ने एक ही रात्रि में स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित तत्त्व को परिपूर्णता के साथ समझा और खड़े होकर गुरु-धारणा कर ली।

कार्य-सिद्धि के पश्चात् स्वामीजी अपने आसन से उठे और सन्तों को जगाते हुए बोले—‘साधुओ! उठो, प्रतिक्रमण का समय होने वाला है।’

साधु उठे और स्वामीजी से पूछने लगे—‘आप कब जाएं?’

स्वामीजी ने कहा—‘पहले यह तो पूछो कि आप कब सोये? जागने का समय तो तभी बतलाया जा सकता है, जब कोई सोया हो।’²

पूर्वावस्था के इस प्रकार के श्रमी जीवन ने वृद्धावस्था में भी उन्हें सक्रिय बनाये रखा। उपकार के निमित्त इस प्रकार न जाने उन्होंने कितने रात्रि-जागरण किये थे?

लिखित उत्तर

स्वामीजी ने वि.सं. 1859 का चतुर्मास पाली में किया। वहां कच्छ से आकर टीकमजी डोसी ने स्वामीजी के दर्शन किये। वे अपनी जिज्ञासाओं को उनतीस पत्रों (58 पृष्ठों) में लिखकर लाये थे। स्वामीजी ने उनके सब प्रश्नों के लिखित उत्तर प्रदान किये। डोसीजी क्रमशः प्रदत्त उत्तरों का मनन करते तब तक स्वामीजी आगे के उत्तर लिख दिया

1. मिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 2121।

2. वही, दृ. 53।

212 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
करते थे। अपने सैद्धान्तिक प्रश्नों का अत्यन्त स्पष्ट और तर्क-संगत उत्तर पाकर वे इतने हर्ष-विद्वल हुए कि स्वामीजी के चरणों में सिर रखकर बालक के समान फफक-फफक कर रो पड़े। उन्होंने कहा—‘यदि आप न होते तो मेरी क्या गति होती? आपने मेरे प्रश्नों के इस प्रकार उत्तर दिये हैं मानो केवलज्ञानी ने दिये हों।’¹

स्वामीजी की अवस्था उस समय छिह्नतर वर्ष की थी, फिर भी वे एक युवक के समान निरन्तर परिश्रमरत रहा करते थे। वस्तुतः वृद्धत्व उसे ही घेरता है जो क्रिया-विरत हो जाता है। क्रियारत व्यक्ति आन्तरिक रूप से सदा युवक ही रहता है। स्वामीजी ने अट्टावन पृष्ठों के जो लिखित उत्तर दिये थे, वे ‘टीकम डोसी नी चर्चा’ नाम से आज भी सुरक्षित हैं और उनके गहन ज्ञान तथा श्रमशीलता की गाथा कह रहे हैं।

बाटी की घाटी

स्वामीजी की सक्रियता बेजोड़ थी, पर वह उनकी मनोजन्य सबलता थी। साधारण जन की अपेक्षा उनकी शारीरिक सबलता भी बेजोड़ थी, फिर भी अवस्थाजन्य प्रभाव उन्हें अनुभव होने लगा था। सं. 1858 में केलवा चतुर्मास के पश्चात् विहार करते हुए वे गोगूंदा तथा उसके पार्श्ववर्ती सभी क्षेत्रों में विचरे। पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण ऊबड़-खाबड़ मार्गों पर चलना तब 75 वर्ष की अवस्था में स्वामीजी को कठिन लगने लगा। ‘बाटी की घाटी’, ‘भूताला का घाट’ और ‘मोड़ी’ आदि के पर्वतीय मार्गों को पार करते हुए उन्होंने थकान का अनुभव किया। परन्तु आगे गोगूंदा के श्रावकों की भक्ति का आकर्षण भी कोई कम नहीं था। ‘भगवान् तो भक्ति के ही भूखे होते हैं’—यह जनोक्ति वस्तुतः एक सत्य का ही प्रस्तुतीकरण है। स्वामीजी ने अपनी थकान और श्रावकों की भक्ति, इन दोनों को उसी समय एक पद्य के द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्ति प्रदान की :

बाटी री घाटी हो चढ़तां दोहिली, दोहिलो भूताला रो घाट।

मोड़ी तो पग मोड़े अति ही घणा, आगै परखदा रो ठाट।

जिनेश्वर देवां! बुढ़ापो आयां हो चलणो दोहिलो॥

स्वामीजी की उपर्युक्त मेवाड़-यात्रा त्रिवार्षिक थी। नाथद्वारा, पुर और केलवा में क्रमशः तीन चतुर्मास करके वे गोगूंदा तक पधारे और फिर देवगढ़ होकर मारवाड़ में पधार गये। वह उनकी अंतिम मेवाड़-यात्रा थी।

अन्तिम विहार

स्वामीजी ने सम्बत् 1859 का चतुर्मास सम्पन्न कर पाली से विहार किया। वह उनका अन्तिम विहार था। उस समय वे चाणोद और पीपाड़ के मध्यवर्ती ग्रामों को पवित्र करते हुए सोजत पधारे। वहां बाजार में स्थित रायमलजी मुंहता की छत्री में विराजे। सन्त-सतियों ने भी भिन्न-भिन्न स्थानों से विहार कर सोजत में स्वामीजी के दर्शन किये और

1. भिक्खु-दृष्टान्त, 180, 1941।

आगामी चतुर्मास के लिए स्थानों का निर्देश प्राप्त किया। वहां सिरियारी से आये हुए श्रावक हुकमचन्दजी आछा ने स्वामीजी को सिरियारी में चतुर्मास करने की प्रार्थना की। साथ ही बाजार में अपनी पक्की 'हाट' में विराजने की भी प्रार्थना की। स्वामीजी ने उनके आग्रह पर वहां का चतुर्मास स्वीकार कर लिया। सोजत से कंटालिया तथा बगड़ी होते हुए वे चतुर्मास करने के लिए सिरियारी पधारे और पूर्वोक्त पक्की हाट में विराजे।

सप्तर्षि-मण्डल

उस चतुर्मास में स्वामीजी की सेवा में (1) मुनि भारमलजी, (2) मुनि खेतसीजी, (3) मुनि उदयरामजी, (4) मुनि रायचंदजी, (5) मुनि जीवोजी और (6) मुनि भगजी—ये छह सन्त थे। स्वामीजी सहित यह सप्तर्षि-मण्डल सिरियारी के भाष्य-आकाश में एक अनुपम ज्योति लिए हुए आया। स्थानीय श्रावकों में अत्यन्त उल्लास और हर्ष की एक लहर दौड़ गई।

उस समय का सिरियारी

सिरियारी उस समय मारवाड़ का एक अच्छा नगर गिना जाता था। जैन श्रावकों के भी वहां बड़ी संख्या में घर थे। नगर के अंचल से बिलकुल सटी हुई पर्वत-श्रेणी परकोटे की तरह उसकी सुरक्षा करती है। कुछ ही मील की दूरी पर अरावली पर्वत-श्रेणी भी सुरक्षा-भित्ति की ज्यों सुशोभित है। तत्कालीन मारवाड़ राज्य के दक्षिण-पूर्वी किनारे का यह नगर बहुत समृद्ध और सुन्दर गिना जाता था। स्वामीजी के समय वहां के अधिपति ठाकुर दौलतसिंहजी कूंपावत थे, जो कि राठोर सरदारों में बहुत प्रभावशाली गिने जाते थे।

सिरियारी में इस समय ओसवालों के बहुत थोड़े घर हैं। बहुत-से परिवार व्यापारार्थ दक्षिण भारत जा बसे हैं। कुछ परिवार ऐसे भी हैं, जो यदा-कदा मारवाड़ में आते हैं और अपने पुराने घरों की सार-संभाल कर पुनः चले जाते हैं। परन्तु स्वामीजी के समय में वहां ओसवालों के नौ-सौ-इक्यासी घर थे। उनमें से सात-सौ-इक्यासी घर तो तेरापन्थी और शेष दो-सौ घर अन्य सम्प्रदायों की मान्यता वाले थे।¹

स्थानीय इतिहास के अनुसार सिरियारी का हास सं. 1873 में राजनीतिक कारणों से हुआ। उस समय जोधपुर-नरेश मानसिंहजी को बंदी बनाकर उनके पुत्र छत्रसिंहजी ने राज्य पर अधिकार कर लिया था। उन्होंने निष्कंटक होने के लिए अपने पिता के कृपापात्रों को सताना एवं समाप्त करना प्रारम्भ कर दिया। ऐसी स्थिति में कुछ लोग अन्यत्र भाग गये। उनमें एक चैनकरणजी सिंघी भी थे। वे तत्कालीन सिरियारी ठाकुर मालमसिंहजी के पास चले गये। ठाकुर ने आश्वासन दिया कि हम आपकी सुरक्षा के लिए आवश्यकता होने पर नरेश की सेना का भी सामना करेंगे।²

1. उपर्युक्त जानकारी स्थानीय निवासियों द्वारा प्राप्त है।

2. सिरियारी-ठिकाणे के पद्यबद्ध इतिहास के एक 'सिलोको' में कहा है—

'सुन्ज्यो सिंघीजी काढे नहीं देसां, लाखों फोजां सूं झड़ाको लेसां।'

नरेश को जब पता चला कि सिंधीजी सिरियारी में हैं, तो उन्होंने ठाकुर साहब को कहलवाया कि उन्हें जोधपुर भेज दें। ठाकुर ने उस आदेश को नहीं माना तो नरेश ने कुद्द होकर सेना भेज दी। सेना के भय से काफी लोग वहां से अन्यत्र पलायन कर गये। ठाकुर ने परकोटे की पोल के दरवाजे बंद कर लिए। छह महीनों तक सेना पड़ी रही, पर न तो पोल के दरवाजे तोड़े जा सके और न परकोटे की भींत ही फोड़ी जा सकी। रक्षक बहुत सजग थे। सैनिकों को भींत के निकट नहीं फटकने देते थे।

नरेश ने तब अमीरखां पिंडारी को नई सेना के साथ वहां भेजा। वह चालाकी से अपनी सेना को पहाड़ियों का चक्कर दिलवा कर पांपली-दरवाजे पर ले आया और कहलवाया कि मेवाड़ से सहायता आई है। ठाकुर पांपली में विवाहित थे, अतः ससुराल से सहायता आई समझ कर धोखा खा गये। उन्होंने दरवाजा खोलने का आदेश दे दिया। दरवाजा खुलते ही सेना अन्दर घुसी और मारकाट तथा लूट-खसोट प्रारम्भ हो गई। धोखा समझते ही ठाकुर ने तत्काल प्रजा को सूचित किया कि जो जिधर भाग सकता हो माल-मता लेकर भाग जाए। दूसरी ओर उन्होंने राजपूतों को एकत्रित कर सेना को आगे बढ़ने से रोका। आठ घंटों तक अविश्रांत युद्ध करने के पश्चात् ठाकुर मारे गये। फिर तो नरेश की सेना ने सारे नगर को जमकर लूटा और जन-शून्य कर डाला। यह घटना सं. 1873 मिग्सर सुटी 8 की है। उसके बाद सिरियारी को फिर कभी ओसवालों की हजार घरों की बस्ती का गौरव नहीं मिल पाया। परन्तु यह तो स्वामीजी के दिवंगत होने के 13 वर्षों बाद की घटना है। स्वामीजी चतुर्मास करने पधारे, उस समय तो सिरियारी नगर जन और धन की दृष्टि से अपने पूरे यौवन पर था, ऐसा कहा जा सकता है।

अन्तिम चतुर्मास

वि. सं. 1860 का सिरियारी चतुर्मास स्वामीजी का अन्तिम चतुर्मास था। उस समय उनकी अवस्था सतहत्तर वर्ष की हो चुकी थी, फिर भी उनके शरीर में कोई रोग नहीं था। पांचों ही इन्द्रियां पूर्ण बलवान् और कार्यक्षम थीं। उनकी चाल भी बड़ी तेज थी। उपयोग तीव्र और निर्मल था। शारीरिक शक्ति का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उस अन्तिम चतुर्मास में श्रावणी पूर्णिमा तक तो वे प्रतिदिन स्वयं गोचरी के लिए जाया करते और शिष्यों को आवश्यक सूत्र का अर्थ लिख-लिखकर समझाया करते थे। व्याख्यान देने तथा तत्त्व-चर्चा करने में भी उन्हें कभी थकान का अनुभव नहीं होता था।

दस्तों का रोग

श्रावण मास के अन्तिम दिनों में स्वामीजी के शरीर में साधारण दस्तों की शिकायत रहने लगी। औषध-सेवन किया गया, फिर भी कोई लाभ नहीं हुआ। इतने पर भी सभी ने उसे सामान्य गड़बड़ ही समझा। स्वयं स्वामीजी ने भी उसकी कोई परवाह नहीं की। वे प्रतिदिन गोचरी के लिए जाते तथा उत्सर्ग के लिए भी बाहर ही जाते।

भाद्रमास प्रारम्भ हुआ तभी से स्वामीजी को शरीर में श्रान्तता अनुभव होने लगी। फिर भी उनके साहसी मन ने उसे साधारण ही माना। सामने पर्युषण-पर्व के दिन आ गए।

लोगों का आगमन बढ़ गया। त्याग-तपस्या एवं संवर-सामायिक आदि धार्मिक क्रियाओं में लोग अधिक समय लगाने लगे। तीनों समय व्याख्यान होता था। प्रत्येक समय भरपूर परिषद् रहती थी।

मृत्यु का पूर्वभास

भाद्र शुक्ला चतुर्थी की बात है। स्वामीजी को अचानक ही ऐसा आभास होने लगा कि अब उनका आयुष्य पूर्ण हो गया है। जीवन के प्रति वे जितने सजग थे, मृत्यु के प्रति भी उतने ही सजग थे। वीरता का जीवन जीकर वीरता की मृत्यु स्वीकार करना उनके लिए उपयुक्त ही था। जीवन को उन्होंने जिस प्रकार से आदर्श बना लिया था, अब मृत्यु को भी आदर्श बनाने का समय आ गया था। समय को चूकने वाले वे थे ही कहाँ? जीवन से जितना सार खींचा, उससे भी कहाँ अधिक मृत्यु से खींच लेने का उनका निश्चय था। उनका निश्चय और अटल सत्य मानो पर्यायवाची बने हुए थे। तत्काल उन्होंने अपनी मृत्यु की तैयारी प्रारम्भ कर दी।

शिष्यों की प्रशंसा

जन्म और मृत्यु-ये दोनों जीवन-नदी के किनारे हैं। नदी को लांघने वाले को किनारे से क्या मोह हो सकता है? स्वामीजी न जीवन के प्रति आसक्त थे और न मृत्यु से भीत। मृत्यु की आसन्नता का आभास पाते ही अपने पास सेवा-निमित्त बैठे हुए मुनि खेतसीजी से बिना ही किसी भूमिका के उन्होंने कहा-‘तुम, भारमल और टोकरजी बड़े सुविनीत शिष्यों के रूप में मुझे मिले। तुम लोगों ने मेरी बड़ी सेवा और भक्ति की है। तुम लोगों के कारण मेरे मन में बड़ी समाधि रही और संयम-पालन में मुझे बहुत सहायता मिली।’

अपने गुणवान् शिष्यों की प्रशंसा में कुछ शब्द कहे ही थे कि युवाचार्य भारमलजी आदि अन्य साधुओं का ध्यान भी उधर आकृष्ट हुआ। वे सब स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हो गये। श्रावक-श्राविकाएँ भी स्वामीजी के शब्दों को सुनने के लिए एकत्रित हो गईं।

अन्तिम शिक्षा

स्वामीजी ने उस समय बड़े मार्मिक शब्दों में साधुओं को शिक्षा दी। वह उनकी अन्तिम शिक्षा थी। उसका सार इस प्रकार है :

1. जिस तरह तुम लोग मुझे बहुमान देते रहे और मेरे प्रति विश्वास रखते रहे, उसी तरह भारमल के प्रति भी रखना।
2. भारमल संघ के सारे संत-सतियों का नाथ है, अतः इसकी आज्ञा का आराधन करना। किसी मर्यादा या आज्ञा का भंग मत करना।
3. भारमल की आज्ञा का उल्लंघन कर जो व्यक्ति गण से पृथक् हो जाए, उसे साधु मत समझना। जो इसकी आज्ञा का आराधन करे और सुविनीत हो, उसकी सेवा करना। यह जिन-मार्ग की रीति है।

4. भारमल को गण का भार निभाने के योग्य समझ कर ही मैंने आचार्य-पद दिया है। इसकी प्रकृति बड़ी भद्र है। इसमें शुद्ध साधु की चाल है और इसकी नीति भी चारित्रपरक है। इसमें किसी को कोई शंका का स्थान नहीं है।
5. शुद्ध आचारवान् साधुओं की संगति करना और अनाचारियों से दूर रहना। अरिहंत और गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करने वाले स्वच्छन्द व्यक्तियों को वन्दन-योग्य मत समझना।
6. उसन्हों, पासत्थों, कुशीलियों, प्रमादियों और अपछन्दों की संगति मत करना। भगवान् ने ज्ञाता आदि अनेक आगमों में उसका निषेध किया है। उपासकदशांग में आनन्द श्रावक के अभिग्रह का जो वर्णन है, उसके परमार्थ को समझकर इस बात का पालन करना। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाएं—सबको इस रीति का सुचारू रूप से पालन करना चाहिए।
7. सारे साधु और साध्वियां परस्पर में विशेष प्रीतिभाव रखना। एक-दूसरे के प्रति राग-द्वेष मत करना और न कभी दलबन्दी करना। दलबन्दी करने वाला अविनयी व्यक्ति एकल-विहारी से भी बुरा होता है।
8. यदि कोई दीक्षा लेना चाहे, तो पहले उसके मन की विराग-भावना की परीक्षा करके दीक्षा देना। हर किसी को मूँड कर संख्या बढ़ाने के लालच में मत पड़ जाना।
9. श्रद्धा, आचार, कल्प और सूत्र की कोई बात समझ में न आये, तो उसे गुरु तथा बुद्धिमान् साधुओं के विश्वास से मान लेना। विश्वास नहीं कर पाओ तो उसे लेकर खींचतान मत करना, मन में धैर्य रखकर केवलियों पर छोड़ देना।
10. किसी 'बोल' (बात) की स्थापना गुरु की अनुमति के बिना स्वच्छन्द मति से मत करना।
11. एक, दो या तीन आदि कितने ही व्यक्ति गण से पृथक् क्यों न हो जाएं, परन्तु उनकी कोई परवाह न करते हुए शुद्धता से साधु-आचार का पालन करते रहना।
12. एक गुरु की आज्ञा में रहना। इस मर्यादा को परम्परा के रूप में सदैव निभाना। जो लिखित मर्यादाएं पहले से हैं, उनका पूर्ण रूप से पालन करना।
13. कोई साधु दोष-सेवन कर झूठ बोले और प्रायश्चित्त न ले, तो उसे गण से पृथक् कर देना।¹

स्वामीजी का यह शिक्षात्मक उपदेश धार्मिक होने के साथ-साथ इतना आकस्मिक था कि सुनने वालों को बड़ा आश्चर्य हुआ। युवाचार्य भारमलजी आदि संतों ने पूछा—‘क्या आपके शरीर में कोई विशेष कष्ट है?’

स्वामीजी ने कहा—‘नहीं, चालू कष्ट के अतिरिक्त कोई कष्ट नहीं है, परन्तु मुझे लगता है कि मेरा आयुष्य अब पूर्ण होने के समीप है। इसलिए यह अन्तिम शिक्षा दी

1. भि. ज. र., 55।1 से 28।

है। मुझे मृत्यु का तनिक भी भय नहीं है। मेरे हृदय में परम आनन्द है। मैंने सत्यतापूर्वक जिनेश्वरदेव के मार्ग को बतलाया है। अनेक व्यक्तियों के हृदय में सम्यक्त्व का बीजारोपण किया है। अनेकों को बारह व्रत ग्रहण कराये हैं और अनेकों को संयममार्ग में प्रव्रजित किया है। तत्त्वज्ञान विषयक मैंने जो पद्य-रचनाएं की हैं, वे सब सूत्र-न्याय के अनुसार हैं। उनके पीछे कोई अभिनिवेश नहीं है। शुद्ध अन्तःकरण से मुझे जैसा ज्ञात हुआ, वैसा ही मैंने कहा है। मैं अपने को कृतकृत्य मानता हूँ। मेरा मन पूर्णरूप से शांत है। मैं किसी प्रकार की अशान्ति या कमी का अनुभव नहीं करता।’

स्वामीजी ने पुनः शिक्षा देते हुए कहा—‘तुम लोगों से मेरा यही कथन है कि स्थिरचित्त होकर भगवान् के मार्ग का अनुसरण करना। दुर्बुद्धि और कदाग्रह को दूर छोड़कर आत्मा की उज्ज्वलता हो, वैसा कार्य करते रहना। शुद्धाचार की आराधना में कभी स्वल्पमात्र भी मत चूकना। समिति, गुप्ति और महाब्रतों का सावधानीपूर्वक पालन करना। शिष्य-शिष्याओं पर तथा वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों पर किसी प्रकार का ममत्व मत रखना। प्रमाद को सदा दूर करना। पुद्गल-आसक्तियों में मत फंसना। संयम में शुद्ध मन से अनुरक्त रहना।’¹

स्वामीजी की यह अन्तिम हित-शिक्षा थी। इसमें उनके सम्पूर्ण जीवन के बहुमुखी अनुभवों का सार भरा हुआ था। स्वामीजी ने अपने जीवनरूपी समुद्र को मथकर जो अमृत प्राप्त किया था, अन्तिम शिक्षा उसी का एक धूंट थी, जो संघ की तरुणिमा को अमरता प्रदान करने में समर्थ हुई।

मोह मत करना

बाल मुनि रायचंदजी स्वामीजी के एकदम निकट बैठे थे। उन्हें शिक्षा प्रदान करते हुए उन्होंने कहा—‘तुम बुद्धिमान् बालक हो। अपने आचार और व्यवहार में पूर्ण सजग रहना। निर्मल ध्यान रखना। मेरे प्रति किसी प्रकार का मोह मत करना।’ मुनि रायचंदजी ने कहा—‘आप आत्म-कल्याण कर रहे हैं। अपने मनुष्य-जन्म को सफल बनाते हुए पंडित-मरण के द्वारा आप उत्तम गति को प्राप्त होंगे। ऐसी स्थिति में मैं मोह क्यों करने लगा?’²

मेरे से बहुत बढ़े

युवाचार्य भारमलजी स्वामीजी के अनन्य भक्त थे। लोग स्वामीजी और उनकी जोड़ी को भगवान् महावीर और गणधर गौतम से उपमित करते थे। स्वामीजी को अन्तिम प्रस्थान की तैयारी करते हुए देखकर उनका हृदय व्यथा से भर गया। वे कहने लगे—‘आपके चरणों में रहते हुए मन सदैव साहस से भरा रहा। अब आप आगे की तैयारी

1. भि. ज. र., 56/1 से 13।

2. भि. च. (वेणी.), 7/6,7।

218 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
करने लगे हैं। आप जैसे ज्ञानी और पवित्रात्मा गुरु के दर्शनों का वियोग मेरे लिए अत्यन्त दुःसह हो जायेगा।'

स्वामीजी ने कहा—‘तुम अपने संयम की निरतिचार पालना करते रहना। किसी प्रकार की चिंता मत करना। निर्मल-चारित्र की आराधना करके जब तुम देवगति में जाओगे तब महाविदेह में अरिहंतों, गणधरों तथा मेरे से बहुत बड़े ज्ञानी और महान् संयमी अणगारों के दर्शन प्राप्त कर सकोगे। तुम स्वयं भी शीघ्र ही कर्म-बन्धनों को तोड़ कर मुक्ति प्राप्त करोगे।’¹

कोई कामना नहीं

मुनि खेतसीजी ने अत्यन्त निकटता से स्वामीजी की सेवा की थी। वे सत्ययुग के मुनियों जैसे पवित्र-हृदय थे। इसीलिए उन्हें ‘सतजुगी’ कहा जाता था। उन्होंने स्वामीजी से कहा—‘गुरुवर! आपके विरह की सम्भावना से ही हम लोग तो सिहर उठते हैं। आपके तो यहां भी झंड है और आगे भी झंड लगा रहेगा। आप किसी उच्च देवलोक में जाएंगे, ऐसा प्रतीत होता है।’

स्वामीजी बोले—‘मुझे न किसी प्रकार के झंड की आकांक्षा है और न किसी देवलोक की। वहां केवल विनाशशील पौद्गलिक सुख होते हैं। उनमें आसक्त होने वाले को अनन्त दुःखों का भागी बनना पड़ता है। मैं ऐसे भंगुर सुखों की कोई कामना नहीं करता। मेरा मन तो मुक्ति-सुखों में लीन है। तुम लोग भी पौद्गलिक सुखों की बांधा मत करना। किसी भी प्रकार के व्यामोह में मत फंसना।’

स्वामीजी की चित्तवृत्तियों की पावनता का अनुमान जीवन के संध्याकाल में प्रदान की गई पूर्वोक्त शिक्षाओं तथा मुनिजनों से हुए वार्तालाप से सुस्पष्ट लगाया जा सकता है। वे पौद्गलिक सुखों से पूर्णतः विरक्त थे, अतः उनके जीवन-प्रसंगों से संपृक्त रहने वालों का तो कहना ही क्या, उन्हें सुनने वालों के मन में भी विरक्ति की लहरें हिलोरें लेने लगती हैं।

1. भि. ज. र., 57/1 से 7।

महाप्रस्थान

आत्म-आलोचन

स्वामी भीखण्डी को जब से अपने आयुष्य का अवसान आसन्न दिखाई दिया तभी से वे अपने महाप्रस्थान की तैयारी में लग गये। उनका चारित्रिक जीवन सदैव बहुत निर्मल रहा, फिर भी छद्मस्थता के कारण ज्ञात-अज्ञात भाव से कदाचित् कोई दोष लगने की संभावना तो रहती ही है। वे उसकी आलोचना कर स्वयं को पूर्णतः निःशाल्य एवं निर्मल करने को उद्यत हुए। उन्होंने अरिहंत एवं सिद्धों की साक्षी से तथा अपने प्रमुख शिष्य युवाचार्य भारमलजी एवं सत्ययुगी मुनि खेतसीजी की उपस्थिति में विशुद्ध चित्त से गहरा आत्म-निरीक्षण किया और महाब्रतों तथा समिति-गुप्तियों के अतिचारों को स्मरण करके उनके द्वारा किसी प्रकार का ज्ञात तथा अज्ञात दोष लगा हो तो उसके लिए मिच्छा मि दुक्कडं कह कर आत्म-शुद्धि की।

रागी के प्रति राग-भाव और द्रेषी के प्रति द्रेष-भाव आया हो, पांच आश्रवों में से किसी का सेवन किया हो, अठारह पापों में से किसी प्रकार का दोष लगा हो तो तीन करण, तीन योग से मिच्छा मि दुक्कडं ग्रहण किया। अध्यात्म-क्षेत्र में इस प्रक्रिया को आन्तरिक स्नान कहा जाता है।

खमत-खामणा

स्वामीजी के मन में प्राणी-मात्र के प्रति मैत्रीभाव था, फिर भी छद्मस्थतावश किसी प्राणी के प्रति अमैत्री या राग-द्रेष का भाव आया हो, उनकी किसी प्रकार की भी विराधना हुई हो तो उन सबसे उन्होंने शुद्ध अन्तःकरण से खमत-खामणा किया। पूर्ण निःशाल्यता के लिए क्षमा-याचना के समान ही क्षमादान भी आवश्यक होता है। उसके लिए खमत-खामणा शब्द दोनों भावों का वाहक है।

चौरासी लाख जीवयोनि से खमत-खामणा करने के पश्चात् उन्होंने अपने प्रमुख शिष्य युवाचार्यश्री भारमलजी से कहा—‘तुम्हारे प्रति भी कभी राग-द्रेष की कोई लहर आई हो तो बारम्बार खमत-खामणा करता हूं।’ फिर उन्होंने कहा—‘साधु-साधियों तथा श्रावक-श्राविकाओं को भी शिक्षा देने, तत्त्व-चर्चा बतलाने या अन्य किसी कार्य में कठोर व्यवहार एवं कटु भाषा का प्रयोग किया हो तो उनसे बारम्बार खमत-खामणा

220 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
करता हूँ। गण से पृथक् हुए साधु चंद्रभाणजी, तिलोकचन्द्रजी आदि जो इस समय थली में विहार कर रहे हैं, मिलने पर उनसे भी मेरी खमत-खामणा कहना। बाईस टोलों, संवेगियों, यतियों तथा अन्य भी अनेक व्यक्तियों से समय-समय पर शास्त्रार्थ करने का काम पड़ा है, अनेक समुदायों के आचार-व्यवहार की आलोचना-प्रत्यालोचना करने का काम पड़ा है, उन सबसे सरल-मना खमत-खामणा करता हूँ।’ इस प्रकार अपने संपूर्ण जीवन का सिंहावलोकन करते हुए स्वामीजी ने स्वयं को पूर्णतः निःशाल्य एवं सद्यःस्नात की तरह निर्मलतर बना लिया।¹

अब इस देह का क्या मूल्य ?

भाद्र शुक्ला पंचमी का दिन सांवत्सरिक पर्व का दिन था। समस्त श्रमण-श्रमणि-वृन्द के लिए इस दिन का निर्जल उपवास अनिवार्य होता है। स्वामीजी ने उपवास किया। निर्जलता के कारण उन्हें उस दिन बड़ा तीव्र प्यास का परीष्ठ रहा, परन्तु उन्होंने उसे अत्यन्त सम्भाव से सहन किया।

षष्ठी के दिन अति स्वल्प-सा भोजन लेकर पारण किया तथा औषध भी ग्रहण किया, परन्तु उसकी सम्यक् परिणति नहीं हुई। तत्काल वमन के द्वारा सब बाहर निकल गया। स्वामीजी ने तब उस दिन के लिए तीनों आहारों का प्रत्याख्यान कर दिया। सप्तमी और अष्टमी को भी थोड़ा-सा आहार लेकर तत्काल त्याग कर दिया। मुनि खेतसीजी ने तब अनुनयभरे शब्दों में उपालंभ देते हुए कहा—‘आपको इस प्रकार झट से आहार-त्याग नहीं करना चाहिए।’ स्वामीजी बोले—‘अब इस देह का क्या मूल्य है? अब तो इसे क्षीण करते हुए वैराग्य बढ़ाना है।’

नवमी के दिन स्वामीजी ने आहार-प्रत्याख्यान का विचार किया, परन्तु मुनि खेतसीजी ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक उनके हाथ से कुछ आहार ग्रहण करने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने अपने विनीत शिष्य के आग्रह को सम्मान देते हुए उनके द्वारा लाये गये भोजन में से थोड़ा-सा चखकर उस दिन के लिए भी आहार का परित्याग कर दिया। आहारग्रहण करने की इच्छा नहीं रही थी।

1. (क) मुनि वेणीरामजी ने (भि. च. ढाल 6, 7 में) भाद्र शुक्ला 4 को पहले अन्तिम शिक्षा और फिर उसी दिन आत्मालोचन एवं ‘खमत-खामणा’ की बात कही है।
- (ख) जयाचार्य ने भी (भि. ज. र. ढाल 54 से 58 तक में) ये कार्य उक्त क्रम से ही भाद्र शुक्ला 4 को सम्पन्न हुए बतलाये हैं।
- (ग) परंतु मुनि हेमराजजी ने (भि. च. ढाल 6, 7 में) पहले आत्मालोचन एवं ‘खमत-खामणा’ और फिर अन्तिम शिक्षा देना कहा है। उसके बाद पर्युषण पर्व का प्रारंभ (ढाल 8 दोहा 1, 2 में) बतलाया है।
- (घ) मुनि कालूजी ने भी ख्यात (भिक्षु वर्णन) में पर्युषण से पूर्व आत्मालोचन करना बतलाया है। वहां लिखा है—‘पञ्जुसणा पहला आलोकणा निंदणा सर्व करी नै निरमल पुरुष छा पिण विशेष निरमल थया।’

अन्तिम भोजन

दशमी के दिन स्वामीजी ने फिर आहार-प्रत्याख्यान का विचार प्रकट किया, परन्तु युवाचार्य भारमलजी ने अपने हाथ से उन्हें अन्तिम रूप से कुछ लेने का आग्रह किया। विनय-शीलता के मूर्तरूप अपने शिष्य की इस अभिलाषा को स्वामीजी कैसे ठुकराते? उन्होंने गिनती कराकर चालीस चावल और दस मोठ उनके हाथ से लिए और इसके उपरान्त उस दिन के लिए भी आहार-परित्याग कर दिया।

दो दिन का उपवास

एकादशी के दिन उन्होंने पहले से ही यह स्पष्ट कर दिया कि मेरा विचार अब आहार लेने का नहीं है। दस्तों की बीमारी थी, अतः औषधि रूप में आवश्यक होने पर अमल और पानी का आगार रखकर उस दिन के लिए आहार का परित्याग कर दिया। फिर द्वादशी के दिन जल के अतिरिक्त तीनों आहारों का परित्याग कर बेला किया। इस प्रकार शरीर की ओर से औदासीन्य धारण कर पौद्गलिक सुखों को ठुकराते हुए स्वामीजी अनशनपूर्वक देह-विसर्जन की तैयारी करने लगे।

पराक्रम क्षीण पड़ रहा है

द्वादशी के मध्याह्नोत्तर काल में स्वामीजी कच्ची हाट से स्वयं चलकर उसके सामने वाली पक्की हाट में पधारे। शिष्यों ने बिछौना कर दिया, उस पर वे शान्तिपूर्वक विश्राम करने लगे। विश्राम करते कुछ ही समय हुआ था कि इतने में बाल साधु रायचंदजी ने पास आकर कहा—‘स्वामिन्! कृपा कर दर्शन दीजिये।’ स्वामीजी ने अपने नेत्र खोले और बाल साधु की ओर देखते हुए उनके मस्तक पर अपना हाथ रखा। ऋषि रायचंदजी अवस्था में बालक ही थे, किन्तु बड़े समझदार थे। स्वामीजी की शारीरिक स्थिति देखकर उन्होंने कहा—‘स्वामिन्! अब तो आपके शरीर का पराक्रम क्षीण पड़ रहा लगता है।’¹

यह सुनते ही स्वामीजी उसी प्रकार उठ बैठे, जैसे कोई सोया हुआ सिंह जागकर उठ बैठता है। वे अपने शरीर का सार खींच चुके थे, अब वह उनके लिए असार रह गया था। जब तक वह संयम-जीवन में सहायक होता रहा, तब तक वे उसका अनासक्त भाव से पालन-पोषण करते रहे और जब वह सहायक होने में अशक्त लगने लगा, तो वे उसी अनासक्त भाव से उसे विसर्जित करने को उद्यत हो गये। स्वामीजी की दृष्टि में शरीर एक खेत था, जिस पर तप-संयम की खेती बोई गई थी। अब वह पूर्ण रूप से पक चुकी थी। उसे काटकर धान्य एकत्रित करने तथा शिलोङ्घ का कार्य ही अवशिष्ट था, जो कि संलेखना और संथरे के द्वारा किया जाना था।

1. हेम. भि. च., 8/5

‘साधां मांहोमां विचार करनै, रायचंदजी नै मेल्यो सीखाय।

पूज नै कहै पुद्गल हृत्या दीसै, सुण नै सिंह जिम उड्या मुनिराय॥’

मुनि हेमराजजी के उक्त कथनानुसार यह विचार संतों ने परस्पर किया था कि स्वामीजी के शारीरिक पुद्गल क्षीण पड़ रहे हैं। स्वामीजी के सम्मुख उक्त भावना रखने के लिए उन्होंने बाल मुनि रायचंदजी को सिखला कर भेजा, तब उन्होंने वहां जाकर वैसा कहा।

आजीवन-अनशन

स्वामीजी ने तत्काल मुनि भारमलजी और खेतसीजी को अपने पास बुलाया। याद करते ही दोनों संत स्वामीजी के पास उपस्थित हुए। उनके आते ही स्वामीजी ने फरमाया—‘अब मैंने आजीवन अनशन का निश्चय कर लिया है।’ उन्होंने तत्काल अरिहन्त तथा सिद्ध भगवान् को ‘नमोत्थुण’ के पाठ से वन्दन किया और श्रावक-श्राविकाओं के सम्मुख ऊंचे स्वर से यावज्जीवन के लिए तीनों आहारों का प्रत्याख्यान कर ‘संथारा’ कर दिया।

संतों ने कहा—‘दस्तों की गड़बड़ थी, अतः औषध के रूप में अमल का तो आगार रख लिया होता।’

स्वामीजी ने उत्तर दिया—‘आगार किसलिए रखना था? अब कौन-सी शरीर की रक्षा करनी है?’

स्वामीजी ने ‘संथारा’ भाद्रपद शुक्ला द्वादशी सोमवार को सायंकाल में किया था। उस समय लगभग दो घड़ी (48 मिनट) दिन था। संथारे की बात हवा की तरह चारों ओर फैल गई। रात्रिकाल में ही आस-पास के गांवों के लोग दर्शन के लिए उमड़ पड़े। भीड़ इतनी हो गई कि बाजार में लोगों का समा पाना कठिन हो गया।

अनशन-काल में अनेक प्रकार के त्याग-प्रत्याख्यान कर लोगों ने अपनी सक्रिय श्रद्धांजलियां स्वामीजी को अर्पित कीं। संथारे का प्रभाव स्वामीजी के अनुयायियों पर तो हुआ ही, अनेक उन व्यक्तियों पर भी हुआ, जो जन्मभर स्वामीजी के विरोधी रहे थे। जनता आश्चर्यचकित होकर उनके तपोमय जीवन के सामने श्रद्धावनत हो रही थी।

व्याख्यान दो

सूर्यास्त होने के पश्चात् स्वामीजी ने सायंकालीन प्रतिक्रमण किया और उसके पश्चात् युवाचार्य भारमलजी से बोले—‘व्याख्यान दो।’

युवाचार्यश्री ने कहा—‘स्वामिन्! आपके ‘संथारा’ हैं तो यह रात्रिकालीन व्याख्यान अपने आप में क्या विशेषता रखता है? लोग आपकी सेवा में बैठे हैं।’

स्वामीजी ने कहा—‘किसी साधु या साध्वी के ‘संथारा’ करने पर तो वहां धर्मोपदेश किया जाता है, फिर मेरे संथारे के समय ऐसा क्यों न हो?’

स्वामीजी की आज्ञा एवं भावना को शिरोधार्य कर युवाचार्य भारमलजी ने तब धर्मोपदेश किया। स्वामीजी ने उसे बड़ी तल्लीनतापूर्वक सुना। इस प्रकार स्वामीजी जीवन के अवशिष्ट समय को पूर्णरूपेण स्वाध्याय और ध्यान में खपा देना चाहते थे।

दर्शनोत्सुक जनता

द्वादशी की रात्रि व्यतीत हुई और त्रयोदशी का सूर्य अनन्त संभावनाओं का प्रकाश लिए उदित हुआ। वह दिन स्वामीजी के भौतिक शरीर के लिए अन्तिम दिन था। ज्यों-

ज्यों 'संथरे' के समाचार आगे-से-आगे पहुंचे, त्यों-त्यों जनता उमड़ती हुई चली आई। स्वामीजी के अन्तिम-दर्शन के लिए सिरियारी में मेला-सा लग गया।

एक प्रहर दिन चढ़ जाने के पश्चात् स्वामीजी ने कुछ जल ग्रहण किया। श्रावक-श्राविकाएं तथा साधु पास में बैठे हुए थे। स्वामीजी के मुखारविन्द को देखकर वे सब परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे थे। स्वामीजी ध्यानावस्थित होकर परिणामों की निर्मलता को क्रमिक विकस्वर करते जा रहे थे।

अदृष्ट का आभास

लगभग डेढ़ प्रहर दिन चढ़ा होगा कि सबको आश्चर्यचकित कर देने वाली एक घटना घटित हुई। स्वामीजी ने साधुओं को कहा—‘साधु आ रहे हैं, उनके सामने जाओ। साध्वियां भी आ रही हैं।’¹

स्वामीजी द्वारा अचानक कही गई उन बातों पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। गुलोजी लूनिया आदि सेवा में उपस्थित जिन व्यक्तियों ने थोड़ा-बहुत ध्यान दिया, उनका निष्कर्ष यह रहा कि स्वामीजी संभवतः इस समय पूर्ण सावधान अवस्था में नहीं हैं। उनका ध्यान साधु-आर्याओं में चला गया है, इसीलिए वे ऐसा कह रहे हैं।

स्वामीजी के उस कथन को एक मुहूर्त समय भी नहीं हो पाया था कि दो साधु मुनि वेणीरामजी और कुसालजी वहां पहुंचे। वे पाली से आये थे। उसके एक मुहूर्त पश्चात् ही तीन साध्वियां—बखतूजी, झूमांजी और डाहांजी वहां पहुंचीं। कहा जाता है कि वे खैरवा से आई थीं।

आये हुए साधु-साध्वियों ने स्वामीजी को बन्दन किया, तब उसे स्वीकार करते हुए स्वामीजी ने हाथ के संकेत से सबको सुख-पृच्छा की। साधुओं के मस्तक पर हाथ रखा। दो अंगुलियां आंखों की ओर उठाकर मुनि वेणीरामजी से उनकी आंखों की गड़बड़ के बारे में साता पूछी। यद्यपि उनकी बोलने की शक्ति क्षीण हो गई थी, फिर भी सावधानी पूर्ण रूप से बनी हुई थी।

साधु-साध्वियों के इस अप्रत्याशित आगमन ने सभी को आश्चर्याभिभूत बना दिया। जिन्हें ने स्वामीजी के कथन का यह निष्कर्ष निकाला था कि वे असावधान अवस्था में कुछ कह रहे हैं, उन्हें अपना निश्चय बदलना पड़ा और यह मानना पड़ा कि स्वामीजी को अवश्य ही अदृष्ट का आभास हुआ है।

1. वेणी. भि. च., 10/9,10

‘साध श्रावक सुनतां कहो सामजी, सूस ब्रत हो करावो सैर मांय।

वले कहो साध आवै अछै, आरजियां हो आवै छै चलाय॥

चोथो शब्द इसड़ो कहो, धीरा बोल्या हो तिणरी विगत न कांय।

गुलोजी लूप्यो कहै स्वामजी तणो, मन गयो हो साधां-आर्या रै मांय॥’

मुनि वेणीरामजी के उक्त कथनानुसार स्वामीजी ने उस अन्तिम अवसर पर चार बातें कही थीं। वे इस प्रकार हैं—(1) गांव में त्याग-तपस्या करवाओ (2) साधु आ रहे हैं, सामने जाओ (3) आर्याएं आ रही हैं (4) चौथी बात अत्यन्त धीमे स्वर से कही गई थी, अतः सुनी नहीं जा सकी।

स्वामीजी ने जो-कुछ कहा था, वह सब यथावत् मिल गया। फिर भी इस ओर किसी का ध्यान नहीं गया कि स्वामीजी को पूछकर यह निश्चित कर लिया जाये कि उन्होंने जो बातें कहीं हैं, वे किसी विशिष्ट ज्ञान के आधार पर कहीं हैं अथवा साधारण अनुमान के आधार पर? मुनि वेणीरामजी, जो कि उस समय दर्शनार्थ आये थे, इस विषय में कहते हैं—‘लगता है कि अपनी अन्तिम अवस्था में स्वामीजी को अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ था, परन्तु पूछा नहीं गया, इसलिए निश्चित तो केवली ही जानते हैं।’¹

महाप्रस्थान

स्वामीजी को लेटे हुए काफी देर हो गई थी, अतः उनकी बैठने की इच्छा होने पर साधुओं ने सहारा देकर उन्हें बिठाया। वे ध्यानासन में बैठे थे। साधु-समूह पास में बैठा था। ऐसा लग रहा था मानो उनके शरीर में कोई रोग नहीं है, परन्तु उस ध्यान मुद्रा में बैठे-बैठे ही अचानक स्वामीजी के आत्म-प्रदेश खिंचे और वे शान्तिपूर्वक देहमुक्त हो गये।

जयाचार्य ने उस विषय का वर्णन करते हुए लिखा है—‘लोग कहते हैं कि दरजियों ने वैकुंठी तैयार करके इधर सूझ अपनी पाग में डाली और उधर स्वामीजी का स्वर्गवास हो गया।’ उस समय लगभग डेढ़ प्रहर दिन अवशिष्ट था। वि. सं. 1860 भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी, मंगलवार के दिन सात प्रहर का संथारा प्राप्त कर सिरियारी में स्वामीजी दिवंगत हुए। साधुओं ने स्वामीजी के शरीर को ‘वोसराया’ और चार लोगस्स का ध्यान किया। उस दिन के लिए आहार का भी सबने परित्याग कर दिया।²

जयाचार्य के शब्दों में स्वामीजी एक मणिधारी पुरुष थे। उन जैसा समाधिपूर्ण महाप्रस्थान भी विरल मनुष्य का ही होता है। स्वामीजी का जीवन एक सफल मनुष्य का जीवन था। उन्होंने जिस कार्य को अपने कर्मठ हाथों में लिया, उसे पूर्ण करके ही छोड़ा। जैन-शासन में वे एक प्रकाश बन कर आये और अपनी दीनिं के द्वारा जन-जन को सन्मार्ग दिखा कर चले गये। कृतकृत्य स्वामीजी का जीवन सभी व्यक्तियों के लिए प्रेरणा-स्रोत बन गया।

1. वेणी. भि. च., 11/दो. 4

‘छेहड़े स्वाम भिक्षु तणै, अवधि उपनो जणाय।

निश्चै तो जाणै केवली, ताण न करवी ताय।।’

2. भि. ज. र., 62/दो. 2

‘साधां तन वोसिराय नै, चिं लोगस चित्त धार।

कियो तदा शुद्ध काउसग्ग, अरु तिण दिन तज आहार।।’

स्वामीजी के समय में सायंकालीन गोचरी का निषेध था, अतः दोनों समय का आहार मध्याह्न की गोचरी से ही लाया जाता था। उपर्युक्त पद्य के कथनानुसार स्वामीजी के दिवंगत होने पर संतों ने उस दिन के लिए आहार का प्रत्याख्यान कर दिया था। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि सायंकालीन भोजन के लिए लाये गये आहार का उस दिन परिष्ठापन किया गया था। यह भी सम्भव है कि उस दिन स्वामीजी के संथारे के उपलक्ष्य में साधुओं ने एकाशन किया हो, ऐसी स्थिति में सायंकाल के लिए आहार लाने और फिर उसके परिष्ठापन की बात संभव नहीं होती।

शेष-अशेष

अग्नि-समर्पित

स्वामी भीखणजी के अन्तिम दर्शन करने के लिए आये हुए स्थानीय तथा बाहर के लोग इतने थे कि बाजार में समा नहीं रहे थे। कहा जाता है कि 108 गांवों के लोग उस समय वहां एकत्रित थे। तेरह गुमटियों की वैकुंठी तैयार हो चुकी थी। देह को अग्नि-समर्पित करते समय अन्य जो-जो सामग्री उस समय आवश्यक समझी जाती थी, वह सब पहले से ही एकत्रित कर ली गई थी। दिवंगत होने के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् शरीर गृहस्थों को संभला दिया गया। गृहस्थों ने अपनी परम्परा के अनुरूप उसे नहला-धुला कर नये वस्त्र पहनाये और फिर सुर्गंधित द्रव्यों से चर्चित कर वैकुंठी में विराजमान कर दिया। शोभायात्रा में असाधारण भीड़ थी। उक्त अवसर पर लगभग पांच सौ रुपयों की 'उछाल' भी की गई।

नगर से सटकर बहने वाली बरसाती नदी के वाम तट पर खड़े पर्वत की उपत्यका से थोड़ी ऊंची भूमि देखकर चिता बनाई गई और उस पर वैकुंठी रख दी गई। लाखों-लाखों लोगों द्वारा पूजनीय स्वामीजी के उस मुक्त अधिष्ठान को वहां अग्नि-समर्पित कर दिया गया। अवशेष के रूप में जो राख बची उसे सहेज कर एकत्रित किया गया और उस स्थान पर स्मारक के रूप में एक चबूतरे का निर्माण करवा दिया गया।

स्मारक की विस्मृति

स्वामीजी को दिवंगत हुए तेरह वर्ष ही व्यतीत हुए थे कि सिरियारी पर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा। वह सं. 1873 का समय था। जोधपुर राज्य की आंतरिक दुर्घटनाओं ने सिरियारी नगर को एक अनाहूत युद्ध की भट्टी में झोंक दिया। बहुत लोग काट डाले गये तो बहुत-सारे प्राण बचाने के लिए भाग गये और अन्यत्र जा बसे। सारी व्यवस्थाएं अस्त-व्यस्त हो गई। वैसी स्थिति में स्वामीजी का स्मारक भी विस्मृति की चादर ओढ़कर गहरी नींद में सो गया। धीरे-धीरे वर्षा और आंधी के निर्मम थपेड़ों तथा पर्वत से उतरते पानी के रेलों ने उसे इतना निर्बल बना दिया कि पत्थरों का सुनियोजित पारस्परिक एकत्व प्रलंब समय तक निभ नहीं पाया। कुछ हिस्सा बिखर गया। शेष पर मिट्टी और धास ने अपना कब्जा जमा लिया। इस प्रकार चबूतरे का दृश्य अस्तित्व समाप्त हो गया। दृश्य से अदृश्य की ओर उसकी वह यात्रा शायद अनेक दशाबद्धियों में ही सम्पन्न हुई थी। अदृश्य

226 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद होने के पश्चात् भी अनेक दशाब्दियां गुजर गई थीं, परन्तु लगता है कभी किसी को उसकी स्मृति नहीं आई।

स्मृति और खोज

सं. 2017 का वर्ष तेरापंथ की द्विशताब्दी का वर्ष था। उसे मनाये जाने के निर्णय के साथ ही स्वामीजी के उस स्मारक को भी याद किया गया। उसके नवीनीकरण का निश्चय हुआ। चबूत्रे का निश्चित स्थान कौनसा है? —यह किसी को भी ज्ञात नहीं था, अतः खोज प्रारंभ हुई। पुराने व्यक्तियों को पूछा गया, पुरानी बहियां देखी गईं, सरकारी कागजों की छानबीन की गई, यहां तक कि कुलगुरु की बहियों को भी निकलवाकर उलटा-पलटा गया। उन सबसे चबूत्रे का विवरण तो उपलब्ध हुआ, परन्तु स्थान का निश्चित निर्धारण किया जा सके ऐसे कोई असंदिग्ध चिह्न उपलब्ध नहीं हो सके। उक्त खोज में मुख्यतः स्थानीय श्रावक बस्तीमलजी छाजेड़ संलग्न थे। उनके अतिरिक्त सरदारशहर-निवासी सम्पत्तमल गधैया, मन्नालालजी बरड़िया तथा सोजतरोड-निवासी रामचन्द्र सोनी आदि कई युवक भी अनिश्चय के उस वातावरण को निश्चय में बदल डालने का संकल्प लेकर कार्यरत थे।

एक दिन पश्चिम रात्रि के समय सम्पत्तमल गधैया को स्वप्न में पहाड़ी का एक स्थान दिखाई दिया। उसी के साथ किसी के ये शब्द सुनाई दिये कि चबूत्रे को इस स्थान पर खोजो। प्रातः तीनों युवक स्वप्न-संकेतित स्थान की खोज में लग गये। थोड़ी ही देर में उन्होंने वह स्थान खोज निकाला। समस्या फिर भी हल नहीं हुई। चबूत्रे का वहां कोई अवशेष दिखाई नहीं दिया। वे इधर-उधर देखने का प्रयास कर रहे थे कि एक वृद्ध पुरुष उधर उनके पास आ गया। वह पूछने लगा—‘यहां जंगल में क्या खोज रहे हो?’

युवक बोले—‘हम स्वामीजी के चबूत्रे की खोज कर रहे हैं।’

वृद्ध—‘कौन स्वामीजी?’

युवक—‘वे स्वामी भीखण्डजी के नाम से प्रसिद्ध थे।’

वृद्ध—‘क्या वे यहां के थे?’

युवक—‘नहीं, वे यहीं पास के गांव कंटालिया के थे। यहां लगभग 157 वर्ष पूर्व दिवंगत हुए थे। उनके शरीर का अनि-संस्कार इसी स्थान पर कर्हीं किया गया था। वहां चबूतरा भी बनाया गया था। हम यहां उसी को खोज रहे हैं।’

वृद्ध—‘मैं बाल्यावस्था में अपने दादा के साथ बहुधा इस पहाड़ी पर आया करता था। उस समय यहां एक टूटा-फूटा-सा चबूतरा था। मेरे दादा बतलाया करते थे कि यह एक बहुत बड़े संत का चबूतरा है। उन्होंने नया पंथ चलाया था आदि।’

युवक—‘तब तो आपको उसके ठीक स्थान का अवश्य पता होगा। आप हमें बतला सकें तो बड़ी कृपा होगी।’

वृद्ध ने अंगुली-निर्देश करते हुए कहा—‘यह जो थोड़ा-सा ऊंचा मिट्ठी का ढूँढ़ दिखाई देता है, यही स्थान होना चाहिए।’

तीनों युवक एक साथ वहां की मिट्ठी हटाने में जुट गये। पहले कुछ ईंटें निकलीं, फिर चबूतरे की भींत दिखाई देने लगी। उन्होंने तब वृद्ध को धन्यवाद देने के लिए दृष्टि उठाई तो पता लगा कि वह जा चुका है। उससे अन्य कुछ जानकारी भी मिल सकती थी, पर वह खोजने पर भी नहीं मिल पाया।

पुनर्निर्माण

चबूतरा मिल जाने की बात हवा की तरह सारे गांव में फैल गई। थोड़ी ही देर में काफी लोग वहां एकत्रित हो गये। मजदूरों को बुला लिया गया। वहां की सारी मिट्ठी हटाई गई तो पूरा चबूतरा निकल आया। वह एक ओर से ढहा हुआ तथा तीन ओर से ठीक था। उस मूल चबूतरे की नींव पर ही तब योजनापूर्वक संगमरमर का दूसरा चबूतरा बना दिया गया। उसकी चारों भींतों पर स्वामीजी के जीवन से संबद्ध ज्ञातव्य विवरण उत्कीर्ण किए हुए शिलापट्ट लगा दिये गये। तब से उस परिसर में क्रमशः विकास के चरण आगे बढ़ते रहे हैं। सिरियारी के कुंवर गुलाबसिंहजी उक्त कार्य में विशेष सहयोगी रहे।

धर्म-जागरण एवं महोत्सव

आचार्यश्री तुलसी ने सं. 2039 का चतुर्मास राणावास में किया। वहां से सिरियारी लगभग 10 किलोमीटर दूर है। आचार्यश्री ने उस वर्ष का ‘चरम महोत्सव’ (भाद्र शुक्ला 13 का दिन) सिरियारी में मनाया। उसकी अध्यक्षता भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने की। लगभग 40 हजार व्यक्तियों ने स्वामीजी को समवेत श्रद्धांजलि अर्पित की। तब से वहां प्रतिवर्ष भाद्र शुक्ला 12 की रात्रि में धर्म-जागरण की जाती है और 13 को स्वामीजी का निर्वाण-दिन (चरम महोत्सव) व्यवस्थित रूप से मनाया जाता है। इसके अतिरिक्त भी प्रायः प्रतिदिन बाहर से लोग वहां पहुंचते ही रहते हैं। अब तो वहां आगंतुकों के लिए निःशुल्क भोजन तथा निवास की व्यवस्था भी कर दी गई है। अन्य भी अनेक नव-निर्माण हुए हैं तथा हो रहे हैं।

देव-आह्वान

चेलावास में हीरविजयजी नाम के यति रहते थे। वे स्वामी भीखणजी के अत्यन्त भक्त थे। प्रारंभ में वे भयंकर विरोधी रहे थे। निंदा करते, विपरीत बातें फैलाते, कटुभाषा बोलते तथा द्वेष-पोषक प्रश्न पूछा करते थे। स्वामीजी सदैव उन्हें सद्‌भावनापूर्वक शास्त्र-न्याययुक्त उत्तर देते रहे थे। फलस्वरूप उनकी द्वेष-भावना धीरे-धीरे शांत होकर भक्ति-भावना में बदल गई। यतिजी ने जब स्वामीजी के दिवंगत होने के समाचार सुने तो एकदम भाव-विहळ होकर रोने लगे। लोगों ने रोने का कारण जानना चाहा, पर वे बहुत देर तक उत्तर भी नहीं दे सके। जब वह वेग थोड़ा शांत हुआ तब उन्होंने बतलाया कि स्वामी

228 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ द्वितीय परिच्छेद
भीखण्जी के दिवंगत होने का दुःख मेरे लिए असद्य हो गया, अतः मैं अपने-आपको
रोक नहीं सका। मेरे प्रश्नों का उन जैसा न्याययुक्त समाधानदाता अब कोई नहीं रहा।

यति हीरविजयजी मंत्र-विद्या के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने अनेक मंत्रों की साधना
भी कर रखी थी। उनके मन में एक भावना उत्पन्न हुई कि स्वामीजी कहां उत्पन्न हुए
हैं, इसकी खोज करनी चाहिए। उसी रात्रि में धूप-दीप आदि करके वे एकांत कक्ष में
बैठे और मंत्र-शक्ति के द्वारा सिद्ध किए हुए देव का आह्वान किया। संयोगवश उनका
वह आह्वान सर्वथा निष्फल गया। आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ था कि उन्होंने देव
का आह्वान किया हो और वह आज्ञाकारी शिष्य की तरह तत्काल उपस्थित न हुआ
हो। वे आश्चर्यचकित थे कि उनका आह्वान आज तक सदैव सफल रहता आया था,
इस बार निष्फल क्यों हुआ? उन्होंने यही सोचकर स्वयं को आश्वस्त किया कि शायद
आह्वान-विधि में कहीं कोई त्रुटि हुई है। उन्होंने तत्काल विधियुक्त दूसरी बार आह्वान
किया। परन्तु यह क्या, उस बार भी निष्फलता ही हाथ लगी। दो बार असफल हो जाने
पर उन्होंने कुछ समय के लिए अपना प्रयत्न बन्द कर दिया। जिज्ञासा की अपूर्ति और
अनुष्ठान की असफलता ने उनको सोने नहीं दिया। कुछ समय पश्चात् उन्होंने तीसरी बार
फिर आह्वान किया। इस बार देवता तत्काल उपस्थित हो गया।

यतिजी ने पहले दो बार आमन्त्रित करने की बात बतलाते हुए पूछा—‘देवानुप्रिय!
क्या कारण था कि आप दो बार आह्वान करने पर भी नहीं आये?’

देवता ने कहा—‘मुझे दोनों बार ज्ञात हो गया था, परन्तु मैं उस समय सीमंधर स्वामी
के दर्शनार्थ महाविदेह क्षेत्र में गया हुआ था। वहां उस समय भरतक्षेत्र के एक बहुत बड़े
आचार्य भीखण्जी, जो कि ब्रह्म देवलोक के स्वामी हुए हैं, दर्शनार्थ आये हुए थे। मैं उस
विशिष्ट अवसर को देखने का लोभ संवृत नहीं कर सका।’

यतिजी ने कहा—‘मैंने भी स्वामी भीखण्जी के संबंध में जानने के लिए ही आपको
आमन्त्रित किया था।’

देवता ने तब जो वहां देखा था, वह पूरा व्यतिकर सुना दिया। यतिजी की एतत्
सम्बन्धी अन्य जिज्ञासाओं का भी उसने शमन किया और अन्तर्धान हो गया।

दूसरे दिन प्रातः यति हीरविजयजी ने अपने पास आने-जाने वाले अनेक व्यक्तियों
को अपने द्वारा किये गये देव-आह्वान तथा स्वामीजी के ब्रह्मेन्द्र-पंचम देवलोक के इन्द्र
होने की बात बतलाई। फिर तो आगे से आगे फैलती हुई वह बात सर्व-सुलभ बन गई।¹

स्वप्न-संपर्क

स्वामी भीखण्जी दिवंगत होने के पश्चात् पंचम देवलोक के इन्द्र बने, इस कथन
की पुष्टि जयाचार्य भी करते हैं। उन्होंने अनेक बार स्वामीजी से स्वप्न-संपर्क किये

1. यति हुलासजी विरचित ‘शासन-प्रभाकर’ 2/311 से 324।

थे, जो कि उन्हें जागरित स्थिति के समान ही अनुभूत होते रहे थे। उनके लगभग 29 स्वप्नों का विवरण स्वयं उनकी ही हस्तलिपि में उपलब्ध है। उसके अनुसार जयाचार्य का स्वामीजी से न केवल अनेक बार संपर्क ही हुआ था, अपितु उन्होंने अनेक जिज्ञासाएं भी की थीं और स्वामीजी से उनके समाधान प्राप्त किये थे। उक्त लिखित विवरण में उन्होंने स्वामीजी को स्थान-स्थान पर ब्रह्मेन्द्र बतलाया है।

स्वामीजी की स्तुति में रचित अपनी अनेक गीतिकाओं में भी जयाचार्य ने उन्हें ब्रह्मेश तथा ब्रह्मदेवलोक को धारण करने वाला कहा है। उक्त कथन शायद पूर्वोक्त स्वप्न-संपर्कों के आधार पर ही है।¹

1. (क) 'ब्रह्मेश अच्युत सुख कारण, निर्मल चरण धर्यो री'।

(ख) 'धारण ब्रह्म सहस्रार अच्युत, सुख कारण तारण हारी'।

ज्ञातव्य-विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

1. जन्म	सं. 1783 आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी
2. द्रव्य-दीक्षा	सं. 1808 मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी
3. बोधि-प्राप्ति	सं. 1815
4. भाव-दीक्षा	सं. 1817 आषाढ़ पूर्णिमा
5. स्वर्गवास	सं. 1860 भाद्र शुक्ला त्रयोदशी

महत्त्वपूर्ण स्थान

1. जन्म-स्थान	कंटालिया
2. द्रव्य-दीक्षा-स्थान	बगड़ी
3. बोधि-प्राप्ति-स्थान	राजनगर
4. भाव-दीक्षा-स्थान	केलवा
5. स्वर्गवास-स्थान	सिरियारी

आयुष्य-विवरण

1. गृहस्थ	25 वर्ष	2. द्रव्य-दीक्षा	8 वर्ष
3. तेरापंथ के आचार्य	44 वर्ष	4. सर्व आयु	77 वर्ष

शरीर का गठन

स्वामीजी का शरीर दीर्घ, बलवान् और श्यामवर्ण था। चाल तेज थी। आंखें विशाल, तेजस्वी और कुछ रक्तिमा लिए हुए थीं। मुख-मुद्रा सौम्य और सुन्दर थी। वाणी में मधुरता और आकर्षण था। शब्द प्रचण्ड और गम्भीर घोष-युक्त था।

विशिष्ट शारीरिक चिह्न

स्वामीजी सं. 1848 के फाल्गुन मास में जयपुर पधारे थे। उस समय वहां के अंगलक्षणवेत्ता पं. देवकीनन्दन बोहरा स्वामीजी के शारीरिक शुभ चिह्न देख कर बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने एक पत्र पर उनका विवरण लिखा। कालान्तर में उसकी प्रतिलिपि जयपुर-निवासी श्रावक मालीरामजी लूनिया ने करवाई। वह इस प्रकार है :

1. जीवणा पग में उड़द रेखा।
 2. जीवणा हाथ में मच्छी के आकारे रेखा।
 3. पोंहचा ऊपर तीन रेखा मणिबंध की, जीवणा हाथ में।
 4. हाथ की दस अंगुलियों में दस चक्र।
 5. गुदी नाड़ी, तिण में तीन रेखा लंबी।
 6. लिलाड़ में तीन रेखा लंबी।
 7. कानां ऊपर बाल।
 8. पेट के ऊपर तीन रेखा बराबर की।
 9. पेट ऊपर सूँडी पासे साथिया को आकार।
 10. पेट ऊपर धजा को आकार।

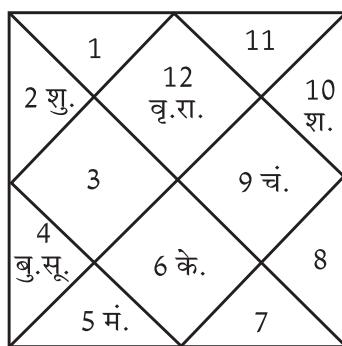
जिण रो फल दोय हजार बरस तांडी नाम रहै।¹

जन्म-कुंडली

स्वामी भीखण्डी का जन्म वि. सं. 1783 आषाढ़ शुक्ला 13 मंगलवार के दिन मूल नक्षत्र के चतुर्थ पाये में हुआ था।² उनकी जन्म-कुंडली का विवरण अग्रोक्त प्रकार से मिलता है :

ਮੀਨ ਲਗਨ, ਲਗਨੇ ਤਮ ਗੁਰੂ, ਤ੍ਰਤੀਯ ਭ੍ਰਾਗੁ ਪੰਚਮ ਰਵਿ ਬੁਧ।
ਭੌਮ ਛੁਟੇ ਸ਼ਿਖਿ ਸਪਤਮੇ, ਦਸ਼ਮੇ ਚਨਦ੍ਰ ਏਕਾਦਸ਼ਮ ਸ਼ਨਿ ਸ਼ੁਦ੍ਧ।।
ਮੂਲ ਋ਥਾਅ ਤੂਰ੍ਧ ਪਾਦ ਮੌਂ, ਹਰਖਦੀ ਸਹੁ ਪਰਿਵਾਰ।
ਭੀਖਣ ਨਾਮ ਦਿਓ ਭਲੋ, ਕਰ ਤੱਤਿਵ ਵਿਸ਼ਤਾਰ।।³

इसके अनुसार जन्म-कंडली की ग्रहस्थिति का अंकन इस प्रकार होता है :



1. 'शासन-प्रभाकर' ढाल 2 के अन्तर्गत दोहा 1,2, कलश 1 से 3 में यति हुलासजी ने भी इन्हीं शारीरिक चिह्नों का उल्लेख किया है।
 2. भि. ज. र., 1/8 'दसां मांहिलो दीपतो, नक्षत्र मूल निहाल। पायो चोथो परवरो, जन्म थयो तिणकाल।'
 3. शासन-प्रभाकर, 2/14.15।

विहार-क्षेत्र

स्वामीजी का विहार-क्षेत्र राजस्थान ही था। उस समय राजस्थान एक प्रान्त के रूप में न होकर पृथक्-पृथक् राज्यों के रूप में था। वहां विभिन्न राजाओं का राज्य था। उस समय के अनुसार मेवाड़, मारवाड़, ढूंढाड़ और हाड़ोती—ये चार राज्य ही प्रमुखतया स्वामीजी के विहार क्षेत्र रहे थे। एक बार कार्य-विशेष के लिए वे थली (बीकानेर-राज्य) में भी पधारे थे।

चतुर्मास-विवरण

स्वामीजी ने गृहस्थावास का परित्याग करने के पश्चात् बावन चतुर्मास किये। उनमें से आठ चतुर्मास तो आचार्य रुद्धनाथजी के शिष्य-रूप में किये और शेष चौवालीस चतुर्मास तेरापंथ के आचार्य-रूप में—उन सबका विवरण इस प्रकार है :

स्थानकवासी साधु के रूप में

स्थान ¹	चतुर्मास-संख्या	संवत्
मेड़ता	1	1809
सोजत	1	1810
बलूंदा	1	1811
जैतारण	1	1812
बागोर	1	1813
सादड़ी (शाहों की)	1	1814
राजनगर	1	1815
जोधपुर	1	1816

तेरापंथी आचार्य के रूप में

केलवा	6	1817, 21, 25, 38, 49, 58
बरलू	1	1818
सिरियारी	7	1819,22,29,39,42,51,60

- उक्त तालिका में क्वचित् कई नाम पहले-पीछे लिखे भी मिलते हैं। जैसे—बलूंदा के स्थान पर जैतारण और जैतारण के स्थान पर बलूंदा। बागोर के स्थान पर सादड़ी और सादड़ी के स्थान पर बागोर। इसी तरह जोधपुर के स्थान पर नागौर। परन्तु ये सही नहीं हैं। क्योंकि स्वामीजी द्वारा स्वहस्त-लिखित 'सूत्रकृतांग' की प्रति में उसकी पूर्ति का समय और स्थान अंकित है—सं. 1811 कार्तिक शुक्ला 11 बलूंदा। तथा 'निरयावलिका की हुंडी' पर अंकित है—सं. 1813 आश्विन कृष्णा 5 बागोर। उक्त दोनों प्रतियां संघ के भंडार में उपलब्ध हैं। इससे सं. 1811 का चतुर्मास बलूंदा तथा 13 का बागोर असंदिग्ध रूप से सिद्ध हो जाते हैं। सं. 1816 का जोधपुर चतुर्मास भी असंदिग्ध है, क्योंकि जयाचार्य द्वारा संकलित 'दृष्टांत' के 13वें दृष्टांत में लिखा है—'स्वामीजी नवो साधपणो लेवा त्यार थया जद जोधपुर जयमलजी भेलो चोमासो कीधो।'

स्थान	चतुर्मास-संख्या	संवत्
राजनगर	1	1820
पाली	7	1823,33,40,44,52,55,59
कंटालिया	2	1824,28
खैरवा	5	1826,32,41,46,54
बगड़ी	3	1827,30,36
माधोपुर	2	1831,48
पीपाड़	2	1834,45
आमेट	1	1835
पादू	1	1837
नाथद्वारा	3	1843,50,56
पुर	2	1847,57
सोजत	1	1853

शिष्य-सम्पदा

स्वामीजी के शासन-काल में उन सहित 105 व्यक्तियों ने दीक्षा ग्रहण की। उनमें 49 साधु और 56 साधियां थीं।

उनके युग में 10 साधु और 12 साधियां दिवंगत तथा 18 साधु और 17 साधियां बहिर्गत हो गईं।

स्वामीजी दिवंगत हुए उस समय 21 साधु और 27 साधियां धर्म-संघ में विद्यमान थीं।

गृही-जीवन

बाल्यकाल

आचार्यश्री भारमलजी तेरापंथ धर्मसंघ के द्वितीय आचार्य थे। उनका जन्म वि. संवत् 1804¹ में राजस्थान के उदयपुर संभाग (मेवाड़) में 'बड़ा मूहा'² ग्राम में हुआ। उक्त ग्राम भीलवाड़ा के पास ही बसा हुआ है। उनके पिता का नाम 'किसनोजी' और माता का नाम 'धारणी' था। वे ओसवाल जाति में लोढ़ा गोत्र के थे। किसनोजी की आर्थिक स्थिति बहुत ही साधारण थी, अतः उनका बाल्यकाल प्रायः अभाव और गरीबी में ही बीता। गरीबी सदा अभिशाप ही नहीं होती, वह कहीं वरदान भी बन जाती है। आचार्य भारमलजी के जीवन में जो सरलता, निर्भीकता और निरभिमानता थी, वह सम्भवतः उस गरीबी के जीवन की ही सद्गुणात्मक परिणति थी।

अनबोंधे कान

गृहस्थ-जीवन की अपनी गरीबी को एक बार आचार्य-अवस्था में उन्होंने ऐसे सहजभाव से व्यक्त किया, जैसे कि वह उनके लिए कभी किसी प्रकार से गोपनीय थी ही नहीं। वह घटना इस प्रकार है :

राजस्थान में प्रायः बालकों के कान बिंधाये जाते हैं। एक भाई ने जब मुनि भारमलजी के कान अनबोंधे देखे, तो पूछ लिया कि आपके कान क्यों नहीं बींधे गये?

1. यति हुलासजी ने 'शासन-प्रभाकर' 412 में 'अठारै तीन रा साल में' कहकर सं. 1803 को जन्मकाल कहा है। यदि कहीं चैत्र शुक्ला 1 से आषाढ़ी पूर्णिमा तक की कोई जन्मतिथि उपलब्ध होती तो उक्त कथन को श्रावणादि संवत् के आधार पर संगत माना जा सकता था, परन्तु वैसा कुछ भी उपलब्ध नहीं है। इस अर्वाचीन कथन के विपरीत जयाचार्य ने 'मिश्नु-गुणवर्ण' 1812 में सं. 1804 का स्पष्ट उल्लेख किया है : 'संवत् अठारै चोकै समै, भारीमाल उत्पन्न'।
2. ग्राम का नाम प्रायः सर्वत्र 'मूहा' मिलता है। केवल 'मघवा-सुजस' 201 दो. 4 से ज्ञात होता है कि 'मूहा' दो हैं। उनमें आचार्य भारमलजी का ग्राम 'बड़ा मूहा' है। वहां कहा गया है— 'तिहां थी बड़ै मूहै आविया, भारीमाल रै गाम'।
- वि. सं. 2072 दिल्ली चतुर्मास में मुनि सुरेशकुमारजी द्वारा, राजनगर के मुशीलजी महात्मा के यहां से पुरानी बही (सं. 1762) के कुछ फोटो प्राप्त हुए उसमें आचार्य भारीमलजी का गांव लोडा मुहां (छोटा मुहां) लिखा हुआ है। और माता का नाम राकी लिखा हुआ है।

इस पर उन्होंने कहा—‘कान बिंधाने का उत्सव मनाया जाता है और उस समय अपने परिवार के व्यक्तियों को भोजन कराया जाता है। हमारे घर की स्थिति इतना व्यय करने की नहीं थी, इसलिए मेरे कान अनर्बीथे ही रह गये।’

संत-समागम

बाल्यावस्था में ही भारमलजी की रुचि धर्म की ओर झुकी हुई थी। उनकी पारिवारिक परम्परा में संतों को बड़ा सम्मान दिया जाता था। परिवार का प्रत्येक सदस्य संत-समागम को अपना सौभाग्य मानता था। वे ही संस्कार बालक भारमलजी में भी पनपे। जब-कभी ग्राम में संत आते तो वे अवश्य उनके पास जाते। एक बार वे स्वामी भीखण्डी के संपर्क में आये। प्रथम बार में ही वे उनसे ऐसे प्रभावित हुए कि दिन का अधिकांश समय उनके सामीच्य में ही बिताने लगे। उन्हें लगने लगा कि मानो वे सदा-सदा से उनके साथ ही रहते आये हैं।

अनेक बार के संपर्क ने उनके प्रसुप्त संस्कारों को झकझोरा। वे उद्बुद्ध हुए तब उन्हें अपने-आप में एक अपूर्व परिवर्तन की अनुभूति होने लगी। अज्ञात रूप में ही उनके मन के किसी आंतरिक तल से विराग का अंकुर सहजता के साथ ऊपर उठने लगा। पिता ने भी उनके उस परिवर्तन को प्रोत्साहित किया। इतना ही नहीं, उन्होंने उनका साथ भी दिया। उक्त प्रक्रिया में पिता और पुत्र-दोनों ही सन्तों से एक अभूतपूर्व निकटता का अनुभव करने लगे। उसके पश्चात् संत-समागम उनकी अनिवार्य आवश्यकता बन गई।

द्रव्य-दीक्षा के चार वर्ष

दीक्षा-ग्रहण

बालक भारमलजी के मन में जब से विराग-भाव उत्पन्न हुआ, तभी से तत्त्वज्ञान सीखने में भी उनकी रुचि बढ़ गई। प्राथमिक ज्ञान तो उन्होंने बहुत स्वल्प समय में ही कंठस्थ कर लिया। उसके बाद भी वे आगे से आगे सीखते रहे। पिता किसनोजी बड़ी अवस्था के थे। सीखने में उनकी विशेष प्रवृत्ति नहीं थी। वे धीरे-धीरे उतना ही सीख पाये जितना कि अनिवार्य कहा जाता था। उक्त अध्ययन को दीक्षा ग्रहण करने के मार्ग का प्रथम पड़ाव कहा जा सकता है।

सं. 1813 में आचार्य रुद्धनाथजी ने अपना चतुर्मास बागोर में किया। स्वामी भीखणजी भी उनके साथ थे। वैरागी भारमलजी भी अपने पिता किसनोजी के साथ वहां आ गये। वहां संत-समागम और ज्ञानाराधन में ही उनका अधिकांश समय व्यतीत होने लगा। संयम ग्रहण करने का उनका मानसिक संकल्प तो कभी का परिपक्व हो चुका था, केवल काल-परिपाक की प्रतीक्षा ही शेष थी।

मेवाड़ में उस समय की प्रचलित परम्परा के अनुसार चतुर्मास-काल में किसी को दीक्षित नहीं किया जा सकता था। दीक्षा देकर वापस उसी समय ग्राम में आना भी वर्जित माना जाता था। बाहर से ही सीधा अन्यत्र विहार कर देना आवश्यक समझा जाता था। इसीलिए प्रत्येक दीक्षार्थी को चतुर्मास-समाप्ति तक प्रतीक्षा करनी ही पड़ती थी।

चतुर्मास समाप्त हुआ। बागोर के बाहर विशाल वटवृक्ष की छाया में दीक्षा प्रदान करने का निश्चय किया गया। संत विहार कर वहां आये। जनता भी दीक्षा-संस्कार देखने के लिए एकत्रित हुई। आचार्य रुद्धनाथजी की उपस्थिति में तब स्वामी भीखणजी द्वारा¹

1. जयाचार्य ने भि. ज. र., 215 में कहा है :

'भिक्खु शिष्य भारीमालजी, दीक्षा दी निज हाथ'

यति हुलासजी ने 'शासन-प्रभाकर' 413,4 में कहा है कि दोनों को आचार्य रुद्धनाथजी ने दीक्षित किया और स्वामी भीखणजी का शिष्य बना दिया।

निम्नोक्त संभावना के आधार से दोनों कथनों की संगति भी बैठ सकती है कि आचार्य रुद्धनाथजी ने मंत्रोच्चार किया और स्वामीजी ने केश-लुंचन।

238 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ तृतीय परिच्छेद
सं. 1813 के मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा के दिन¹ पिता-पुत्र-दोनों को दीक्षा प्रदान की गई। स्थानकवासी संप्रदाय में व्यक्तिगत शिष्य बनाने की परम्परा उस समय भी चालू थी, आज भी है। उसी के अनुसार वे दोनों स्वामी भीखण्जी के शिष्य बने। मुनि भारमलजी की अवस्था उस समय लगभग दस वर्ष की थी।

निरंतर प्रगति

बालमुनि भारमलजी प्रारम्भ से ही बड़े विवेकी और विनयी होने के साथ-साथ बुद्धिमान् भी थे। उन्हें जो भी बतलाया जाता उसे बहुत शीघ्रता से समझ लेते। स्मृति-शक्ति भी प्रबल थी। दिया गया पाठ बहुत स्वल्प समय में ही कण्ठस्थ कर सुना दिया करते थे। जल में तैल-बिन्दु की तरह उनकी योग्यता क्रमशः विस्तार पाती चली गई।

स्वामीजी जैसे निष्णात एवं जागरूक व्यक्ति की देख-रेख उनके लिए सोने में सुहागा की तरह सिद्ध हुई। आचार और व्यवहार सम्बन्धी निपुणता तो दीक्षित होते ही मानो उन्हें घुटी में पिला दी गई थी। स्वामीजी ने शीघ्र ही उनको शास्त्राध्ययन में नियोजित कर दिया। वे उसमें पूरे मनोयोग से लग गये। एक सुयोग्य शिष्य के रूप में वे निरन्तर प्रगति पथ पर अग्रसर होते चले गये। लगभग चार वर्ष तक वे स्थानकवासी संप्रदाय में रहे। स्वामीजी की देख-रेख में रहने के कारण द्रव्य-दीक्षा का वह काल भी उनके लिए संस्कार-अर्जन का एक विशिष्ट काल बन गया।

शरीर की छाया

मुनि भारमलजी के हृदय में स्वामीजी के प्रति अगाध विश्वास था। वे उन्हें अपनी जीवन-यात्रा के दिग्दर्शक मानकर चलते थे। स्वामीजी के आदेश और निर्देश का स्वल्प मात्र भी उल्लंघन करना, उन्हें अपने ध्येय से च्युत होने जैसा अनिष्टकारी प्रतीत होता था। उनका स्वामीजी के प्रति एक ऐसा अनिर्वचनीय धर्मानुराग था, जिसमें न कोई कृत्रिमता थी और न प्रदर्शन की भावना। वह केवल उनके आन्तरिक हृदय की भक्ति की ही एक परिणति थी, जो आजीवन वृद्धिंगत होती रही। स्वामीजी भी उनके विनयी स्वभाव से अत्यन्त तुष्ट थे। वे उनके सहजगुणों में एक होनहार व्यक्तित्व की सूचना पाते थे। उनके समर्पण-भाव की गहराइयों को देखकर शायद वे स्वयं आश्चर्याभिभूत होते रहे होंगे। उन्होंने अवश्य ही यह अनुभव किया होगा कि बालमुनि उनके शरीर की छाया की तरह सदैव उनका अनुगमन करते हैं। मूलतः प्रारम्भ काल से ही बालमुनि भारमलजी आंतरिक एवं बाह्य-दोनों ही रूपों में स्वामीजी से अभिन्न होते चले गये थे।

1. दीक्षा-तिथि का कहीं कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है, परन्तु चतुर्मास की समाप्ति पर विहार के दिन दीक्षा देने की प्रथा के आधार पर उक्त तिथि ही संभावित है।

समस्या का वात्याचक्र

भाव-दीक्षा से पूर्व

मुनि भारमलजी को दीक्षित हुए चतुर्थ वर्ष ही चल रहा था कि अचानक उन्हें एक विकट समस्या के वात्याचक्र में फँस जाना पड़ा। उससे बाहर निकलने में यद्यपि उन्हें अधिक दिन नहीं लगाने पड़े, परन्तु वे थोड़े-से दिन भी उन्हें आपाद्मस्तक हिला कर रख गये। समस्या कहीं बाहर से नहीं आई थी, वह वहीं की परिस्थितियों के परिपाक में से उद्भूत हुई थी। उससे पार होने के लिए मुनि भारमलजी को अपने पिता किसनोजी तथा गुरु स्वामी भीखणजी में से किसी एक को चुन लेना आवश्यक हो गया। उन्होंने उनमें से स्वामी भीखणजी को ही चुना, पर उस निर्णय की रक्षा के लिए उन्हें अपने प्राणों की बाजी लगा देनी पड़ी। तेरह-चौदह वर्ष के बालक का वह साहस अत्यन्त आश्चर्यकारी था।

समस्या उत्पन्न होने के मूल में मुनि भारमलजी के पिता किसनोजी थे। उन्होंने पुत्र के साथ ही दीक्षा ग्रहण की थी। अध्ययन की अभिरुचि उनमें नहीं थी, अतः पुत्र को स्वामीजी के पास छोड़ कर वे अन्य मुनियों के साथ जनपद-विहार करने लगे।

उनकी प्रकृति कठोर थी, अतः अधिक साधुओं के समूह में रहना उन्हें असुविधाजनक प्रतीत होता था, इसलिए भी उन्हें स्वामीजी के साथ रहने का विशेष अवसर नहीं मिला। वे न तो सं. 1815 के राजनगर चतुर्मास में स्वामीजी के साथ थे और न सं. 1817 में आचार्य रुद्रनाथजी से पृथक् होते समय बगड़ी में। वस्तुतः उन्हें स्वामीजी तथा उनके साथ अपने पुत्र भारमलजी के अभिनिष्ठमण का पता कुछ दिनों के पश्चात् ही लगा। पता लगते ही वे विहार करते हुए स्वामीजी के पास आ गये।

बीलाड़ा में

स्वामीजी उस समय बीलाड़ा में थे।¹ भाव-दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व सहयोगी साधुओं के साथ श्रद्धा और आचार के सम्बन्ध में विचार-विमर्श तथा चर्चाएं चालू थीं।

1. भारीमाल-चरित (116) में यह नाम भीलोडा तथा भिक्खु-दृष्टान्त (दृ. 202) में भीलाड़ा दिया है। इससे मेवाड़ के प्रसिद्ध नगर भीलवाड़ा का भ्रम हो सकता है। पर स्वामीजी का विहार-क्षेत्र उस समय मारवाड़ था, अतः यह 'बीलाड़ा' है जो कि जोधपुर से लगभग 70 कि. मी. दूर दक्षिण-पूर्व में है।

240 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ तृतीय परिच्छेद
स्वामीजी के विचारों से प्रभावित साधु बड़े उत्साह के साथ कार्य को गति देने में जुटे हुए थे। अनेक महत्वपूर्ण निर्णय किये जा रहे थे।

स्वामीजी स्वभावतः ही अत्यन्त जागरूक व्यक्ति थे। उस संक्रमण-काल में तो वे और भी अधिक सजगता से कार्य कर रहे थे। प्रत्येक बात और प्रत्येक व्यक्ति के मूल तक पैठकर ही वे कोई निर्णय करते और फिर तदनुसार कार्य करने में जुट जाते। भावी संघ के सम्भावित सदस्यों के आचार-विचार को सूक्ष्मदृष्टि से देख लेने के साथ-साथ प्रत्येक सदस्य की प्रकृति-विषयक अनुकूलता-प्रतिकूलता की परीक्षा कर लेना भी उनकी सावधान दृष्टि के लिए आवश्यक था। उन्होंने अपने साथी सन्तों की प्रकृति का अध्ययन करना प्रारंभ किया और प्रत्येक के विषय में स्वतन्त्र बुद्धि से निर्णय लिया।

स्वामीजी का निषेध

किसनोजी प्रकृति के कठोर होने के साथ ही रस-लोलुप भी थे। सरस और नीरस आहार में सम-बुद्धि तो दूर रही, पर कभी-कभी व्यावहारिकता का भी लोप कर देते थे। उससे वे अनेक बार अपने साथियों के लिए असमाधि का कारण बन जाते थे। प्रकृतिगत इन दुर्बलताओं को देखकर स्वामीजी ने उनको अपने साथ रखने योग्य नहीं पाया। उन्होंने तब मुनि भारमलजी को अपनी भावना बतलाते हुए कहा—‘मैं किसनोजी को अपने साथ रखने योग्य नहीं समझता, अतः तुम कहां रहना चाहते हो, यह अपनी इच्छानुसार सोच लो और एक निर्णय कर लो।’

मुनि भारमलजी ने अविचल भाव से कहा—‘उनके विषय में आप जैसा उचित समझें वैसा करें, किन्तु मैं तो आपके ही साथ रहना चाहता हूं।’

स्वामीजी ने तब किसनोजी को बुलाया और अपने विचार बतलाते हुए कहा—‘हम सब शुद्ध संयम का मार्ग अपनाने के दृष्टिकोण से एकत्रित हुए हैं, परन्तु इस समय जो स्थिति विरोधी व्यक्तियों के द्वारा उत्पन्न कर दी गई है, उसे देखते हुए लगता है कि इस पवित्र कार्य में भी हमारे लिए पग-पग पर बाधाएं उपस्थित हो जायेंगी। हमें सहिष्णु बनकर उन सब को सहना होगा, तभी अपने कार्य में सफलता पा सकेंगे। ऐसी स्थिति में तुम स्वयं अपनी प्रकृति के विषय में सोच सकते हो। मैंने जहां तक तुम्हारी प्रकृति का अध्ययन किया है, इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि तुम विरोधी स्थितियों के अवसर पर अपने को नियंत्रित नहीं रख सकते। साधारण स्थिति में भी तुम्हारी प्रकृति दूसरों के लिए असमाधि का कारण बन जाती है। तुम इस पर भविष्य में विजय पा लोगे, ऐसा विश्वास नहीं हो पा रहा है, अतः मैं तुम्हें अपने साथ रखने में असर्मर्थ हूं।’

तीव्र प्रतिक्रिया

स्वामीजी की दो टूक बात से किसनोजी अपने स्वभावानुसार तत्काल ही कुद्द हो उठे। वे कहने लगे—‘आप अत्यन्त स्वार्थी हैं। मुझे मूर्ख बनाकर केवल अपना काम निकालना चाहते हैं, परन्तु मैं इतना मूर्ख नहीं हूं कि अपने पुत्र को तो आपके पास छोड़ दूं

और स्वयं इस बुढ़ापे में अकेला निस्सहाय होकर भटकता फिरू। आप तो मुझे न घर का रहने देना चाहते हैं और न घाट का, परन्तु मैं ऐसा नहीं होने दूँगा। मुझे साथ में रखेंगे तभी भारमल यहां रह सकेगा, अन्यथा मैं उसे अपने साथ ले जाऊंगा।'

किसनोजी की प्रतिक्रिया बड़ी तीव्र थी। वे असम्मान-जनक ढंग से बोल रहे थे, किर भी स्वामीजी ने धैर्यपूर्वक उनको समझाते हुए कहा—‘तुम इतने गर्म क्यों हुए जा रहे हो? मैं तुम्हारे पुत्र को बहला-फुसलाकर रखना नहीं चाहता। मैं उसे संयम योग्य समझता हूं, इसलिए यदि मेरे पास रहकर साधना करना चाहे, तो मुझे प्रसन्नता होगी, अन्यथा तुम उसे सहर्ष ले जा सकते हो, मैं बाधक नहीं बनूँगा।’

स्वामीजी की शान्तिपूर्ण और न्यायसंगत बात से किसनोजी का क्रोध और भी उग्र हो गया। वे उठे और अपने तथा मुनि भारमलजी के भण्डोपकरण एकत्रित कर ले आये। यद्यपि मुनि भारमलजी ने उनके उस कार्य में कोई रस नहीं लिया, फिर भी वे उनके पास आकर कहने लगे—‘भारमल! चल, खड़ा हो। अब हमें इनके साथ नहीं रहना है।’

मुनि भारमलजी नहीं उठे तो डांटते हुए बोले—‘उठता है कि नहीं? तुझे मेरे साथ चलना होगा। किसी भी स्थिति में तुझे यहां नहीं छोड़ूँगा।’

मुनि भारमलजी फिर भी नहीं उठे, तब किसनोजी ने उनका हाथ पकड़ा और प्रायः घसीटते हुए-से उन्हें बाहर ले गये और किसी दूसरे स्थान में जाकर ठहर गये।

एक सत्याग्रह

मुनि भारमलजी उस अप्रत्याशित घटना से बड़े खिन्न हुए। वे एक क्षण के लिए भी स्वामीजी से पृथक् रहना नहीं चाहते थे। उनके सामने उस समय वस्तुतः एक धर्म-संकट उपस्थित हो गया। एक ओर साधना का पवित्र मार्ग था, तो दूसरी ओर पिता। दोनों में से किसी एक को ही चुनने की स्थिति उनके सम्मुख थी। उन्होंने तत्काल निर्णय किया और अपने लिए साधना-मार्ग को चुन लिया। उस चुनाव में पिता बाधक बन रहे थे, अतः एक साधक के रूप में उनके लिए यह आवश्यक हो गया कि पिता आदि के किसी भी स्नेह-बन्धन को वे अपने मार्ग में न आने दें। उन्होंने वैसा ही किया।

वे उस समय बालक थे, किन्तु परिस्थितियों की गम्भीरता को अच्छी तरह समझते थे। वे जानते थे कि इस समस्या को अभी नहीं सुलझाया गया तो कालान्तर में सुलझाना और भी कठिन हो जायेगा। पिता के साथ तो क्या, अन्य किसी के साथ भी झगड़ा या विवाद करना उनकी प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल था। वे पिता के हृदय-परिवर्तन के लिए अहिंसा का ही प्रयोग करना चाहते थे। उन्होंने मन-ही-मन कुछ निश्चय किया और फिर किसनोजी से कहा—‘मैं आपके द्वारा लाये गये आहार-पानी का यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान करता हूं।’¹

1. (क) भिक्खु-दृष्टान्त, द. 202 के अनुसार दो दिन निराहार रहने के पश्चात् तीसरे दिन उक्त प्रत्याख्यान किया। वहां लिखा है—‘तीजो दिन आयो जद घणी मनुहार करवा लागो, जद भारमलजी स्वामी कहो—‘थांरा हाथ रो आहार करवा रा जावजीव त्याग है।’

किसनोजी उक्त प्रतिज्ञा से चिन्तित तो हुए ही, क्रुद्ध भी हुए, परन्तु उस समय बोलना उचित न समझकर मौन रहे। उन्होंने सोचा कि भूख लगेगी तब अपने आप खा लेगा। अभी से बात को खींचकर पक्का क्यों किया जाये?

मुनि भारमलजी ने वह प्रतिज्ञा किसी भावावेश में नहीं, किन्तु समझ-बूझकर की थी। बाल्यावस्था में ही वे कितने दृढ़ और साहसी थे, उक्त प्रतिज्ञा उसका एक ज्वलंत उदाहरण है। उस युग की भाषा में उस प्रतिज्ञा को ‘अभिग्रह’ कहा गया।¹ वर्तमान की भाषा में हम उसे ‘सत्याग्रह’ कह सकते हैं। उस समय की परिस्थिति में उनके सामने उस ‘अभिग्रह’ या ‘सत्याग्रह’ के अतिरिक्त अन्य कोई अहिंसक मार्ग हो भी क्या सकता था?

आगम में साधु को छह कारणों से आहार-परित्याग का आदेश दिया गया है² उनमें दूसरा कारण ‘उवसग्म’ है। वहां कहा गया है कि यदि संयम में किसी प्रकार का उपसर्ग उत्पन्न होता हो, तो आहार-परित्याग द्वारा उसका सामना करे। द्रोणाचार्य कहते हैं—‘यदि परिवार का कोई व्यक्ति संयम-मार्ग से पृथक् करने के लिए उपसर्ग करता हो तो साधु निराहार रहकर उस स्थिति का सामना करे।’³ मुनि भारमलजी ने शास्त्रानुमोदित उसी मार्ग को अपनाकर अहिंसा की साधना का परिचय दिया।

तीसरा दिन

किसनोजी ने मुनि भारमलजी के लिए जो अनुमान लगाया था कि भूख लगने पर स्वयं खा लेगा, वह गलत निकला। बार-बार आग्रह किये जाने पर भी उन्होंने न तो आहार किया और न पानी ही पीया। दूसरा दिन भी इसी प्रकार पूर्णतः निराहार व्यतीत हो गया। किसनोजी ने नरम और गरम, दोनों ही प्रकार से उन्हें समझाने का बहुत-बहुत प्रयास किया, परन्तु उन पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ।

(ख) इसके विपरीत भारीमाल-चरित, 1110 के अनुसार प्रथम दिन अभिग्रह किया और दो दिन पूरे निकलने पर भी अडिग रहे। वह पद्य इस प्रकार है :

‘अभिग्रह कियो इण रीत सूँ भारीमाल करी भारी।

दोय दिन आखा नीकल्या, अडिग रह्या गुणधारी॥’

(ग) भिक्खु-जस-सायण, 6111,12 में भी उपर्युक्त प्रकार से ही कहा गया है। पद्य इस प्रकार है :

‘भारीमाल पिता नै भारै, किसनोजी री काण नहीं राखै।

थारा हाथ तणो अन्नपाण, म्हरै जावजीव पचखाण।

भारीमाल अभिग्रह कियो भारी, दिन दोय नीसरया तिवारी।

रह्या सुरगिर जेम सधीरा, हलुकर्मी अमोलक हीरा॥’

1. भारीमाल-चरित, 1110 तथा भिक्खु-जस-सायण, 6112।

2. उत्तराध्ययन, 26135

‘आयंके उवसग्मे, तितिक्खया बंभचेर गुतीए।

पाणदया तवहेड़, सरीर-वोच्छेयणदुए।’

3. ओघ-निर्युक्ति-स्वजनः यदि उन्निष्ठमणार्थं उपसर्गं करोति ततो न भुड़क्ते।’

तीसरा दिन प्रारंभ हुआ, तब किसनोजी ने पहले से ही अपने मन में निर्णय कर लिया था कि आज जैसे भी हो, इसे पारण करवा ही देना है। प्रातःकाल से ही उन्होंने बड़े मीठे ढंग से उसकी भूमिका बांधनी प्रारम्भ कर दी। अपना हित-अहित समझाने की शिक्षा से लेकर बड़ों का कथन मानने और विनयी बनने तक का उपदेश दिया। पारण करने के पश्चात् स्वामीजी के दर्शनार्थ चलने का प्रलोभन भी दिया। पर मुनि भारमलजी टस-सेमस भी नहीं हुए। किसनोजी ने तब उन्हें स्वयं जाकर अपने लिए आहार-पानी ले आने को प्रोत्साहित किया, परन्तु वे उसके लिए भी तैयार नहीं हुए। उनके उस नीरस व्यवहार से उन्हें बड़ी निराशा हई। वे किंरक्तव्यविमुढ होकर कछ समय के लिए चूप हो गये।

एक प्रहर दिन चढ़ जाने के पश्चात् किसनोजी स्वयं के लिए गोचरी गये। आहार-पानी लेकर आये और भोजन करने की तैयारी करने लगे, तो उनका ही मन उन्हें धिक्कारने लगा कि तुम्हारे ही कारण से तुम्हारा पुत्र जब तीन दिनों से भूखा बैठा है, तब भोजन करते हुए तुम्हें लज्जा क्यों नहीं आती? वे उठे और एक बार फिर मनाने का प्रयास करने लगे। उन्होंने अपने समग्र वात्सल्य और पितृभाव को मानो शब्दों में भरकर उनके समुख उंडेल दिया, परन्तु फल-श्रुति की दृष्टि से वह शून्य में ही विलीन होकर रह गया। शांत और स्वाध्यायरत मूनि भारमलजी ने केवल इतना ही कहा—‘मैं भोजन करना नहीं चाहता।’

स्वामीजी के पास

मुनि भारमलजी के उस अहिंसक और मूक उपक्रम का प्रभाव धीरे-धीरे किसनोजी पर छाने लगा। वे आत्मग्लानि से इतने भर गए कि प्रकृति से क्रोधी होने पर भी उन्हें अपनी कमियां दिखाई देने लगीं। वे जितना अधिक सोचने लगे, उतना ही अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगा कि अब इसे समझाकर या धमकाकर अपने साथ नहीं रखा जा सकता। अन्तः बालक की सहज दृढ़ता और अहिंसा-वृत्ति के सामने किसनोजी को झुकना पड़ा। उन्होंने निराशा और थके हुए स्वर में कहा—‘चल, तो फिर तुझे स्वामीजी के पास ही छोड़ आता हूं। खूबों मारकर अपने साथ रखने से तो उन्हें सौंप देना ही कहीं अधिक अच्छा होगा।’ यह बात सुनकर मुनि भारमलजी झट से इस प्रकार खड़े हो गये, मानो भोजन करके ही उठे हों।

किसनोजी उन्हें अपने साथ लेकर स्वामीजी के पास आये और सारी घटना सुनाते हुए कहने लगे—‘मेरे साथ जाने के बाद से इसने भोजन-पानी का परित्याग कर रखा है। आज तीसरा दिन हो गया है, तो भी यह अपने आप्रह को नहीं छोड़ता। मैं देखता हूं कि इसका मन आपके साथ रहने का ही है। आप इसे रखिये और पारण करवाइये।’

मुनि भारमलजी की उस दृढ़ता से स्वामीजी अत्यन्त प्रभावित हुए। अपने प्रति उनकी मानसिक भक्ति की प्रबलता देखकर तो वे गदगद हो गये। उस समय मुनि भारमलजी की प्रसन्नता का तो कोई ठिकाना था ही नहीं, परन्तु स्वयं स्वामीजी भी उन्हें पाकर बहुत प्रसन्न हए। मुनि भारमलजी की भावना पूर्ण हई। लगभग ढाई दिन की निर्जल

तपस्या की अग्नि ने उनके स्वर्णमय व्यक्तित्व को निखार कर कुन्दन बना दिया। स्वामी भीखण्जी ने आहार-पानी मंगवाया और उन्हें पारण करवाया।

किसनोजी की व्यवस्था

किसनोजी की स्थिति बड़ी विचित्र हो गई। स्वामीजी उन्हें अपने साथ रखने का निषेध कर चुके थे, पुत्र स्वामीजी को छोड़कर उनके साथ रहना नहीं चाहता था और आचार्य रुघनाथजी को छोड़ आये थे, अतः पुनः वहां जाना वे स्वयं नहीं चाहते थे। ऐसी स्थिति में करणीय का कोई निर्णय नहीं हो पा रहा था, इसलिए उनका मन गहरी उदासी से भर गया। द्वार पर खड़ी वृद्धावस्था और एकाकीपन की ओर ध्यान जाने पर तो उन्हें अपने सम्मुख विशाल शून्य के अतिरिक्त अन्य कुछ भी दृष्टिगत नहीं हुआ। अन्तः उन्होंने अपनी उलझी हुई समस्या का सुलझाव स्वामीजी से ही करवा लेना चाहा।

उन्होंने स्वामीजी से कहा—‘भाव-दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व आप मेरी भी कोई समुचित व्यवस्था कर दें। वृद्धावस्था में मुझे साथ खोजने के लिए कहीं भटकना न पड़े, इसलिए चाहता हूं कि किसी टोले में मेरा स्थान जमा दिया जाये।’

स्वामीजी ने उनकी वह बात स्वीकार कर ली। वे उस विषय को लेकर आचार्य जयमलजी से मिले। वे भी उन दिनों बीलाड़ा में ही आये हुए थे। उन्होंने स्वामीजी के कथन पर किसनोजी को अपने संघ में रखना सहर्ष स्वीकार कर लिया। स्वामीजी ने तब किसनोजी को शिष्य-रूप में उन्हें सौंप दिया और कर्तव्य-पूर्ति की सुखानुभूति के साथ किंचित् भारमुक्तता का अनुभव किया।

तीन घरों में ‘बधावना’

आचार्य जयमलजी स्वामीजी के विचारों के समर्थक थे। परिस्थितिवश आचार-क्रांति में साथ देने के लिए यद्यपि उन्होंने अपनी विवशता व्यक्त की थी, फिर भी उनकी सहानुभूति तो उनके साथ थी ही। सम्भवतः यही कारण था कि उन्होंने स्वामीजी द्वारा अयोग्य समझ कर सौंपे गये शिष्य को भी अपने संघ में स्थान दे दिया। यद्यपि प्रत्यक्ष सहयोग वे नहीं कर सके, पर इस प्रकार का परोक्ष सहयोग तो उनका तथा उनके साधु-समुदाय का प्रायः चलता ही रहा।

आचार्य जयमलजी विनोदी प्रकृति के थे। किसनोजी की घटना के सम्बन्ध में उन्होंने अपने स्वभावानुसार हास्य करते हुए स्वामीजी के लिए बड़ी आत्मीय भाव से कहा—‘भीखण्जी बड़े चतुर व्यक्ति हैं। उन्होंने एक ही काम से तीन घरों में ‘बधावना’ कर दिया। हमने समझा कि एक शिष्य बढ़ गया, किसनोजी ने समझा कि स्थान जम गया और स्वयं भीखण्जी ने समझा कि चलो, बला टल गई।’¹

1. भिक्खु-दृष्टांत, दृ. 2021।

रूप का उपसर्ग

साधना के धनी

मुनि भारमलजी बाल्यावस्था में ही बड़े निर्भय थे। जितनी तीव्र उनकी अहिंसा-वृत्ति थी, उतनी ही तीव्र निर्भयता भी थी। वस्तुतः अहिंसक को अकुतोभय होना ही चाहिए। अन्तरात्मा में जमी हिंसक-वृत्ति का एक पाश्व आक्रमण है तो दूसरा भय। स्वयं अभय हुए बिना दूसरों को अभय नहीं किया जा सकता। अभय को अहिंसा-साधना की कसौटी कहा जा सकता है। मुनि भारमलजी की अहिंसा-साधना को इस कसौटी पर कसा जाए तो कहा जा सकता है कि वे बहुत ही उत्कृष्ट साधना के धनी थे।

नागपाश

स्वामीजी सं. 1817 में अपना प्रथम चतुर्मास करने के लिये केलवा में पधारे तब उन्हें ठहरने के लिए ‘अंधेरी ओरी’ मिली। तेरापंथ के प्रति लोगों के मन की असद्भावना ही वैसा स्थान देने में कारणभूत बनी थी—ऐसा कहा जा सकता है। स्वामीजी तथा साथ के सभी संतों को लोगों की घुसर-पुसर से स्थान की भयग्रस्तता का अवश्य ही पता लग गया होगा। फिर भी लंबे समय तक जन-शून्य रहे किसी भी स्थान को लोग ‘भूतों का घर’ समझने लगते हैं, वैसे ही इसे भी समझते होंगे, यही सोचकर किसी ने कोई वहम नहीं किया।

मुनि भारमलजी उस समय चौदह वर्ष के बालक थे। वे छाया की तरह स्वामीजी की उपासना में ही रहा करते थे। दैनिक मुनिचर्या की आवश्यकता से कहीं जाना होता तभी वे अन्यत्र जाते, शेष समय वहीं रहते। स्वामीजी का निर्देशन उनके लिए सर्वोपरि था। अध्ययन, स्वाध्याय और लेखन जैसे कार्यों में भी वे स्वामीजी की दृष्टि को आगे रखते। केलवा-प्रवास का अपना प्रथम दिन उन्होंने उक्त कार्यों में व्यस्त रहकर व्यतीत किया। सभी कार्य यथाविधि और यथा-समय सम्पन्न होते रहे। किसी प्रकार की कोई बाधा अवरोधक बनकर उनके मार्ग में नहीं आयी।

सूर्यास्त हो गया, तब सभी मुनियों के साथ मुनि भारमलजी ने सन्ध्याकालीन प्रतिक्रमण किया। तत्पश्चात् वे परिष्ठापन (लघु-शंका-निवृत्ति) के लिए मंदिर से बाहर गये। वापस आते समय उन्हें एक उपसर्ग का सामना करना पड़ा। मंदिर-द्वार के सामने

246 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ तृतीय परिच्छेद
अचानक ही एक सर्प ने उनके पैरों में आंटे दे लिए। चलना संभव नहीं रहा। हो-हल्ला
मचाना उपयुक्त नहीं था। नागपाश में जकड़े वे वहीं के वहीं खड़े रह गये, निश्चल,
निर्भय और निर्वाक्। बालमुनि की वह अभय वृत्ति निश्चित ही आश्चर्यजनक थी। ऐसी
विषम परिस्थिति में धैर्य बनाये रखना किसी युवा या वृद्ध के लिए भी सहज नहीं होता।
वस्तुतः अभय का सम्बन्ध अवस्था से उतना नहीं, जितना कि मानसिक वृत्ति से होता है।

बन्धनमुक्ति

बाल मुनि को बाहर खड़े देखा तो स्वामीजी ने अन्दर आ जाने के लिए कहा।
उन्होंने सर्प-उपद्रव की बात बतलाई। स्थिति की गंभीरता का पता लगते ही स्वामीजी
बाहर आये। नमस्कार महामंत्र का उच्चारण कर उन्होंने सर्प को संबोधित करते हुए कहा—
'महानुभाव! यदि तुम कोई देव हो और स्थान आदि के विषय में हमें कुछ सूचित करना
चाहते हो तो उपसर्ग करने की अपेक्षा स्पष्ट बोल कर कहना ही उपयुक्त रहेगा।'

स्वामीजी के उक्त कथन को सर्प ने कुछ समझा या नहीं, कह पाना कठिन है,
पर इतना निश्चित है कि उसने तत्काल मुनि भारमलजी को बन्धन-मुक्त कर दिया।
स्वामीजी उन्हें साथ लेकर अविलम्ब अन्दर पधार गये।

अनुमान की सत्यता

स्वामीजी ने नाग-उपसर्ग को एक सूचना समझा और स्थान के भयग्रस्त होने का
अनुमान लगाया। हर प्रकार की सावधानी के लिए उन्होंने वह रात जाग कर बिताई।

मध्यरात्रि में देवागमन और उसके साथ हुए वार्तालाप ने उनके अनुमान को सत्य
सिद्ध कर दिया। उस घटना से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि वह स्थान निरुपद्रव बन
गया।¹

अनुकूलता पनपी

लोगों को जब पैरों में सांप लिपटने, मुनि भारमलजी की निर्भीकता तथा देव-
आगमन का पता चला तो वे सब बड़े प्रभावित हुए। धीरे-धीरे उनकी द्वेष-बुद्धि की उग्रता
क्षीण होती गई और अनुकूलता पनपती गई। केलवा को तेरापंथ का प्रथम क्षेत्र बनने का
सौभाग्य प्राप्त कराने में स्वामीजी तथा मुनि भारमलजी का निर्भीक साहस काफी सहायक
बना।

1. विशेष जानकारी के लिये देखें—पृ. 80, 81।

एक आदर्श शिष्य

प्रथम प्रयोग-क्षेत्र

मुनि भारमलजी एक आदर्श शिष्य के रूप में स्वामीजी को प्राप्त हुए थे। स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट कार्य को वे सदैव प्राणपण से पूर्ण करने का प्रयास किया करते थे। स्वामीजी भी अपनी किसी विशेष आज्ञा का प्रयोग पहले-पहल मुनि भारमलजी पर ही करके देखा करते थे।

साधारण को न तो कसौटी बनाया जा सकता है और न ही उसे कसौटी पर चढ़ाने की आवश्यकता होती है। ये दोनों कार्य विशिष्ट के लिए ही होते हैं। साधारण पथर कसौटी नहीं बन सकता, तो साधारण धातु को भी कसौटी पर चढ़ाने की आवश्यकता नहीं होती। जिस तरह थोड़ी-सी चोट या दबाव से काच चूर-चूर हो जाता है, उसी तरह अधीर पुरुष भी थोड़े-से दबाव या निर्देश से घबरा उठता है। ऐसे समय में तो हीरे की तरह घन की चोटों को भी सह जाने वाला धीर पुरुष चाहिए।

स्वामीजी को एक ऐसा ही हीरा मुनि भारमलजी के रूप में प्राप्त हुआ था। वे अपने निर्देशों, अनुभवों तथा मर्यादाओं की उपयोगिता को कसकर देखने के लिए उन्हें अपना प्रथम प्रयोग-क्षेत्र मानते थे।

एक दण्ड

मुनि भारमलजी स्वामीजी के प्रमुख शिष्य थे, फिर भी उन्हें कोई विशेष छूट या सुविधा प्रदान नहीं की गई थी। उन्हें तो दूसरों से कहीं अधिक सावधानी से रहना पड़ता था। दूसरों की छोटी-मोटी असावधानी जहां साधारण रूप में गिन ली जा सकती थी, वहां उनकी वही असावधानी स्वामीजी की दृष्टि में असाधारण होती थी।

वे ऐसी असावधानी करते भी नहीं थे कि उन्हें सावधान करने की कभी आवश्यकता पड़े। फिर भी स्वामीजी अपने प्रमुख शिष्य को आचार-विशुद्धि में प्रमुख ही नहीं, अनन्य भी देखना चाहते थे। अनेक बार सम्भावित गलतियों के लिए उन पर दंड लगा दिया जाता था। अपने हित के लिए समझकर वे उन सारे निर्देशों को वहन करने में कभी पछे नहीं हटते थे।

जब वे बाल्यावस्था में थे तब एक बार स्वामीजी ने उन पर यह प्रतिबन्ध लगाया कि यदि कोई गृहस्थ तुम्हारी त्रुटि निकाले तो तुम्हें दण्डस्वरूप एक 'तेला' (तीन दिन का उपवास) करना पड़ेगा।

मुनि भारमलजी ने उस आदेश को निर्माल्यवत् ऐसे सहज भाव से शिरोधार्य कर लिया, मानो वह गुरु द्वारा दिया गया मीठा प्रसाद था। उनकी विनीतता इतनी प्रबल थी कि उन्होंने उसमें कोई गली निकालने का भी प्रयास नहीं किया।

उक्त घटना मुनि भारमलजी की साधुचर्या में सावधानी को भी उजागर करती है। उन्हें जीवन-भर में दंड स्वरूप एक भी तेला नहीं करना पड़ा।¹

एक त्याग

एक बार मुनि भारमलजी लेखनी करवाने के लिए स्वामीजी के पास आये। वे बाल्यावस्था से ही लिपिकला में निपुण हो गये थे। वे अपनी लेखनी प्रायः स्वामीजी से ही करवाया करते थे। स्वामीजी सदा परावलम्बन के पोषक रहे थे, अतः उस छोटे-से कार्य के लिए उनका वह परावलम्बन उन्हें अखरता था। सम्भवतः अनेक बार ऐसे अवसर आये होंगे कि स्वामीजी किसी कार्य में व्यस्त रहे हों, अतः लेखनी करने का उन्हें समय न मिला हो और केवल इसी एक कारण से मुनि भारमलजी को अपना लेखन स्थगित रखना पड़ा हो।

स्वामीजी इस क्रम को कहकर भी बन्द कर सकते थे, पर उससे तो केवल शिष्य की आज्ञाकारिता ही स्पष्ट होती। उन्होंने जिस प्रकार से उस क्रम को रोका, वह वस्तुतः मुनि भारमलजी के विनीत-भाव और श्रद्धा-भाव की परीक्षा भी थी।

स्वामीजी ने लेखनी हाथ में ली और बिना किसी पूर्व भूमिका के मुनि भारमलजी से कहा—‘आज से तेरी लेखनी करने के त्याग हैं।’ उसी दिन से उनका वह परावलम्बन समाप्त हो गया। वे अपनी लेखनी स्वयं करने लग गये?² स्वामीजी ने एक झटके में ही उनके परावलम्बन को दूर कर दिया।

कुशल लिपिकार

मुनि भारमलजी का लिपि-कार्य प्रायः निरन्तर चलता रहता था। उन्होंने अनेक ग्रंथों की प्रतिलिपियां की थीं। उनकी हस्तलिखित अनेक पुस्तकें आज भी संघ में सुरक्षित हैं। आज उनका ऐतिहासिक महत्व है, पर उस समय तो वे अत्यन्त आवश्यकतावश लिखी गई थीं। संघ में उस समय सूत्र-सिद्धांतों तथा व्याख्यानों आदि की प्रतियां बहुत ही कम थीं। जो-कुछ भी प्राप्य था वह सब अपने ही बलबूते पर था। बाहर से किसी के द्वारा प्राप्त होने की गुंजाइश विशेष नहीं थी। लोग आहार-पानी देने तक में परहेज किया करते थे, तब सूत्र आदि की प्रतियां तो देखने को भी मिलनी कठिन थीं।

1. मिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 1811।

2. वही, दृ. 277।

उनको सुलभ करने का उपाय केवल एक ही था कि उन्हें लिखा जाए। इसीलिए जहाँ-कहाँ से भी कोई प्रति कुछ दिनों के लिए भी मिलती, तो उसकी प्रतिलिपि कर ली जाती थी।

मुनि भारमलजी ने स्वामीजी द्वारा विरचित प्रायः सभी ग्रन्थों की प्रतिलिपि की थी। आज उनकी वे प्रतियां स्वामीजी के ग्रन्थों की प्रामाणिक प्रतियों के रूप में बहुत ही महत्वपूर्ण हो गई हैं। उन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी उन्होंने काफी लिखा था। वे एक कुशल लिपिकार थे। कहा जाता है कि उन्होंने पांच लाख पद्य-प्रमाण ग्रन्थों की प्रतिलिपि की थी।

आचार्यकाल में भी

आचार्य भारमलजी का सामान्य मुनिकाल तो लिपिकार के रूप में रहा ही था, परन्तु युवाचार्यकाल एवं आचार्यकाल में भी उनका लिपिकार परिपूर्ण जागरूक रहा। इधर स्वामीजी रचना पूरी करते और उधर दो-चार दिनों के अन्तर से युवाचार्यश्री उसकी प्रतिलिपि पूर्ण कर देते। अनेक प्रतियां तो ऐसी हैं, जिनका रचनाकाल और लिपिकाल एक ही मिलता है। उदाहरण के लिए ‘तेतली पुत्र का आख्यान’ बतलाया जा सकता है। स्वामीजी ने उसका रचनाकाल सं. 1857 आश्विन कृष्णा 8 दिया है, उधर युवाचार्यश्री ने उसका लिपिकाल भी वही दिया है। 19 गीतिकाओं की वह रचना पांच पन्नों में लिखी हुई है। लगता है, स्वामीजी प्रतिदिन जितना निर्मित करते, युवाचार्यश्री प्रायः उतना ही लिख लिया करते थे।

आचार्यकाल में भी उनका लिपिकार्य चलता रहा था। स्वतन्त्र प्रतियां लिखने के अतिरिक्त वे दूसरे की अधूरी प्रति को पूरा करने में भी अपना श्रम और समय लगा दिया करते थे। एक बार बाल मुनि रायचंदजी ने स्तबकार्थ (टब्बा) सहित ‘दशाश्रुत-स्कंध’ सूत्र लिखना प्रारम्भ किया। 45 पन्नों में पहले उन्होंने अपेक्षाकृत बड़े अक्षरों में मूलपाठ लिखकर सं. 1863 चैत्र शुक्ला 8 को देवगढ़ में पूर्ण किया। उसके पश्चात् उस पाठ पर अपेक्षाकृत छोटे अक्षरों से ‘टब्बा’ लिखना प्रारम्भ किया। दो पंक्तियां भी पूर्ण नहीं कर पाये थे कि किसी कारण से उन्होंने उसे छोड़ दिया। यह भी हो सकता है कि अध्ययन को प्रमुखता देने के लिए उसे छुड़ा दिया। कालान्तर में आचार्य भारमलजी ने उसे लिखकर सं. 1865 मिगसर कृष्णा 7 को कोठारिया में पूर्ण किया।

एक प्रति और लिखो

युवाचार्य भारमलजी ने ‘स्थानांग’ सूत्र की प्रति पूर्ण की और उसे स्वामीजी के सम्मुख रखा। उन्होंने उसे उलट-पलटकर देखा और बोले—‘ऐसी ही एक प्रति और लिखो।’ युवाचार्यश्री ने साश्चर्य पूछा—‘दो का क्या उपयोग होगा?’ स्वामीजी ने मुस्कराते हुए कहा—‘यदि तुम्हें पृथक् विहार कराया जाये तो तुम्हारे काम आ जायेगी।’ युवाचार्यश्री ने कहा—‘गुरुदेव! यदि आपका आदेश होगा तो दूसरी ही क्यों, और भी अधिक प्रतियां लिख सकूंगा, परन्तु पृथक् विहार कराने वाली बात मन से निकाल दीजिए।’ स्वामीजी ने हंसते हुए फरमाया—‘ठीक है, तुम प्रति तो लिखो, अन्य किसी के काम आ जायेगी।’ युवाचार्यश्री ने तब दूसरी प्रति और लिखी।

एक व्याख्यान, अनेक बार

मुनि हैमराजजी को प्रारम्भिक अवस्था के अपने संस्मरण सुनाते हुए एक बार आचार्य भारमलजी ने बतलाया कि 'अंजना तथा देवकी के व्याख्यान' चतुर्मास में तीन-तीन बार बांचे गये।¹ ग्रन्थों की ऐसी आवश्यकता ने ही संघ के सन्तों को लिखने की ओर प्रेरित किया।

नींद उड़ाने का उपाय

मुनि भारमलजी ने स्वामीजी की बहुत-सी कृतियों को कंठस्थ कर रखा था। बाल्यावस्था में उन्होंने दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि अनेक आगम भी कंठस्थ किये थे। स्वाध्याय भी बहुत किया करते थे। जब उत्तराध्ययन कंठस्थ किया था तब बालक-अवस्था होने के कारण उसे चितारते समय कभी-कभी नींद आने लगती थी।

एक बार स्वामीजी ने उन्हें खड़े होकर चितारने की प्रेरणा दी। मुनि भारमलजी ने उस बात को तो शिरोधार्य किया, पर एक आशंका कचोटने लगी कि कहीं खड़े-खड़े भी नींद आने लगी और गिर पड़ा तो क्या होगा? उन्होंने यह बात भी स्वामीजी से ही पूछी।

स्वामीजी ने कहा—‘भींत को पूँजकर कोने में खड़ा हो जाया कर ताकि सहारा आ जाने से अधिक थकान भी न आने पाये और गिरने की आशंका भी न रहे।’ उन्होंने वैसा ही करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने अनेक बार सारे-के-सारे उत्तराध्ययन का स्वाध्याय यों खड़े रहकर किया था।²

चेचकग्रस्त

बाल्यकाल से लेकर स्वामीजी की विद्यमानता तक मुनि भारमलजी को प्रायः उनकी सेवा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे स्वामीजी के ऐसे भक्तों में से थे, जिनकी सेवावृत्ति को उन्होंने स्वयं सराहा। फिर भी कुछ ऐसे अवसर आये जब उन्हें कारणवशात् स्वामीजी से पृथक् रहना पड़ा।

स्वामीजी के शिष्य मुनि संतोषचन्दजी और मुनि शिवरामजी थली में विहरण कर रहे थे। टालोकर मुनि चन्द्रभाणजी एवं तिलोकचन्दजी वहां गये और उन्हें भ्रांत कर फंटा लिया। स्वामीजी सं. 1837 के पादू चतुर्मास के पश्चात् उन्हें समझाने के लिए मारवाड़ से थली की ओर पधारे। बोरावड़ तक पहुंचे तब युवाचार्य भारमलजी को चेचक निकल आई। आगे जाना आवश्यक था, इसलिए युवाचार्य आदि तीन संतों को छोड़कर स्वामीजी एक संत को साथ लेकर आगे पधारे। लाडनूं, बीदासर, राजलदेसर और रत्नगढ़ होते हुए वे चूरू तक पधारे। वहां मुनि संतोषचन्दजी एवं शिवरामजी से मिले। उन्हें समझाया, परन्तु उन्होंने चन्द्रभाणजी से वचनबद्ध हो जाने के कारण पुनः संघ में सम्मिलित न होने में अपनी विवशता प्रकट की। तब स्वामीजी कुछ दिन वहां ठहरकर वापस बोरावड़ पधार

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 274।

2. वही, दृ. 182।

गये। इस प्रकार चेचक ने युवाचार्य भारमलजी की अनवरत सेवा में कुछ दिनों के लिए जो बाधा उपस्थित कर दी थी, वह समाप्त हो गई।

पृथक् चतुर्मास

मुनि भारमलजी का एक चतुर्मास भी स्वामीजी से पृथक् हुआ था। सं. 1824 के चतुर्मास में स्वामीजी कंटालिया में थे, जबकि मुनि भारमलजी बगड़ी में। कहा जाता है कि वहां उन्हें बुखार के कारण रुकना पड़ा। स्वामीजी अपनी निर्णीत तिथि के अनुसार बगड़ी से कंटालिया पधार गये। मुनि भारमलजी को साधारण बुखार था, अतः उन्हें कुछ साधुओं सहित बगड़ी में ही छोड़ गये और कह गये कि बुखार उतरने के बाद कंटालिया आ जाना। वहां से कंटालिया केवल 11 कि. मी. की दूरी पर ही स्थित है, परन्तु दोनों के बीच में एक बरसाती नदी पड़ती है। स्वामीजी कंटालिया पधारे तब तो वह सूखी थी, परन्तु मुनि भारमलजी को बुखार उतरा तब तक वर्षा हो जाने के कारण उसमें पानी आ गया। दूसरी ओर जाने का मार्ग अवरुद्ध हो गया। उसी विवशता में उन्हें वह चतुर्मास स्वामीजी से पृथक् करना पड़ा।¹

धारा के दोनों ओर

कुछ दिनों के पश्चात् जब नदी का वेग कम पड़ गया, पानी थोड़ा-थोड़ा-सा बहता रह गया, तब गुरु-शिष्य दोनों का सम्पर्क संभव हो सका। बीच में पानी की धारा बहती रहती और उसके ऊपर से गुरु-शिष्य की धर्म-चर्चा की धारा बहने लगती। स्वामीजी एक तट से आवश्यक आदेश-निर्देश देते और दूसरे तट से मुनि भारमलजी उन्हें यथावत् ग्रहण करते। इस प्रकार कुछ देर वहां ठहरने के पश्चात् अपने-अपने स्थान की ओर विदा हो जाते। उस चतुर्मास में उक्त प्रकार का मिलन बहुधा होता रहा। एक तरफ भक्ति का उद्रेक था तो दूसरी तरफ वात्सल्य का।

परमभक्त

मुनि भारमलजी की जीवन-घटनाओं से पता लगता है कि वे आगम-कथित विनीत शिष्य के लक्षणों से परिपूर्ण थे। वे स्वामीजी के हर आदेश को 'मम लाभोत्ति पेहाए'—यह मेरे लाभ के लिए ही है, इसी प्रेक्षा से स्वीकार करते थे। इंगित और आकार के अनुकूल तो वे किया ही करते थे, पर मन की भावना को भी पूर्णरूपेण जानने का तथा तदनुकूल कार्य करने का उनका प्रयास रहता था। वे प्रतीक्षा नहीं करते थे कि गुरु कहें तो करें, अन्यथा मुझे क्या करना है?

ऐसे आदर्श शिष्य के प्रति गुरु भी प्रसादयुक्त हों तथा उन्हें विपुल श्रुत और अर्थ से लाभान्वित करें तो यह कोई आशर्च्य की बात नहीं है। ऐसे परमभक्त शिष्य ही वस्तुतः गुरु तथा गुरु-प्रदत्त ज्ञान का गौरव बढ़ाते हैं।

1. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. 275।

स्वामीजी के उत्तराधिकारी

उपयुक्त व्यक्ति

स्वामीजी ने जिन-शासन में आचार-विशुद्धि की जो नई लहर पैदा की थी, उसे चिर-जीवित रखना तभी संभव था जबकि उनके उत्तराधिकारी भी उतनी ही सावधानी से संघ की देख-रेख करते रहें। यह देख-रेख तभी संभव हो सकती थी, जबकि उत्तराधिकारी स्वयं अत्यन्त सावधान हों और किसी की भी स्खलना पर भेदभाव रहित होकर उसे टोकने का साहस रखते हों। ये सब गुण मुनि भारमलजी में प्रचुर मात्रा में थे। अतः वे स्वामीजी के एक उपयुक्त उत्तराधिकारी थे। उन जैसे योग्य शिष्य के रहते हुए स्वामीजी इस ओर से सर्वथा निश्चिन्त थे।

योग्य नियुक्ति

स्वामीजी ने प्रारम्भिक पन्द्रह-सोलह वर्ष मुख्यतः अपने विचारों के प्रचार-प्रसार में ही लगाये। उसके पश्चात् उन्होंने देखा कि अब जनता में धर्म के प्रति अभिरुचि जागृत हो चुकी है और धीरे-धीरे संघ की सर्वतोमुखी प्रगति अपने ही बल पर चालू हो गई है, तो उन्होंने अपना ध्यान संघ की आगामी व्यवस्था की ओर भी लगाना प्रारम्भ किया। उस दिशा में उन्होंने सर्वप्रथम दो कार्यों पर प्रमुख रूप से ध्यान दिया। प्रथम—उत्तराधिकारी की नियुक्ति और द्वितीय—संघ की सुव्यवस्था के लिए मर्यादाओं का निर्माण।

सं. 1832 मार्गशीर्ष कृष्णा 7 के दिन स्वामीजी ने मुनि भारमलजी को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और युवाचार्य-पद पर नियुक्ति के प्रतीक रूप उन्हें ‘पछेवड़ी’ उढ़ाई। स्वामीजी ने अपने उस कार्य से आगामी आचार्यों के लिए भी एक दिशा-निर्देश दे दिया कि इस संघ में भावी आचार्य कैसे नियुक्त किये जाने चाहिए। उस नियुक्ति से उन्होंने वस्तुतः योग्य व्यक्ति को योग्य स्थान प्रदान करने की एक स्वस्थ परम्परा डाल दी।

आचार-संहिता का प्रारंभ

युवाचार्य-पद प्रदान करने की योजना के साथ ही स्वामीजी ने संघीय मर्यादाओं के निर्माण का भी सूत्रपात किया। उन्होंने उस समय एक नियुक्ति-पत्र तैयार किया। वह ‘संवत् 1832 का लिखत’ कहलाता है। उसे तेरापंथ का प्रथम मर्यादा-पत्र एवं तेरापंथ

के संविधान की नींव का प्रथम पत्थर कहा जा सकता है। उक्त लेख-पत्र लिखने से पूर्व स्वामीजी ने संभाव्य मर्यादाओं को संतों में खूब चर्च लिया और उनकी आवश्यकता को समझाकर सबका समर्थन प्राप्त किया। उसके पश्चात् लेख-पत्र लिखा और युवाचार्य की नियुक्ति के साथ ही उस पर सब संतों के हस्ताक्षर करवाये।

उस समय संघ में 11 साधु थे। लगता है, सभी वहां उपस्थित थे। स्वामीजी उस मर्यादा-पत्र के निर्माता थे तथा मुनि भारमलजी को युवाचार्य पद देने के लिए उसका निर्माण हुआ था, अतः उनके हस्ताक्षरों की उपयुक्तता नहीं थी। मुनि टोकरजी लिखना नहीं जानते थे, इसलिए उनके हस्ताक्षर भी नहीं हैं। शेष 8 संतों के हस्ताक्षर हैं।

उक्त मर्यादा-पत्र के लेखन तथा युवाचार्य-पद प्रदान करने के स्थान का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु उसी वर्ष मुनि वीरभाणजी ने पृथक् होकर स्वामीजी के विरुद्ध जो बातें कहीं, स्वामीजी ने उनको लिख लिया। वे कहते हैं—‘म्हे ‘बीठोरा’ में लिखत में मतो घाल्यो ते सरमासरमी घाल्यो छै।’ इससे प्रमाणित होता है कि उक्त दोनों कार्य ‘बीठोरा’ में संपन्न हुए।

मर्यादा-पत्र के द्वारा तेरापंथ धर्मसंघ में जो व्यवस्था निर्णीत हुई, उसके मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं :

- तेरापंथ में एक ही आचार्य होगा।
- सब साधु-साधियां आचार्य के ही शिष्य होंगे।
- कोई व्यक्तिगत शिष्य नहीं बनायेगा।
- आचार्य भी योग्य व्यक्ति को ही दीक्षित करेंगे।
- चतुर्मास तथा शेषकाल के लिए प्रवास क्षेत्रों का निर्धारण आचार्य ही करेंगे।
- वर्तमान आचार्य ही भावी आचार्य का मनोनयन करेंगे, आदि।

इतने वर्षों तक संघ-व्यवस्था के लिए स्वामीजी के मौखिक आदेश ही मर्यादा का काम करते थे। मर्यादा-पत्र के निर्माण एवं स्वीकरण के साथ ही धर्मसंघ की व्यवस्था ने एक सुनिर्णीत आकार ले लिया।

उक्त आचार-संहिता का वह प्रारंभ स्वतः ही किसी ऐसे शुभ अवसर पर हुआ लगता है कि फिर आगे-से-आगे अनेक मर्यादाएं यथासमय बनती रहीं और इस प्रकार अनायास ही तेरापंथ को एक परिपूर्ण संविधान प्राप्त हो गया।

वीर-गौतम की जोड़ी

मुनि भारमलजी अत्यन्त कोमल प्रकृति के होने के कारण सभी के लिए समान रूप से आदरणीय थे। युवाचार्य-पद प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी वे पूर्ववत् स्वामीजी की सेवा में लगे रहते। जनता भगवान् महावीर और गणधर गौतम की प्रतिकृति स्वामीजी और युवाचार्य भारमलजी के रूप में प्रत्यक्ष देखा करती थी। एक सफल उत्तराधिकारी के

254 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ तृतीय परिच्छेद
रूप में युवाचार्य भारमलजी ने संघ के अनेक कार्यों में स्वामीजी के गुरुतर भार में हाथ बंटाया। लगभग अट्टाईस वर्षों तक स्वामीजी की देख-रेख में उन्हें संघ के आंतरिक तथा बाह्य-दोनों ही प्रकार के कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस अवधि में उन्होंने अपनी जागरूकता और सतत कार्यशीलता से अपनी उच्चतम योग्यता का परिचय दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने प्रति सबकी मानसिक श्रद्धा को भी आकृष्ट किया।

पूर्वभव का संबंध

युवाचार्य भारमलजी ने स्वामीजी का विश्वास जीत लिया था, इसका पता उनके प्रति स्वामीजी ने अपनी अंतिम अवस्था में जो शब्द व्यक्त किये, उनसे लगता है। उन्होंने कहा था—‘भारमलजी से तो मेरा प्रगाढ़ संबंध रहा है मानो वह पूर्वभव से ही चला आ रहा हो।’¹ उन्होंने यह भी फरमाया—‘भारमलजी, खेतसीजी और टोकरजी—इन तीनों ने मुझे संयम-पालन में अच्छा सहयोग दिया। इनके कारण मेरे चित्त में सदा समाधि रही।’²

स्वामीजी ने साधुओं की ओर उन्मुख होते हुए कहा—‘साधुओ! भारमल को मेरे समान ही मानकर इसकी आज्ञा का आराधन करना। मैंने इसे सर्वथा योग्य समझकर ही आचार्य-पद का भार सौंपा है। इसका स्वभाव बड़ा विशुद्ध और सुंदर है।’³

1. घि. ज. र., 5417।

‘भारमलजी सूं भैलप भली, रहीज रुड़ी रीतो ए, अति प्रीतो ए,
जाणके पाछल भव तणी।’

2. वही, 5418,9 :

‘सखर तीनां रा साझ सूं, वर संजम उजवाल्यो ए, म्हैं पाल्यो ए,
प्रत्यक्ष ही शूरा पणो।’
‘चित्त-समाधी रही घणी, म्हारा मन मझारो ए, हुशियारो ए
यां तीनां रा साझ थी।’

3. वही, 5511,5 :

‘जिम मुझ नै जाणता, म्हारी प्रतीतो।
तिम हिज राखज्यो, भारमलजी री रीतो॥’
‘मैं पदवी आपी, भार लायक जाणी।
भारमलजी भणी, शुद्ध प्रकृति सुहाणी॥’

कुशल धर्माचार्य

सहजलब्धि तिथि

युवाचार्य भारमलजी सं. 1860 भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी को आचार्य-पद पर आसीन हुए। स्वामीजी उसी तिथि को दिवंगत हुए थे, अतः स्वभावतः वही सहजलब्धि तिथि उनके पदारोहण की भी हो गई। उन्होंने पदासीन होने के लिए मुहूर्त देखकर कोई तिथि निर्धारित नहीं की। अन्यथा ऐसे अवसर पर प्रायः शुभ दिन देखकर पदारोहण दिवस मनाया जाता है। नवोल्लास-युक्त स्तुति-गीत गाये जाते हैं। चार तीर्थ के सम्मुख संत-समुदय द्वारा नये आचार्य को सम्मान-स्वरूप नया उत्तरीय धारण करवाया जाता है। आचार्य भारमलजी ने वैसे किसी कार्यक्रम को आवश्यक नहीं माना। अवश्य ही उन्होंने ऐसा कुछ सोचा होगा कि स्वामीजी ने युवाचार्य-पद प्रदान करते समय अपना नया उत्तरीय उन्हें प्रदान किया, उसी समय भावी आचार्य का निर्धारण हो गया। अब संतों द्वारा नया उत्तरीय भेंट करना कोई नई पहचान नहीं बनाता। उन्होंने यह भी सोचा होगा कि स्वामीजी के दिवंगत होने के पश्चात् तत्काल ही कोई उत्सव मनाना किसी प्रकार से भी उपयुक्त नहीं माना जा सकता। उन्होंने जो-कुछ भी सोचा होगा, पर इतना निश्चित है कि किसी प्रकार का आयोजन किये बिना उन्होंने स्वामीजी द्वारा समर्पित आचार्यत्व का कार्यभार अत्यन्त सहज भाव से संभाल लिया।

आचार्य भारमलजी के उपर्युक्त मनोभाव को ही कालान्तर में जयाचार्य ने अभिव्यक्ति दी, ऐसी संभावना है। वे कहते हैं—‘पदारोहण का उत्सव मनाये या न मनाये, यह आचार्य की इच्छा पर निर्भर है। मनाना ही चाहिए—ऐसी अनिवार्यता का कोई कारण दिखाई नहीं देता, क्योंकि आचार्य भारमलजी ने ऐसा नहीं किया जबकि ऋषिराय तथा जय ने किया।’¹

अनुभवी शासक

आचार्य-पद की प्राप्ति से पूर्व लगभग चौवालीस वर्षों तक मुनि भारमलजी स्वामीजी के साथ तेरापंथ की गतिविधियों के संचालन में सहायक बने रहे। उनमें से

1. शिक्षा री चौपाई, 4111,12। (तेरापंथ, मर्यादा और व्यवस्था, पृष्ठ 82) :

‘पद युवाराज समायां पाछै, मन हुवै तो पट बइसै।

मन हुवै तो पट नहीं बैसै, गणपति इच्छा रहिष्यै॥

भारीगाल तो पट नहीं बैठा, बैठा ऋषि-जय ज्यांही।

तिण सेती पट बैसण केरो, कारण न दीसै काँई॥’

युवाचार्य पद के अट्टाईस वर्ष तो उनके लिए और भी अधिक अनुभवदायक रहे। अचानक किसी विशिष्ट पद पर आने वाले व्यक्ति के सामने जो असमंजसता तथा अनुभव-न्यूनता रहती है, आचार्य भारमलजी के सामने वह बिल्कुल नहीं थी। संघ को वे एक अनुभवी शासक के रूप में प्राप्त हुए थे।

प्रभावक व्यक्तित्व

आचार्य भारमलजी का रूप, रंग आदि की दृष्टि से बाह्य व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। आंतरिक व्यक्तित्व तो उससे भी कहीं अधिक आकर्षक था। स्वामी भीखण्डजी की सजग दृष्टि की कसौटी पर कसे जाकर वे आचार, विचार और व्यवहार की दृष्टि से शुद्ध स्वर्ण बन चुके थे। स्वामीजी द्वारा किये गये गंभीर आगम-मंथन में वे निरंतर सहयोगी रहे, अतः महान् शास्त्रज्ञों में उनकी गणना की जाती थी। स्वपक्ष उनकी योग्यता से प्रभावित था, इसमें तो आश्चर्य ही क्या, विपक्ष भी उतना ही प्रभावित था। आगमज्ञान, न्यायदृष्टि तथा तटस्थवृत्ति की त्रिवेणी से वे एक पवित्र तीर्थ बन गये। मूर्तिपूजक तथा स्थानकवासी संप्रदाय के अनेक साधु प्रायश्चित्त के लिए उनके पास आते रहते थे। आचार्यश्री ध्यानपूर्वक उनकी बात सुनते और फिर पूर्ण गंभीरता के साथ उनकी समस्या को हल करते थे।¹

मधुर व्याख्यानी

आचार्य भारमलजी की व्याख्यान शैली अत्यन्त आकर्षक थी, कंठ मधुर था। शब्द घोष-युक्त था, अतः उसकी गूंज मेघगर्जा की तरह दूर-दूर तक सुनाई देती थी।² कहा जाता है कि वे राजनगर में रात्रिकालीन व्याख्यान प्रारम्भ करते तब वहाँ से 3 कि. मी. दूर पीपड़ा तक आवाज पहुंच जाती। उनके व्याख्यान की मधुरता प्रायः सभी संप्रदायों के लोगों को आकृष्ट किया करती थी। विरोधी संप्रदायों तथा उनके मुनिजनों द्वारा खड़े किये गये विभिन्न अवरोधों को लांघकर व्याख्यान-रसिक लोग बहुधा वहाँ पहुंच ही जाया करते थे।

गोद गया हूं

एक बार दो श्रावकों में विवाद छिड़ गया। एक कह रहा था कि आचार्यश्री भारमलजी मेवाड़ के हैं, तो दूसरे का कथन था कि वे मारवाड़ के हैं। अपनी-अपनी धारणाओं के व्यामोह में वे परस्पर काफी उलझ गये। दोनों ने परस्पर शर्त लगाई कि जिसकी बात असत्य निकले, उसे हजार रुपये देने पड़ेंगे। आखिर सत्यासत्य का निर्णय पाने के लिए वे आचार्यश्री के पास आये। वहाँ भी उनमें जिज्ञासा से कहीं अधिक अपनी धारणा का ही आग्रह था।

आचार्यश्री भारमलजी ने कहा—‘मैं मेवाड़ का भी हूं और मारवाड़ का भी।’

दोनों ही श्रावकों ने चकित होते हुए कहा—‘यह कैसे हो सकता है?’

आचार्यश्री ने कहा—‘मेवाड़ का बालक यदि मारवाड़ में गोद आ जाये तो हो सकता है।’

1. ख्यात।

2. वही।

श्रावक—‘पर आप तो गोद नहीं आये।’

आचार्यश्री—‘आया हूं तभी तो अपने को मारवाड़ एवं मेवाड़—दोनों का बतला रहा हूं।’

श्रावक—‘आपने तो हमें और भी अधिक भ्रांति में डाल दिया। आप गोद गये हैं, यह बात हम आज नई ही सुन रहे हैं। आप कहां गोद गये हैं? जरा स्पष्ट बतलाने की कृपा करिये।’

आचार्यश्री ने तब उस पहेली जैसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा—‘जन्म से मैं मेवाड़ का हूं। परन्तु स्वामी भीखण्जी का शिष्य हो गया सो एक प्रकार से गोद ही आ गया। इसलिए मारवाड़ का भी हूं।’

दोनों श्रावक एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। कौन जीता और कौन हारा—इसका कुछ भी निर्णय नहीं हो पाया। आचार्य भारमलजी ने उनको समझाते हुए फरमाया—‘धार्मिक क्षेत्र में जिज्ञासा करो और उत्तर प्राप्त कर ज्ञान-वृद्धि करो, इतना ही पर्याप्त है। सौदा लड़ाने की बात अनुपयुक्त है।’

पुण्योदय हो गया

आगरिया के ठाकुर से महाराणा भीमसिंहजी किसी कारण से रुष्ट हो गये। अपनी खीझ निकालने के लिए उन्होंने उनका वह पैतृक-स्थान छीन लिया और उन्हें किसी छोटे स्थान पर भेज दिया। आगरिया छूट जाने पर ठाकुर अत्यन्त उदास रहने लगे। उन्हीं दिनों आचार्य भारमलजी का उधर पदार्पण हो गया। ठाकुर सत्संगति का लाभ लेने के लिए सेवा में उपस्थित हुए। आचार्यश्री ने धर्मोपदेश दिया। ठाकुर ने बड़ी तल्लीनता से उसे सुना और प्रसन्नता व्यक्त की। इतना होने पर भी उनकी आकृति पर उदासीनता की झलक स्पष्ट थी। आचार्यश्री ने बात ही बात में उदासी का कारण पूछ लिया। ठाकुर सकुचाये तो सही, परन्तु अन्त में स्पष्ट कारण बतला दिया।

आचार्य भारमलजी ने अपने सहज फक्कड़पन से कहा—‘इसमें इतनी उदासी की क्या बात है? पुण्योदय होने पर गई वस्तु भी वापस आ जाती है।’ ठाकुर ने उसी क्षण अपने वस्त्र के गांठ लगाई और बोले—‘मेरा तो पुण्योदय हो गया। अब आगरिया के वापस प्राप्त होने में कोई विलम्ब नहीं हो सकता।’ आचार्यश्री के वचन का चमत्कार ही कहना चाहिए कि कुछ ही दिनों के पश्चात् आगरिया उन्हें वापस मिल गया।¹

गूजरीबाई के सूत्र

स्वामी भीखण्जी ने सं. 1848 का चतुर्मास माधोपुर में किया। वहां की एक धनी महिला गूजरीबाई उनके संपर्क में आई। उसे अच्छा तत्त्व-ज्ञान था। स्वाध्याय, अध्ययन आदि में काफी रुचि रखती थी। अनेक आगमों की प्रतियां उसके संग्रह में थीं। स्वामीजी के संपर्क से वह बहुत प्रभावित हुई। उनके विशुद्ध आचार और तत्त्वज्ञान की गहराई ने

1. प्र. प. सं. पत्र 27।

258 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ तृतीय परिच्छेद
तो उसे स्वामीजी की भक्ता बना दिया। उसने संग्रह में से स्वामीजी को 'पाडिहारिय' (अस्थायी) रूप में आगमों की 13 प्रतियां प्रदान कीं। सभी प्रतियां सुन्दर लिपि में लिखी हुई अच्छी स्थिति में थीं। पहले स्वामीजी ने और फिर आचार्य भारमलजी ने भी उनका काफी उपयोग किया।

बाईस वर्षों पश्चात् आचार्य भारमलजी का माधोपुर में पदार्पण हुआ। उन्होंने सं. 1870 में वहां चतुर्मास किया। गूजरीबाई को अपनी आगम-प्रतियों की स्मृति आई। उसने उन सबको पुत्रवत् संभालकर रखा था, परन्तु स्वामीजी को सौंप देने के पश्चात् तो कभी उन्हें देखने तक का भी अवसर नहीं मिला। अनेक वर्षों पश्चात् गांव में आने वाले अपने दीक्षित पुत्रों को देखने के लिए जिस प्रकार मां का मन मचल उठता है, उसी प्रकार गूजरीबाई का मन भी अपनी प्रतियों को देखने के लिए आतुर हो गया। वह जानना चाहती थी कि उसके द्वारा दी गई प्रतियां सुरक्षित हैं या असावधान हाथों में पड़कर क्षत-विक्षत हो चुकी हैं।

उसने आचार्य भारमलजी से कहा—‘आपको याद होगा, आज से बाईस वर्ष पूर्व मैंने स्वामीजी को 13 आगम-प्रतियां दी थीं। वे सब यहीं आपके पास हैं या अन्यत्र कहीं दे दी गई हैं?’

आचार्य भारमलजी ने फरमाया—‘तुम्हारी दी हुई सभी प्रतियां इस समय हमारे पास ही हैं। ‘पाडिहारिय’ (अस्थायी) रूप से ली हुई हैं, अतः चाहो तो तुम्हें वापस संभलाई जा सकती हैं।’

गूजरीबाई ने कहा—‘मैं उन्हें देखना चाहती हूँ कि वे किस दशा में हैं?’

आचार्यश्री ने तत्काल पुस्तके मंगवाई और तेरहों प्रतियां निकाल कर उसके सम्मुख रख दीं।

गूजरीबाई ने उन सबको उलट-पुलट कर देखा तो पाया कि वे सब यथावत् हैं। वह बहुत प्रसन्न हुई। उसने कहा—‘प्रतियों को पुत्र-पुत्रियों की तरह संभालकर रखने वाले व्यक्ति कम ही मिलते हैं। आपने जिस चारुर्य के साथ इनकी सुरक्षा की है, वैसा प्रायः कम ही देखने को मिलता है। इतने दिन ये ‘पाडिहारिय’ दी हुई थीं, आज से मैं इन्हें स्थायी रूप से आपको प्रदान करती हूँ।’¹

धर्म-प्रसार की दृष्टि

आचार्य भारमलजी की दृष्टि धर्म के प्रसार हेतु अत्यन्त जागरूक रहती थी। सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को वे तत्त्वज्ञान की ओर विशेष रूप से प्रेरित किया करते थे। छोटे बालक तथा बालिकाओं को तत्त्वज्ञान सिखाने में वे बहुत रुचि लिया करते थे। बालिकाओं को तो वे इस कार्य में प्राथमिकता दिया करते थे।

एक बार किसी व्यक्ति ने आचार्यश्री से पूछा—‘बालिकाओं को तत्त्वज्ञान सिखाने पर इतना अधिक बल देने का क्या कारण है?’ आचार्यश्री ने उत्तर देते हुए कहा—‘बालक

1. परंपरा के बोल, संख्या 244।

अपने ही घर में रहता है, किन्तु बालिका बड़ी होने पर दूसरे घर में चली जाती है। बालक के तत्त्वज्ञान को फैलने का जितना क्षेत्र मिलता है, उससे कहीं अधिक बालिका के तत्त्वज्ञान को मिलता है। बालिकाओं में यदि ये संस्कार सुदृढ़ होंगे तो कालांतर में वे ही श्राविकाएं बनकर ससुराल तथा पीहर में अनेक व्यक्तियों को समझा सकेंगी। उनके बेटे, बेटी, बहू, दोहिती आदि भी धर्म के अनुकूल बनेंगे। इस प्रकार एक बालिका को तत्त्वज्ञान सिखाने का अर्थ होता है, अनेक परिवारों में धर्म के संस्कारों का बीज-वपन कर देना।¹ उपर्युक्त उत्तर से उनकी तलस्पर्शिनी चिन्तन पद्धति तथा स्वामीजी की विचारधारा के प्रसार की उत्कृष्ट भावना का अनुमान लगाया जा सकता है।

क्या गप्पे हांक रहा है?

सं. 1871 के शेषकाल में आचार्य भारमलजी ईड़वा में विराज रहे थे। रात्रिकालीन व्याख्यान मुनि रायचंदजी (ऋषिराय) दिया करते थे। एक बार वे रामचरित्र का कोई प्रसंग सुना रहे थे कि पद्यों में कुछ विस्मृति हो जाने के कारण बात पूर्वापर कह दी गई। आचार्य भारमलजी बिलकुल समीप के कमरे में ही विराज रहे थे। उन्होंने वहीं से उपालंभ की भाषा में कहा—‘रायचन्द! यों क्या गप्पे हांक रहा है? व्याख्यान ढंग से दिया कर।’ मुनि रायचंदजी ने तत्काल वहीं पर खड़े होकर गुरु-वाणी को शिरोधार्य किया और कहा—‘आगे से सावधानी रखने का भाव है।’

थोड़ी देर पश्चात् उन्होंने व्याख्यान समाप्त किया और वंदना के लिए कमरे में आये। सहज भाव से उन्होंने प्रार्थना की—‘गुरुदेव! व्याख्यान के बीच में न फरमा कर यहां आने पर मुझे ही फरमा देते तो ठीक रहता।’

आचार्यश्री ने मुनि खेतसीजी को बुलाकर कहा—‘खेतसीजी! सुनते हो अपने भानजे की बात? यह कहता है कि मुझे सबके सामने न कहकर अकेले को कहो। क्यों कहें हम अकेले को? अब तो और भी आवश्यक हो गया है कि हम इसे सबके सामने ही कहें।’

मुनि रायचंदजी ने गुरु-चरणों में झुककर प्रार्थना की—‘गुरुदेव! जैसी आपकी इच्छा हो वैसा ही करें। मैंने उक्त प्रार्थना करके गलती की है, उसके लिए क्षमा करें।’

मुनि खेतसीजी ने कहा—‘आप गुरु हैं। जैसा चाहें वैसा कहें। आप इसी के हितार्थ कहते हैं।’²

श्रावकों का संबंध-विच्छेद

आमेट के दो श्रावक शंकाशील हो गये। धीरे-धीरे वे कट्टर विरोधी बन गये। जहां भी बैठते, संघ की निंदा करते। लोगों को शंकाशील बनाकर आस्थाहीन बना देना उनका लक्ष्य हो गया। उन्हें समझाकर पुनः आस्थावान् बनाने के लिए अनेक प्रयास किये गये, परन्तु कोई फल प्राप्त नहीं हुआ। उनके सम्पर्क में आकर धीरे-धीरे अन्य लोग भी शंकाशील बनने लगे।

1. हेमदृष्टान्त, दृ. 35।

2. जयाचार्य-रचित ‘साधु-शिक्षा’ की ढाल 2, गाथा 21 से 23।

आचार्यश्री ने उक्त स्थिति पर मुनि हेमराजजी से विचार-विमर्श किया और फरमाया—‘यदि हम ऐसे शंकाशील श्रावकों को संघ से पृथक् कर दें तो अन्य श्रावक उनकी बातों में आने से बच सकते हैं।’

मुनि हेमराजजी ने उस विचार का समर्थन करते हुए कहा—‘दुमना चाकर शत्रु से भी बढ़कर भयंकर होता है, अतः सुधारने के सारे प्रयास विफल हो जाने के पश्चात् तो अब यही उपाय शेष रहा है।’

सं. 1877 में उन दोनों श्रावकों को संघ से पृथक् घोषित कर दिया गया। उसका फल अच्छा ही आया। जो लोग पहले साधर्मिक समझकर उनका विश्वास कर लेते थे, बाद में वे उनकी छाया से भी दूर रहने लगे।¹

वंदन न किया जाए

आचार्य भारमलजी एक अनुशासनप्रिय आचार्य थे। किसी की भी अनुशासनहीनता को वे संघ के लिए घातक समझते थे। वे स्वयं अपने बाल्यकाल तथा युवाकाल में स्वामीजी के सुदृढ़ अनुशासन में रहे थे, अतः उसकी उपयोगिता का उन्हें पूर्णरूप से ज्ञान था। साथ ही अन्य साधु-संघों में अनुशासनहीनता के कारण फैले हुए शैथिल्य का भी उन्हें पता था। वे स्वभाव के अत्यन्त मृदु होते हुए भी अनुशासन की अपनी नीति में बड़े दृढ़ थे। अनुशासन-भंग को वे अक्षम्य अपराध मानते थे। उसके विरुद्ध कठोर से कठोर कदम उठाने में भी उन्हें कोई हिचक नहीं होती थी। वे जानते थे कि अनुशासन की डोर को यदि एक व्यक्ति के लिए ढीला छोड़ दिया गया तो फिर धीरे-धीरे सबके लिए वैसा करना अनिवार्य हो जाएगा। दुलमुल नीति और अनुशासन—ये दोनों कभी एक साथ नहीं चल पाते।

सं. 1877 में गंगापुर के जीवोजी को मुनि सरूपचंदजी ने दीक्षा दी। उनके बड़े भाई दीपजी ने आज्ञा-पत्र एक वर्ष पहले ही लिख दिया था। फिर भी उनके मन में ऐसा द्वेष जागा कि वे संघ से विमुख होकर गांव-गांव में निंदात्मक प्रचार करने लगे। अन्य कई क्षेत्रों के असन्तुष्ट तथा भ्रांत श्रावकों ने उनको काफी प्रश्न दिया। लावा (सरदारगढ़) निवासी उनमें सबसे आगे थे। आचार्य भारमलजी को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने विशेष चिन्तनपूर्वक यह निर्णय किया कि अभी कुछ समय के लिए लावा में कोई साधु-साध्वी न रहे। उत्तेजना का ईंधन नहीं मिलेगा तो विद्रोष की आग स्वयं बुझ जायेगी।

आचार्यश्री के उक्त दृष्टिकोण की जानकारी सर्वत्र नहीं पहुंच पाई, अतः मुनि मोजीरामजी आदि तीन संत विहार करते हुए उधर आये और लावा में कई दिन रुक गये। आचार्यश्री के पास जब उनके वहां रुकने के समाचार पहुंचे तो यह समझना स्वाभाविक था कि उन्होंने दृष्टि की अवमानना की है। अनुशासन के उस प्रत्यक्ष उल्लंघन ने उनकी संघ-निष्ठा को भी संदिग्ध बना दिया।

आचार्यश्री उन दिनों राजनगर में थे। मुनि मोजीरामजी गुरु-दर्शनार्थ वहां पहुंचे। उनके पहुंचने से पूर्व ही आचार्यश्री ने सब संतों को बुलाकर यह आदेश दिया कि जब

1. हेमदृष्टान्त, दृ. 30।

तक उनके वहां ठहरने के कारण की जांच नहीं कर ली जाए तब तक कोई भी संत न तो उठकर उनका सम्मान करे और न वंदन ही करे।

मुनि मोजीरामजी आये, परन्तु न कोई संत उठा, न किसी ने वंदन किया और न किसी ने आगे बढ़कर कंधों पर से भार उतारा। संत उन्हें चकित दृष्टि से देख रहे थे और वे संतों को। आखिर स्वयं ही भार उतार कर जब वे गुरु-चरणों में झुके तो आचार्यश्री का हाथ भी सिर पर नहीं आया। वे चकराये और खड़े होकर अपनी किसी अज्ञात रूप में हुई गलती की क्षमा मांगते हुए उस व्यवहार का कारण पूछने लगे।

आचार्यश्री ने उपालंभ के स्वर में उनसे पूछा कि निषिद्ध होने पर लावा (सरदारगढ़) में वे क्यों रहे? मुनि मोजीरामजी ने पूर्ण विश्वास दिलाते हुए बतलाया कि उन्हें उक्त निर्देश का कोई पता नहीं था। इस प्रकार पूरी तसल्ली कर लेने के पश्चात् ही उन्होंने सबको परस्पर वंदन आदि की आज्ञा दी और उनके सिर पर हाथ रखा। अज्ञात रूप में की गई दृष्टि-विराधना का उन्हें प्रायश्चित्त भी दिया गया। यह था आचार्य भारमलजी के स्वभाव की मृदुता के साथ अनुशासन की दृढ़ता का समन्वित रूप।

संघ की श्रीवृद्धि

अनुशासनहीनता का अभिशाप किसी अच्छे-से-अच्छे संघ को भी शक्ति-विहीन और श्रीविहीन बना देता है, अतः स्वामीजी ने इस ओर विशेष ध्यान रखने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ किया था। आचार्य भारमलजी ने उन्हीं पदचिह्नों पर चलकर उस पद्धति को विशेष बल प्रदान किया। स्वामीजी के शासन-काल में अनेक व्यक्ति मतभेद होने पर उनसे अलग होते रहे, किन्तु जब तक संघ में रहे तब तक वे अनुशासन पालने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध थे। अनुशासन में दुल-मुल चलने वाले अनेक व्यक्तियों को स्वामीजी ने स्वयं अलग कर दिया था। परन्तु ऐसे व्यक्ति प्रायः स्वामीजी के शासन-काल में ही उछल-कूद मचाकर ठंडे हो गये थे। आचार्य भारमलजी के शासन-काल में आंतरिक विरोध का कोई विशेष अवसर नहीं आया।

उनके शासन-काल में संघ की अच्छी प्रगति हुई। साधु-साधियों की वृद्धि के अतिरिक्त श्रावक-श्राविकाओं की भी बहुत वृद्धि हुई। उस वृद्धि का साधारण अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि जब सं. 1875 में उनका चतुर्मास कांकरोली में था, तब वहां लगभग सत्रह सौ पौष्टि हुए।¹ उस समय एक ही ग्राम में इतने पौष्टि होना सचमुच ही श्रावक-श्राविकाओं की वृद्धि का द्योतक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य भारमलजी एक कुशल धर्माचार्य होने के साथ-साथ एक कुशल धर्म-प्रसारक तथा सुदृढ़ अनुशासक थे। उनकी इन विशेषताओं ने धर्मसंघ की श्रीवृद्धि तथा सुदृढ़ता में बहुत बड़ा योगदान दिया। वस्तुतः ये गुण एक साथ किसी विरल व्यक्ति में ही पाये जाते हैं। ऐसे आचार्य को पाकर तेरापंथ धन्य हो गया।

1. भारीमाल चरित्र, 5। दो. 3 :

'पिचत्तरे वर्ष पूजजी, सैहर कांकरोली सोय।
पोसा सतरे सौ रै आसरै, वैराग बधतो जोय।'

जयपुर की ओर

सामयिक प्रेरणा

वि. सं. 1868 में पाली चतुर्मास करने के पश्चात् आचार्यश्री भारमलजी मारवाड़ के विभिन्न क्षेत्रों में विहार कर रहे थे। वहां उन्हें एक स्थानकवासी संत मिले। बातचीत करते समय उन्होंने पूछा—‘आप लोग जयपुर क्यों नहीं जाते?’ आचार्यश्री ने कहा—‘वहां श्रावकों के घर बहुत थोड़े हैं। आस-पास के अन्य क्षेत्रों में भी तेरापंथी नहीं हैं। अल्प सामग्री होने के कारण स्वामीजी के पश्चात् उधर जाना हुआ ही नहीं।’

स्थानकवासी मुनि ने आश्चर्यचकित होते हुए कहा—‘जयपुर में भीखण्झी का समझाया हुआ लाला हरचन्दलाल जैसा श्रावक बैठा है, फिर अल्प सामग्री की बात कैसे करते हैं? वह तो जौहरियों का बादशाह कहलाता है। भीखण्झी ने ऐसे व्यक्ति को पकड़ा, जो एक होकर भी हजार जितना है। वहां जाना होता रहेगा तो आगे से आगे श्रावक भी बनते रहेंगे। अपने-आप तो कोई बनने से रहा।’

आचार्यश्री को उनकी प्रेरणा बहुत सामयिक तथा महत्वपूर्ण लगी। वस्तुतः क्षेत्रों की संभाल खेतों की ही तरह निरंतर करनी पड़ती है। देख-रेख का लम्बा व्यवधान उन्हें चौपट कर डालता है। क्षेत्रों को बनाना जितना श्रम-साध्य होता है, उन्हें बनाये रखना उससे कहीं अधिक श्रम-साध्य होता है।

स्वामीजी वहां सं. 1848 में पधारे थे¹ लगभग 20 वर्षों का अंतराल हो चुका था। फिर भी ‘जब जागे तभी सवेरा’ मानकर आचार्य भारमलजी ने जयपुर जाने का निर्णय किया तथा यथाशीघ्र उस ओर विहार कर दिया। प्रेरणा का एक वाक्य उनके लिए कर्तव्य का आह्वान बन गया।

1. ऋषिराय-सुजस, 6/दो. 3 के अनुसार स्वामीजी 1847 में जयपुर पधारे थे। वहां लिखा है :

‘भिखु प्रथम पधारिया, सेतालीये अनुमान।

रात्रि बावीस रे आसरे, रह्या मुनि गुणवान्।’

परन्तु लाडूं ‘शासन पुस्तक धंडार’ में युवाचार्य भारमलजी द्वारा लिखित ‘साधु-आचारी’ ढाल की प्रति है। उसकी पूर्ति उन्होंने जयपुर में सं. 1848 फाल्गुन शुक्ला 15 गुरुवार को की, ऐसा लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि स्वामीजी माधोपुर चतुर्मास के पश्चात् फाल्गुन में जयपुर पधारे थे।

किशनगढ़ में शास्त्रार्थ

जयपुर की ओर पथरते समय आचार्य भारमलजी के मार्ग में किशनगढ़ आया। वि.सं. 1869 (श्रावणादि 1868) के वैशाख मास का वह समय था।¹ आचार्यश्री सहित दस साधु थे। वहां वे नये शहर में ठहरे। उस समय वहां बाईसटोलों में से अनेक टोलों के साधु आये हुए थे। उनका वह काफी बड़ा क्षेत्र था। स्थानीय तेरापंथी परिवार वहां कोई नहीं था। आचार्य भारमलजी के पदार्पण से उन लोगों को भय हुआ कि ये कहर्हीं यहां पैर न जमा लें। इसीलिए उन्होंने शास्त्रार्थ का आह्वान करना प्रारंभ कर दिया। कई बार कहलवाने पर आचार्यश्री ने स्वीकार कर लिया। सार्वजनिक स्थान—बगीची में शास्त्रार्थ करना निश्चित किया गया। नानकजी, उगराजी तथा अमरसिंहजी—इन तीन टोलों के 35 साधु चर्चास्थल पर आये। आचार्य भारमलजी आदि 9 संत वहां पथरे। शास्त्रार्थ सुनने के लिए सैकड़ों की संख्या में लोग उपस्थित हो गये। शास्त्रार्थ का विषय था—आश्रव जीव है या अजीव।

नानकजी के टोले के मुनि निहालजी ने अपना पक्ष स्थापित करते हुए कहा—‘आश्रव अजीव है।’

आचार्य भारमलजी ने उसका उत्तर देते हुए कहा—‘आश्रव द्वारा कर्मों का ग्रहण होता है। इसका अर्थ हुआ कि जीव की उस परिणति का नाम आश्रव है, जिससे कर्मों का ग्रहण किया जाता है। अजीव कभी कर्मों का ग्रहण नहीं कर सकता। दूसरी यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि गृहस्थ पहले आश्रवी (आश्रवयुक्त) होता है, बाद में जब वह संयम ग्रहण करता है तब संवरी (संवरयुक्त) बन जाता है। संवर को आप लोग भी जीव मानते हैं। तो क्या वह अजीव से जीव बन गया? इसी प्रकार यदि कोई साधु संयम छोड़कर गृहस्थ बन जाता है तो वह संवर दशा से आश्रव दशा में चला जाता है। आपके हिसाब से इसका तात्पर्य होगा कि वह साधु था तब तक संवरी था, अतः जीव था और गृहस्थ हो गया तब आश्रवी हो गया, अतः अजीव हो गया।’

मुनि निहालजी उक्त कथन का कोई उपयुक्त उत्तर नहीं दे पाये। अपनी झोंप मिटाने के लिए उन्होंने तब आचार्यश्री पर आक्षेप करते हुए कहा—‘देखो! देखो!! ये साधु को अजीव कह रहे हैं।’ इतने में ही सभास्थल के बीच कई व्यक्ति खड़े होकर हल्ला मचाने लगे—‘तेरापंथी हार गये, तेरापंथी हार गये।’ बहिनों ने विजय का गीत गाना प्रारंभ कर दिया। उसी हो-हल्ले में मध्यस्थ बने यतिजी ने सभा विसर्जित कर दी। वातावरण में घोली जा रही अशांति को देखकर आचार्य भारमलजी ने वहां ठहरना उचित नहीं समझा, अतः शांतभाव से तत्काल अपने स्थान पर आ गये। समझदार एवं तटस्थ लोगों से यह बात छिपी नहीं रही कि उत्तर न आने पर हल्ला मचाकर सभा को विसर्जित करा देना तथा अपनी विजय घोषित करा देना कोई न्यायसंगत कार्य नहीं था।

1. श्रावक महेशजी कृत पूज्यगुणी, 513

‘समत गुणंतरै साल, वैसाख विद विसाल।

जब चरचा मांडी पूज चूंप सूं ए॥’

उक्त शास्त्रार्थ की सारी गतिविधि में स्थानीय श्रावक महेशदासजी प्रमुख रूप से भाग ले रहे थे। वे कटुर स्थानकवासी थे। कालान्तर में मुनि हेमराजजी के पास समझकर जब वे तेरापंथी बन गये तब उन्होंने सारी बात खोली कि सभा में हल्ला मचा देने, अपनी विजय घोषित कर देने तथा सभा को विसर्जित करने तक के सारे कार्य सुनियोजित थे। उन्होंने बतलाया कि उस पक्ष के संतों ने हम लोगों को पहले ही सिखा दिया था कि पराजय होती देखो तब हल्ला मचाकर तेरापंथ की हार घोषित कर देना। सन्तों के सिखाये अनुसार मैंने ही तब आगे होकर वह सब कार्य किया था। उस समय तो जोश में कर दिया, परन्तु बाद में सारी रात मेरे मन में पश्चात्ताप रहा कि मैंने उचित कार्य नहीं किया। गलत सीख देकर संतों ने भी साधुता की अवहेलना की। मध्यस्थ बनाये गये यतिजी को पहले ही रिश्वत देकर अपने में मिला लिया था, अतः सत्य-निर्णय की उनसे आशा ही कैसे की जा सकती थी? महेशदासजी ने कालान्तर में एक गीतिका के द्वारा भी उक्त विचारों का स्पष्टीकरण किया था।¹

एक उदाहरण

चर्चा-स्थल से आचार्य भारमलजी मूलस्थान पर पधार गये। मुनिजन आज्ञा लेकर नगर में गोचरी के लिए गये। मुनि खेतसीजी, हेमराजजी और रायचंद्रजी साथ-साथ ही जा रहे थे कि मार्ग में यति जिनचंद्रसूरि का उपाश्रय आ गया। सूरिजी ने देखा कि तेरापंथी संत गोचरी के लिए जा रहे हैं तो उन्होंने एक ब्राह्मण को भेजकर उन्हें उपाश्रय में बुला लिया। तीनों संत वहां गये तो सूरिजी तख्त से नीचे उतरकर भूमि पर बैठे और सन्तों को पास में बिठाकर बोले—‘सुनिये, एक उदाहरण सुनाता हूँ।’

उन्होंने कहा—‘एक सेठ के मकान पर दो साधु गोचरी के लिये गये। ऊपर जाने की सीढ़ियों में बहुत अंधेरा था, अतः वह वहीं से वापस लौट पड़े। ऊपर से घरवालों ने आवाज दी—‘ऊपर पधारिये, ऊपर पधारिये’, परन्तु उन्होंने अंधेरे के कारण ऊपर जाना अकल्पनीय बतलाया और वहां नहीं गये। थोड़ी देर बाद दूसरे दो साधु आये। उन्होंने ऊपर जाकर आहार-पानी लिया। गृहस्थ ने पूछा—‘आपसे कुछ समय पूर्व ही दो साधु आये थे, परन्तु वे ऊपर नहीं आये। प्रार्थना करने पर बोले—‘सीढ़ियों में इतना अंधेरा है कि कुछ दिखाई नहीं देता, अतः ऊपर आना नहीं कल्पता।’ वे नहीं आये और आप आ गये—यह परस्पर कल्प का भेद कैसे है?’ उन साधुओं ने कहा—‘वे ढौंगी थे। अपने-आपको अधिक

1. श्रावक महेशजी कृत पूज्यगुणी, 514-6

‘मानै दीधा था पहिली उवां सीखाय, थे दीजो रे हाक मचाय।

झूठा रे झूठा तेरापंथिया जी॥

उवां तो होय चुकी उठै बात, घरे आय पिछतायो सारी रात।

यह लक्षण नहीं साधरा ए॥

जाणूं जती नै दीधी उवां लांच, जब किण विध बोलै ऊ सांच।

सूंस दराया सुध साधने ए॥’

आचारवान् सिद्ध करने के लिए समय-समय पर ऐसे ढोंग करते रहते हैं।’ ऐसा कहकर वे चले गये। थोड़ी देर बाद अन्य दो साधु वहां आये। आहार-पानी लेकर जब वे जाने लगे तब गृहस्थ ने पूछा—‘पहले दो साधु आये थे। वे सीढ़ियों में अंधेरा होने के कारण नीचे से ही वापस चले गये। दूसरी बार दो साधु आये, उन्होंने ऊपर आकर आहार-पानी लिया तथा पूछने पर पहले वालों को ढोंगी बतलाया। आपका इस विषय में क्या विचार है?’ उन साधुओं ने कहा—‘प्रथम बार आये, वे शुद्ध साधु थे। दूसरी बार आये, वे आचारहीन होने के साथ-साथ दंभी भी थे, अतः दुहरे मूर्ख थे। हम तो स्वयं को शिथिलाचारी मानते हैं, आचारवान् होने का दंभ नहीं करते। ऐसा कहकर वे भी चले गये।’

सूरजी ने तुलना करते हुए कहा—‘प्रथम साधुओं के समान तो आप लोग हैं, जो कल्पाकल्प का पूरा विवेक रखते हैं। दूसरे साधुओं के समान वे हैं, जो स्वयं दंभी हैं, पर शुद्ध साधुओं के प्रति द्वेषभाव रखते हैं। तीसरे साधुओं के समान हम हैं, जो अपनी दुर्बलताओं को जानते और स्वीकार करते हैं।’

एक क्षण रुककर उन्होंने कहा—‘मैंने यह उदाहरण इसलिए सुनाया है कि आप लोगों ने जिनसे शास्त्रार्थ किया है, वे दंभी हैं, अतः शास्त्रार्थ के योग्य नहीं हैं। मैं उनके क्रियाकलापों को बहुत अच्छी तरह से जानता हूं। शास्त्रार्थ जब तत्त्व-जिज्ञासा से होता है, तब उसमें कुछ निष्कर्ष निकलता है। हल्ला मचाकर तो कोई भी अपने मुंह ‘मियां मिट्ठू’ बन सकता है।’

वार्तालाप की समाप्ति पर मुनि खेतसीजी आदि तीनों संत गोचरी के लिए चले गये। वह कार्य संपन्न कर जब वे वापस स्थान पर लौटे तब सूरजी द्वारा कही गई सारी बातें उन्होंने आचार्य भारमलजी से निवेदित कीं।

जयपुर-प्रवास

किशनगढ़ से विहार कर आचार्य भारमलजी सं. 1869 का चतुर्मास करने के लिए जयपुर पधारे। वह चतुर्मास पद्मसिंहजी ढड्डा की हवेली में हुआ। लाला हरचंदलालजी तथा उनके पुत्र ताराचंदजी ने उस समय का पूरा-पूरा लाभ उठाया। उनके पूरे परिवार को सुदृढ़ धार्मिक संस्कार उसी चतुर्मास में प्राप्त हुए। धर्म-प्रसार में उस परिवार का बहुत महनीय योगदान रहा।

ब्रण हो जाने के कारण चतुर्मास के पश्चात् भी फाल्गुन मास तक आचार्यश्री को जयपुर में ही विराजना पड़ा। उपलब्धियों की दृष्टि से वहां का वह प्रवास अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा। अनेक नये परिवार श्रद्धालु बने तथा अनेक सुलभबोधि। दीक्षाओं की दृष्टि से भी वह समय बड़ा गौरवशाली रहा। जयाचार्य, उनके दो बड़े भाई सरूपचंदजी और भीमजी, माता कल्लूजी आदि की दीक्षाएं वहां संपन्न हुईं। आचार्यश्री के उस प्रवास के पश्चात् तेरापंथ के लिए जयपुर एक व्यवस्थित विहार-क्षेत्र बन गया। शीत-काल में साधु-साधियों के अनेक सिंघाड़े गुरु-दर्शन के लिए वहां एकत्रित हुए।

सवाई माधोपुर में

स्वस्थ हो जाने के पश्चात् आचार्यश्री ने जयपुर से विहार कर दिया। मार्गवर्ती क्षेत्रों में विराजते हुए उन्होंने सं. 1870 का चतुर्मास सवाई माधोपुर में किया। उस वर्ष चतुर्मास-काल में साध्वियों का भी एक सिंघाड़ वहां था।¹

चतुर्मास के पश्चात् पार्श्ववर्ती अनेक क्षेत्रों में विहार कर आचार्यश्री पुनः माधोपुर पधारे, तब वहां 21 साधु-साध्वियां एकत्रित हो गई।² वहां से पुनः जयपुर पधारे। वहां भी 21 साधु-साध्वियां एकत्रित हुईं। आचार्यश्री ने सब सिंघाड़ों को आगामी चतुर्मास के लिए क्षेत्र प्रदान किये और फिर स्वयं ने मारवाड़ की ओर विहार कर दिया।

1. शासन-विलास, 1123 की वार्तिका।

2. शासन-विलास, 1129 की वार्तिका।

महाराणा के दो पत्र

उदयपुर में पदार्पण

आचार्य भारमलजी वि. सं. 1876 (श्रावणादि 1875) के ग्रीष्मकाल में उदयपुर पधारे।¹ वहाँ लोगों की काफी प्रार्थना थी। उपकार की भी अच्छी संभावना थी। वहाँ के बाजार में दुकानों के ऊपर की 'मैड़ी' में विराजना हुआ। रात को नीचे बाजार में व्याख्यान होता और दिन में ऊपर धर्म-चर्चाएं चलतीं। लोग काफी संख्या में आने-जाने लगे। कुछ व्यक्ति समझने के उपरान्त सम्यक्त्वी भी बने।

बांस और बांसुरी

उदयपुर के लोगों में धीरे-धीरे आचार्य भारमलजी की ख्याति फैलने लगी। कोई उनके व्याख्यान की प्रशंसा करता तो कोई प्रश्नों के समाधानों की। स्नेहिल व्यवहार से लेकर आचार-निपुणता तक की प्रत्येक बात से उनके प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ता गया। उस स्थिति से कुछ विरोधी व्यक्तियों को शिर-शूल होने लगा। वे उसमें अपने अस्तित्व का खतरा देखने लगे। इसीलिए उनको यह अत्यावश्यक प्रतीत होने लगा कि यथाशीघ्र लोगों का वहाँ गमनागमन रोका जाए। टोकने से लेकर दबाव डालने तक की विधियां काम में ली जाने लगीं। इतने पर भी लोगों का वह प्रवाह रोका नहीं जा सका। सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि उनके प्रयास से कुछ लोग रुकते तब तक कुछ दूसरे जाने लग जाते। ऐसी स्थिति में उन लोगों ने एक दूसरा मार्ग खोज निकाला। उनके कई व्यक्ति राजकीय सेवाओं में लगे हुए थे तो कई महाराणा भी मसिंहजी तक पहुंच रखने वाले भी थे। विचार उभरा कि क्यों नहीं महाराणा की निकटता का लाभ उठाया जाए? यदि महाराणा के मन में तेरापंथ के प्रति धृणा बिठा दी जाए तो इन संतों को यहाँ से बड़ी सहजता से निकलवाया जा सकता है। फिर तो 'न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी'। तेरापंथी साधु ही उदयपुर में नहीं रहेंगे तो ये उनके पास जाने वाले भक्त स्वयं ही शांत होकर बैठ जाएंगे।

एक घड़्यंत्र

उस समय महाराणा के आस-पास रहने वाले कई व्यक्ति तेरापंथ के विरोधी थे। राज्य में भी उनका काफी वर्चस्व था। तेरापंथ के विरुद्ध किसी भी प्रकार का घड़्यंत्र

268 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ तृतीय परिच्छेद
करना उनके लिए बहुत सहज था। उन्होंने योजनाबद्ध तरीके से महाराणा के पास ऐसी बातें पहुंचानी प्रारंभ कीं जिनसे उनका मन तेरापंथ के विषय में भ्रान्तिपूर्ण हो जाये।

उन्हें बताया जाने लगा कि ये लोग (तेरापंथी साधु) जहां जाते हैं, वहां दुष्काल पड़ जाता है। ये वर्षा को पसंद नहीं करते, अतः उसे रोक देते हैं। दया के घोर विरोधी हैं। दान देने का भी निषेध करते हैं, आदि-आदि।

इस प्रकार की बातें तेरापंथ के प्रारंभकाल से ही उस पर मढ़ी जाती रही हैं। बार-बार के स्पष्टीकरण के बावजूद भी विद्वेषी-जन उन्हें फैलाने में बड़े तत्पर रहे हैं। अब भी ऐसी बातें फैलाई जाती हैं, परन्तु अब तो ये धिसकर भोथरा चुकी हैं, अतः अधिक असर नहीं करतीं। उस समय तो नई ही थीं, अतः तत्काल असर करती थीं। महाराणा पर भी उन बातों ने असर किया। विश्वासी और सदा पास में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा कही गई बात यों भी शीघ्र ही असर करती है, फिर वह तो अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक प्रकार से दुहरा-दुहरा कर कही गई थी। महाराणा ने जब उन बातों के आधार पर संतों के विषय में कुछ अन्यमनस्कता के भाव व्यक्त किये तो उन लोगों की बांछें खिल गईं। उन्होंने और अधिक कूटता से महाराणा के सामने रखा कि ऐसे व्यक्ति अपने शहर में रहने योग्य नहीं हैं। इन्हें जितना जल्दी यहां से निकाल दिया जाये, उतना ही अच्छा है।

उदयपुर से निष्कासन

महाराणा उन सबकी छद्मनीति के शिकार हो गये। लगता है कि उस समय के राजाओं में जहां राजनीतिक पटुता का अभाव हो रहा था वहां व्यावहारिक पटुता भी लुप्त हो गई थी। उन्होंने वस्तुस्थिति तक पहुंचने का अपनी ओर से कोई प्रयास नहीं किया। जैसा सुझाया गया वैसा ही करने को उद्यत हो गये। संभवतः महाराणा भीमसिंहजी की प्रकृति में यह अपनी एक दुर्बलता रही थी। एक अन्य समस्या को हल करने के लिए राजकुमारी कृष्णा को विष दे डालने वाली बात भी उनकी इसी प्रकृति की परिचायक कही जा सकती है। विरोधियों ने उनकी उस दुर्बलता का पूरा लाभ उठाया। उन लोगों ने संतों के प्रति घृणा तो उनके मन में पहले ही पैदा कर दी थी। अब उनके नगर-वास को भी अशुभ बतलाया जाने लगा तो सहज ही वह बात महाराणा के दिमाग में बैठ गई। उन्होंने एक 'हरकारे' को बुलाया और संतों के स्थान का अता-पता देकर उन्हें नगर में रहने की मनाही करने के लिए भेज दिया।

संत गोचरी लेकर आये ही थे कि हरकारा भी तेरापंथी संत भारमलजी का नाम पूछता हुआ वहां पहुंच गया। उसने राजाज्ञा सुनाते हुए कहा कि 'महाराज! आपको नगर में रहने की आज्ञा नहीं है।'

आचार्य भारमलजी ने उससे पूछा—'आहार-पानी लाया हुआ है, अतः भोजन करने के पश्चात् जाएं या पहले ही ?'

उसने कहा—'महाराणा ने एकदम अभी का अभी जाने का तो नहीं कहा है, अतः आप भोजन करने के पश्चात् भी जा सकते हैं।'

हरकारा चला गया। आचार्य भारमलजी भी आहार-पानी करने के पश्चात् अपने संतों के साथ वहां से विहार कर गये। विरोधी-जनों को उससे बड़े आत्मगौरव का अनुभव हुआ। पर वे उतने से ही शांत नहीं हो गये। वे उन्हें मेवाड़ से निकलवा देने की भी सोचने लगे और योजना बनाकर तदनुसार चेष्टाओं में संलग्न हो गये।

साहसिक निर्णय

उदयपुर से विहार करते हुए आचार्यश्री क्रमशः राजनगर पधार गये। उदयपुर से निकाले जाने तथा आगे के लिए मेवाड़ से भी निकलवा देने की योजना सम्बन्धी बातें मेवाड़-भर में फैल गईं। तेरापंथी श्रावकों में चिन्ता की लहर दौड़ गई। वे उस समस्या पर विचार करने के लिए राजनगर में एकत्रित हुए। सबने मिलकर यह निर्णय किया कि यदि आचार्य भारमलजी को मेवाड़ से चले जाने की आज्ञा आ जाए तो हम सबको भी उनके साथ मेवाड़ छोड़ देना चाहिए। श्रावकों का यह निर्णय बहुत ही साहसपूर्ण था। वस्तुतः वह उनके लिए एक कसौटी का समय था। उन्होंने दृढ़तापूर्वक उस परिस्थिति का सामना किया।

जो समाज उपस्थित हुए संकटों का सामना करने के लिए बलिदान देने का साहस नहीं रखता, वह अपने-आपको जीवित नहीं रख सकता। तेरापंथ के सम्मुख उन दिनों ऐसे संकट मंडराते ही रहा करते थे, परन्तु उनका सामना करने वालों का साहस और धैर्य भी अद्भुत ही था। संख्या में नगण्य होते हुए भी वे लोग कभी निराश नहीं हुए और इसीलिए वे कभी परास्त भी नहीं हुए।

महाराणा पर विपत्ति

उदयपुर का श्रावक-वर्ग उपर्युक्त घटना से काफी खिल्ल था। पर उस समय तक उसके पास कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो महाराणा तक पहुंचकर बातों का स्पष्टीकरण कर सके और उनके विचारों को नया मोड़ दे सके। सब किंरत्वविमूढ़ हो रहे थे।

उसी समय उदयपुर पर प्रकृति का प्रकोप हो गया। नगर में महामारी फैल गई। उससे सैकड़ों नागरिक काल-कवलित हो गये। कोटा में महाराणा के जामाता अचानक रुग्न होकर दिवंगत हो गये। महाराणा के मन पर उससे एक बहुत बड़ा आघात लगा। उससे संभल भी नहीं पाये थे कि महाराजकुमार रोग के अजगर की भयंकर गुंजलिका में फंस गये। एक के पश्चात् एक लगने वाले उन मानसिक आघातों के कारण महाराणा अत्यन्त निराश और चिन्ताग्रस्त रहने लगे।

केसरजी भंडारी का निश्चय

विद्रेषियों ने इस विषम स्थिति में भी तेरापंथ के विरुद्ध अपना प्रयास चालू रखा। उन्हें अपनी सफलता की पूरी-पूरी संभावना थी। पर उन सबकी आशाओं पर एक व्यक्ति ने अचानक ही तुषारापात कर दिया। वे थे केसरजी भंडारी। वे महाराणा के पूर्ण विश्वस्त व्यक्तियों में से थे। 'इयोढ़ी' (अंतःपुर) के कार्याधिकारी¹ होने के कारण उन्हें महाराणा

1. केसरजी ने विभिन्न समयों में कर-अधिकारी, 'इयोढ़ी' के कार्याधिकारी तथा सर्वोच्च न्यायाधीश का कार्य किया था। ऐसा उनके वंशजों के पास की इतिहास-सामग्री से ज्ञात होता है।

का सान्निध्य सहज प्राप्त था। वे कुछ ही वर्ष पूर्व श्रावक शोभजी के संपर्क से तेरापंथी बने थे। श्रद्धा-आचार सम्बन्धी स्वामीजी के मन्तव्यों को उन्होंने पूरी तरह से समझ लिया था। इतना होने पर भी वे तब तक एक गुप्त श्रावक ही थे। प्रकट में आना चाहते भी नहीं थे। क्योंकि तेरापंथी बनने वालों को कभी-कभी उस समय कठोर सामाजिक-बहिष्कार का सामना करना पड़ता था। वे उस बखेड़े से बचना चाहते थे।

जब आचार्य भारमलजी को उदयपुर से निकलवाया गया, तब भंडारीजी को वह बात खटकी तो बहुत, फिर भी ज्यों-त्यों मन मारकर चुप रह गये। पर जब मेवाड़ से भी निकलवा देने की योजनाएं उनके सामने आई तो वे एकदम से अपने-आप में संभल गये। उन्हें लगा कि अब गुप्त रहने में कोई लाभ नहीं है। प्रकट रूप में आने से चाहे कितनी भी कठिनाइयां क्यों न आयें, पर संघ की सेवा के लिए ऐसा करना ही होगा। उन्होंने निश्चय किया कि महाराणा से मिलकर उन्हें वस्तुस्थिति से अवगत किया जाये। विरोधियों ने जो गलत बातें कहकर उन्हें भ्रान्त कर दिया है, उसका निराकरण प्रत्यक्ष मिलकर ही किया जा सकता है।

यह क्या सूझा है?

भंडारीजी को महाराणा अपने घर के आदमी की ही तरह समझा करते थे। अन्तःपुर में भी उनका आना-जाना खुला था। वहां की सुरक्षा एवं व्यवस्था का पूरा दायित्व उन्हीं का था। महाराणा से मिलने का अवसर खोजने की आवश्यकता उन्हें अधिक नहीं पड़ी। एकान्त अवसर देखकर वे मिले और सारी स्थिति स्पष्ट करते हुए बोले—‘जो साधु चींटी को भी नहीं सताते, उनको सताकर आप क्या लाभ उठायेंगे? नगर से तो आपने उनको निकलवा ही दिया, पर मैंने सुना है कि मेवाड़ से भी निकालने का विचार किया जा रहा है। आपको यह क्या सूझा है? आपकी आज्ञा होगी तो वे देश छोड़कर भी चले जाएंगे, पर आप इस बात की गांठ बांध लें कि जिस राज्य में संतजनों को सताया जाता है, प्रकृति उसे कभी क्षमा नहीं करती। संतों को नगर से निकलवा देने के पश्चात् जो अप्रिय घटनाएं घटी हैं वे प्रकृति के रोष का ही परिणाम है। अब देश से निकाल कर उस विपत्ति को और बढ़ावा देना, मेरी समझ में तो अच्छा नहीं होगा।’

भ्रान्ति-निवारण

महाराणा ने जो भ्रान्तिपूर्ण बातें सुन रखी थीं उन्हीं के आधार पर कहा—‘केसर! तू शायद जानता नहीं। हमने जिनको निकलवाया है, वे अपने नगर में रहने योग्य थे ही नहीं। उनके यहां रहने से दुष्काल की सम्भावना थी। सुना है कि वे वर्षा को रोक देते हैं। दया और दान के भी वे विरोधी हैं। ऐसे संतों को यहां रहने देकर मैं सारी प्रजा को दुःखी कैसे होने देता?’

केसरजी ने महाराणा की भ्रान्ति का निराकरण करते हुए बतलाया कि विरोधी व्यक्ति द्वेष-बुद्धि से ही उन पर ये आरोप लगाते हैं, पर आप जैसे व्यक्तियों के लिए किसी के विरुद्ध कोई बात सुनकर यों विश्वास कर लेना उपयुक्त नहीं है। दुष्काल पड़ने तथा वर्षा को रोकने की बातें केवल भ्रान्तियां हैं। आप इन बातों के सत्य या असत्य

होने के विषय में खोज करते तो मेरा विश्वास है कि किसी दूसरे ही निष्कर्ष पर पहुंचते। दया और दान के विषय में भी तेरांथ की मान्यता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि वे आध्यात्मिक और लौकिक पक्ष को पृथक्-पृथक् समझने की बात कहते हैं। दया और दान के विरोधी नहीं, किन्तु उन्हें विभिन्न भूमिकाओं से समझना आवश्यक बतलाते हैं। उनकी मान्यता का तात्पर्य यह नहीं है कि दया और दान संसार से उठ जाने चाहिए, किन्तु यह है कि कहीं-कहीं दया और दान की जड़ में मोह भी काम करता है, अतः उस स्थिति में दया और दान का स्वरूप आध्यात्मिक न रहकर लौकिक हो जाता है। दोनों की अपने-अपने स्थानों में उपयोगिता है, पर एक-दूसरे के स्थान पर वे निरुपयोगी हो जाते हैं। संतों का कथन है कि उन दोनों के विषय में सम्यग् ज्ञान होना आवश्यक है।

इन बातों के साथ ही उन्होंने तेरांथ के उद्भव तथा उसके प्रति होने वाले विरोध आदि की बातें भी महाराणा के सामने रखीं और बतलाया कि इस विषय में अन्य व्यक्तियों ने आपको जो-कुछ बतलाया है वह एकपक्षीय है। आप राजा हैं, अतः आपको दूसरे पक्ष की बातें भी जान लेनी आवश्यक हैं, ताकि किसी के साथ अन्याय न हो।

रुख में परिवर्तन

महाराणा ने सारी बातें सुनीं और समझीं। सत्य जब तक सामने नहीं आता तभी तक भ्रान्तियों का जाल फैला रह सकता है। महाराणा ने सत्य को पहचाना तब उनके रुख में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था। पश्चात्ताप के स्वर में उन्होंने कहा—‘केसर! मुझे इन बातों की गहराई का पता नहीं था, अतः ऐसा हो गया। निश्चय ही यह ठीक नहीं हुआ, पर अब यह बतलाओ कि इसे सुधारा कैसे जा सकता है? क्या हम उन्हें वापस बुलाएं तो वे आ जाएंगे?’

भंडारीजी ने कहा—‘वे तो संन्यासी हैं। उनके आने या न आने का निश्चयपूर्वक तो क्या कहा जा सकता है। किन्तु मेरा विश्वास है कि आप निवेदन करेंगे तो वे अवश्य उस पर ध्यान देंगे।’

पत्र-प्रेषण

महाराणा ने तब अपने हाथ से एक पत्र लिखा और ‘हरकारे’ को बुलाकर भंडारीजी के कथनानुसार राजनगर की ओर भेज दिया। उसे अच्छी तरह से समझा दिया कि पत्र हाथोहाथ देकर ही वापस आये। विलंब न करने तथा गलत हाथों में न देने के लिए भी विशेष सावधान कर दिया गया। हरकारा उस समय की संचार-व्यवस्था के अनुसार शीघ्र से शीघ्र राजनगर पहुंचा। फिर भी पहाड़ी मार्गों को तय करके जाने में उसे कुछ समय तो लगा ही।

उधर राजनगर में काफी लोग एकत्रित हो चुके थे। आचार्य भारमलजी के साथ ही मेवाड़ को छोड़कर मारवाड़ में बस जाने की योजनाएं उभर रही थीं। उसी अवसर पर हरकारा वहां पहुंचा तो हर एक ने पूर्व वातावरण के अनुसार यही अनुमान लगाया कि महाराणा ने आचार्यश्री को मेवाड़ छोड़ देने का आदेश भेजा है।

हरकारा भंडारीजी द्वारा बताये गये व्यक्तियों का नाम पूछता हुआ उनमें से किसी एक को वह पत्र देने लगा तो उसने दूसरे का और फिर दूसरे ने तीसरे का नाम बताकर उसे चलता किया। सब कोई उत्तेजित और भरे हुए-से मालूम हो रहे थे, पर खुलता कोई नहीं था। किसी ने उस पत्र को छूआ तक नहीं। बेचारा हरकारा परेशान था कि वह अब उस पत्र का क्या करे और किसे दे?

हरकारे ने मुख्य व्यक्तियों से कहा—‘मेरा काम आप लोगों तक यह पत्र पहुंचा देने का था, अतः यह लीजिए और मुझे छुट्टी दीजिए। इसमें क्या है, क्या नहीं है और उस पर आपको क्या करना है, यह सब तो आपके-अपने सोचने के प्रश्न हैं। आप इस पर धैर्यपूर्वक सोच सकते हैं, पर मैं इस पत्र को लिए कब तक और किस-किस के पास फिरता रहूँगा?’

हरकारे की वह बात अवश्य ही ध्यान देने योग्य थी। सभी ने उस पर सोचा तो आखिर इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि अच्छा-बुरा जो कुछ भी आदेश होगा, उसे कम-से-कम पढ़ तो लेना ही चाहिए। यों टालते कब तक रहेंगे? अन्त में उन्होंने वह पत्र ले लिया और बड़ी असमंजसता की स्थिति में उसे खोला। पत्र को खोलने से पूर्व सभी के हृदय में एक प्रकार की अज्ञात आशंका थी और कुछ धुकर-पुकर-सी मच्ची हुई थी, परन्तु खोलने के पश्चात् जब उसे पढ़ना प्रारम्भ किया तो पाया कि समाचार प्रतिकूल नहीं, सर्वथा अनुकूल है।

प्रथम पत्र

पत्र को पढ़कर उपस्थित सभी लोग हर्षातिरेक में नाच उठे। कहां तो मेवाड़ छोड़ देने के आदेश की सम्भावना की जा रही थी और कहां उदयपुर पधारने के लिए निमंत्रण-युक्त विनय-पत्र प्राप्त हुआ। सभी लोग वहां से आचार्यश्री के पास आये और वह पत्र मालूम किया। इतनी देर में तो पत्र की बात वहां सर्वत्र फैल चुकी थी और लोग उत्सुकतावश ‘ठिकाणे’ में एकत्रित हो गये थे। सभी के समुख पढ़कर वह पत्र आचार्यश्री को सुनाया गया। वह इस प्रकार था :

श्री एकलिंगजी

श्री बाणनाथजी

श्री नाथजी

स्वस्ति श्री साध श्री भारमलजी तेरेपंथी साध थी राणा भीमसीध री
विनती मालम है। क्रपा करे अठे पदारोगा। की दुष्ट बे दुष्टपणो
कीदो जी सामुं न्ही देखेगा। मा सामु वा न(ग)र में प्रजा है जी री दया
कर जेज न्ही करेगा। वर्ती काहीं लखुं। और स्माचार स्हा स्वलाल
का लख्या जाणेगा। संवत् 1875 वर्षे असाड बीद 3 सुक्रे।

अर्थात्—

श्री एकलिंगजी, श्री बाणनाथजी, श्री नाथजी

स्वस्ति श्री तेरापंथी साधु श्री भारमलजी को राणा भीमसिंह की विनती मालूम हो।
कृपा करके यहां पधारें। उन दुष्टों ने जो दुष्टता की उनकी ओर न देखें। मेरी तथा नगर की

प्रजा की ओर देखकर दया करें और आने में विलम्ब न करें। अधिक क्या लिखूँ। अन्य समाचार शाह शिवलाल¹ के द्वारा लिखे पत्र से जानें। संवत् 1875² आषाढ़ कृष्णा 3 शुक्रवार।

महाराणा के उपर्युक्त पत्र को पढ़कर सारे संघ को बहुत बड़ा सन्तोष मिला। जो परिवार आचार्य भारमलजी के साथ ही मेवाड़ को छोड़ने तक के लिए उद्यत हो रहे थे, उनकी परिरूपिति का तो कहना ही क्या? यह कार्य कैसे हुआ और इसमें किसकी प्रेरणा थी, यह जानने के लिए लोगों में अत्यन्त उत्सुकता जागृत हुई, परन्तु उस समय किसी को कुछ विशेष ज्ञात नहीं हो सका।

कौन जाए

पत्र सुनने और उससे उद्भूत हर्षानुभूति की अभिव्यक्ति के पश्चात् कुछ प्रमुख व्यक्ति उठे और महाराणा की प्रार्थना पर आचार्यश्री की प्रतिक्रिया जाननी चाही। उन्होंने अपनी ओर से तथा जन-समुदाय की ओर से भी गुरुदेव को महाराणा की प्रार्थना पर ध्यान देने का अनुयं किया।

आचार्यश्री ने कहा—‘इस वृद्धावस्था में अब कौन वापस पहाड़ों को रौंदता हुआ वहां जाए?’

आचार्य भारमलजी वस्तुतः एक फक्कड़ साधु थे। अप्रसन्न तो वे किसी रंक को भी करना नहीं चाहते थे, परन्तु परवाह किसी महाराणा की भी नहीं करते थे। उन्होंने उस समय उदयपुर न जाने का जो निर्णय किया, वह इसी बात का एक उदाहरण कहा जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि फिर से वहां तक जाने में उनके लिए अवस्था की भी एक बाधा थी। लगभग बहतर वर्ष की अवस्था में पर्वतीय मार्गों में चलना अपेक्षाकृत कठिन होता ही है।

महाराणा को जब यह ज्ञात हुआ कि उनकी प्रार्थना स्वीकृत नहीं हुई, तो उन्हें बड़ी निराशा हुई। उन्होंने तब दूसरा पत्र लिखने का विचार किया। उक्त विषय में केसरजी भंडारी से परामर्श किया तो उनका सुझाव रहा कि अब तो चतुर्मास प्रारम्भ होने के दिन समीप आ गये हैं, अतः चाहने पर भी नहीं आ सकेंगे। इसलिए चतुर्मास समाप्त होने के पश्चात् पत्र देना उपयुक्त रहेगा। महाराणा ने तब वैसा ही करने का निश्चय किया।

-
1. ‘वीर विनोद’ (भाग 2 प्रकरण 15) तथा ‘उदयपुर राज्य का इतिहास’ (पृ. 718) के अनुसार सं. 1878 चैत्र शुक्ला द्वितीया (4 अप्रैल, 1821) को शिवलाल गलूँड़या को उदयपुर राज्य का प्रधानमंत्री बनाया गया था। संभवतः वे ही उपर्युक्त पत्र में उल्लिखित शाह शिवलाल थे। प्रधानमंत्री बनने से पूर्व संभवतः वे महाराणा के निजी सचिव के रूप में कार्य करते रहे थे। महाराणा के पत्र से पता लगता है कि उन्होंने महाराणा के आदेश से उपर्युक्त घटना से संबंधित कोई पत्र विस्तार से लिखकर भेजा था, पर आज न तो वह पत्र प्राप्त है और न उसमें लिखे समाचारों की कोई जानकारी।
 2. उस समय मेवाड़ राज्य में नये वर्ष का प्रारंभ श्रावण कृष्णा 1 से माना जाता था, अतः महाराणा के प्रथम पत्र में अंकित संवत् श्रावणादि क्रम से 1875 है। पंचांग के अनुसार उसे 1876 समझना चाहिए।

द्वितीय पत्र

आचार्य भारमलजी ने सं. 1876 का चतुर्मास पुर में किया। उसकी समाप्ति पर वे विहार करते हुए कांकरोली पधारे। वहां महाराणा का द्वितीय पत्र आया? वह इस प्रकार है :

श्री एकलिंगजी

श्री बाणनाथजी

श्री नाथजी

स्वस्ति श्री तेरापंथी साद श्री भारमलजी सुं महारी डंडोत बचै। अप्र आप अठे पदारसी जमा खात्र सुं। आगे ही रुको लख्यो हो सो अबे बेगा पदारेगा। संवत् 1876 वर्षे पोस बीद 11। वेगा आवेगा। श्रीजी रो राज हे सो सारां को सीर हे, जी थी सने काहि बी न्ही लावेगा।

अर्थात्—

श्री एकलिंगजी, श्री बाणनाथजी, श्री नाथजी

स्वस्ति श्री तेरापंथी साधु श्री भारमलजी से मेरी दण्डवत् मालूम हो। अपरंच आप निस्संकोच यहां पधारें। इससे पहले भी एक पत्र आपको लिखा था, अतः अब शीघ्र ही पधारें। संवत् 1876 पौष कृष्णा 11। शीघ्र आएं। श्रीजी का राज्य है, जिसमें सभी का साझा है। इसलिए किसी भी प्रकार का सन्देह न करें।¹

प्रार्थना स्वीकार

पत्र को पढ़ने के पश्चात् श्रावकजनों ने आचार्यश्री से प्रार्थना की कि महाराणा की इस दूसरी बार की प्रार्थना पर आपको अवश्य ध्यान देना चाहिए। सन्तों का भी ऐसा ही ध्यान था। परन्तु आचार्यश्री ने फरमाया—‘इस समय मेरा तो जाने का विचार है नहीं, यदि तुम लोग कहो तो मैं सन्तों को भेज सकता हूं।’

सबने कहा—‘आप न पधारें तो फिर सन्तों को भेजने की कृपा तो करें ही।’

आचार्यश्री ने तब उपयुक्त अवसर समझकर जनोपकार की भावना से महाराणा की प्रार्थना को स्वीकार किया और मुनि हेमराजजी, मुनि रायचंदजी और मुनि जीतमलजी आदि तेरह संतों को उदयपुर जाने के लिये आदेश दिया।²

-
- महाराणा के दोनों पत्रों में समय दिया हुआ है। प्रथम पत्र आषाढ़ बदी 3 का है तो द्वितीय पौष बदी 11 का। एक चतुर्मास से पूर्व राजनगर में पहुंचा था तो दूसरा चतुर्मास के पश्चात् कांकरोली में। मूल पत्रों से ही यह सिद्ध है कि पुर चतुर्मास में कोई पत्र नहीं आया। परन्तु भारीमाल-चरित्र, 514 से 7 के अनुसार पत्र पुर चतुर्मास में आया। वहां लिखा है :

‘छिहंते वर्ष पुर मझे, भारीमाल ऋषिराय।

आई हिंदूपति नी वीनती, करी घरी नरमाय॥’

उक्त पद्य का आशय यही संगत प्रतीत होता है कि आचार्यश्री ने पुर चतुर्मास किया तब महाराणा की प्रार्थना (पहले से ही) आई हुई थी।

- जय-सुजस, 10। 12

‘मेल्या ऋषिराय हेमजय प्रमुख ही, काँई तेरै संत श्रीकार।’

महाराणा का संत-समागम

मुनि हैमराजजी तेरह सन्तों से उदयपुर पहुंचे और बाजार की दुकानों पर ठहरे। आचार्य भारमलजी को निकाले जाने पर वहां के तेरापंथी भाइयों को जितना दुःख हुआ था, अब महाराणा द्वारा निमन्त्रित होकर उनके शिष्यों के पदार्पण पर उतना ही हर्ष हुआ। वहां की जनता बड़े उल्लास से संत-समागम का लाभ लेने लगी।

स्वयं महाराणा भी उस मासिक प्रवासकाल में ग्यारह बार¹ संतों के पास आये और दर्शन तथा सत्संग का लाभ लिया। जैन साधुओं के आचार-व्यवहार से परिचित होकर वे बहुत ही प्रभावित हुए।

महाराणा को जुलूस बनाकर बाजार से जाने-आने की बहुत रुचि रहा करती थी, अतः बहुधा शोभा-यात्राएं निकलती ही रहती थीं। मार्ग में जब संतों का स्थान आता, तब महाराणा हाथी को रुकवाकर नमस्कार करते और फिर आगे बढ़ा करते थे। एक बार भूल से हाथी आगे निकल गया, परन्तु ज्यों ही उन्हें स्मरण हुआ त्यों ही महावत से हाथी को वापस घुमाने के लिए आदेश दिया। वे वापस आये और संतों को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर गंतव्य की ओर बढ़ गये। उस घटना के पश्चात् जब संतों का स्थान आता, तब महावत संकेत कर दिया करता था। तेरापंथ के प्रति उनकी यह अभिरुचि उत्तरोत्तर बढ़ती ही रही।

और कोई होगी

महाराणा साधुओं के आचार-विचार को जानने की भी काफी उत्सुकता रखा करते थे। केसरजी भंडारी से उस विषय में पूछताछ करते ही रहते थे। कुछ ही दिनों में वे न केवल तेरापंथ की मान्यताओं को ही अच्छी तरह से समझने लग गये, अपितु जैन साधुओं के आचार को भी बहुत अच्छी प्रकार से जानने लग गये। कोई उस विषय में कुछ गलत कहता तो वे उसका प्रतिरोध भी किया करते थे।

एक बार उनके सामने धर्म-चर्चा चल रही थी। किसी ने कहा—‘महाराज! आप कहते हैं कि जैन साध्वी अकेली नहीं रहती, पर मैंने तो आज ग्राम से बाहर अकेली साध्वी को जाते अपनी आंखों से देखा है।’

महाराणा ने तत्काल प्रतिवाद करते हुए कहा—‘वह और कोई हो सकती है, पर तेरापंथी साध्वी तो हरगिज नहीं हो सकती।’ इस प्रकार पता लगता है कि वे आचार-सम्बन्धी कल्पाकल्प से बहुत अच्छी तरह परिचित हो गये थे। तेरापंथ के प्रति तो उनकी निष्ठा अत्यन्त दृढ़ हो गई थी।

व्याख्यान में पत्थर

जो व्यक्ति तेरापंथियों को मेवाड़ से ही निकलवा देना चाहते थे, उनके लिए महाराणा का तेरापंथ में इतनी रुचि रखना, उन्हें निमन्त्रित करना और फिर उन साधुओं का

1. प्र. प. सं., पत्र 28।

उदयपुर में फिर से आ जाना, ये सब कार्य अत्यन्त कष्टकर हो रहे थे। व्याख्यान-श्रवण के लिए काफी संख्या में जनता का आगमन तो और भी अधिक दुस्सह था। अनेक प्रकार के प्रयास करके भी वे जनता को रोक नहीं पा रहे थे। आखिर द्रेष-पोषण का उन्हें जब और कोई मार्ग नहीं मिला तो रात्रिकालीन व्याख्यान में बाधाएं उपस्थित करने लगे।

व्याख्यान नीचे बाजार में हुआ करता था, अतः जनता खुले स्थान में बैठा करती थी। द्वेषी-व्यक्तियों ने इधर-उधर से छिपकर पत्थर फेंकने प्रारम्भ किये। एक बार तो एक पत्थर हेमराजजी स्वामी के पास बैठे बाल साधु जीतमलजी महाराज (जयाचार्य) के कान के पास से होकर गुजरा। गृहस्थों द्वारा अनेक उपाय करने पर भी वह उपद्रव शान्त नहीं हो सका।

उन्हीं दिनों महाराणा ने भंडारीजी से पूछ लिया कि 'केसर! शहर में संतों को किसी प्रकार का कोई कष्ट तो नहीं है?'

भंडारीजी ने निवेदन किया-'नहीं, और तो किसी प्रकार का कष्ट नहीं है, पर एक बात अवश्य है कि संत रात को बाजार में व्याख्यान देते हैं, तब कुछ लोग इधर-उधर से पत्थर फेंकते हैं। हम लोग काफी सावधानी रखते हैं फिर भी फेंकने वाले चुपके से फेंक ही जाते हैं। किसी के चोट न लग जाए—यह डर बना ही रहता है।'

महाराणा ने यह बात सुनी तो बहुत खिन्न हुए। बोले—'इसका बन्दोबस्तु तो जल्दी-से-जल्दी करना होगा। मेरे निमंत्रण पर संत यहां पधारे और लोग उनको कष्ट दें, यह तो स्वयं मुझे कष्ट देने के समान है। उन्होंने उसी दिन से कुछ व्यक्तियों को गुप्त रूप से वहां नियुक्त कर दिया। रात को व्याख्यान में जब कुछ व्यक्ति पत्थर फेंक कर भागे, तो उन गुप्त व्यक्तियों ने उन्हें पकड़ने का प्रयास किया। अन्य तो सब भाग निकले, पर एक लड़का पकड़ा गया।

भगवान् का अपराधी

दूसरे दिन उस लड़के को महाराणा के सम्मुख उपस्थित किया गया। उन्होंने उसे बहुत झिङ्का और उसके अपराध की गुरुता बतलाते हुए मृत्यु-दण्ड का आदेश सुना दिया। वह आदेश ऐसा था कि सारे नगर में खलबली मच गई।

लड़के की माँ ने महाराणा से अपने इकलौते पुत्र को छोड़ देने की याचना की। पंचों ने भी दरबार में जाकर इस विषय में काफी दबाव डाला। महाराणा ने उन सबको उत्तर देते हुए कहा—'जोधपुर के महाराजा मानसिंहजी ने सत्ताईस आदमियों को मृत्यु-दण्ड दिया है, पर मैंने तो आज तक किसी को ऐसा दंड नहीं दिया। यह प्रथम ही अवसर है। किन्तु यह दंड भी मैं अपने लिए नहीं दे रहा हूं। यह सन्तों का अपराधी है, इसलिए भगवान् का अपराधी है। इससे छोटा दंड इसके लिए हो ही नहीं सकता।' पंच निराश होकर वापस आ गये। सारे शहर में इस बात की बड़ी चर्चा चली।

चिन्ता का निराकरण

मुनि हेमराजजी आदि संतों ने यह बात सुनी तो केसरजी से कहा—'भंडारीजी! यह क्या हो रहा है? हम संतों को कोई कष्ट देता है, गाली देता है या पीट भी देता है तो

हमारा कर्तव्य है कि हम उसे सहन करें। हमारे लिए किसी मनुष्य को मृत्युदण्ड दिया जाये, यह तो बिल्कुल ही उपयुक्त नहीं लगता।'

सन्तों की भावना समझकर भंडारीजी ने महाराणा के सामने बात चलाते हुए कहा—‘सन्त फरमा रहे थे कि हमारे लिए किसी भाई को मृत्युदण्ड दिया जाना उचित नहीं।’

महाराणा ने मुस्कराते हुए कहा—‘संत जो फरमा रहे हैं, वह उनके गौरव के अनुकूल ही है। हम भी किसी को मृत्युदण्ड देना नहीं चाहते। यह तो हमने उन लोगों के मन में भय पैदा करने के लिए किया है, ताकि भविष्य में कोई व्यक्ति साधुओं को कष्ट न दे। तुम संतों से निवेदन कर देना कि उनकी इच्छा तथा प्रतिष्ठा के विरुद्ध कोई काम नहीं किया जायेगा। इस ओर से वे सदा निश्चिंत रहें।’ भंडारीजी महाराणा की बात सुनकर आश्वस्त हुए और वहां से आकर संतों को महाराणा का आन्तरिक उद्देश्य बतलाया। संत काफी चिन्तित थे, पर भंडारीजी के समाचारों से पूर्णरूपेण निश्चिन्त हो गये।

एकलिंगजी की आण

दण्ड को कार्यान्वित किये जाने से पूर्व जनता महाराणा के विचारों को बदलने का प्रयास कर रही थी। बालक को क्षमा-दान दिये जाने के लिए उन पर दबाव डाला जा रहा था।

महाराणा ने आखिर बालक को अपने पास बुलाया और सबके समक्ष कहा—‘इसे मृत्युदण्ड ही दिया जाता, किन्तु सन्त इस बात से प्रसन्न नहीं हैं, अतः इस बार तो छोड़ता हूं, पर आगे कभी ऐसा काम करेगा तो एकलिंगजी की ‘आण’ (शपथ) लेकर कहता हूं कि फिर नहीं छोड़ूंगा।’

महाराणा की इस धमकी के पश्चात् द्वेषी व्यक्तियों का उपद्रव शान्त हो गया।

सफल प्रवास

उदयपुर की जनता में तेरापंथ के प्रति जिज्ञासा-वृत्ति तो पहले ही जागृत हो चुकी थी, पर उक्त घटना-क्रम ने उसे और उद्दीप्त कर दिया। उस प्रवास-काल में लोगों का आगमन बहुत अच्छा रहा। उपकार भी काफी हुआ। महाराणा-परिवार में संतों के प्रति जो भक्तिभाव उत्पन्न हुआ, उसका प्रभाव प्रायः अगली पीढ़ियों तक बना रहा। बीच-बीच में नया सम्पर्क होते रहने से वह फिर ताजा बनता गया।

सन्तों का लगभग एक महीने का वह उदयपुर-प्रवास तेरापंथ के लिए बहुत महत्वपूर्ण रहा। यद्यपि महाराणा की दो बार की प्रार्थना के पश्चात् भी आचार्य भारमलजी का उदयपुर में पुनः पदार्पण नहीं हो सका, परन्तु सन्तों के उस सफल प्रवास ने उसकी यत्किंचित् पूर्ति कर दी।

अन्तिम चरण

विहार-स्थगन

आचार्य भारमलजी की अवस्था काफी बुद्ध हो चुकी थी। विहार भी छोटे ही करने लगे थे। सम्बत् 1877 का चतुर्मास नाथद्वारा में किया। उसके पश्चात् अनेक छोटे क्षेत्रों का स्पर्श करते हुए कांकरोली पधारे। वहां एक महीना विराजे, फिर दर्शनार्थ आये हुए सन्त-सतियों के बड़े झुंड के साथ राजनगर पधारे। उस समय संघ में 38 साधु थे। वे सब वहां एकत्रित हो गये। सैकड़ों गृहस्थ भी दर्शनार्थ आये हुए थे। आचार्यश्री ने आगामी कार्य का दिशा-दर्शन देकर कुछ सिंघाड़ों को वहां से विहार करवा दिया। स्वयं भी विहार की तैयारी करने लगे, परन्तु तभी उदर-वेदना से शरीर अस्वस्थ हो गया।¹ फलस्वरूप कुछ समय के लिए विहार को स्थगित कर देना पड़ा। औषधोपचार करने से कुछ स्वस्थ हुए, तब वहां से विहार कर केलवा पधार गये। उस समय स्वयं सहित 22 सन्त साथ थे। होली चतुर्मासी वर्हीं पर की।

वृद्धावस्था में होने वाला हर रोग मिट जाने पर भी कुछ-न-कुछ अशक्ति छोड़ ही जाता है। शीघ्रता से उस कमी को पूरा कर पाना प्रायः सम्भव नहीं होता। आचार्य भारमलजी केलवा पधार तो गये, परन्तु विहार के परिश्रम से शरीर एकदम अशक्त हो गया। फलतः रोग ने शरीर को फिर घेर लिया। औषधोपचार किया गया, परन्तु कोई विशेष लाभ नहीं हो सका। आचार्यश्री केलवा से आगे मारवाड़ की ओर पधार जाना चाहते थे, पर विहार कर पाना सम्भव नहीं रहा, तब उस विचार को स्थगित कर दिया। आचार्यश्री बहुत स्पष्टता से अनुभव करने लगे कि जीवन अब अपने अन्तिम चरण में प्रविष्ट हो रहा है।

युवाचार्य की नियुक्ति

अवस्था के ढलाव और शरीर की क्रमिक क्षीणता को देखकर आचार्य भारमलजी ने धर्मसंघ की भावी व्यवस्था कर देने का विचार किया। तेरापंथ में आचार्य के अनेक दायित्वों में यह सबसे अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण दायित्व माना जाता है कि वे उपयुक्त समय पर अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति कर दें। आचार्यश्री को अनुभव हुआ कि अब वह समय

1. ऋषिराय सुजस, 7।।।

आ चुका है। विलंब करने में खतरा हो सकता है। अपने युग के अनेक प्रभावशाली और योग्य मुनियों में से उन्होंने युवक मुनि रायचंदजी का नाम चुना। उसी समय नियुक्ति-पत्र लिखा गया और उसमें सबके हस्ताक्षर करवाये गये। जनसमुदाय के बीच अपनी चादर उढ़ाकर मुनि रायचंदजी को विधिवत् युवाचार्य घोषित कर दिया गया।¹ वह कार्य केलवा में सं. 1877 (चैत्रादि 1878) वैशाख कृष्णा 9 गुरुवार को सम्पन्न हुआ।²

तपस्या में अभिरुचि

‘कंखे गुणे जाव सरीरभेडः’³—साधु अन्तिम सांस तक गुणवृद्धि की आकांक्षा करता रहे। आचार्य भारमलजी इस आगम-शिक्षा के एक मूर्त उदाहरण थे। उन्होंने अपने शरीर की शक्ति को घटते हुए देखा तो सोचा कि अब मेरे लिए जनपद विहार के द्वारा लोगों में धर्म-प्रसार कर पाना सम्भव नहीं है। क्षीण हुई शारीरिक क्षमता को पुनः प्राप्त कर लेना कठिन था, अतः उन्होंने शरीर से तत्काल दूसरा काम लेने की तैयारी कर ली।

उन्होंने सन्तों को बुलाकर कहा—‘शरीर नश्वर है, अतः उसके विनाश में तो किसी को आश्चर्य हो ही नहीं सकता। परन्तु मैं चाहता हूँ कि उसके विनाश से पहले उससे कुछ सार और खींच लूँ। धर्म-प्रसार का कार्य मैंने किया है, पर अब शरीर उसके उपयुक्त नहीं रह गया है, अतः मेरी अभिरुचि संलेखना-तप प्रारम्भ करने की हो रही है।’ सन्तों ने औषधि-प्रयोग के लिए प्रार्थना की, पर उन्होंने अपने विचारानुसार तपस्या की औषधि को ही प्रमुखता देने का विचार दुहराया।

संलेखना-तप प्रारम्भ करते हुए उन्होंने पहले-पहल वैशाख कृष्णा अष्टमी से चौविहार तेला किया। उसके पश्चात् तो तपस्या का एक सिलसिला ही चालू हो गया। उपवास, बेले, तेले और चोले तक की तपस्या अनेक बार दुहराई गई। पारण के दिन भी वे ऊनोदरता के लिए अति अल्पमात्रा में ही भोजन लिया करते थे। तपस्या के उस क्रम में कम-से-कम उपवास से लेकर अधिक-से-अधिक उन्होंने दस दिनों का उपवास किया, जो कि आषाढ़ पूर्णिमा के दिन पूर्ण हुआ। उसके पश्चात् श्रावण महीने में एकांतर उपवास चालू किये। बीच-बीच में बेला आदि की तपस्या भी होती रही।

इस प्रकार उन्होंने बड़ी शूरवीरता के साथ तपस्या के द्वारा अपने शरीर को काफी क्षीण कर लिया। ‘आत्मान्यः पुद्गलश्चान्यः’—‘आत्मा और पुद्गलमय शरीर—ये दोनों एक नहीं हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न हैं’—यह भावना उनकी तपस्या में व्याप्त थी। पूर्ण मानसिक समाधि के साथ वे अपने निर्णीत मार्ग पर चलते रहे।

1. युवाचार्य पद की नियुक्ति विषयक विस्तृत वर्णन चतुर्थ परिच्छेद ‘आचार्यश्री रायचंदजी’ के अध्याय 3 ‘उत्तराधिकार-प्राप्ति’ में देखें।
2. शासन प्रभाकर, 6116 में युवाचार्य पद देने का सम्बत् 1876 लिखा है :
‘सुवनीतांसिर सेहा, संत सती प्रतिपाल।
जाणी युवपद आपियो, अठारै छियंतरै भारीमाल॥’
मूल नियुक्ति-पत्र में सम्बत् 1877 लिखा है, तब उक्त कथन स्वयं ही अप्रमाणित हो जाता है।
3. उत्तराध्ययन, 413।

दर्शनार्थियों का आगमन

केलवा में आचार्य भारमलजी का लगभग नौ महीने तक लगातार विराजना हुआ। सं. 1877 की फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी को वे पधारे थे और सं. 1878 के मार्गशीर्ष की पूर्णिमा तक विराजे। उस वर्ष का चतुर्मास अयाचित वरदान के रूप में केलवा को मिला। वह उनका अंतिम चतुर्मास था। वहां उनके साथ 8 संत और थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—1. मुनि खेतसीजी, 2. मुनि रायचंदजी, 3. मुनि जीवोजी, 4. मुनि रामचन्दजी, 5. मुनि विरधोजी (वर्धमानजी), 6. मुनि हीरजी, 7. मुनि शिवजी, 8. मुनि जीवोजी (छोटे)।

स्थानीय जनता के लिए चतुर्मास की प्राप्ति जहां परम प्रसन्नता की बात थी, वहां आचार्यश्री के शरीर की अस्वस्थता चिंता का विषय भी बनी हुई थी। तपस्या प्रारम्भ कर देने पर उनके स्वास्थ्य में थोड़ा सुधार अवश्य हुआ, पर वह अस्थायी ही था। बीच-बीच में गड़बड़ बढ़ जाती थी। शारीरिक अस्वस्थता तथा तपस्या के समाचार जब जनता में दूर-दूर तक पहुंचे तो मेवाड़ तथा मारवाड़ से सहस्रों लोग दर्शन के लिए आने लगे।

उस समय मारवाड़ या मेवाड़ में यात्रा के साधन बहुत ही अपर्याप्त थे। रेल आदि का तो विकास ही बाद में हुआ था, पर वहां तो सड़कों आदि की भी सुविधा नहीं थी। सारा गमनागमन बैलगाड़ियों और घोड़ों पर ही अवलम्बित था। मारवाड़ से मेवाड़ में आते समय केवल घोड़ों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। अरावली पर्वत-श्रेणी में से होकर बैलगाड़ी जा नहीं सकती थी। इन सब दुविधाओं के बावजूद भी गुरुदर्शन के अभिलाषी धर्म-प्रेमी व्यक्ति वहां पहुंचे और आचार्यश्री के दर्शन कर कृत-कृत्य हो गये। उन आगन्तुक भक्त-जनों के लिए वे अन्तिम गुरु-दर्शन कहे जा सकते हैं।

चतुर्मास समाप्त होने पर संत-सतियों का भी आगमन प्रारम्भ हो गया। बहुत शीघ्र ही वे वहां काफी संख्या में उपस्थित हो गये। वस्तुतः गुरु-दर्शन की अभिलाषा साधु-साध्वियों के पैरों में एक त्वरता भर देती है। उनकी उस समय की गति अन्य अवस्था की गति से स्वभावतः मिन्ह हो जाती है। गुरु-दर्शन की उत्कट अभिलाषा लिए जब वे गुरु के चरणों में उपस्थित होते हैं तो उनका मार्ग-श्रम एक साथ ही समाप्त हो जाता है। उस समय की उनकी मानसिक तृप्ति उनके शरीर को भी तृप्त कर देती है। यह एक ऐसी आन्तरिक खुराक है जो पिपासित व्यक्ति को शीतल वायु के झोंके की तरह तृप्त कर जाती है पर वह तृप्ति किधर से आती है इसका कोई पता नहीं लग पाता।

अन्तिम शिक्षा

चतुर्विध संघ की काफी बड़ी मात्रा में उपस्थिति थी। आचार्य भारमलजी ने उस अवसर का उपयोग संघ के लिए सम्बल-स्वरूप अन्तिम शिक्षा देने में किया। उनकी शिक्षा का संक्षेप में सार यह था—‘सब साधु-साध्वियां आचार-विचार में सावधान रहना, भिक्षु-शासन में दृढ़ निष्ठा रखना तथा स्वामीजी की सर्व मर्यादाओं का अखंड-रूप से पालन करते रहना आदि।’

आत्महित और संघहित को दृष्टि में रखते हुए आचार्यश्री ने अस्वस्थ अवस्था में भी उस दिन लगभग एक प्रहर तक लगातार विराज कर सबको आश्चर्यचकित कर दिया।

संघ-व्यवस्था के अपने उत्तरदायित्व में उनकी पूर्ण-जागरूकता का यह एक ज्वलंत उदाहरण कहा जा सकता है। इस जागरूकता के साथ ही आत्म-जागरूकता भी उनमें परिपूर्ण रूप से थी। आत्म-भावों की तीव्रतम् सरलता के साथ उस अवसर पर उन्होंने आत्मालोचन किया। अपने समस्त जीवन का सिंहावलोकन करते हुए उन्होंने ज्ञात तथा अज्ञात रूप से किसी भी व्यक्ति के साथ हुए कटु-व्यवहार के लिए क्षमा याचना की।

फिर राजनगर में

राजनगर बड़ा नगर था, अतः केलवा की अपेक्षा औषध आदि का योग वहां अधिक ठीक बैठ सकता था। इसलिए जनता ने वहां पधार कर उपचार कराने की प्रार्थना की। आचार्यश्री ने उस बात को मान लिया और विहार करके राजनगर पधार गये। वहां औषधोपचार प्रारम्भ किया गया। धीरे-धीरे शरीर में साता होने लगी। अन्न की रुचि भी बढ़ी। शक्ति भी ठीक रहने लगी। सबको लगा कि अब रोग पर विजय पा ली गई है। किन्तु तभी एक दिन अचानक ही उनको कालज्वर ने घेर लिया। फलस्वरूप बोलना बन्द हो गया और वे मूर्छित-प्राय हो गये।

श्रावकों ने आचार्यश्री की शारीरिक स्थिति की गिरावट को देखकर तत्काल पाश्वर्वर्ती गांवों के श्रावकों को सूचना भेज दी, जिससे वे गुरुदेव के अन्तिम दर्शन कर सकें।

सागारिक अनशन

माघ कृष्णा सप्तमी का वह दिन था। लगभग प्रहर रात्रि व्यतीत हो चुकी थी। संतों ने जब देखा कि अब अधिक अवसर हाथ में नहीं है तो उन्होंने औषधि और पानी का आगार रखाकर आचार्यश्री को यावज्जीवन के लिए सागारिक अनशन करा देने के विषय में सोचा। अंतर में सावधानी हो और वे सिर हिला कर स्वीकृति दे सकें—इस आशा से संतों ने उनको पूछा। उन्होंने तत्काल स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया। इस प्रकार अंतरंग की पूर्ण सावधान अवस्था में उन्हें सागारिक अनशन करवा दिया गया। दूसरे दिन प्रातः स्थिति में कुछ सुधार हुआ। उन्होंने बोलकर सूंठ और पानी लिया। अन्न की रुचि के विषय में पूछने पर उन्होंने पूर्ण सावधानी का परिचय देते हुए कहा—‘यावज्जीवन के लिए सागारिक अनशन किया हुआ है।’

महाप्रयाण

मध्याह्नोत्तर-काल में आचार्य भारमलजी विराजे हुए थे। चारों ही तीर्थ सेवा में बैठे थे। उस समय मालव देश से विहार करके साध्वी अजबूजी वहां पहुंची। वे जयाचार्य की संसारपक्षीया बुआ थीं। उज्जयिनी में चतुर्मास करके आई थीं। अपनी साध्वियों के साथ उन्होंने आचार्यश्री के दर्शन किये। मालव में किये गये धर्म-प्रसार की बातें सुनाकर वे वहां से लाया हुआ कपड़ा दिखाने लगीं। तत्पश्चात् उन्होंने कागज के पाठे भी खोलकर दिखाये। कागज काफी अच्छे थे। आगम-लेखन के कार्य में आने योग्य थे। आचार्यश्री उन्हें देख रहे थे कि बीच में ही उन्हें फिर से मूर्छा आ गई। पास में बैठे वैरागी भगजी ने उनको निढाल होते देखा तो एकदम बोल उठे—‘स्वामीजी तो जा रहे हैं, शीघ्रता से अनशन करा दीजिए।’

युवाचार्य रायचंदजी तथा मुनि खेतसीजी ने अवसर देखकर उन्हें चौविहार अनशन कराते हुए कहा—‘यदि आप स्वीकारते हों तो आपको यावज्जीवन के लिए चारों आहारों का प्रत्याख्यान है।’ परन्तु मूर्च्छा के कारण कोई पता नहीं लग सका कि उन्होंने उस बात को स्वीकृत किया या नहीं। युवाचार्य प्रभृति सभी संत पास में बैठे शरण दिलाते रहे, सेवा करते रहे। प्रायः तीन प्रहर तक मूर्च्छित रहने के पश्चात् मध्यरात्रि के समय उनका शरीरांत हो गया। उनके महाप्रयाण का वह दिन सम्पत् 1878 माघ कृष्णा अष्टमी मंगलवार का था। उन्हें लगभग छह प्रहर का सागार तथा तीन प्रहर का चौविहार अनशन आया।

दो वैकुंठियाँ

राजनगर के श्रावकों ने कालज्वर चढ़ने के साथ ही यह समझ लिया था कि अब आचार्यश्री का शरीर टिक पाना कठिन है। उन्होंने उसी समय अगली तैयारी प्रारंभ कर दी थी। उनकी भावना थी कि स्वामीजी के समान ही इस बार भी अनेक गुमटियों वाली वैकुंठी बनवाई जाए। सबका चिन्तन रहा कि यह कार्य सिरियारी में ही करवाया जाये। वहां अच्छा सामान और अनुभवी कारीगर मिल जायेंगे। तत्काल सारे समाचारों के साथ एक व्यक्ति को सिरियारी भेज दिया गया। उनका अनुमान था कि समाचार पहुंचते ही कार्य प्रारंभ कर देने से रातभर में वह पूर्ण हो जाएगा और दूसरे दिन वैकुंठी यहां पहुंच जायेगी।

सिरियारीवालों ने यथाशीघ्र कार्य प्रारम्भ करवा दिया। इकतालीस गुमटियों की वैकुंठी बनवाई। उसे लेकर वे राजनगर पहुंच पायें उससे पूर्व ही अर्धरात्रि को आचार्यश्री भारमलजी दिवंगत हो गए। राजनगर का श्रावक-वर्ग बड़ी असमंजसता में पड़ गया। सिरियारी से आने वाली वैकुंठी की प्रतीक्षा में बैठे रहना तो एक खतरा मोल लेना था। ग्रामान्तर से आने वाली वस्तु यथासमय पहुंच जाए—इसका क्या विश्वास? उन्होंने तब स्थानीय कारीगरों को बुलाया और रातभर के परिश्रम से दूसरी वैकुंठी तैयार करवा ली। संयोग ही समझना चाहिए कि इसकी पूर्ति के साथ ही सिरियारी वाली वैकुंठी भी वहां पहुंच गई। स्थानीय श्रावक-वर्ग के सामने तब एक दूसरी समस्या खड़ी हो गई कि अब वह किसे छोड़े और किसे काम में ले? एक वैकुंठी अपनी देख-रेख में बनी थी, अतः मानसिक स्तर पर प्रिय थी, तो दूसरी अपनी साज-सज्जा से नयनाभिराम होने के साथ-साथ निवेदन करके बनवाई गई थी। वे न अपने श्रम की अवमानना करना चाहते थे और न अपने निवेदन पर किये गए दूसरों के श्रम की ही। फलतः समन्वयकारी निर्णय लिया गया कि मेवाड़ वाली वैकुंठी में आचार्यश्री के शरीर को विराजमान किया जाए और उसके ऊपर मारवाड़ वाली वैकुंठी का इकतालीस गुमटियों वाला भाग चढ़ा दिया जाए। बस निर्णय की देर थी, कारीगरों ने यथावश्यक परिवर्तन के साथ अत्यन्त त्वरता से वह कार्य सम्पन्न कर दिया।¹ दो खण्ड वाली वैकुंठी को देखकर लोग उसे देवविमान से उपमित करने लगे।

1. भारीमाल चरित्र 1019

‘हेठे मंडी मेवाड़ नी, ऊपर खंड इगताली ए, रूपाली ए रीत करी मुरधर तणी’।

दरवाजे की बाधा

भक्ति-प्रवण मेवाड़ी लोगों का उत्साह समुद्र की तरह हिलोरे मार रहा था। वे अपने आराध्य के चरमोत्सव को अद्वितीय बनाने में लगे हुए थे। सुर्गाधित जल से शरीर का प्रक्षालन कर उसे नाना प्रकार से सजाया गया। जरी की मुखवस्त्रिका बांधी गई। सिर पर जड़ाऊ टोपी पहनाई गई। उस पर किलंगी लगाई गई। और भी न जाने क्या-क्या किया गया। युग-युग के अपने मानदण्ड होते हैं। एक जैनाचार्य के शरीर का यह बनाव-श्रृंगार भी उस युग को मान्य था।

आचार्यश्री भारमलजी के दिवंगत होने की बात रातभर में दूर-दूर तक पहुंच चुकी थी। माघ कृष्णा 9 के प्रभातकाल तक सैकड़ों गांवों से सहस्रों लोग वहाँ एकत्रित हो गए। शरीर को वैकुंठी में रखा गया तब तक जनता का समुद्र लहराने लगा था। बाजे-गाजे के साथ शोभायात्रा बाजार से होती हुई आगे बढ़ी। जब वह नगर के दरवाजे पर पहुंची तो वहाँ एक समस्या खड़ी हो गई। वैकुंठी दरवाजे से निकल नहीं पाई। दरवाजे के ऊपरी भाग की चौड़ाई जहाँ क्रमशः संकुचित होने लगती है वहीं जाकर वैकुंठी की चौड़ाई अटक गई। किसी ने कहा—‘वैकुंठी का ऊपर वाला भाग उतार दिया जाए’ परन्तु वह बात किसी को मान्य नहीं हुई। पीछे से अनेक लोगों की सम्मिलित आवाज आई कि इस जर्जर दरवाजे को ऊपर से तोड़ दिया जाए। अग्रणी लोग चिन्ताकुल हुए। दरवाजा तोड़कर महाराणा का कोप-भाजन बनना उन्हें किसी भी प्रकार उचित नहीं लग रहा था, परन्तु उस समय की आवश्यकता को भी गौण नहीं किया जा सकता था। आखिर पुनः यथावत् बना देने के निर्णय पर उसे ऊपर से तोड़ दिया गया और तब जुलूस आगे बढ़ा।

चमत्कारी चादर

दाह-संस्कार धोइंदा के नाले के किनारे चंदन की लकड़ी से किया गया। कहा जाता है कि आचार्यश्री के शरीर पर धारण करवाई गई ‘पछेवड़ी’ (चादर) जली नहीं। लोग उस चमत्कारी चादर पर टूट पड़े। जिसके हाथ में जितना अंश आया, वह उतना ही वरदान समझकर ले गया। आज भी उस चादर का एक झुलसा हुआ-सा अढ़ाई इंच का खण्ड लाडनूं-स्थित तेरापंथ के ऐतिहासिक संग्रह में विद्यमान है।

फूटा दरवाजा

दाह-संस्कार आदि कार्यों से निवृत्त होकर कुछ प्रमुख श्रावक एकत्रित हुए। तोड़े गये दरवाजे को वापस बनाने सम्बन्धी विर्मषण किया गया। उस समय एक निर्णय यह किया गया कि महाराणा तक शिकायत पहुंचाकर कोई उन्हें हमारे विरुद्ध भ्रांत करे उससे पूर्व ही स्वयं हमें दरवाजा फोड़ने तथा उसके पुनः निर्माण की बात वहाँ तक पहुंचा देनी चाहिए। यह कार्य केसरजी भंडारी को सौंपा गया। वे उक्त अवसर पर वहाँ आये हुए थे। भण्डारीजी महाराणा से मिले और आचार्य भारमलजी के दिवंगत होने के समाचार उन्हें दिये। दरवाजे के विषय में पूरी स्थिति निवेदित करके उन्होंने कहा—‘आज्ञा लिये बिना किये गये उस कार्य की समाज ने क्षमा-याचना की है और उसके पुनर्निर्माण की आज्ञा मांगी है।’

महाराणा ने आचार्यश्री के दिवंगत होने का दुःख व्यक्त करते हुए कहा—‘केसर! वे तो तुम्हारे ही नहीं, हमारे भी गुरु थे। उनके लिए जो किया गया, उसकी क्षमा मांगने की कोई आवश्यकता नहीं है।’ एक क्षण रुक्कर उन्होंने कहा—‘उनकी स्मृति में अब उस दरवाजे को वैसा ही रहने दो।’

दरवाजा वापस नहीं बनाया गया। लोग उसे ‘फूटा दरवाजा’ नाम से पहचानने लगे। आज उसका कोई अवशेष विद्यमान नहीं रह पाया है।

महाराणा का आग्रह

महाराणा भीमसिंहजी आचार्य भारमलजी के प्रति बड़ी भक्ति रखने लगे थे। उनके दिवंगत होने के समाचार से उन्हें एक आघात लगा। उन्होंने कहा—‘केसर! गुरुजी के चलावे में हुआ सारा व्यय राजकोष से लगना चाहिए।’

केसरजी ने कहा—‘हम सब आपके ही हैं, अतः हमने जो किया है वह सब आपकी ओर से ही है।’

महाराणा ने उनके कथन को नहीं माना और आग्रह करते हुए पुनः कहा—‘नहीं केसर! यह व्यय तो मेरे यहाँ से लगना चाहिए।’

महाराणा के आग्रह को देखकर केसरजी बड़ी असमंजसता में फंस गये। उनके लिए महाराणा की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी कह पाना तथा कर पाना सम्भव नहीं था। उधर अपना एवं अपने समाज का प्रश्न था। वे उसे भी इस कार्य से वंचित कैसे रख सकते थे? वे जानते थे कि समाज किसी भी स्थिति में इस बात को मान्य करना नहीं चाहेगा। उन्होंने तब एक बार पुनः महाराणा को अपनी तथा अपने समाज की भावना से अवगत कराने का प्रयास किया। उन्होंने कहा—‘आप जिस प्रकार आचार्य भारमलजी के प्रति श्रद्धा रखते हैं उसी प्रकार जनता भी रखती है। वे सब के ही गुरु थे। इस अवसर पर यदि अकेले आप ही व्यय का भार बहन करेंगे तो जनता की भावना को तृप्ति कैसे मिलेगी? इस विषय में आपको मेरी प्रार्थना स्वीकार करनी होगी और जनता को भी अवसर देना होगा।’

आखिर महाराणा ने भण्डारीजी की बात को मान लिया। उन्होंने कहा—‘इस व्यय में, ‘सिरेनाम’ मेरा रहना चाहिए। शेष में तुम लोग जैसे चाहो वैसे परस्पर विभक्त कर सकते हो।’ इस प्रकार आचार्य भारमलजी के देह का संस्कार महाराणा और जनता के सम्मिलित व्यय से सम्पन्न हुआ। चलावे में उस समय ग्यारह सौ रुपयों का व्यय हुआ था।¹

1. भारीमाल चरित्र, 10। दोहा 4

‘इगताली खंडी मंडी करी, जाणक देव विमाण।

इग्यारेसौ रे आसरे, रोकड़ लागा जाण॥’

ज्ञातव्य विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

1. जन्म	सं. 1804
2. द्रव्य-दीक्षा	सं. 1813 मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा
3. भाव-दीक्षा	सं. 1817 आषाढ़ पूर्णिमा
4. युवाचार्य-पद	सं. 1832 मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी
5. आचार्य-पद	सं. 1860 भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी
6. स्वर्गवास	सं. 1878 माघ कृष्णा अष्टमी

महत्त्वपूर्ण स्थान

1. जन्म-स्थान	बड़ा मूहा
2. द्रव्य-दीक्षा स्थान	बागोर
3. भाव-दीक्षा स्थान	केलवा
4. युवाचार्य-पद स्थान	बीठोड़ा
5. आचार्य-पद स्थान	सिरियारी
6. स्वर्गवास स्थान	राजनगर

आयुष्य विवरण

1. गृहस्थ	10 वर्ष
2. द्रव्य-दीक्षा	4 वर्ष
3. साधारण-साधु	15 वर्ष
4. युवाचार्य	28 वर्ष
5. आचार्य	18 वर्ष
6. सर्व आयु	75 वर्ष

विहार क्षेत्र

आचार्य भारमलजी के विहार-क्षेत्र स्वामीजी की तरह राजस्थान के तत्कालीन राज्य—मेवाड़, मारवाड़, ढूँढाड़ और हाड़ोती ही थे।

चतुर्मास

आचार्य भारमलजी ने तीन चतुर्मास द्रव्य-दीक्षा के समय स्वामीजी के साथ क्रमशः सादड़ी, राजनगर और जोधपुर में किये। चौवालीस चतुर्मास तेरापंथ के आचार्य बनने से

286 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ तृतीय परिच्छेद
पहले किये। उनमें से केवल एक-संवत् 1824 का चतुर्मास स्वामीजी से पृथक् बगड़ी में
किया। शेष सब स्वामीजी के साथ ही किये। आचार्य-अवस्था में अठारह चतुर्मास किये।
उनका विवरण इस प्रकार है :

स्थान	चतुर्मास-संख्या	संवत्
पिसांगण	1	1861
पाली	3	1862, 68, 73
खैरवा	1	1863
केलवा	2	1864, 78
नाथद्वारा	3	1865, 74, 77
आमेट	1	1866
बालोतरा	1	1867
जयपुर	1	1869
माधोपुर	1	1870
बोरावड़	1	1871
सिरियारी	1	1872
कांकरोली	1	1875
पुर	1	1876

शिष्य-संपदा

आचार्य भारमलजी पदासीन हुए उस समय धर्मसंघ में भिक्षु-युग के 21 साधु और 27 साधियां विद्यमान थीं।

आचार्य भारमलजी के शासन-काल में 82 दीक्षाएं हुईं। उनमें 38 साधु और 44 साधियां थीं।

उनके युग में 16 साधु (भि. 13+भा. 3=16) और 26 साधियां (भि. 17 + भा. 9 = 26) दिवंगत तथा 8 साधु (भि. 2+भा. 6=8) और 3 साधियां (भा. युग की) बहिर्गत हो गईं।

आचार्य भारमलजी दिवंगत हुए उस समय धर्मसंघ में 35 साधु (भि. 6+भा. 29=35) और 42 साधियाँ¹ (भि. 10 + भा. 32 = 42) विद्यमान थीं।

1. मुनि हेम ने 'भारीमाल चरित्र', 13।11 में 41 साधियों की विद्यमानता बतलाई है। वे कहते हैं :

'साध पैती इगताली साधव्यां, मेली सामीजी सुधगति में आप सिधाय।'

जयाचार्य भी 'आर्या दर्शन' 1। दो. 5 में इसी संख्या का उल्लेख करते हैं :

'वर' पैतीस मुनीसरू, समणी इकतालीस।

मेली परभव पांग्र्या, भारीमाल जगीस॥'

परन्तु जयकृत 'संतगुण माला' ढा. 3 (जिसे 'पंडित मरण' ढा. 2 भी कहा है) में नामोल्लेखपूर्वक दोनों युगों में 38 साधियां दिवंगत बतलाइ हैं। इस संख्या में दोनों युगों की 20 बहिर्गत साधियों की संख्या मिला देने पर 58 होती हैं। दोनों युगों की सर्व 100 (56+44) साधियों में से उक्त 58 को बाद देने पर 42 ही शेष रहती हैं।

गृही-जीवन

सम्पन्न घर

आचार्यश्री रायचंदजी तेरापंथ के तृतीय आचार्य थे। उनका साधारण साधु-अवस्था से एक उपनाम 'ब्रह्मचारी' तथा आचार्य होने के बाद से एक और उपनाम 'ऋषिराय' भी काफी प्रचलित है। वे राजस्थान के उदयपुर संभाग (मेवाड़) के ग्राम 'बड़ी रावलियां' में विक्रम संवत् 1847 में पैदा हुए। यह ग्राम गोगूंदा (मोटागाम) के पास ही अवस्थित है। उनके पिता का नाम चतरोजी तथा माता का नाम कुशालांजी था। वे ओसवाल जाति में 'बंब' गोत्र के थे। शाह चतरोजी का घर ग्राम में अच्छा सम्पन्न माना जाता था। उनका परिवार आर्थिक दृष्टि से भी और व्यक्तियों की दृष्टि से भी भरा-पूरा था। रायचंदजी उनके तीसरे पुत्र थे। नानजी और मोतीजी उनके क्रमशः प्रथम और द्वितीय पुत्र थे। मैण्ड नामक एक पुत्री भी थी। वह सबसे छोटी थी।

धर्म का प्रवेश

शाह चतरोजी का स्वामी भीखणजी के प्रति श्रद्धा-भाव अपने साले खेतसीजी की प्रेरणा से हुआ। खेतसीजी नाथद्वारा-निवासी शाह भोपजी के पुत्र थे। वे सं. 1838 में स्वामीजी के पास दीक्षित हुए थे। उनकी दो बहिनें—कुशालां और रूपां रावलियां में विवाहित थीं। गृहस्थावस्था में खेतसीजी कई बार रावलियां जाते-आते रहते थे। वे स्वामी भीखणजी के श्रावक होने के साथ-साथ अच्छे तत्त्वज्ञ भी थे। रावलियां में जाते तब वे लोगों से धार्मिक चर्चा करते। उनके उस उपक्रम से वहां सर्वप्रथम धर्म का बीज बोया गया। उनकी बहिन कुशालां तथा बहनोई चतरोजी ने भी धर्म के मर्म को समझा और अच्छे श्रद्धालु श्रावक बन गये। यद्यपि वहां केवल एक व्यक्ति के माध्यम से धर्म का प्रवेश हुआ, पर शीघ्र ही वह सबके मानस में रम गया।

विराग-भाव

रावलियां में सन्त-सतियों का गमनागमन काफी रहा करता था। स्वयं स्वामीजी का भी वहां अनेक बार पदार्पण हुआ था। एक बार स्वामीजी की शिष्या साध्वी बरजूजी वहां गई और कुछ दिन ठहरीं। उससे वहां काफी अच्छा उपकार हुआ। अनेक घर श्रद्धालु बने।

288 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ चतुर्थ परिच्छेद
उनकी ही संगति से बालक रायचंदजी तथा उनकी माता कुशलांजी को विराग उत्पन्न हुआ।

जब उन्होंने परिवार वालों के सामने अपनी दीक्षा की भावना व्यक्त की तो प्रायः सभी ने उसका विरोध किया। रायचंदजी के दोनों बड़े भाइयों के विवाह पहले हो चुके थे। अब रायचंदजी की ही बारी थी, अतः विवाह आदि के विविध प्रलोभनों से उन्हें फुसलाने का प्रयास किया जाने लगा। परन्तु जिनके चारित्र-मोह का क्षयोपशम हो चुका होता है, वे इन प्रपंचों में फंसाए नहीं जा सकते। अनेक प्रयासों के बाद अन्त में परिवार वालों ने जब देख लिया कि वे किसी भी प्रकार के प्रलोभन में आने वाले नहीं हैं, तब उन्हें हार कर आज्ञा देनी ही पड़ी।

स्वामीजी का आगमन

दीक्षा की इच्छा हो जाने के बाद व्यक्ति को संसार में रहना बहुत अखरने लगता है। उसकी भावना शीघ्र-से-शीघ्र संयम-मार्ग पर लगकर आत्म-कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त करने की ही हुआ करती है। माता और पुत्र जब दीक्षा को उद्घात हुए तब कुछ समय तो परिवार वालों ने आज्ञा न देकर लगा दिया। परिवार वालों से आज्ञा प्राप्त कर ली गई तो दीक्षा देने वालों की प्रतीक्षा करनी पड़ी। कुछ ही समय बीता था कि स्वामी भीखण्जी का उधर पदार्पण हो गया। माता और पुत्र ऐसे ही अवसर की बाट देख रहे थे। उन्होंने स्वामीजी से दीक्षा देने की प्रार्थना की।

स्वामीजी को उनकी भावना का पता तो पहले से ही था। संत-सतियों के द्वारा उनके तत्त्वज्ञान सीखने आदि के विषय में उनको जानकारी थी। अब उनकी उत्कृष्ट विराग-वृत्ति का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिला। वे स्वामीजी की कस्तौटी पर खरे उतरे, अतः उन्होंने उन्हें दीक्षित करने की अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

साधु-जीवन

संयम-ग्रहण

शाह चतरोजी ने उस अवसर पर बहुत उत्साह के साथ दीक्षा-उत्सव मनाया। विरागी को हथिनी पर बिठा कर शोभा-यात्रा निकाली। बालक रायचंदजी उस समय लगभग 11 वर्ष के थे। विपुल संपत्ति और भरे-पूरे परिवार का आकर्षण छोड़कर वे संयम-यात्रा पर अग्रसर होने को उद्यत हुए थे।

दीक्षा-उत्सव देखने के लिए काफी लोग एकत्रित हुए। बड़ी रावलियां के बाहर आम्रवृक्ष की छाया में सम्वत् 1857 (चैत्रादि 1858) चैत्र पूर्णिमा के दिन स्वामीजी ने उन दोनों को दीक्षा प्रदान की। कुशालांजी को स्वामीजी ने बरजूजी के पास रहकर संयमानुष्ठान की आवश्यक शिक्षा ग्रहण करने का आदेश दिया और बालक साधु रायचंदजी को अपने पास रखा।

शुभागमन

मुनि रायचंदजी एक पुण्यशाली सन्त थे। ऐसे व्यक्तियों का 'पगफेरा' चतुर्मुखी वृद्धि का कारण बनता है।¹ धर्मसंघ ने उस समय इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया। ऋषिराय की दीक्षा का वर्ष अत्यन्त गौरवशाली और महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उस वर्ष 5 बहिनों ने पतियों को छोड़ कर संयम ग्रहण किया।² ऋषिराय की दीक्षा के पश्चात् स्वामी भीखण्जी लगभग ढाई वर्षों तक विद्यमान रहे। उतने समय में 8 भाइयों तथा 12 बहिनों की दीक्षाएं हुईं।

भविष्यवाणी

बालमुनि रायचंदजी की बुद्धि बहुत तीव्र और उपयोग निर्मल था। एक बार बताई गई बात को भी वे बहुत अच्छी तरह से हृदयंगम कर लेते। वे आचार-व्यवहार में बड़े सावधान और अत्यन्त विनयी थे। मनुष्य के अद्वितीय पारखी स्वामीजी ने उनकी

1. ऋषिराय पंचढालियो, 1/7 :

'पग छेहड़ै ऋषिराय तणै', संत थया अति चारू।

समणी पिण बहु थई शोभती, वृद्धि धर्मनी वारू॥'

2. वही, 1/3 :

'हस्तू अने खुसालां कस्तू, जोतां नोरां जाणी।

सत्तावनै वर्ष पांचू संजम, पिड छांड पहिछाणी॥'

290 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ चतुर्थ परिच्छेद
विशेषताओं को बढ़े ध्यान से परखा। तभी तो एक बार उन्होंने कहा—‘रायचन्द तो भारमल
का भार संभालने योग्य है।’¹

‘ब्रह्मचारी’ कह रहा है

यद्यपि स्वामीजी की सेवा में रहने का मुनि रायचंदजी को बहुत ही कम अवसर प्राप्त हुआ। उनकी दीक्षा के लगभग ढाई वर्ष पश्चात् ही स्वामीजी दिवंगत हो गये, तथापि उस थोड़े से समय में उन्होंने अपनी योग्यता के आधार पर स्वामीजी का वह विश्वास प्राप्त कर लिया जो अनेक वृद्धों को भी प्राप्त होना सहज नहीं था। स्वामीजी उनकी बात का बड़ा आदर करते थे। निम्नोक्त घटना इस बात को स्पष्ट कर देती है :

स्वामीजी अन्तिम दिनों में अनशन करने की सोच रहे थे, तब भाद्र शुक्ला 12 को बालमुनि रायचंदजी उनकी सेवा में उपस्थित हुए और बोले—‘गुरुदेव! कृपा करके दर्शन दीजिए।’ स्वामीजी ने आंखें खोलकर उनके सम्मुख देख मस्तक पर हाथ रखा। स्वामीजी के शरीर की ओर देखकर उन्होंने कहा—‘स्वामीजी, अब तो शरीर का पराक्रम क्षीण पड़ रहा मालूम होता है।’² उनकी इसी एक बात को सुनकर स्वामीजी ने तत्काल युवाचार्य भारमलजी को बुलाकर कहा—‘अब मुझे संथारा करने में देर नहीं करनी है, क्योंकि ब्रह्मचारी कह रहा है कि शरीर का पराक्रम क्षीण पड़ रहा है’ और उसके पश्चात् उन्होंने तत्काल संथारा ग्रहण कर लिया।

मैं मोह क्यों करूँ ?

बालक होते हुए भी मुनि रायचंदजी एक गम्भीर चिन्तक थे। साधना का महत्व उन्होंने समझा था। इसीलिए प्रत्येक बात के साथ उनकी विचारकता टपकती थी। स्वामीजी ने अन्तिम समय में शिक्षा देते हुए उनसे कहा—‘ब्रह्मचारी! तुम बुद्धिमान् बालक हो, अतः मेरे प्रति किसी प्रकार का मोह मत करना।’

उन्होंने उसी समय मानो स्वामीजी को आश्वस्त करते हुए कहा—‘नहीं प्रभो! आप तो अपने मनुष्य-जीवन को सार्थक कर आत्म-कल्याण कर रहे हैं, फिर मैं मोह क्यों करने लगा?’³

1. ऋषिराय सुजस 5। दो. 1 :

‘बुद्धि पुण्य गुण देखने, भिक्खु भाष्यो एम।
पटलायक दीसै प्रगट, निमल निभावण नेम॥’

2. भि. ज. र. 59।11 :

‘पूजनै कहै पराक्रम हीणा पड़िया, ऋषिराय तणी सुण बायो।
भिक्खु पहिलां तन तोल त्यारी था, सुण सिंह ज्यूं उट्या मुनिरायो॥’

3. वही 56।7, 8 :

‘रायचन्द ब्रह्मचारी ने जाणो, सीख दे सोभती।
तू बालक छै बुद्धिमानो, मोह कीजे मती॥
ब्रह्मचारी कहै वाणो, शुद्ध वच सुंदरू।
आप करो जनम रो कल्याणो, हूं मोह किम करू॥’

आगम-ज्ञानी

संयम ग्रहण करने के पश्चात् कुछ ही वर्षों में मुनि रायचंदजी ने अच्छा आगमज्ञान अर्जित कर लिया। थोकड़ों तथा स्वामीजी के ग्रंथों के माध्यम से वे आगम-ज्ञान के महासमुद्र में प्रविष्ट हुए और क्रमशः पारंगत विद्वान् बन गये। जिन आगमों को उन्होंने पूर्णरूप से कण्ठस्थ किया था, उनके नाम ये हैं—आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और बृहत्कल्प। समस्त आगमों का उन्होंने अनेक बार अर्थ-सहित पारायण किया। वे धर्म-चर्चा करने में बहुत रुचि रखा करते थे। उस विषय की उनमें परिपूर्ण निपुणता भी थी।

सरस व्याख्यानदाता

व्याख्यान की कला में भी मुनि रायचंदजी ने शीघ्र ही परिपूर्णता प्राप्त कर ली। अनेक व्याख्यान तथा उनके उपयुक्त बहुत सारी सामग्री उन्होंने कण्ठस्थ की थी। वे बड़ा रसीला व्याख्यान दिया करते थे। कण्ठों में माधुर्य था। आवाज बड़ी तेज थी। कहा जाता है कि जब वे गत्रिकाल में व्याख्यान प्रारम्भ करते, तब आस-पास के गांवों तक उनकी आवाज सुनाई दे जाती थी। आचार्य भारमलजी के सामने ही व्याख्यान देने का बहुधा अवसर मिलता रहता था। चतुर्मास में प्रभात का व्याख्यान आचार्यश्री देते, तब रात्रिकालीन व्याख्यान में रामचरित बांचने का कार्य-भार आपको ही मिला करता था।

दीक्षित पारिवारिक

मुनि रायचंदजी के अनेक पारिवारिकजन दीक्षित हुए थे। मुनि खेतसीजी उनके सगे मामा थे। वे सं. 1838 में स्वामीजी के पास दीक्षित हुए। वे अत्यन्त विनीत एवं भद्र प्रकृति के संत थे। 'सतजुगी' उनका विशेषण ही नहीं, अपितु उनके वास्तविक गुणों का एक प्रतिनिधि शब्द बन गया था। मुनि खेतसीजी का सौहार्द और मुनि रायचंदजी का विनय उनके पारस्परिक व्यवहार की उच्चता के प्रतीक थे।

ऋषिराय की संसारपक्षीया मौसी रूपांजी ने पति को छोड़कर सं. 1848 में दीक्षा ग्रहण की। परन्तु वे मात्र 9 वर्ष तक संयम-पर्याय पाल कर सं. 1857 में दिवंगत हो गईं।

ऋषिराय की माता कुशालांजी ने 10 वर्ष तक संयम-पर्याय पाला और सं. 1867 चैत्र शुक्ला 7 को आउवा में 15 दिन का तप एवं 8 प्रहर का अनशन प्राप्त कर दिवंगत हो गईं। उस समय आचार्य भारमलजी के साथ मुनि खेतसीजी तथा मुनि रायचंदजी ने वहां पधार कर उन्हें उत्तम सहयोग प्रदान किया।¹

निपुण सहयोगी

मुनि रायचंदजी को लगभग अठारह वर्षों तक आचार्य भारमलजी की सेवा में रहने का अवसर प्राप्त हुआ। उस समग्र समय में वे आचार्यश्री के निपुण सहयोगी बनकर रहे।

1. ऋषिराय पंचढालियो, 1113 :

'सती खुसालां वर्ष सतसठे, पनर दिवस तप ठायो।'

पनरा में संथारो पचख्यो, स्हाज दियो ऋषिरायो॥'

292 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ चतुर्थ परिच्छेद
बाह्य सहयोगों के साथ-साथ आचार्यश्री उनसे संघ-संबंधी आंतरिक कार्यों में भी सहयोग लेते रहते थे। उससे जहां स्वयं उनको संघ-व्यवस्था का अनुभव प्राप्त होता था, वहां आचार्य भारमलजी को भी पूर्ण साता प्राप्त हुआ करती थी। वह उनकी ऐसी सेवा थी, जिसे हर कोई साधु नहीं कर सकता था। इस प्रकार साधारण साधु के जीवन से ही उनके व्यक्तित्व ने कई असाधारणताएं लिए हुए विकास किया था।

तुझे चाहिएगा

आचार्य भारमलजी ने मुनि रायचंदजी को युवाचार्य-पद तो अपनी अन्तिम अवस्था में ही प्रदान किया, परन्तु उससे अनेक वर्ष पूर्व भी उनका व्यवहार तथा उनके शब्द जब-तब यह संकेत दे जाते थे कि उनके उत्तराधिकारी मुनि रायचंदजी ही हैं। सं. 1869 की बात है। आचार्यश्री उस समय जयपुर में विराज रहे थे। माघ कृष्णा 7 को बालक जीतमलजी की दीक्षा होने वाली थी। एकदम अवसर पर आचार्यश्री ने स्वयं जाने से इनकार कर दिया। उन्होंने मुनि रायचंदजी से कहा—‘मेरे पीछे तो भार संभालने वाला तू है ही, तुझे अपने उत्तराधिकारी की आवश्यकता होगी, अतः तू ही जा।’ युवाचार्य पद देने से लगभग 8 वर्ष पूर्व उन्होंने इतना स्पष्ट कह दिया। उस समय उन्होंने न केवल अपने युवाचार्य का अपितु युवाचार्य के युवाचार्य का भी संकेत दे दिया। आचार्य भारमलजी के उस आदेशानुसार मुनि रायचंदजी ने ही तब वह दीक्षा दी। मुनि जीतमलजी उनके प्रथम शिष्य तो बने ही, कालान्तर में उत्तराधिकारी भी बने।

जैसी आपकी इच्छा

एक बार ईडवा में रात्रिकालीन व्याख्यान देते समय मुनि रायचंदजी कुछ पद्य भूल गये, अतः पूर्वापर बोल गये। आचार्यश्री ने तब कमरे से ही आवाज देकर कहा—‘रायचंद! यों क्या गर्ये हांक रहा है?’ मुनिश्री ने ‘तैत’¹ कहकर गुरुवाणी को शिरोधार्य किया। व्याख्यान देकर अंदर आये तब प्रार्थना की—‘यहां आने पर ही फरमा देते तो अच्छा रहता।’

आचार्यश्री ने फरमाया—‘अकेले को क्यों कहें? तुम्हारी गलती को तो अब प्रकट में ही कहने का विचार है।’²

मुनि रायचंदजी ने तब चरणों में झुकते हुए कहा—‘जैसी आपकी इच्छा हो, वैसे कहें।’ उनके इसी समर्पण और विनीत भाव ने उनको उच्चतम पद तक पहुंचा दिया।³

1. यह शब्द प्राकृत भाषा के ‘तहति’ का तदभव है। जैन श्रमणों द्वारा गुरुजनों के कथन की स्वीकृति में प्रयुक्त किया जाता है। इसका अर्थ है—तथेति, वैसा ही, ठीक है, हाँ।

2. जयकृत ‘साधु-शिक्षा’, 2121 से 23।

3. विस्तार से जानने के लिए देखें—इसी पुस्तक का तृतीय परिच्छेद ‘आचार्यश्री भारमलजी’ पृष्ठ 265 पर।

उत्तराधिकार-प्राप्ति

अनेक योग्य व्यक्ति

आचार्य भारमलजी की अवस्था बहुत वृद्ध हो चुकी थी। उनका शरीर निरन्तर अस्वस्थ रहने लगा। अधिक विहार कर सकने की सम्भावना भी क्रमशः क्षीण होती चली गई। सं. 1877 का नाथद्वारा चतुर्मास संपन्न कर अनेक छोटे गांवों का स्पर्श करते हुए वे कांकरोली एवं राजनगर पथारे। संघ में उस समय 38 संत थे। वे सभी वहां एकत्रित हो गये। आचार्यश्री ने उन सबकी सारणा-वारणा की। आगामी दिशा-दर्शन देकर कुछ संत-सतियों को वहां से विहार करवा दिया। स्वयं भी 22 संतों के साथ फाल्गुन शुक्ला 13 को केलवा पधार गये।¹ वहां से मारवाड़ की ओर पधार जाने का विचार था, परन्तु अस्वस्थ हो जाने के कारण उसे स्थगित कर देना पड़ा। बार-बार घटा की तरह घुमड़ अनेवाली अपनी उस शारीरिक अस्वस्थता को देख कर आचार्यश्री ने संघ की भावी सुव्यवस्था के लिए अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का निश्चय किया।

संघ में उस समय अनेक प्रभावशाली तथा योग्य संत थे, अतः यह समस्या आचार्यश्री के सम्मुख अवश्य ही उपस्थित हुई होगी कि उनमें से किसकी नियुक्ति की जाए? उन अनेकों में एक मुनि हेमराजजी थे। उनकी सेवाएं संघ के लिए अतुलनीय थीं। उनका आगम-ज्ञान भी दूसरों से कहीं अधिक विस्तृत और गहरा था। स्वामीजी की सेवा में रहकर उन्होंने जो कुछ अनुभव अर्जित किया था, वह भी दूसरों के लिए प्रायः अलभ्य ही था। इसी गणना के दूसरे सन्त मुनि खेतसीजी थे। इन्होंने भद्र और विनीत प्रकृति के थे कि उनका दूसरा नाम ‘सतजुगी’ प्रचलित हो गया था। वे मुनि रायचंदजी के संसारपक्षीय मामा थे। तीसरे मुनि रायचंदजी थे जो कि एक प्रतिभा-संपन्न युवक साधु थे। अनेक वर्षों से वे आचार्यश्री के संघीय कार्यों में सहयोगी बनकर कार्य करते आये थे।

परामर्श

आचार्य भारमलजी को उन्हीं कुछ संतों में से किसी एक को चुनकर संघ का उत्तराधिकारी नियुक्त करना था। किन्तु उनमें से किसको चुना जाए—यह निर्णय सरल नहीं

1. भारीमाल चरित्र, 519 :

‘बाईस ठाणे साथे करी, होजी स्वामीजी कियो रे विहार।

फागण सुद तेरस दिने, आया केलवा सहर मझार॥’

294 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ चतुर्थ परिच्छेद
था। उन सबमें अपनी-अपनी विशेषताएं थीं जो कि आचार्यश्री के मन को भी किसी एक निश्चय पर पहुंचने से पूर्व ही दूसरी ओर आकर्षित करती रहती थीं। सम्भवतः इसीलिए नियमतः आवश्यक न होते हुए भी संघ के कुछ अनन्य भक्त साधुओं से उस विषय में परामर्श कर लेने की उन्होंने आवश्यकता अनुभव की।

मुनि हेमराजजी और मुनि खेतसीजी को पृथक्-पृथक् बुलाकर उन्होंने अपने विचार उनके सामने रखे तथा उस विषय में उनकी राय जाननी चाही। साथ ही तद्-विषयक निर्णय पर भावी प्रतिक्रिया का भी विचार किया। दोनों ही सन्तों ने उस विषय में आचार्यश्री के अभिप्राय को समझते हुए उनके विचार का पूर्णतः समर्थन किया। मुनि हेमराजजी ने निवेदन किया—‘आप निस्संकोच भाव से मुनि रायचंदजी को युवाचार्य पद प्रदान करें। मेरी ओर से आपको किसी भी प्रकार की चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। बाईं और दाईं आंख में कोई भेद नहीं, उसी प्रकार से आपके लिए मैं और मुनि रायचंदजी एक ही समान हैं।’ मुनि हेमराजजी के पदाकाङ्क्षाविमुक्त उपर्युक्त वचन सुनकर आचार्यश्री बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उनको पूर्ण विनीत एवं सुनीतिमान् समझा।¹

मुनि खेतसीजी ने भी उसी प्रकार से निवेदन करते हुए कहा—‘मुनि रायचंदजी इस पद के सर्वथा योग्य हैं। आप निश्चिंत होकर उन्हें यह पद दें। आपका निर्णय हमें तन-मन से पूर्णतः शिरोधार्य होगा।’ संघ के लिए स्तंभ स्वरूप माने जाने वाले दोनों मुनियों के पद-निर्लिप्त विचार सुनकर आचार्य भारमलजी को परम हर्ष हुआ।²

दो नाम

आचार्य भारमलजी ने युवाचार्य-पद पर नियुक्ति कर देने का निश्चय किया और नियुक्ति-पत्र लिखवाया। वृद्धावस्था के कारण वे स्वयं लिखने की स्थिति में नहीं थे,

1. जयसुजस, 7/10 से 13 :

‘भारीमाल तनुकारण जाणी, बहु संत मिल्या तिहां आणी।
गणपति नी मरजी ओलख, ऋषि हेम वदै इम वाणी॥
प्रगट पाट ऋषिराय शशी नै, महर करी नै दीजे।
म्हारी तरफ सूं आप मन मांहि, किंचित् फिकर न कीजे॥
डाकी जीमणी आंख दोनूं मैं, नहीं है फरक लिगारो।
तिम आप तणै ऋषिराय अने हूं, सरीखा बेहुं सुविचारो॥
हेम वयण वर रयण समा सुण, गणपति हर्ष सुपाया।
परम विनीत रु नीतवंत हद, जाण्या हेम सवाया॥’

2. ऋषिरायसुजस, 7/14 से 6 :

‘सतजुंगी हेम वयण वदीजे, रायचंदजी ने पट दीजे।
म्हारी तरफ सूं चिंता न कीजे॥
भारीमाल सुणी मन हरख्या, निकलंक दोनूं ई नै निरख्या।
यां नै परम विनैवंत परख्या॥
एहवा उभय बड़ा मुनि धीरा, गण-थंभण गैहर गंभीरा।
हद विमल अमोलक हीरा॥’

अतः अन्य से लिखवाया। प्रथम आधी पंक्ति और अन्तिम पूरी पंक्ति स्वयं के हाथ से लिखी और शेष सारा पत्र मुनि जीतमलजी ने लिखा—ऐसा उस पत्र की लिपि से ज्ञात होता है। आचार्यश्री ने छठी पंक्ति में लिखवाया—....सर्व साधु-साधवी खेतसीजी रायचंदजी री आगन्या माहें चालणो....' मुनि खेतसीजी तथा मुनि हेमराजजी द्वारा मुनि रायचंदजी के नाम का स्पष्ट समर्थन कर देने के पश्चात् भी आचार्यश्री के मन में कुछ चिंतन रहा प्रतीत होता है, अन्यथा दो नाम लिखाने का कोई कारण दृष्टिगत नहीं होता। मुनि जीतमलजी ने दो नाम लिख तो दिये, परन्तु उनकी कलम भी ठिक कर वहीं खड़ी रह गई।

मुनिश्री ने निवेदन किया—‘गुरुदेव! आप जिसे भी उपयुक्त समझें उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करें, परन्तु नाम एक ही होना चाहिए। दो नाम किसी भी स्थिति में नहीं रहने चाहिए।’

आचार्यश्री ने कहा—‘दोनों एक ही तो हैं। मामा-भानजे हैं, अतः परस्पर भेद जैसी कोई बात नहीं है।’

मुनि जीतमलजी ने साहस करके फिर कहा—‘नहीं गुरुदेव! पद के विषय में न कोई विवादास्पद स्थिति रहनी चाहिए और न कोई मनुहार एवं तुष्टीकरण का ही प्रसंग आना चाहिए। मेरा पुनः नम्र निवेदन है कि आप कोई एक ही नाम रखें।’

आचार्यश्री ने उनके सुझाव को उपयुक्त माना, अतः प्रथम नाम पर कुछ बिन्दु लगवाकर उसे अप्रभावी बना दिया। स्वभावतः ही तब नियुक्ति-पत्र में आगे सर्वत्र मुनि रायचंदजी का ही एक नाम लिखा गया।

पद-समर्पण

नियुक्ति-पत्र को सबके सम्मुख पढ़कर सुनाया गया और फिर सबके हस्ताक्षर लिये गये। आचार्य भारमलजी ने उस समय अपनी चादर मुनि रायचंदजी को उढ़ाकर विधिवत् युवाचार्य-पद समर्पित कर दिया। यह कार्य सं. 1877 (चैत्रादि 1878) वैशाख कृष्णा 9 गुरुवार के दिन केलवा में सम्पन्न हुआ¹

आचार्य भारमलजी ने उस कार्य से एक दिन पूर्व वैशाख कृष्णा 8 को ही संलेखना तप प्रारम्भ किया था। सर्वप्रथम तेला किया। युवाचार्य-पद प्रदान किया उस दिन आचार्यश्री के प्रथम तेले की तपस्या का दूसरा दिन—बेला था।

1. नियुक्ति-पत्र अन्य मुनि (जीतमलजी) से लिखाया गया था, अतः उसकी प्रथम पंक्ति अपने हाथ से लिखते हुए आचार्य भारमलजी ने स्पष्टीकरण किया है : ‘ए लिखत ऋष भारमल रा कह्या सु लिख्योछै।’ पत्र की अन्तिम पंक्ति भी आचार्यश्री ने अपने हाथ से लिखी है। उसमें लेखपत्र का समय देते हुए लिखा है : ‘ए लिखत ऋष भारमल रो कीधो छै। संमत 1877 रा वैसाख विद 9 वार गुरा।’

मुनि रायचंदजी को युवाचार्य पद प्रदान करने पर उस समय अनेक लोगों द्वारा विभिन्न प्रकार का ऊहापोह किया गया। अनेक लोगों की धारणा थी कि यह पद मुनि खेतसीजी या मुनि हेमराजजी को दिया जाएगा, परन्तु जब मुनि रायचंदजी को युवाचार्य नियुक्त कर दिया गया, तब उक्त समाचार सुनकर उन लोगों को आश्चर्य तो हुआ ही, एक अनावश्यक ऊहापोह भी उभरा।

चित्तौड़-निवासी हंसराजजी संचेती ने मुनि खेतसीजी के सम्मुख ही आचार्य भारमलजी से पूछा—‘हम तो सुनते थे कि मुनि खेतसीजी को युवाचार्य बनाया जाएगा। आपने रायचंदजी को कैसे बना दिया?’

आचार्यश्री ने उसे उपालंभ देते हुए फरमाया—‘तुम गृहस्थों को इस पंचायत में पड़ने की क्या आवश्यकता है? हमारी आवश्यकता और कार्य-पद्धति के विषय में तुम क्या जानते हो? ये तो खेतसीजी और हेमराजजी जैसे आत्मार्थी साधु हैं, अन्यथा तुम गृहस्थ लोग तो परस्पर भेद डालने में ही तत्पर रहते हो।’

उक्त प्रकार के विचारों में अनेक गांवों के लोग सम्मिलित थे। हंसराजजी को तो वह प्रश्न उठाने के लिए केवल आगे किया गया था। ऐसे कार्यों में चतुर लोग कभी प्रत्यक्ष सामने नहीं आते। वे किसी अन्य को आगे रखकर पीछे से अपना खेल खेलते रहते हैं। इसीलिए ऊहापोह का वह सिलसिला काफी दिनों तक चलता रहा।¹

गोगूंदा से पत्र

गोगूंदा के श्रावकों ने उस समय एक सामूहिक पत्र भेजा। उसमें स्थानीय 25 श्रावकों के हस्ताक्षर थे। उस पत्र के माध्यम से उन लोगों ने युवाचार्य रायचंदजी को उपालंभ दिया था। उन्होंने लिखा—‘आप हमारे ‘चोखले’-रावलियां के हैं, अतः अपना समझकर आपको यह पत्र लिखा गया है। मुनि हेमराजजी की विद्यमानता में आपको यह पद किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं करना चाहिए था। इस पद के वास्तविक अधिकारी मुनि हेमराजजी ही हैं, अतः यह उन्हें ही मिलना चाहिए था।’

आचार्य भारमलजी को जब उक्त पत्र पढ़ाया गया तो उन्होंने फरमाया—‘देखो! ये लोग कितने अविचारकारी हैं जो निष्प्रयोजन ही झगड़े में पड़ने को उद्यत रहते हैं।’²

क्या उत्तर दें?

देवगढ़ निवासी श्रावक रतनजी ने तो स्वयं मुनि खेतसीजी से ही पूछ लिया—‘जहां भी पांच व्यक्ति मिलते हैं, वहीं यह चर्चा चल पड़ती है कि युवाचार्य-पद तो मुनि खेतसीजी को ही मिलना चाहिए था। सुना गया है कि आपका तो नाम भी नियुक्ति-पत्र में लिख दिया गया था। फिर उसे क्यों हटाया गया? आप दीक्षा में बड़े हैं, आप उनके

मामा हैं, फिर आपको गौण करके मुनि रायचंदजी को यह पद क्यों दिया गया? हमारे अपने लोगों के मुँह पर तो ये प्रश्न हैं ही, परन्तु दूसरे लोग भी इसी प्रकार के प्रश्न पूछते रहते हैं। हम उन्हें अब क्या उत्तर दें?’

मुनि खेतसीजी ने छोटा-सा उत्तर देते हुए कहा—‘तुम उन प्रश्नकर्ताओं को मुझे संभला दिया करो।’¹

आमेट के एक भाई ने मुनि खेतसीजी से कहा—‘अब उलटी गंगा बहा करेगी। आप बड़े होकर भी धरती पर बैठेंगे और मुनि रायचंदजी छोटे होकर भी बाजोट पर। यह व्यवहार कैसे शोभास्पद होगा?’

मुनि खेतसीजी ने कहा—‘लड़के का विवाह होता है तब उसे सजाया जाता है, घोड़े पर बिठाया जाता है। उसका पिता अस्त-व्यस्त कपड़े पहने इधर-उधर दौड़-भाग करता फिरता है। पुत्र की प्रशंसा सुनता है तो वह फूला नहीं समाता। वह जानता है कि पुत्र की शोभा उसकी अपनी शोभा है। इसी प्रकार से रायचंदजी की शोभा मेरी ही शोभा है।’ इस उत्तर से पूछने वाले को उत्तर तो मिल ही गया, उसे यह पता भी चल गया कि यहां उसकी दुरभिसंधि नहीं चल पायेगी।²

युवाचार्य-काल

मुनि रायचंदजी का युवाचार्य-काल नौ महीने ही रहा। आचार्य भारमलजी काफी दिनों से रुग्ण चल रहे थे। वृद्ध तो वे थे ही। कोई औषध कार्यकर नहीं हो रहा था। सं. 1877 की फाल्गुन शुक्ला 13 को वे केलवा में पधारे थे और सं. 1878 के मिगसर तक वहां विराजे। लगभग नौ महीनों के उपचार से भी जब स्वास्थ्य-लाभ नहीं हुआ, तब राजनगर पधार गये। वहां प्रारम्भ में कुछ लाभ अवश्य दिखाई दिया, परन्तु अचानक कालज्वर हो जाने से वे पहले से भी अधिक अस्वस्थ हो गये। अन्त में मुनि खेतसीजी तथा युवाचार्य रायचंदजी ने उन्हें आजीवन अनशन करवा दिया। अतः 6 प्रहर का सागर और 3 प्रहर का निरागार संथारा प्राप्त कर वे सं. 1878 माघ कृष्णा 8 को अर्द्धरात्रि के समय दिवंगत हो गये। उसी के साथ ऋषिराय के युवाचार्य-काल की भी सम्पन्नता हो गई।

प्रभावशाली आचार्य

अनुभवी

ऋषिराय सं. 1878 माघ कृष्णा 9 को राजनगर में आचार्य-पद पर विराजमान हुए। यद्यपि वे युवाचार्य-पद पर बहुत कम समय ही रहे, फिर भी उन्हें संघ के कार्यों में पूर्णरूपेण दक्षता प्राप्त थी। लगभग इक्कीस वर्ष तक साधारण साधु की अवस्था में स्वामीजी तथा आचार्य भारमलजी की सेवा में रहते हुए उन्होंने जो अनुभव अर्जित किये थे, वे उन्हें एक दक्ष आचार्य बनाने के लिए पर्याप्त थे। उनमें सरलता अपने प्रकार की एक ही थी तो उसके साथ ओजस्विता, निर्भीकता और दृढ़ता का संयोग भी, जो कि प्रायः विरल ही मिलता है, सोने में सुगन्ध का काम करने वाला था। इक्कीस वर्ष की पूर्ण युवावस्था होने के कारण तेजस्विता तो उनमें सहज रूप से थी ही।

'नखेद तिथि'

ऋषिराय प्रायः मुहूर्त आदि की बाधाओं को अधिक महत्व नहीं दिया करते थे। वे जिस दिन आचार्य-पद पर आसीन हुए उस दिन माघ कृष्णा नवमी थी। नवमी को ज्योतिर्विद् 'निषिद्ध तिथि' मानते हैं, अतः शुभ कार्य के लिए वह वर्जित तिथि है। मेवाड़ में 'निषेध' का उच्चारण 'नखेद' किया जाता है। आचार्य भारमलजी अष्टमी को दिवंगत हुए थे। दूसरे दिन ही जब विधिवत् आचार्य-पद की 'पछेवड़ी' (चादर) धारण करने का निश्चय किया गया तब किसी जानकार भाई ने निवेदन किया—'गुरुदेव! इस शुभ कार्य के लिए कोई दूसरा दिन चुनिये। आज का दिन तो 'नखेद' माना जाता है।'

ऋषिराय ने तत्काल उस एक नखेद शब्द को दो शब्दों में विभक्त करके अर्थ करते हुए कहा—न+खेद = जिसमें किसी प्रकार का खेद न हो। तब तो यह बहुत अच्छा दिन है। हमें किसी प्रकार का खेद नहीं होगा। और उन्होंने उसी दिन आचार्यपद की 'पछेवड़ी' धारण कर ली।

जो तुक, जो तुष

ऋषिराय का ज्योतिष-विद्या के प्रति लगाव तो विशेष था ही नहीं, विश्वास भी नहीं था। इसीलिए जब कभी ज्योतिष के विषय में कोई बात चलती तो वे उसे अविश्वसनीय ही बतलाते। वे फरमाया करते कि ज्योतिष के आधार पर किसी करणीय कार्य को स्थगित कर देना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।

वे बहुधा ज्योतिष की मजाक करते हुए फरमाते कि ज्योतिष के दो रूप होते हैं—जो तुक और जो तुष। समय पर कोई तुक मिल जाये तो ज्योतिषी स्वयं को ब्रह्मज्ञानी मानने लगता है। लोग भी उसकी मिली एक भविष्यवाणी के पीछे निन्यानबे नहीं मिलने वाली भविष्यवाणियों को चुपचाप सह जाते हैं। यदि उसकी तुक न मिल पाये, अर्थात् कही गई बात अयथार्थ हो जाए तो फिर वह ‘जो तुष’—धान्य रहित जौ के तुष की तरह सर्वत्र निस्सार माना जाने लगता है।

इस व्यंग्य-पूर्ण व्याख्या के पीछे ऋषिराय का तात्पर्य यह होता था कि ज्योतिष एक विद्या है, इस तथ्य को स्वीकार करने पर भी उसे बहुत अधिक महत्व देना लाभकारी न होकर बहुधा हानिकर ही होता है।

प्रार्थना और स्वीकृति

आचार्य रायचंद्रजी का शासन-काल उत्तरोत्तर विकासशील रहा। उसमें चतुर्विधि धर्मसंघ की क्रमिक उन्नति होती रही। ऋषिराय ने अपना प्रथम चतुर्मास पाली में किया। फिर मारवाड़ के उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में विहरण करते हुए वे किसनगढ़ तक पधरे। वहाँ जयपुर से आकर महेशदासजी मूँथा आदि कई श्रावकों ने आचार्यश्री के दर्शन किये। महेशदासजी मूलतः किसनगढ़ के ही थे, परन्तु कालान्तर में जयपुर रहने लगे थे। वे कवि भी थे। उस समय गुरु-दर्शन की प्रसन्नता में वे एक गीतिका बनाकर लाये थे। उसमें जहाँ गुरु-दर्शन का उल्लास व्यक्त किया गया, वहाँ जयपुर पधारने की प्रार्थना भी की गई। उन्होंने उसे परिषट् में गाकर सुनाया। गीतिका का स्थायी पद अग्रोक्त था :

आज रो दिहाड़ोजी भलाई सूरज ऊगियो।

भेट्या निज गुरुदेव।¹

महेशदासजी ने उस समय एक छप्पण छंद भी पढ़ा। उसमें कहा गया है कि जयपुर के जौहरी आपकी बाट देख रहे हैं। सन्तों के बिना वह क्षेत्र उसी तरह सूना है, जैसे वर्णिक के बिना हाट-दुकान होती है। माल भी है, ग्राहक भी आते हैं, परन्तु मालिक के बिना माल कौन दे? ग्राहकों को खाली हाथ लौट जाना पड़ता है। इसलिए आप जयपुर पथारिये और अपनी दुकान संभालिये। वह छंद इस प्रकार है :

जैपुर जंहुरी पूज की न्हाल रहा छै बाट,
वो खेतर सूनो पर्यो ज्यूं बिना बाणिये हाट।
बिना बाणिये हाट, माट(ल?) पिण मालक नांही,
गाहक फिर-फिर जाय, धणी विण खबर न कांझ।
गाम-गाम ए चाहना, ठाम-ठाम ए थाट,
जैपुर जंहुरी पूज की न्हाल रहा छै बाट।

1. उक्त गीतिका इतनी प्रसिद्ध हुई कि आज भी बहिनें उसे ऐसे अवसरों पर सामूहिक रूप से गाती हैं, जब वे कहीं अन्य गांव में जाकर गुरु-दर्शन करती हैं या नगर-प्रवेश के समय संतों या आचार्यश्री के सामने जाकर दर्शन करती हैं।

ऋषिराय ने जयपुर-वासियों की प्रार्थना स्वीकार की। उन्होंने सं. 1880 का अपना चतुर्मास जयपुर में किया। उसमें धर्म का अच्छा प्रचार-प्रसार हुआ। अनेक नये लोग तेरापंथी बने। मारवाड़, मेवाड़ तथा ढूँढाड़ के अनेक क्षेत्रों से काफी व्यक्ति दर्शनार्थ आये। मुनि वर्धमानजी ने वहां 43 दिनों का तिविहार तप किया। उससे भी धर्मसंघ की बहुत प्रभावना हुई।¹

तपस्या-प्रेरक

ऋषिराय के शासनकाल में संघ में तपस्या की बहुत वृद्धि हुई। अन्य तपस्याओं के अतिरिक्त उनके युग में ‘आछ’² के आगार पर होने वाली आठ षाण्मासिक तपस्याएं उल्लेखनीय हैं। संघ में इतनी लम्बी तपस्या होने का वह प्रथम अवसर ही था।³ तपस्या करने वालों को ऋषिराय अच्छा सहयोग प्रदान किया करते थे, अतः उनकी साधारण-सी प्रेरणा भी सन्त-सतियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण बन जाया करती थी।

सं. 1883 के उदयपुर-चतुर्मास से पूर्व ग्रीष्मकाल में आचार्यश्री मोखणुंदा पधारे। वहां एक दिन तपस्या की बात चल पड़ी। आचार्यश्री ने फरमाया—‘कोई तपस्या करना चाहता हो तो उसके लिए यथासंभव अनुकूल व्यवस्था कर देने का विचार है।’ आचार्यश्री की उक्त प्रेरणा से प्रेरित होकर तीन मुनियों ने परस्पर विचार-विमर्श किया और फिर आचार्यश्री के पास आकर बोले—‘गुरुदेव! आप जो फरमायेंगे वही तपस्या कर देने का भाव है।’

ऋषिराय ने फरमाया—‘यह तो तुम लोगों को ही सोच-समझकर निश्चित करना है कि किसे क्या तपस्या करनी है? मेरा काम तो केवल क्षेत्र तथा सहयोगी संतों की उपयुक्त व्यवस्था करना है।’

मुनि पीथलजी, मुनि वर्धमानजी और मुनि हीरजी—इन तीनों मुनियों ने तब अपने पूर्व निर्णयानुसार आछ और पानी के आगार से एक साथ षाण्मासिक तपस्या स्वीकार की। आचार्यश्री ने इन्हें चतुर्मास के लिए क्रमशः कांकरोली, केलवा और राजनगर क्षेत्र संभलाये। इनमें मुनि पीथलजी तो मुनि भीमजी (क्र. सं. 63) के साथ थे और शेष दोनों मुनि स्वयं अग्रणी थे। चतुर्मास की समाप्ति के साथ ही तीनों मुनियों की तपस्या पूर्ण होने वाली थी। तीनों ही चाहते थे कि उनकी तपस्या का पारण आचार्यश्री के हाथ से हो, इसीलिए उन्होंने अपनी तपस्या को आगे बढ़ाया।

1. ऋषिराय पंचढालियो, 311 से 3।

2. छाछ को गरम करने के बाद उस पर जो नीले रंग का पानी निथर आता है, उसे ‘आछ’ कहते हैं। मेवाड़ में आमतौर से ऐसा करने की पद्धति है, जिससे छाछ गाढ़ी बन जाती है। आछ को भी पशुओं को पिलाने आदि अनेक कामों में लिया जाता है।

3. ऋषिराय गुण वर्णन, 6/10 :

‘भिक्षु भारीमाल बरतार में, तप षट्मासी हुवो नांय।

रायऋषि वरतार में, अष्ट षट्मासी अधिकाय॥’

ऋषिराय ने चतुर्मास संपन्न होते ही उदयपुर से विहार किया और यथाशीघ्र कांकरोली पधारे। वहां सर्वप्रथम मुनि पीथलजी को और फिर उसी दिन राजनगर पधारकर मुनि हीरजी को 186 दिनों की तपस्या का पारण करवाया। अगले दिन केलवा पधारे। वहां मुनि वर्धमानजी को 187 दिनों की तपस्या का पारण करवाया।

आठ छहमासी तप

एक साथ सम्पन्न हुई तीन 'छहमासी' तपस्याओं ने मुनिजनों को ऐसा प्रेरित किया कि उसके पश्चात् ऋषिराय-युग में 5 छहमासी तप फिर हुए। उक्त आठ छहमासी तप सात मुनियों ने सम्पन्न किये। सातों तपस्वी मुनियों का नाम-निर्देशक एक संकलित पद्य इस प्रकार है :

वर्धमान पीथल मोती दीपजी, कोदर शिवजी किया षट्मास।
बे बार छहमासी करी हीरजी, ऋषिराय बरतारै विमास॥¹

सातों तपस्वी मुनियों तथा आठों छहमासी तपों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

1. मुनि पीथलजी (क्र. 56) ने सं. 1883 में कांकरोली में मुनि भीमजी के साथ रहकर 186 दिनों का तप किया।
2. मुनि वर्धमानजी (क्र. 67) ने सं. 1883 में केलवा में 187 दिनों का तप किया।
- 3, 4. मुनि हीरजी (क्र. 76) ने प्रथम तप सं. 1883 में राजनगर में और द्वितीय तप सं. 1885 में गोगूँदा में किया। दोनों 186 दिनों के तप थे।
5. मुनि शिवजी (क्र. 78) ने सं. 1886 में 186 दिनों का तप किया।
6. मुनि दीपजी (क्र. 85) ने सं. 1886 में पीपाड़ में मुनि हेमराजजी के साथ रहकर 186 दिनों का तप किया।
7. मुनि कोदरजी (क्र. 89) ने सं. 1884 में पेटलावद में ऋषिराय के साथ रहकर 181 दिनों का तप किया।
8. मुनि मोतीजी छोटा (क्र. 96) ने संभवतः सं. 1896 में राजनगर में छहमासी तप किया।

तमाखू पर नियंत्रण

संघ को अधिक सुदृढ़ और कार्यशील बनाने के लिए ऋषिराय ने अनेक नई मर्यादाओं का निर्माण किया। वे प्रायः हर कार्य में दूरगामी प्रभाव का विचार करके कार्य किया करते थे। तमाखू सुंधने तथा दांतों पर मलने सम्बन्धी उनकी मर्यादा उसी दृष्टि की

1. उक्त पद्य 'आचार्य चरित्रावली' में प्रकाशित 'ऋषिराय-सुजस' 12।12 पर दिया गया है, परन्तु जयाचार्य द्वारा निर्माण-काल में लिखित मूल प्रति में नहीं है। अतः सम्भव है यह संकलित पद्य बाद में जोड़ा गया हो।

302 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ चतुर्थ परिच्छेद
द्योतक है। स्वामीजीके समय से ही कई साधु तमाखू सूंधा करते तथा कई दांतों पर मला करते थे। दूसरे संघों से आकर दीक्षित होने वाले साधु विशेष रूप से इस विषय में विवश पाये जाते थे। ऋषिराय इस बात को अच्छा नहीं समझते थे। उन्हें भय था कि कहीं एक से दूसरे के पास यह प्रकृति संक्रमण करती ही न चली जाए। उन्होंने तमाखू सूंधने तथा मलने पर इतना कड़ा नियन्त्रण किया कि कोई नये सिरे से तो सूंधना या मलना प्रारम्भ करे ही नहीं, किन्तु जो पहले से सूंधता या मलता हो वह भी उसे छोड़ने में ही लाभ समझने लगे। उन्होंने नियम बनाया कि जो साधु तमाखू सूंधेगा, मलेगा या खायेगा उसे दूसरे दिन 6 विगय का वर्जन करना होगा। इस प्रकार माल से भी जकात को भारी बनाकर उन्होंने इस प्रवृत्ति को संघ से मूलतः समाप्त कर दिया।

दीक्षा-वृद्ध और 'आलोयणा'

प्रतिदिन प्रतिक्रमण के समय दैनिक कार्यों तथा समिति, गुप्तियों में छद्मस्थतावश हो जाने वाली भूलों की 'आलोयणा' की जाती है। प्रत्येक साधु, आचार्य हों वहां आचार्य के पास, अन्यथा अग्रणी के पास, 'आलोयणा' किया करता है। परन्तु पहले यह पद्धति के रूप में केवल इतनी ही थी कि छोटे साधु आचार्य के पास 'आलोयणा' करते और बड़े साधु इच्छा हो तो आचार्य के पास, अन्यथा स्वयं कर लेते थे।

सं. 1884 में ऋषिराय मालव-यात्रा संपन्न कर पुर पधरे। वहां मुनि हेमराजजी पहले से ही विराजमान थे। वे ऋषिराय के सामने गये। बड़े आदर से उन्हें नगर में प्रवेश कराया तथा दर्शन-सेवा करके अत्यन्त प्रसन्न हुए।

मुनि हेमराजजी ऋषिराय से दीक्षा में वृद्ध थे, अतः सायंकालीन प्रतिक्रमण के समय उनके पास 'आलोयणा' न कर उन्होंने स्वयं ही कर ली। वस्तुतः तब तक कभी यह प्रश्न उठा ही नहीं था कि बड़े सन्तों को 'आलोयणा' आचार्य के पास ही करनी चाहिए। मुनि हेमराजजी ने स्वयं 'आलोयणा' कर ली थी, उसमें उनका कोई अभिमान नहीं था, पर अचर्चित विषय पर अपना सामयिक ध्यान मात्र ही था।¹

आज की कोई भी क्रिया आगे के लिए एक परिपाटी बन जाती है। ऋषिराय इस बात के रहस्य को पहचानते थे। इसीलिए वे उस पद्धति को महत्व की दृष्टि से देखते थे। उनकी दृष्टि से वह प्रश्न केवल मुनि हेमराजजी के लिए ही नहीं था, किन्तु संघ के सब भावी आचार्यों तथा उनके दीक्षा-वृद्ध सन्तों के पारस्परिक सम्बन्धों की सीमा पर प्रभाव डालने वाला था, अतः सबके लिए ही था। ऋषिराय चाहते थे कि प्रत्येक साधु, चाहे वह आचार्य से दीक्षा में बड़ा हो या छोटा, 'आलोयणा' आचार्य के पास ही करे।

अपनी उस भावना को मुनि हेमराजजी तक पहुंचाने के लिए उन्होंने एक अच्छा माध्यम भी निश्चित कर लिया। जब मुनि जीतमलजी (जयाचार्य) 'आलोयणा' करने के

1. जय सुजस, 11।17 :

'पुर में आया अधिक हगाम, तठा ताँई चोलणा न हुई ताम।

तिणस्यूं पड़िकमण माहे मुनि हेम, निज मते आलोयणा ले तेम॥'

लिए आये तो ऋषिराय ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—‘जीतमल! मुनि हेमराजजी यहां ‘आलोयणा’ करने न आये तब तक तुझे चारों आहार का प्रत्याख्यान है।’

मुनि जीतमलजी बड़े बिनीत होने के साथ ही ऋषिराय द्वारा दीक्षित उनके प्रथम शिष्य भी थे। मुनि हेमराजजी के साथ भी उनका प्रगाढ़ सम्बन्ध था। अनेक वर्षों तक उनके साथ रहकर उन्होंने शास्त्रीय ज्ञान अर्जित किया था। अतः ऋषिराय ने उस कार्य के लिए वह माध्यम सर्वथा उपयुक्त ही चुना था। मुनि जीतमलजी ने तत्काल ऋषिराय के आदेश को शिरोधार्य किया और वन्दन करके मुनि हेमराजजी के पास गये। उन्होंने पूछा—‘आप आलोयणा करने के लिए नहीं पधारे?’

मुनि हेमराजजी ने कहा—‘यहीं पर अपने-आप कर ली थी।’

मुनि जीतमलजी—‘नहीं, यह तो आचार्य के पास ही करनी चाहिए।’

मुनि हेमराजजी—‘मैंने तो यों ही यहां पर कर ली थी। तेरी ऐसी इच्छा है तो अब वहां कर लूंगा।’

वे तत्काल उठकर ऋषिराय के पास गये और ‘आलोयणा’ कर आये। उसके पश्चात् सहज ही यह परिपाटी चल पड़ी कि दीक्षा-वृद्ध साधुओं को भी आचार्य के ही पास ‘आलोयणा’ करनी चाहिए।

इस प्रकार ऋषिराय ने अपने शासनकाल में अनेक ऐसी परिपाटियां डाली थीं जो संघ के लिए अत्यन्त हितवह थीं। उनकी वह दूरदर्शिता व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के लिए न होकर संघ की सुव्यवस्था के अनुरूप थी।

कोई राजपूत भी है?

ऋषिराय एक बड़े ही निर्भीक व्यक्ति थे। वे अपनी बात को इतने प्रभावशाली ढंग से कहा करते थे कि वह स्वयं ही वातावरण पर छा जाया करती थी। उसमें उनके कंठों का माधुर्य और गम्भीर स्वर भी कुछ सहायक बनते थे।

एक बार ऋषिराय मेवाड़ में विहार कर रहे थे। कुछ सन्त उनसे दूर आगे चल रहे थे। उन दिनों वहां डाकुओं, लुटेरों तथा चोरों का काफी भय रहा करता था। ग्रामों के अधिपति ‘टाकुर’ स्वयं डाका डाला करते थे। आगे चलने वाले संतों को मार्ग में कुछ घुड़सवार मिले। उन्होंने संतों से अपना सामान नीचे रख देने के लिए कहा। संतों ने उनको बतलाया कि हमारे पास कोई धन नहीं है। हम अपने संयम के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्त्र, पात्र और शास्त्रों आदि के अतिरिक्त कोई सामग्री नहीं रखते।

इतने में एक घुड़सवार ने एक साधु के कंधे पर पड़े कम्बल को उठाने का प्रयत्न किया। उस साधु ने भी तत्काल अपने कम्बल को उतारकर नीचे भूमि पर बिछा लिया और उसके ऊपर बैठ गया। आखिर घुड़सवार नीचे उतरा और उस कंबल को उनके नीचे से खींचकर निकालने लगा।

ऋषिराय पीछे से आ ही रहे थे कि उन्होंने दूर से वह सारा दृश्य देखा। घुड़सवारों का ठहरना, कम्बल की ओर हाथ डालना, संतों का उसे बिछाकर बैठ जाना और फिर सवार का नीचे उतर कर उसे खींचने का प्रयास करना—यह सब देख लेने पर उनसे छिपा नहीं रहा कि ये डाकू हैं। परन्तु उन्हें डाकुओं का भय कहां था? उन्होंने तत्काल ऊंचे स्वर से 'हाकल' करते हुए वर्हीं से कहा—‘सारे गोले ही गोले एकत्रित हुए हो या कोई राजपूत भी है तुम्हारे में?’

ऋषिराय की वह तेज आवाज काफी दूर तक फैल गई। डाकू-टोली का सरदार 'ठाकुर' अपने घोड़े पर कुछ पीछे था। घोड़े को दौड़ाकर वह वहां पर पहुंचा तब तक ऋषिराय भी साधुओं के पास पहुंच चुके थे। कम्बल खींचने वाला व्यक्ति कुछ ठिठक गया।

ठाकुर ने आते ही पूछा—‘क्यों महाराज! आप लोगों को राजपूत की क्या आवश्यकता पड़ गयी?’

ऋषिराय ने कहा—‘नहीं, हमें कोई आवश्यकता तो नहीं पड़ी, पर तुम्हारे साथियों ने जब संतों को भी लूटना चाहा और उनके द्वारा कंबल बिछा लेने पर भी उसे खींचकर निकालना चाहा, तब मुझे लगा कि इस टोली में कोई राजपूत नहीं है। मेरा अनुमान था कि कम-से-कम राजपूत तो अभी तक इतना पतित नहीं हुआ होगा। इसलिए मैंने मेरे अनुमान की सत्यता को जांचने के लिए यह पूछा था।’

ठाकुर तो इस बात से लज्जावनत हो ही गया, पर कंबल लेने का प्रयास करने वाला वह सवार और उसके साथी भी लज्जा का अनुभव करने लगे।

ठाकुर ने अपने दो साथियों को ऋषिराय के साथ करते हुए कहा—‘महाराज! पीछे से और भी साथी आ रहे हैं, अतः फिर कोई आप लोगों को कष्ट न दे, इसलिए ये दोनों आपको ग्राम तक पहुंचा आयेंगे।’

अपने प्रति सत्य

ऋषिराय अपनी साधना में बड़े सावधान व्यक्ति थे। कई बार उनकी सहज सावधानी ने लोगों के मन पर बड़ा तीव्र प्रभाव डाला था। एक बार वे मारवाड़ के मांढा गांव में पधारे। सायंकाल का समय था। ऋषिराय आहार से निवृत्त हो चुके थे। मुनिजन आहार कर रहे थे। आकाश में बादल घिर आये थे, इसलिए शीघ्र ही अंधेरा होने लगा। मकान में वृक्ष होने के कारण उस अंधेरे में कुछ वृद्धि और हो गई। संशय होने लगा कि कहीं सूर्यास्त तो नहीं हो गया है?

ऋषिराय स्वयं मकान की छत पर गये। वृक्ष की ओट आ जाने से सूर्य दिखाई नहीं दिया, तब वे उसकी भींत पर चढ़कर देखने लगे। पड़ोस के गृहस्थ नवलमलजी बोहरा ने जब उन्हें भींत पर चढ़े देखा तो संशय और आश्चर्य-मिश्रित भावों से पूछा—‘महाराज! आप इस छोटी भींत पर चढ़कर क्या देख रहे हैं?’

ऋषिराय ने कहा—‘संत आहार कर रहे थे और अंधेरा घिरने लगा, तब मुझे संदेह हुआ कि कहीं सूर्यास्त होने वाला तो नहीं है? यही देखने के लिए मैं भींत पर चढ़ा था।’

बोहराजी—‘यदि सूर्यास्त हो गया होता तो?’

ऋषिराय—‘तो आहार-पानी का परित्याग कर परिष्ठापन कर दिया जाता।’

ऋषिराय की उस सहज सावधानी ने नवलमलजी पर ऐसा प्रभाव डाला कि वे मुग्ध हो गये। उन्होंने उसी दिन समझा कि आत्मसाक्षी से स्वीकृत सत्यता का धर्माराधन में कितना बड़ा महत्व होता है। जो अपने प्रति सत्य होता है, वह अन्यत्र भी सत्य होता है। वह सारा परिवार तभी से श्रद्धालु बन गया।

सत्य की विजय

बोरावड़ के ठाकुर केसरीसिंहजी ऋषिराय के बड़े भक्त थे। एक बार उनके और कुचामन ठाकुर के परस्पर अनबन हो गई। कुचामन वालों ने बोरावड़ पर आक्रमण कर दिया। केसरीसिंहजी ने आक्रमण का सामना करने का निश्चय किया और अपने साहसी सैनिकों के साथ रण-क्षेत्र की ओर आगे बढ़े।

उन दिनों ऋषिराय वहीं ठहरे हुए थे। मार्ग में वह स्थान आया तो ठाकुर साहब ने अन्दर जाकर दर्शन किये। ऋषिराय ने रणसज्जा की उस आकस्मिक तैयारी का कारण पूछा तो ठाकुर साहब ने संक्षेप में सारी बात बतलाते हुए कहा—‘यदि जीवित रहे तो फिर दर्शन करेंगे।’

ऋषिराय ने बातचीत के सिलसिले में कहा—‘वास्तव में तो जो सर्वज्ञ ने देखा है वही होता है, परन्तु व्यवहार में कहा जाता है कि सत्य की सदा विजय होती है।’

ठाकुर साहब ने ब्रह्मचारी ऋषिराय के वचन को गांठ में बांधते हुए कहा—‘अब मुझे अपनी विजय में कोई संदेह नहीं है।’

सेना-सहित वे वहां से आगे बढ़े। युद्ध प्रारम्भ हुआ। थोड़ी देर के युद्ध में ही प्रतिपक्षी सेना का सेनापति ठाकुर केसरीसिंहजी की गोली से मारा गया। अवशेष सेना भाग खड़ी हुई। ठाकुर विजय का डंका बजाते हुए वापस आये और ससैन्य ऋषिराय के दर्शन कर कहने लगे—‘मेरी विजय का रहस्य यही है कि मेरा पक्ष सत्य था और ‘सत्य की सदा विजय होती है’ यह आपका वचन था।’

हम भी देख लें

ऋषिराय की प्रकृति में अन्य अनेक भावों के साथ सरलता की भी विचित्र पुट थी। वे किसी का मन तोड़ना पसंद नहीं करते थे, अतः दूसरा जो भी कहता, वह उन्हें सहज ही स्वीकार हो जाता। इस प्रवृत्ति से कई बार उन्हें ऊहापोह का पात्र भी बनना पड़ा।

एक बार चतुर्मास के पश्चात् ऋषिराय राजनगर में विराज रहे थे। साधु-साधियों के अनेक सिंघाड़े गुरु-दर्शनार्थ वहां आये हुए थे। मुनि हेमराजजी भी पधारने वाले थे।

306 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ चतुर्थ परिच्छेद
वे पधारते तब प्रत्येक बार ऋषिराय दूर तक उनके सामने जाकर वंदन करते और बड़े आदरपूर्वक उन्हें लाया करते थे। उस दृश्य को देखने के लिए आस-पास के अनेक गांवों के लोग एकत्रित हो गये। परन्तु इस बार ऋषिराय सामने नहीं पधारे। मुनि हेमराजजी ठहरते-ठहरते स्थान पर पहुंचकर पट्टासीन हो गये तब ऋषिराय ने पट्ट पर बैठे-बैठे ही वंदन कर लिया।

सामने न पधारने के कारणों को लेकर लोगों में विविध विकल्प उभरे और परस्पर ऊहापोह होने लगा। जसराजजी मारू ने ऋषिराय को उपालंभ की भाषा में कहा—‘आपने यह क्या किया? सामने पधारते तो लोगों के मानसिक उल्लास को कितना बल मिलता और कितने कर्म करते?’

मुनि जीतमलजी (जयाचार्य) वहीं पास में खड़े थे। उन्होंने जसराजजी को टोकते हुए कहा—‘आचार्य की इच्छा हो तो सामने जाएं और इच्छा न हो तो न भी जाएं। इस विषय में तुम गृहस्थों को बीच में पड़ने की क्या आवश्यकता है?’ मुनि जीतमलजी के उस कथन को सुनकर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सोचते थे कि ये तो मुनि हेमराजजी के पक्ष में ही बोलेंगे, परन्तु अब पता लगा कि ये तो ऋषिराय का पक्ष ले रहे हैं। कई लोगों ने तब कहा—‘हम लोग ही इधर-उधर की बातें सोच रहे हैं, परन्तु ये सब तो एक हैं।’

कुछ समय पश्चात् जब लोग चले गये और एकान्त हुआ तो मुनि जीतमलजी ने ऋषिराय से निवेदन किया—‘आपको पट्ट से नीचे उतर कर वन्दन कर लेना चाहिए था।’

ऋषिराय ने अपनी भावना का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—‘इतना ही क्यों? मैं तो अनेक बार सामने गया हूं और आगे भी जाता रहूँगा। इस बार तो इस ‘कालकी’¹—साध्वी चतरूजी (क्र. 65)—के कहने से नहीं गया। साध्वियों का आग्रह था कि आप यहीं विराजे रहें तो हम भी यह ‘भरत-मिलाप’ देख लें।²

रुख बदल लिया

ऋषिराय जहां निर्भय और साहसी थे, वहां अवसर आने पर स्वयं को बदल लेना एवं झुका लेना भी जानते थे। एक बार एक साध्वी को किसी विषय पर उपालंभ देते समय उन्होंने कोई ऐसा शब्द कह दिया जो उसके मन को ठेस पहुंचा गया। वह आक्रोश से भर गई। अन्य साध्वियों को भी उसने उभारा। फलतः 14 साध्वियों ने संघ से पुथक् होने का निर्णय कर लिया।

ऋषिराय को जब उस स्थिति का पता चला तो वे बहुत चिंतित हुए। वे नहीं चाहते थे कि उनके किसी कथन के मूल भाव को न समझने या अन्यथा समझने के कारण संघ

1. उस समय चतरूजी नाम की कई साध्वियां थीं, अतः पुथक् पहचान के लिए शायद उनके शारीरिक वर्ण के कारण उन्हें उक्त विशेषण मिल गया था।

2. प्र. प. सं., पत्र 27।

में कोई विक्षोभ उत्पन्न हो। उन्होंने बिगड़ने के किनारे तक पहुंची उस स्थिति को संभालने के लिए अपने रुख को एकदम मोड़ दे दिया। मुनि सरूपचंदजी को साथ लेकर वे तत्काल साध्वियों के स्थान पर पधारे और उन सबसे बातचीत करके उनके रोष को शांत कर दिया।¹

साध्वियों पर संकट

सं. 1896 की बात है। दीपांजी आदि 14 साध्वियों ने खैरवा (मारवाड़) से विहार किया। जनशून्य मार्ग में उन्हें दो दुष्ट व्यक्ति मिले। दोनों के पास लाठियां थीं। उन्होंने कुछ साध्वियों को रोकना चाहा। उनकी मलिन दृष्टि को समझते ही प्रमुख साध्वी दीपांजी आदि ने युवती साध्वियों को बीच में लेकर एक घेरा बना लिया। उन व्यक्तियों ने पहले तो गालियां निकालते हुए धक्का-मुक्की से अपना काम करना चाहा, पर साध्वियों ने उन्हें सफल नहीं होने दिया। तब वे मार-पीट पर उतर आये। अनेक साध्वियों के चोटें लगीं, परन्तु उन्होंने उनको घेरे में नहीं घुसने दिया। लगभग दो मुहूर्त तक यह संकट उन पर छाया रहा। इतने लम्बे समय तक उस मार्ग पर कोई अन्य व्यक्ति आता हुआ दिखाई नहीं दिया कि जो उन्हें उस संकट से मुक्त कराये।

आखिर उन्होंने अपनी शीलरक्षा के लिए प्राणहुति देने का निश्चय कर लिया। सभी ने नांगले की रस्सी अपने-अपने गले में इस प्रकार से डाल ली कि दुर्भाग्यवशात् घेरा टूट जाने से यदि किसी पर व्यक्तिगत संकट आ जाए तो वह अपनी शीलरक्षा के लिए उस गलापाश को कसकर अपने प्राण दे दे। इस तैयारी के साथ ही मानो शील-रक्षक देवों के आसन हिल गये और उस जनशून्य मार्ग पर देवदूतों के समान कुछ व्यक्ति आते हुए दिखाई दिये। साध्वियों में नये प्राणों का संचार हुआ और उन पापिष्ठों में भय का। उन लोगों के वहां पहुंचने से पूर्व ही वे भाग गये। साध्वियां उन सज्जन पुरुषों के साथ-साथ अपने गंतव्य की ओर आगे विहार कर गईं।

उक्त घटना के पश्चात् बीहड़, जनशून्य या आशंकित मार्ग होता, उस दिन विशेष स्थिति के रूप में ऋषिराय अपने पास रहने वाली साध्वियों को अपने से कुछ ही आगे विहार करवाते ताकि उन्हें पुनः किसी ऐसे संकट का सामना न करना पड़े। कई वर्षों तक उक्त क्रम चलता रहा। फिर जयाचार्य पदासीन हुए तब सं. 1909 में उन्होंने पुनः उस मर्यादा को पूर्ववत् कर दिया कि साधु और साध्वियां साथ में विहार न करें।²

सूई और आज्ञा

आचार्य को बड़ी सजगता के साथ अनुशासन की डोर कसे रखना पड़ता है, अन्यथा उसे कोई भी तोड़ सकता है। छोटा दोष बड़े दोष की ओर बढ़ने वाला प्रथम चरणन्यास होता है। यदि उसे नहीं रोका जाता तो अगले चरणन्यासों को रोकना उत्तरोत्तर

1. प्र. प. सं., पत्र 27।

2. बड़ी मर्यादा, बोल 26।

308 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ चतुर्थ परिच्छेद
कठिन होता जाता है। सजग आचार्य वही है—जो दोष की प्रथम चिनगारी को ही बुझा दे
ताकि लपट बनने का कोई अवसर ही न आने पाये।

एक बार कोई साधु आज्ञा लिए बिना ही किसी घर से सूई ले आया। ऋषिराय को
पता चला तो उन्होंने उसे टोकते हुए कहा—‘गृहस्थ के घर किसी वस्तु के लिए जाना पड़े
तो गुरु से पूछ कर जाये।—क्या तुम इस नियम को नहीं जानते, जो बिना पूछे ही सूई ले
आये?’

दोष की स्वीकृति कठिन होती है, अतः दोषी व्यक्ति उसे टालने के लिए प्रायः
बहस करने लगता है। उस साधु ने भी वही मार्ग अपनाया। उसने कहा—‘सूई ही तो लाया
हूँ। कोई सोना-चांदी थोड़े ही ले आया। ऐसी छोटी वस्तु की क्या आज्ञा ली जाए?’

ऋषिराय ने उसको समझाया—‘छोटी वस्तु के लिए असावधानी करने वाला बड़ी
वस्तु के लिए भी असावधान हो जाता है, अतः सूई या सोने का प्रश्न नहीं, मूल बात गुरु
को पूछकर जाने की है, ताकि कोई साधु निष्प्रयोजन गृहस्थ के घर न जाने पाये।’

अपनी उद्दंडता को धार देते हुए उस मुनि ने कहा—‘ये सब चोंचले मैं नहीं निभा
सकता। आज सूई लेने की आज्ञा लेने को कहते हैं, कल कहेंगे कि सांस लेने की भी
आज्ञा लो।’

ऋषिराय ने उसकी उच्छृंखलता-भरी बातों से समझ लिया कि वह अनुशासन के
प्रति कोई सम्मान की भावना नहीं रखता। उसकी उच्छृंखलता स्वयं उसके लिए ही नहीं,
सारे संघ के लिए भी एक खतरा बन सकती है। रोग की तरह वह वृत्ति अन्य किसी में
संक्रांत न होने पाये—इसलिए उन्होंने उस व्यक्ति को संघ से पृथक् कर दिया।¹

आशातना और दंड

मुनि अमीचंदजी (क्र. 80) अग्रणी विचरते थे। उन्होंने ऋषिराय का अच्छा
सामीच्य साधा और उनके कृपापात्र बन गये। मूलतः वे ऊपर से तो बहुत मीठे थे, परन्तु
भीतर से उतने ही मायावी। कहीं भी भेद डाल देना उनके बायें हाथ का खेल था। दूसरों
को अपमानित करने में उन्हें किसी विशेष आनन्द की अनुभूति होती थी। अपने दीक्षा-गुरु
मुनि गुलाबजी (क्र. 53) को तो संघ से पृथक् करवा देने तक का वे प्रयास कर चुके थे।
वे कालान्तर में आचार्यश्री का भी अविनय करने लगे। एक बार भगवती सूत्र की एक
प्रति के लिए उन्होंने काफी प्रपञ्च किया। ऋषिराय ने तब वह प्रति मुनि जीतमलजी को
प्रदान कर दी। शायद तभी से उनके मन में ऋषिराय के प्रति कोई गांठ पड़ गई। अपने
मायामय प्रहार की तैयारी में वे और अधिक नम्र एवं मीठे बन गये। सरलमना आचार्यश्री
उनके बाह्य व्यवहार को ही वास्तविक मानते रहे, उनकी छद्मता पर उन्होंने कभी ध्यान
नहीं दिया।

1. विशेष विवरण।

मुनि अमीचंदजी ने ऋषिराय के पास रहने वाले संतों को भी अपने प्रभाव में ले लिया। फिर ऋषिराय से कहा—‘मैं अपने सिंघाड़े के संतों सहित आपकी सेवा में रह जाऊंगा। फिर आप अन्य संतों को रख कर क्या करेंगे? बाहर भेजेंगे तो क्षेत्रों की संभाल होगी और नया उपकार होगा।’ ऋषिराय ने तब अपने साथ रहने वालों को विहार करवा दिया। मुनि सरूपचंदजी का सिंघाड़ा साथ में था। आषाढ़ मास में नाथद्वारा से उन्हें भी मारवाड़ में विचरने का आदेश दे दिया। मुनिश्री ने निवेदन किया—‘आप पहले तो मुझे भेजते हैं और फिर वापस बुला लेते हैं। इस बार भी शायद आपको बुलाना पड़े, अतः क्यों न मुझे साथ में ही रख लिया जाए?’ ऋषिराय तो मुनि अमीचंदजी के विश्वास में निश्चिंत थे, अतः कहा—‘इस बार मैं बुलाऊं तो भी मत आना, यह मेरी आज्ञा है।’ मुनि सरूपचंदजी ने कहा—‘आप बुलाएं और मैं न आऊं, यह कैसे हो सकता है? आवश्यकता होने पर आप बुलाने में संकोच मत करना।’ और वे विहार कर गये।

मुनि अमीचंदजी ने अपनी योजना को आगे सरकाते हुए ऋषिराय से कहा—‘मैं आपके साथ हूं ही, ये संत कुछ दिनों के लिए विचर आयें तो अच्छा रहेगा।’ और उन्होंने अपने साथ वाले संतों को अन्यत्र भेज दिया। फिर एक दिन कहने लगे—‘मैं गोगूंदा चतुर्मास करूंगा, अतः आप राजनगर पधार जाएं। वहां मुनि माणकचंदजी आदि संत हैं ही, वे आपके साथ रह लेंगे।’ ऋषिराय को उनका वह व्यवहार बहुत अपमानजनक लगा, परन्तु अब क्या हो सकता था? अन्य कोई सन्त भी तो पास में नहीं था। उन्होंने तब राजनगर चले जाना ही निरापद समझा। विहार किया तो मुनि अमीचंदजी बनास नदी तक तो साथ गये, फिर कहने लगे—‘आपके साथ जाऊंगा और फिर वापस आऊंगा—इस प्रकार व्यर्थ ही दो बार नदी लगेगी। आप पधार जाइये, मैं वापस जाता हूं।’

ऋषिराय ने मुनि अमीचंदजी की दुर्नीति को अच्छी तरह से समझ लिया, अतः आगे न जाकर वापस नाथद्वारा आ गये। भाइयों ने तब मुनि सरूपचंदजी के पास कासिद भेजकर सूचना करवाई कि उन्हें वापस नाथद्वारा पधारना है। मुनिश्री आमेट होते हुए कुवाथल तक पहुंच गये थे। उक्त समाचार पाकर वहां से वापस लौट पड़े। जब नाथद्वारा पहुंचने में एक मंजिल ही शेष रही तब मुनि अमीचंदजी ऋषिराय को अकेला छोड़कर विहार कर गये। ऋषिराय ने जाते समय उनसे कहा—‘तुमने ऐसी आशातना की है कि छह महीनों के अन्दर ही तुम्हें उसका दण्ड भोग लेना पड़े तो आश्चर्य नहीं।’ दूसरे दिन मुनि सरूपचंदजी ने ऋषिराय के दर्शन कर लिये और फिर सं. 1894 के नाथद्वारा चतुर्मास में उनकी सेवा में ही रहे।

मुनि अमीचंदजी ने अपना वह चतुर्मास गोगूंदा में किया। अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव लभते फलम्। अर्थात्—अत्यन्त उग्र पुण्य और पाप के फल तत्काल इसी जन्म में मिल जाते हैं—यह उक्ति वहां उन पर चरितार्थ हो गई। उन्हें वहां तीव्र रुणावस्था भोगनी पड़ी। कार्तिक मास में शीत उधड़ आया, अतः ज्वर और सन्तिपात में पागल की तरह बकते-

310 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ चतुर्थ परिच्छेद
झकते ही उनका शरीरांत हुआ। कहा जा सकता है कि गुरु की आशातना का उन्हें प्रत्यक्ष दण्ड भोग लेना पड़ा।¹

उत्तराधिकारी का चयन

ऋषिराय ने संघीय व्यवस्थाओं में सहयोगी की आवश्यकता का अनुभव किया। शायद मुनि अमीचंदजी का अविनय उसमें मुख्य कारण बना। एक ओर आचार्य-पद के महत्व की अवज्ञा करके मुनि अमीचन्दजी गोगृदा की ओर विहार कर गये, तो दूसरी ओर मुनि सरूपचंदजी थोड़ा-सा संकेत मिलते ही वापस सेवा में उपस्थित हो गये। इन दोनों घटनाओं की तुलना ने आचार्यश्री को सोचने के लिए बाध्य किया। उन्होंने उसी समय उत्तराधिकारी नियुक्त करने के विषय में बहुत गंभीरता से चिन्तन किया। मुनि सरूपचंदजी से भी परामर्श लिया। फलतः मुनि जीतमलजी को युवाचार्य पद पर नियुक्त करने का निश्चय किया। मुनि जीतमलजी उस समय वहां नहीं थे। वे चतुर्मास करने के लिए पाली पहुंच चुके थे। परोक्ष होने पर भी ऋषिराय ने सं. 1893 (चैत्रादि 1894) आषाढ़ शुक्ल पक्ष में नियुक्ति-पत्र लिखा। साथ में एक दूसरा ‘आमंत्रण-पत्र’ भी लिखा। उसमें सुखसाता आदि समाचारों के अतिरिक्त शीघ्र पहुंचने का आमंत्रण भी था। दोनों पत्र मुनि जीतमलजी के संसारपक्षीय बड़े भाई मुनि सरूपचंदजी को सौंपते हुए आचार्यश्री ने कहा—‘अभी तुम इन्हें अपने पास रखो। चतुर्मास समाप्त होने पर जब जीतमल आयेगा, तब प्रकट कर देने का विचार है।’

चतुर्मास के पश्चात् आचार्यश्री ने दो मुनियों को उपर्युक्त दोनों पत्र देकर मुनि जीतमलजी के पास भेजा। मुनिश्री पाली से फलौदी पधार गये थे, अतः पत्रवाहक मुनि भी उधर गये। फलौदी के समीप खीचन में उन्होंने दर्शन किये और दोनों पत्र उन्हें सौंपे। मुनिश्री को उनसे समाचारों की अवगति हुई। वहां से शीघ्र विहार करते हुए वे जोधपुर एवं पाली होकर नाथद्वारा पहुंचे। उसके दूसरे ही दिन ऋषिराय भी उदयपुर आदि क्षेत्रों में विहार कर वहां पहुंच गये। उसी दिन परिषद् में युवाचार्य के रूप में मुनि जीतमलजी का नाम घोषित कर दिया गया।

इक दिन एसो आवियो

ऋषिराय का शरीर प्रायः निरोग था। आखिरी वर्षों में उनके थोड़ी-बहुत सांस की गड़बड़ कभी-कभी अवश्य हो जाया करती थी। उसके अतिरिक्त और कोई रोग उनके शरीर में नहीं था। औषधि लेने का काम तो रोगियों के ही पड़ा करता है, निरोग प्रायः स्वतः ही उससे बच जाते हैं। ऋषिराय निरोग तो थे ही, साथ ही उन्हें औषधियों से एक प्रकार की मानसिक घृणा थी। कोई साधारण-सी गड़बड़ में औषधि लेता तो उन्हें और अधिक रोगी बनने का प्रयास करने जैसा मातूम होता। वे प्रायः अधिक औषधि लेने वालों को टोक भी दिया करते थे।

संवत् 1903 के जयपुर-चतुर्मास में घोड़े की टक्कर लग जाने के कारण ऋषिराय के हाथ की हड्डी उत्तर गई। उससे वहां चतुर्मास के बाद भी प्रायः पूरे चैत्र मास तक रहना पड़ा। उस अवसर पर औषधि लेने तथा तेल आदि की मालिश कराने की भी आवश्यकता पड़ी। तेल आदि चिकने पदार्थों से तो उन्हें औषधि से भी कहीं अधिक धृणा थी, पर हड्डी उतरने पर तो वह नितान्त आवश्यक हो गया, अतः उन दिनों प्रतिदिन तेल की मालिश करवाया करते थे।

चतुर्मास के पश्चात् संत-सतियों ने ऋषिराय के दर्शन जयपुर में ही किये। युवाचार्य जीतमलजी भी वहां पहुंचे। ऋषिराय को तेल लगवाते देखकर उस बात का मीठा आनन्द लेते हुए उन्होंने एक ‘दोहा’ निवेदित करते हुए कहा :

कोई तेल लगावतो, करता तिणस्यूं तर्क।
इक दिन एसो आवियो, गुरु हुआ तेल में गर्क॥

युवाचार्य के उस सामयिक कथन पर स्वयं ऋषिराय तो हँसे ही, साथ ही सारा वातावरण भी स्मयिन् हो गया।

कुशल लिपिकार

ऋषिराय कुशल लिपिकार थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियां की। सबसे सुन्दर 718 पन्नों में उनके हाथ से लिखा हुआ टब्बे सहित भगवती सूत्र है। उसका लिपि संवत् 1877 है। वह लाडनूं शासन ग्रन्थ भंडार में सुरक्षित है।

जनोपकारक यात्राएं

मालव-यात्रा

ऋषिराय की देशाटन में बड़ी अभिरुचि थी। उन्होंने अपने शासन-काल में नये क्षेत्रों एवं नये देशों की अनेक यात्राएं कीं। उन यात्राओं से तेरापंथ के प्रचार-प्रसार में बहुत बड़ा सहयोग मिला। उन्होंने अपनी प्रथम यात्रा मालव (मध्यप्रदेश) की की। सं. 1883 में उदयपुर-चतुर्मास के पश्चात् वे कांकरोली तथा राजनगर आदि क्षेत्रों में पधारे। वहां सत्तर साधु-साध्वियां एकत्रित हुए। मारवाड़ तथा मालव से काफी लोग दर्शनार्थ आये। उन्होंने अपने-अपने क्षेत्रों में पधारने के लिए प्रार्थना की। ऋषिराय ने तब मालव की ओर पधारने का निश्चय किया।¹

उस यात्रा में ऋषिराय के साथ 54 साधु-साध्वियों का संघ था। आवश्यकतानुसार विभिन्न क्षेत्रों में सिंधाड़ों को ठहराते हुए वे आगे पधारते गये। उस समय काफी नये लोग समझे और धर्मानुरागी बने। अनेक स्थानों पर शास्त्रार्थ भी हुए। उनमें खाचरोद, रत्लाम, उज्जयिनी तथा बड़नगर आदि के शास्त्रार्थ विशेष उल्लेखनीय थे। प्रत्येक शास्त्रार्थ में तेरापंथ की मान्यताओं को शास्त्रीय आधार पर कसकर देखने का अवसर मिला। उनकी सत्यता ने आगे से आगे लोगों को प्रभावित किया।

झाबुआ में पधारे तब वहां के नरेश तथा राजकुमार विशेष संपर्क में आए। दोनों ही ऋषिराय के प्रति बड़े श्रद्धाशील बन गये। उनके भक्तिभाव ने अन्य लोगों की भावना को भी विशेष रूप से प्रभावित किया। उस समय की जनता के लिए राजा का लवाजमा, हाथी की सवारी, बाजे-गाजे—यह बाह्य तामझाम भी साधारणतया बड़ा आकर्षक होता था, तब फिर उनका एक श्रद्धालु श्रावक की तरह व्याख्यान में आकर बैठना और स्वयं को एक सेवक निरूपित करना तो विशेष प्रभावकारी रहा हो तो आश्चर्य ही क्या?²

ऋषिराय ने अपना उस वर्ष का चतुर्मास पेटलावद में किया। नौ संतों का वह समागम वहां की जनता के लिए विशेष प्रभावकारी रहा। मालव के अन्य अनेक क्षेत्रों में भी उस वर्ष चतुर्मास करवाये गये।

1. पीथलमुनि, गुणवर्णन, ढा. 1125 से 29।

2. वही, ढा. 1138 से 40।

थली में पदार्पण

ऋषिराय की दूसरी यात्रा सं. 1886 के पाली-चतुर्मास के पश्चात् थली में पधारने की थी। मेवाड़, मारवाड़ और ढूंढाड़ आदि के विहरण को यात्राओं में यहां इसलिए नहीं गिना है, क्योंकि उस समय वे ही मुख्यतः विहार-क्षेत्र थे। साधु-साध्वियों से लेकर आचार्यों तक के चतुर्मास प्रायः उन्हीं प्रदेशों के क्षेत्रों में हुआ करते थे। थली उस समय तक तेरापंथ का विहार-क्षेत्र नहीं बना था। लंबे समय तक वहां के ओसवाल समाज की धार्मिक बागड़ेर प्रायः यति वर्ग के हाथ में रही। यति लोग कालान्तर में आचारहीन हो गये तब लोगों की उनके प्रति श्रद्धा भी नष्ट हो गई। उस शून्यता को भरने का प्रयास तो स्वामी भीखण्डी के समय से ही प्रारम्भ हो गया था, परन्तु वह बीच में ही अवरुद्ध हो गया। स्वामीजी ने सं. 1835 के शेषकाल में मुनि संतोषचन्दजी और शिवरामजी को थली में विचरने हेतु भेजा। वे वहां अनेक क्षेत्रों में विचरे और सं. 1836 तथा 37 के दो चतुर्मास भी उधर ही किये। संयोगवश सं. 1837 के चतुर्मास के पश्चात् तेरापंथ से पृथक् हुए मुनि तिलोकचन्दजी और चंद्रभाणजी उधर आये और उन्होंने उन दोनों मुनियों को भ्रांत कर अपने साथ कर लिया। उन्हें समझाने के लिए उसी वर्ष स्वामीजी भी लाडनूं होते हुए चूरू तक पधारे। उन मुनियों से बातचीत की, परन्तु वह कार्य नहीं बन सका तब वापस मारवाड़ की ओर पधार गये। फिर लम्बे समय तक तेरापंथी मुनियों का उधर पदार्पण नहीं हुआ। चंद्रभाणजी आदि 'टालोकर' मुनियों ने थली को अपना विहार-क्षेत्र बनाया। वहां के काफी लोग उनके अनुयायी भी बने, परन्तु पारस्परिक फूट के कारण वे सब बिखर गये। उनमें से किसी की भी शिष्य-परम्परा आगे नहीं बढ़ पाई।

ऋषिराय ने पदासीन होते ही थली की ओर ध्यान दिया। उन्होंने मुनि सरूपचंदजी को 5 साधुओं से थली में भेजा। आस-पास के क्षेत्रों में विचरने के पश्चात् उन्होंने 1879 का चतुर्मास लाडनूं में किया।¹ थली में धर्म-प्रचार के निमित्त तेरापंथ का वही प्रथम विहरण कहा जा सकता है, परन्तु उसमें नैरंतर्य नहीं आया।

थली में तेरापंथ के प्रचार का सघन प्रयास सं. 1886,87 में स्वयं ऋषिराय के पदार्पण से हुआ। तभी से वहां के क्षेत्रों में स्थायित्व आया और वहां साधु-साध्वियों के निरन्तर चतुर्मास होने लगे। ऋषिराय ने सं. 1886 का चतुर्मास पाली में किया। पाली उस समय व्यापार के लिए प्रसिद्ध मंडी थी। थली के लोगों का भी वहां से व्यापारिक संबंध था। बीदासर के कई व्यक्ति माल खरीदने के लिए पाली आये। वहां उनका ऋषिराय से संपर्क हुआ। बीदासर जाकर उन्होंने तेरापंथ के साधु-साध्वियों के आचार-व्यवहार की बातें बतलाई। यतियों के हीनाचार से ऊबे हुए वहां के प्रमुख व्यक्तियों ने तब पाली

1. सरूप नवरसो, 618,9

'ताम स्वाम ऋषिरायजी, आणी अति उचरंग।

थली देश में मेलिया, प्रवरं पञ्च मुनि संग॥

गुण्यासिये वर्ष लाडनूं....'

314 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ चतुर्थ परिच्छेद
जाकर ऋषिराय के दर्शन करने और उन्हें थली पधारने की प्रार्थना करने का निश्चय किया। शोभाचन्दजी बैंगानी, उत्तमचंदजी बैंगानी, पृथ्वीराजजी बैंगानी तथा पंचाणदासजी बैंगानी—ये चार व्यक्ति ऊंटों पर लम्बा मार्ग पार करके पाली पहुंचे।

उन्होंने ऋषिराय के दर्शन किये, वार्तालाप किया और फिर थली में पधारने की भावभरी प्रार्थना की। आचार्यश्री ने उनसे वहां की स्थितियों की जानकारी प्राप्त की और चतुर्मास की समाप्ति के पश्चात् यथावसर उधर आने का आश्वासन दे दिया। श्रावक-गण जिस उत्साह से आया था उससे कहीं शतगुण अधिक उत्साह लेकर वापस गया।

चतुर्मास समाप्त होते ही ऋषिराय ने मुनि ईसरजी आदि दो संतों को विहरण की अनुकूलता आदि के निरीक्षणार्थ थली में भेजा। स्वयं खैरवा पधार गये। वहां जयाचार्य की माता कल्लूजी अस्वस्थ थीं। पचीस दिन विराज कर उन्हें दर्शन-सेवा का लाभ प्रदान किया। वहां से प्रस्थान कर पौष महीने में वे बोरावड़ पधारे। मुनि ईसरजी भी तब तक थली का निरीक्षण कर वापस आ गये। उन्होंने निवेदन किया कि थली में प्रायः सरल प्रकृति के लोग हैं। उनमें सामाजिक आधार पर पारस्परिक अच्छा प्रेम है। मोटा खाना, मोटा पहनना और सादगीपूर्ण रहन-सहन वहां की अपनी विशेषता है। कृषि और पशुपालन वहां की आजीविका के मुख्य अंग हैं। कुछ लोग वाणिज्य से भी जीविका चलाते हैं। गांवों का निवास, दूध-दही की बहुलता तथा आवश्यक शरीर-श्रम—इन तीनों बातों ने थली-निवासियों को स्वस्थता और सहिष्णुता प्रदान की है। लोगों में संतजनों के प्रति आदरभाव तथा धार्मिक जिज्ञासा अच्छी है। आपके पदार्पण से वहां धार्मिक जागृति होने की प्रबल संभावना है।

मुनिजनों के उक्त प्रतिवेदन पर ऋषिराय ने बोरावड़ से थली की ओर प्रस्थान किया। सं. 1886 में पौष के अन्त या माघ के प्रारंभ में उन्होंने थली में प्रवेश किया। लाडनूं, बीदासर और रतनगढ़ में विराजते हुए वे उस समय चूरू तक पधारे। वहां लगभग 22 दिन विराजे।¹ इस प्रकार शेषकाल में अनेक क्षेत्रों में विहार करने के पश्चात् सं. 1887 का चतुर्मास ऋषिराय ने बीदासर में किया। उस वर्ष वहां के और भी अनेक क्षेत्रों में चतुर्मास करवाये गये। अतृप्त मरुभूमि जिनवाणी की अमृत-वर्षा से तृप्त हो गई। लोग धर्म-भावना से आप्लावित हो गये। जहां-जहां चतुर्मास करवाये गये, वहां-वहां सब जगह ही प्रायः अच्छा उपकार हुआ। बीदासर-चतुर्मास के अतिरिक्त चूरू में मुनि जीतमलजी, रीणी (तारानगर) में मुनि सरूपचंदजी और रतनगढ़ में मुनि ईसरजी आदि के चतुर्मास करवाये गये। कुछ अन्य क्षेत्रों में साधिवियों के चतुर्मास हुए। उस एक ही वर्ष में वहां जो धर्मोद्योत हुआ उसका वर्णन करते हुए जयाचार्य ने लिखा है :

वर्ष सित्यासियै सुखकार, हुयो धर्म उद्योत अपरा।
थया थली देश में थाट, च्यार तीर्थ तणा गहघाट॥²

1. सरदारसुजस, 112,61

2. ऋषिरायसुजस, 9।10।

ગुજरात में

ऋषिराय की तीसरी यात्रा सं. 1889 के उदयपुर-चतुर्मास के पश्चात् प्रारम्भ हुई। वह पिछली दोनों ही यात्राओं की अपेक्षा से बहुत लंबी थी। उसमें गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ—इन तीनों देशों में पधारना हुआ। वर्तमान में ये तीनों गुजरात प्रांत के ही अंग हैं, परन्तु उस समय पृथक्-पृथक् गिने जाते थे। तीनों में ही अनेक-अनेक राजाओं के राज्य थे। ऋषिराय से पूर्व वहां तेरापंथी संत-सतियों का गमन नहीं हुआ। तेरापंथी श्रावकों के द्वारा वहां अवश्य कुछ कार्य हुआ था।

ऋषिराय दस साधुओं को लेकर गुजरात में पधारे। उस समय का वह पदार्पण केवल स्पर्शन मात्र ही कहा जाना चाहिए, क्योंकि विशेष ठहरना कहीं भी नहीं हुआ। मार्ग में पड़ने वाले गांवों तथा नगरों में एक-एक रात विराजते हुए वे आगे बढ़ते गये। वे ईंडर की ओर से गुजरात में प्रविष्ट हुए और अहमदाबाद होते हुए ‘साणंद’ पधार गये। मुनि जीतमलजी (जयाचार्य) आदि सात संत पीछे से तेज विहार करते हुए वहां आकर उस यात्रा में सम्मिलित हो गये। ‘साणंद’ में पुरुषोत्तमदासजी पारख के द्वारा समझाई हुई एक बहिन ‘झब्बूबाई’ तेरापंथी थी। वहां चार रात ठहरना हुआ।

सौराष्ट्र में

गुजरात से सौराष्ट्र के लिए विहार करते हुए ऋषिराय लींबड़ी पधारे। वहां भी पुरुषोत्तमदासजी पारख के समझाये हुए तेरह भाई तेरापंथी थे। वहां दस रात ठहरकर ‘बढ़वाण’ पधारे। वहां उन दिनों दरियापुरी संप्रदाय के शंकरऋषि आये हुए थे। उन्होंने ऋषिराय को कुछ दिन ठहरने के लिए काफी आग्रहपूर्वक कहा, किन्तु एक रात विराजकर ही उन्होंने वहां से ध्रांगध्रा की ओर विहार कर दिया।

उन्हें कच्छ में जाने की शीघ्रता थी, अतः कहीं भी अधिक ठहरने की स्थिति नहीं थी। अन्यत्र अधिक दिन लगा देने से कच्छ के ‘रण’ में पानी भर जाने की संभावना थी। ऋषिराय की इच्छा थी कि ‘रण’ में पानी आने से पहले-पहल वहां विचरण कर वापस मारवाड़ की ओर पहुंच जाएं। इसीलिए उस यात्रा में केवल देशाटन ही अधिक रहा। मालव या थली की तरह यदि वहां भी चतुर्मास करने के ध्यान से पदार्पण होता तो सम्भव है तेरापंथ के प्रसार का वह एक अच्छा अवसर होता। परन्तु उस समय ऐसा नहीं किया जा सका। सम्भव है, सामयिक परिस्थितियां बाधक रही हों।

कच्छ में

कच्छ में प्रवेश करने के बाद उनका ‘बेला’ में पदार्पण हुआ। वहां टीकमजी डोसी की श्रद्धा के व्यक्ति बहुत थे। टीकमजी डोसी तेरापंथी श्रावक ही थे। उन्होंने गेरुलालजी व्यास के पास तत्त्व समझकर श्रद्धा ग्रहण की थी। सं. 1853 तथा 59 में मारवाड़ में जाकर स्वामीजी के दर्शन किये थे। दूसरी बार गये तब शास्त्राध्ययन एवं स्वाध्याय करते समय मन में उठे प्रश्नों को भी लिखकर ले गये और स्वामीजी से उनका समाधान प्राप्त

किया। उन्होंने कच्छ में सैकड़ों व्यक्तियों को तेरापंथी बनाया। अंतिम वर्षों में योग-विषयक कुछ बोलों में उनको संदेह रहने लगा। स्वामीजी दिवंगत हो चुके थे, अतः उपयुक्त समाधान देने वाला भी उन्हें कोई दिखाई नहीं दिया। उन्होंने तब अपने मन को इसी आधार पर टिकाया कि अब इनका समाधान तो सीमंधर स्वामी ही करेंगे। डोसीजी ने उन बोलों के विषय में जो धारणा बनाई, वही उनके द्वारा बनाये गये श्रावकों में भी आगे से आगे संक्रान्त होती चली गई। जब ऋषिराय वहां पधारे तब मतभेद वाले बोलों के उत्तर देकर उन लोगों को समझा लिया। आचार्यश्री वहां दस रात ठहरे।

बेला से अंजार तथा मंदरा होकर ऋषिराय मांडवी पधारे। वहां पुरुषोत्तमदासजी पारख के समझाये हुए काफी श्रावक थे। प्रथम बार गुरु के दर्शन पाकर वे बड़े आह्वादित हुए। उन्होंने अपने यहां चतुर्मास करने के लिए ऋषिराय से काफी आग्रह किया, पर उनकी आशा सफल नहीं की जा सकी। केवल छह रात विराजकर समुद्र और नारियलों के बन देखते हुए ऋषिराय ने मारवाड़ की ओर विहार कर दिया।

क्रमशः लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए जब वे 'आडेसर' पहुंचे तो वहां 'बेला' के भाइयों ने आकर दर्शन किये और चतुर्मास की बहुत प्रार्थना की। उनका अत्यन्त आग्रह देखकर ऋषिराय ने वहां मुनि कर्मचन्दजी आदि तीन संतों को चतुर्मास के लिए भेजा। उससे पूर्व वे मुनि ईसरजी आदि तीन संतों को गुजरात के 'वीरमगाम' में चतुर्मास करने के लिए छोड़ आये थे। दोनों ही स्थानों पर संतों ने अच्छा उपकार किया। स्वयं ऋषिराय ने अपना चतुर्मास पाली में किया।

कहा जाता है कि ऋषिराय जब कभी मध्याह्न में विहार करते तब आकाश में बहुधा बादल छा जाया करते। लोगों में यह धारणा बन गई कि आचार्य रायचंदजी बड़े पुण्यवान् हैं। उन्हें प्रकृति भी सदा सहायता करती रहती है।

इस प्रकार यात्रा-प्रेमी ऋषिराय ने अपनी लम्बी यात्राओं द्वारा संघ की महिमा को तो बढ़ाया ही, उसे अनेक नये क्षेत्र भी प्रदान किये। ऋषिराय की वे लंबी यात्राएं आज भी धर्म-प्रसार के लिए उत्सुक मुनि-जनों को आह्वान कर रही हैं।

अंतिम अवस्था

मालव की प्रार्थना

सं. 1908 में ऋषिराय ने अपना चतुर्मास उदयपुर में किया। वहां मालव के लोग काफी संख्या में दर्शन करने के लिए आये। उन्होंने दूसरी मालव-यात्रा के लिए निवेदन किया। ऋषिराय स्वयं ही यात्रा-प्रेमी थे, फिर आग्रह करने वाले श्रावक भी उसी के लिए प्रेरित कर रहे थे। बात आचार्यश्री के मनोनुकूल थी, अतः उसकी स्वीकृति में अधिक विलम्ब नहीं हुआ।

मालव के लोग प्रसन्न होकर वापस गये। उन्हें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुकूलता की शर्त के साथ स्वीकृति प्राप्त हो चुकी थी। परन्तु उस समय मालव की जनता को अपने हर्षातिरिक्त में यह स्मरण नहीं रहा कि 'द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव' की यह शब्द-संघटना कोरी परंपरागत ही नहीं है, अपितु वह एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य भी है। इस तथ्य की अनुकूलता के अभाव में उद्घोषित यात्रा भी नहीं हो पाती।

प्रथम मालव-यात्रा के समय ऋषिराय की अवस्था लगभग छत्तीस वर्ष की थी, पर उस स्वीकृत दूसरी यात्रा के अवसर पर तो वे अंक अपना स्थान परिवर्तित कर लेने के समीप थे। अवस्था के साथ-साथ मनुष्य के शरीर में बहुत बड़ा परिवर्तन हो जाता है। प्रथम यात्रा में जो शरीर युवा होने के साथ ही सामर्थ्य का प्रतीक था, वही दूसरी यात्रा के अवसर तक वृद्ध होकर असामर्थ्य की ओर संकेत करने वाला हो गया था।

अन्तिम विहार

यद्यपि ऋषिराय की अवस्था उस समय वृद्ध हो चुकी थी, फिर भी उनका शरीर निरोग था। शक्ति भी अच्छी थी। विहार करने में किसी प्रकार की विशेष थकावट महसूस नहीं होती थी। सबसे बढ़कर बात तो यह थी कि उस समय भी यात्रा करने का उनका उत्साह पूर्ववत् ही था। उन्होंने उदयपुर चतुर्मास पूर्ण होने के पश्चात् कुछ महीनों तक आस-पास के क्षेत्रों का स्पर्शन कर फिर मालव जाने का निश्चय किया। योजनानुसार वे ग्रामों में दर्शन देते हुए सत्ताईस रात गोगूंदा में, बाईस रात बड़ी-रावलियां में, पांच रात छोटी रावलियां में और दस रात नांदेसमा में रहे। इस प्रकार आस-पास के क्षेत्रों में विहार करते हुए वे माघ कृष्णा द्वादशी को पुनः छोटी-रावलियां में पधार गये।

श्वास-प्रकोप

माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन जब वे शौच के निमित्त बाहर पधार रहे थे तब उन्हें श्वास में कुछ भारीपन अनुभूत हुआ। यह रोग कुछ वर्ष पूर्व ही उनके हुआ था। तबसे यदा-कदा श्वास का भारीपन हो जाया करता था, पर वह ऐसा कभी नहीं हुआ कि उस पर कुछ विशेष ध्यान देना आवश्यक हो जाए। साधारण विश्राम से या कुछ देर लेट जाने मात्र से ही वह प्रायः ठीक हो जाया करता था। यही कारण था कि उसकी कभी कोई विशेष परवाह नहीं की गई।

इस बार भी उनका श्वास कोई भयंकर रूप से नहीं फूला था, अतः साधारण रूप से ही सारी दैहिक क्रियाएं उन्होंने संपन्न कीं। सायंकाल में भी शौच के लिए बाहर पधारे। अल्प मात्रा में उष्ण आहार भी लिया। किसी प्रकार का कोई विशेष खेद प्रतीत नहीं हो रहा था। यहां तक कि सायंकालीन प्रतिक्रमण भी उन्होंने सानन्द संपन्न कर लिया। परन्तु उसके तत्काल बाद ही श्वास का वेग बढ़ने लगा।

शरीरान्त

उन्होंने संतों से बिछौना कर देने के लिए कहा। उसके तैयार हो जाने पर वे किसी का सहारा लिए बिना अपने आप ही प्रमार्जनी से यतना करते हुए उस पर लेट गये। लेट जाने के पश्चात् श्वास का प्रकोप प्रायः बन्द हो जाया करता था, परन्तु इस बार उसका फल आशा के बिलकुल विपरीत निकला। उनका सारा शरीर प्रस्वेद से गीला हो गया और श्वास का वेग भी अधिक तेज हो गया। सोने पर जब श्वास की अनुकूलता के बदले और अधिक प्रतिकूलता देखी तो वे पुनः विराज गये। संतों से उन्होंने कहा—‘आज से पहले कभी सोने पर श्वास नहीं फूला था।’ बस ये उनके अन्तिम शब्द ही सिद्ध हुए। उसके बाद उन्होंने तुरन्त आंखें फेर दीं।

कुछ संत उनकी पीठ को हाथ का सहारा दिए हुए बैठे थे और कुछ आस-पास में उनकी परिचर्या-निमित्त सावधानी से उनकी ओर देख रहे थे। पर मृत्यु ने उन पर इतनी तेजी से और इतना अचानक आक्रमण किया कि किसी को उसके आगमन का कोई पूर्व अनुमान भी नहीं हो पाया। वे संतों के हाथों का सहारा लिए हुए जैसे बैठे थे वैसे ही दिवंगत हो गये। वह दिन सं. 1908 माघ कृष्णा चतुर्दशी का था। उस समय लगभग एक मुहूर्त रात्रि व्यतीत हुई थी।

ऋषिराय के उस अचानक शरीर-पात से स्वभावतः ही सारे संघ को बड़ा खेद हुआ। जिसने वह बात सुनी उसी ने उस पर विश्वास नहीं करना चाहा, पर मनुष्य की चाह के अनुसार ही तो सब-कुछ नहीं होता। आखिर चाहे या अनचाहे तथ्य को स्वीकारना ही पड़ता है।

उनके दिवंगत होने की वह बात राते-रात दूर-दूर तक पहुंच गई। नांदेसमा, बड़ी रावलियां, गोगूंदा आदि पाश्वस्थ ग्रामों के लोग राते-रात में ही पहुंच गये। प्रातःकाल तक वहां हजारों व्यक्ति एकत्रित हो गये। ऐसे अवसर के लिए आवश्यक सारी सामग्री भी राते-रात में ही एकत्रित की गई। देवविमान के समान तेरह गुमटियों की बैकुंठी तैयार की गई। बाजे-गाजे के साथ शोभा-यात्रा निकाली गई। सोने और चांदी के फूलों की उछाल की गई। चंदन और पीपल की लकड़ी से दाह-कर्म संपन्न किया गया। सैकड़ों रूपयों का व्यय किया गया।

ज्ञातव्य विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

1. जन्म	सं. 1847
2. दीक्षा	सं. 1857 (चैत्रादि 1858) चैत्र पूर्णिमा
3. युवाचार्य-पद	सं. 1877 (चैत्रादि 1878) वैशाख कृष्णा नवमी
4. आचार्य-पद	सं. 1878 माघ कृष्णा नवमी
5. स्वर्गवास	सं. 1908 माघ कृष्णा चतुर्दशी

महत्त्वपूर्ण स्थान

1. जन्म-स्थान	बड़ी रावलियां
2. दीक्षा-स्थान	बड़ी रावलियां
3. युवाचार्य-पद स्थान	केलवा
4. आचार्य-पद स्थान	राजनगर
5. स्वर्गवास स्थान	छोटी रावलियां

आयुष्य-विवरण

1. गृहस्थ	11 वर्ष
2. साधारण साधु-पद	20 वर्ष
3. युवाचार्य-पद	9 महीने
4. आचार्य-पद	30 वर्ष
5. सर्व आयु	62 वर्ष

विहार-क्षेत्र

ऋषिराय के विहार-क्षेत्र में राजस्थान के तत्कालीन राज्य—मेवाड़, मारवाड़, ढूंढाड़ तो थे ही, उनके अतिरिक्त थली, मालव, गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ को भी उन्होंने अपने विहार-क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया।

चतुर्मास-विवरण

ऋषिराय ने तीन चतुर्मास स्वामी भीखणजी के साथ और अठारह चतुर्मास आचार्य भरमलजी के साथ किये। आचार्य-अवस्था में उन्होंने तीस चतुर्मास किए। उनका विवरण इस प्रकार है :

स्थान	चतुर्मास-संख्या	संवत्
पाली	8	1879,82,86,90,93,96,1902,5
जयपुर	6	1880,92,97,1900,3,7
पीपाड़	1	1881
उदयपुर	4	1883,89,95,1908
पेटलावद	1	1884
नाथद्वारा	5	1885,88,94,1901,4
बीदासर	2	1887,99
गोगूंदा	1	1891
लाडनूं	2	1898,1906

शिष्य-संपदा

ऋषिराय पदासीन हुए उस समय धर्मसंघ में 35 साधु (भि. 6+भा. 29=35) तथा 42 साधियां (भि. 10+भा. 32=42) विद्यमान थीं।

ऋषिराय के शासनकाल में 245 दीक्षाएं हुईं। उनमें 77 साधु और 168 साधियां थीं।¹ उनके युग में 29 साधु (भि. 6+भा. 13+ग. 10=29) और 65 साधियां (भि. 10+भा. 21+ग. 34=65) दिवंगत हुईं। 16 साधु (भा. 1+ग. 15=16) और 2 साधियां (राययुग की) बहिर्गत हुईं।

ऋषिराय दिवंगत हुए उस समय 67 साधु (भा. 15+ग. 52=67) और 143 साधियां² (भा. 11+ग. 132=143) धर्म-संघ में विद्यमान थीं।

1. ऋषिराय युग में दीक्षाओं के विषय में दो प्रकार के कथन प्राप्त होते हैं:

(क) ख्यात और शासन-प्रभाकर में 77 साधु और 168 साधियों का उल्लेख है। शासन-प्रभाकर में तो सबके नाम भी गिनाये गये हैं।

(ख) 'ऋषिराय सुजस' 13।23 में साधु-संख्या तो 77 ही है पर साधियां 167 बतलाई हैं :
‘साधु सतंतर आसरै, होजी दीक्षा लीधी गण मांहि।
साधियां एक सौ सतसठ आपरै, थइ ऋषिराय वरतारा मांहि॥’

- ‘ऋषिराय पंच ढालिया’ 5।17 में भी उपर्युक्त प्रकार से ही 77 साधु और 167 साधियों का उल्लेख है।
2. ‘शासन-प्रभाकर’ के अनुसार दिवंगत होने के समय 144 साधियां विद्यमान थीं, जबकि ख्यात, ऋषिराय सुजस (13।24), ऋषिराय पंचढालिया (5।18) तथा आर्या-दर्शन (1।17) आदि में 143 का ही कथन है।

बाल्यकाल

उपोद्घात

श्री जयाचार्य तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य थे। उनका जन्म-नाम जीतमलजी था। अपनी रचनाओं में उन्होंने अपने लिए 'जय' नाम का विशेष प्रयोग किया, अतः जयाचार्य नाम से प्रख्यात हुए। वे बड़े ही प्रभावशाली एवं नव-निर्माण की चेतना वाले आचार्य थे। तेरापंथ में स्वामी भीखणजी का जो महत्वपूर्ण स्थान है, वही जयाचार्य का भी है। उनका शासन-काल तेरापंथ की प्रथम शताब्दी की सम्पन्नता और द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ का काल था। पदारोहण की दृष्टि से वे प्रथम शताब्दी के ही आचार्य थे। प्रथम शताब्दी के काल को तेरापंथ के लिए 'संघर्ष-काल' कहा जा सकता है। यद्यपि प्रथम तीन आचार्यों ने अपने शासन-काल में नव-निर्माण भी किया, परन्तु संघर्ष की उसमें प्रधानता रही। जयाचार्य के शासन-काल में भी संघर्ष चालू रहा, पर उसका स्वर धीमा पड़ गया। विरोधी व्यक्तियों को एक शताब्दी के निरन्तर कठोर संघर्ष के पश्चात् तेरापंथ की अजेयता का विश्वास विवश होकर करना पड़ा। उस स्थिति में संघर्ष स्वतः ही गौण हो गया। फलस्वरूप जयाचार्य को संघ के नव-निर्माण की ओर ध्यान देने का पर्याप्त अवसर मिला। उन्होंने व्यवस्थाओं के नवीनीकरण द्वारा तेरापंथ को एक नया मोड़ प्रदान किया। वह तेरापंथ के लिए 'निर्माण-काल' का प्रारंभ सिद्ध हुआ।

स्वामी भीखणजी ने जिस तरह अपने जीवन का सम्पूर्ण समय तेरापंथ की जड़ों को जमा देने में लगाया उसी तरह जयाचार्य ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति उसे शक्तिशाली बनाने में लगाई। स्वामीजी के बाद तेरापंथ के विचारों तथा व्यवहारों को इतने प्रभावशाली ढंग से जनता के सामने रखने वाले जयाचार्य ही हुए। उनकी उद्दाम शक्ति और अश्रान्त परिश्रम ने तेरापंथ को जनता की दृष्टि में वह सम्माननीय स्थान प्रदान किया, जिसका वह पूर्ण रूप से अधिकारी था। जयाचार्य के उस अथक परिश्रम और उसके द्वारा प्राप्य साफल्य से आज भी मन आश्चर्याभिभूत हुए बिना नहीं रहता। उन्होंने जिस कार्य में भी हाथ डाला, उसी में सफलता उनके चरण चूमती मिली। इसीलिए तो वे कभी-कभी कहा करते थे—‘अच्छा हुआ कि मैं स्वामीजी के पश्चात् उत्पन्न हुआ। यदि ऐसा न होता तो मेरी यह कार्य-शक्ति तो कहीं न कहीं अवश्य व्यय होती, पर मुझे यह सत्य कहां मिलता?’

322 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
स्वामीजी के प्रति उनकी श्रद्धा बहुत ही गहरी थी। वे कहा करते—‘मेरे जैसे सौ जीतमल
भी स्वामीजी के चरणों के नख की बराबरी नहीं कर सकते।’

जयाचार्य वस्तुतः एक सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य थे। उनकी प्रतिभा से तेरापंथ ने जो पाया, वह उसके लिए बहुत ही मूल्यवान् और शक्तिशाली संबल सिद्ध हुआ। उनकी प्रतिभा एक ऐसा निधान थी, जिसमें किसी वस्तु का अभाव नहीं था। वह प्रतिभा कभी श्रान्त नहीं हुई। आजीवन उसने ऐसी वस्तुएं प्रदान कीं, जिनसे न केवल तेरापंथ ही, अपितु सारा जैन-समाज गौरवान्वित हुआ।

जन्म

जयाचार्य राजस्थान के जोधपुर-संभाग ‘मारवाड़’ के ‘रोयट’ ग्राम में उत्पन्न हुए। उनका जन्म वि. सं. 1860 आश्विन शुक्ला चतुर्दशी को हुआ। स्वामी भीखण्जी को दिवंगत हुए उस समय पूरा एक महीना ही हुआ था। जयाचार्य की उस जन्म-तिथि से ऐसा लगता है, मानो प्रकृति ने एक शक्ति के शान्त होते ही दूसरी शक्ति को जन्म देने का अपना सिद्धान्त दुहराया हो। उनके पिता का नाम आईदानजी और माता का नाम कल्लूजी था। वे ओसवाल जाति में ‘गोलछा’ गोत्र के थे। स्वामी भीखण्जी एक बार रोयट पधारे, तभी से वह परिवार स्वामीजी के प्रति श्रद्धालु बन गया। सं. 1844 में तो जयाचार्य की बुआ ‘अजबूजी’ ने स्वामीजी के पास दीक्षा भी ग्रहण कर ली। स्वामीजी ने योग्यता देखकर कालान्तर में उनका सिंधाड़ा कर दिया।

रोगाक्रांत

एक बार साध्वी अजबूजी विहार करती हुई रोयट आई। उन दिनों बालक जीतमल इतना रुग्ण था कि परिवार वालों ने उसके जीवित रह पाने की आशा भी छोड़ दी थी। सती अजबूजी रोगी बालक को दर्शन देने आई, तो कल्लूजी ने आंखों में आंसू भरकर बालक की स्थिति उन्हें बतलाई। साध्वी अजबूजी की चतुर आंखों ने होनहार बालक की रुग्ण आकृति पर ध्यान देकर न जाने क्या पढ़ा कि उन्होंने भावी आशंका से कातर हुई अपनी संसारपक्षीया भाभी कल्लूजी से कहा—‘देखो, यदि यह इस बीमारी से बच जाए और इसके दीक्षा के भाव हो जाए तो तुम रुकावट मत डालना।’

कल्लूजी ने साध्वीजी के मुख से जब यह बात सुनी तो आंखों में आंसू होते हुए भी उन्हें हँसी आ गई। वे कहने लगीं—‘हमें तो इसके बचने की आशा भी धूमिल नजर आ रही है, तब आप इसके दीक्षा लेने की बात किस आधार पर कह रही हैं?’

साध्वीजी ने कहा—‘तुम तो अपनी ओर से इसकी आशा छोड़ ही चुकी हो, तो फिर मेरी बात को स्वीकार करने में तुम्हें कोई अड़चन होनी ही नहीं चाहिए। मेरी बात तो तभी काम आ सकती है जब यह निरोग हो जाए और उसके बाद इसकी दीक्षा की भावना भी हो जाए।’

कल्लूजी को यद्यपि इस विषय में कोई आशा नहीं रह गई थी, फिर भी उन्होंने उस बात को स्वीकार कर लिया। संयोग की बात ही कहिए कि उसी दिन से बालक का रोग धीरे-धीरे शांत होने लगा। थोड़े ही दिनों में वह रोग से मुक्त होकर बिलकुल स्वस्थ हो गया।

भावना के अंकुर

बाल्यकाल में ही जीतमलजी के मन में दीक्षित होने की भावना के अंकुर प्रस्फुटित होने लगे। उनके संस्कारों में मानो कोई ऐसी स्थिति पूर्व से ही निहित थी, जो उन्हें कुछ अज्ञात प्रेरणा दे रही थी। जब वे सात-आठ वर्ष के हुए, तभी से संत-सतियों के समक्ष दीक्षा की प्रार्थना करने लगे। संत जब उन्हें बतलाते कि अभी तुम्हारी अवस्था छोटी है, अतः तुम्हें दीक्षा देने का कल्प नहीं है, तब भी वे थोड़े-थोड़े दिनों के पश्चात् पूछते ही रहते कि अब मुझे दीक्षा का कल्प आया कि नहीं?

कभी-कभी वे किसी वस्त्र की झोली बनाकर उसमें कटोरी रख लेते और स्वयं अपने तथा चाचा के घर में गोचरी करने का अभिनय करते हुए कहते कि मैंने दीक्षा ले ली है। शुद्ध आहार हो तो मुझे देना। अशुद्ध देने से पाप के भागी बनोगे। यों अनेक प्रकार से उनके मानसिक भावों की अभिव्यक्तियां चलती ही रहतीं। परिवार वाले उसे बाल-लीला समझकर यों ही हंसकर रह जाते, पर बालक के अन्तस्तल में पक रहे भावों को कोई समझ नहीं पाया।

पिता का देहान्त

जयाचार्य के पिता आईदानजी अपने गांव के एक प्रभावशाली और मान्य व्यक्ति थे। आर्थिक दृष्टि से भी वे सम्पन्न व्यक्तियों में गिने जाते थे। सं. 1863 में अचानक ही रोयट पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। जयपुर-नरेश सर्वाई जगतसिंहजी ने जोधपुर पर आक्रमण किया। मीरखां पिंडारी भी अपनी सेना के साथ उनके सहयोग में था। उन लोगों ने बहुत दिनों तक जोधपुर के किले को धेरे रखा। फिर अचानक ही कुछ ऐसी स्थिति बनी कि मीरखां¹ को धेरे से हट जाना पड़ा। उस स्थिति में उसकी सेना ने मारवाड़ के गांवों को खूब लूटा। रोयट भी उसकी चपेट में आया। सेना ने थोड़ी ही देर में पूरे गांव को ध्वस्त करके रख दिया।² लूट के भयानक आघात ने आईदानजी के प्राण ले लिए।

सगाई

जयाचार्य तीन भाइयों में सबसे छोटे थे। दो बड़े भाई सरूपचंदजी और भीमराजजी थे। दोनों बड़े भाइयों की सगाई रोयट में आईदानजी के समय में ही कर दी गई थी। उन दोनों का विवाह कर देने की भी वे तैयारी करने लगे थे, परन्तु उनकी वह योजना अधूरी ही रह गई। उनकी अकाल मृत्यु के कारण सारे परिवार का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया।

1. कालान्तर में यही अमीरखां नाम से टॉक का नवाब बना।

2. ख्यात में मीरखां का नाम नहीं है। उसमें कहा गया है कि सिंधी फौज ने गांव को लूटा।

पति-वियोग और अर्थाभाव की ओटें बहुत ही पीड़ादायक और भयंकर होती हैं। उन दोनों को एक साथ सह लेने का साहस बहुत ही कम स्त्रियों में पाया जाता है। कल्लूजी अत्यन्त साहसी महिला थीं। उन्होंने उन चोटों का अत्यन्त धैर्यपूर्वक सामना किया। माता तो वे थीं ही, पिता का दायित्व भी उन्होंने अपने ऊपर ले लिया। उन्होंने अपने छोटे पुत्र जीतमल की सगाई 'धुंधारा' में कर दी। कल्लूजी का पीहर भी वहीं था। उस समय की सामाजिक पद्धति के अनुसार सगाइयां विवाह से कई वर्ष पहले कर दी जाती थीं। विवाह भी प्रायः बाल्यकाल में ही कर दिए जाते थे।

किशनगढ़ में

आईदानजी के देहावसान के पश्चात् अनेक वर्षों तक कल्लूजी अपने पुत्रों का पालन-पोषण करती हुई रोयट में ही रहीं। वह छोटा गांव था। आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए वहां बहुत कम अवकाश था। केवल खेती पर निर्भर रहकर घर का व्यय तो निकाला जा सकता था, परन्तु बचत होने की विशेष संभावना नहीं थी। वे चाहती थीं कि उनके पुत्र खेती में ही रुके न रहकर व्यापार में लगें। काफी सोच-विचार के पश्चात् उन्होंने किशनगढ़ में बस जाने का निर्णय किया। अपने तीनों पुत्रों को साथ लेकर वे वहां चली गईं।

सरूपचंदजी ने वहां दुकान कर ली। अपने व्यापार को जमाने में उन्होंने पूरा प्रयास किया। धीरे-धीरे उन्हें यह विश्वास हो गया कि रोयट की अपेक्षा यहां उनके लिये आर्थिक लाभ की संभावना अधिक है। रोयट में छूटी भूमि तथा सम्पत्ति को वे बीच-बीच में जाकर सम्भाल आया करते थे।

आचार्य-पदार्पण

कल्लूजी को किशनगढ़ में बसे थोड़ा ही समय हुआ था कि सौभाग्यवश आचार्य भारमलजी का वहां पदार्पण हो गया। वे जयपुर की ओर पधार रहे थे। कुछ दिनों के लिए किशनगढ़ में विराजना हुआ। कल्लूजी तथा तीनों भाइयों को वहां अनायास ही सेवा करने का अच्छा अवसर मिल गया। वहां से सं. 1869 का चतुर्मास करने के लिए आचार्य भारमलजी ने जयपुर की ओर तथा मुनि हेमराजजी ने माधोपुर की ओर विहार किया। आचार्य भारमलजी तो जयपुर पधार गये, परन्तु मुनि हेमराजजी माधोपुर नहीं जा सके। वर्षा हो जाने के कारण बनास नदी ने उनका मार्ग अवरुद्ध कर दिया। वे वापस किशनगढ़ आ गये और वह चतुर्मास उन्होंने वहीं किया। कल्लूजी आदि को सेवा का वह दूसरा अवसर सहज प्राप्त हो गया। बालकों के धार्मिक संस्कारों की सुदृढ़ भूमिका के लिए वह बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

तत्त्व-शिक्षा

आचार्य भारमलजी ने सं. 1869 का चतुर्मास जयपुर में किया। वहां वे पद्मसिंहजी ढङ्ग के मकान में विराजे। कल्लूजी अपने तीनों पुत्रों सहित सेवा करने के लिए जयपुर

गई। वहां वे लाला हरचंदलालजी जौहरी के मकान में ठहरीं। बालक जीतमल के लिए वह प्राथमिक तत्त्व-ज्ञान का अवसर था। उस समय उन्होंने पचीस बोल, तेरह द्वार, चर्चा आदि थोकड़े कंठस्थ किये। बुद्धि प्रखर थी। समझने की शक्ति भी असाधारण थी। जो बात एक बार बता दी जाती, उसे दुबारा बताने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वे हर बात को बड़े ध्यान से सुनते और उसे बड़ी सहजता से हृदयंगम कर लेते। उस समय उनकी अवस्था केवल नौ वर्ष की ही थी। अन्य बालक उस अवस्था में जहां प्रायः खेल-कूद की ओर ही अधिक ध्यान देते हैं, वहां बालक जीतमल ने अपना सारा ध्यान तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति पर केन्द्रित कर दिया।

जौहरीजी का आकर्षण

लाला हरचंदलालजी जौहरी का ध्यान बालक की असाधारण प्रतिभा और लगन की ओर गया। अनेक दिनों तक वे उन्हें ध्यानपूर्वक देखते-परखते रहे। लालाजी ने अनुभव किया कि बालक होकर भी वे स्थिरतापूर्वक आचार्य भारमलजी का व्याख्यान सुनते हैं तथा वर्णित विषय को अच्छी तरह से समझ भी लेते हैं। लालाजी कभी-कभी उन्हें कुछ पूछ भी लिया करते थे। वे तब प्रत्येक बात का निर्भीकतापूर्वक उत्तर देते। लालाजी को उनकी प्रत्येक बात में अपनी एक विशेषता मिली। वे उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित तथा आकृष्ट हुए।

एक दिन लालाजी ने माता कल्लूजी को एकान्त में लेकर कहा—‘हम जौहरी हैं। हीरों की परीक्षा तो करते ही हैं, परन्तु मनुष्यों की परीक्षा करना भी हमें आता है। आपके छोटे पुत्र की लगन और अध्यवसाय को देखते हुए लगता है कि ये यदि संयमी बनेंगे तो अवश्य ही बड़े तेजस्वी साधु होंगे। इनके संयम में तो मैं बाधक नहीं बनना चाहता, पर एक बात कह देना चाहता हूँ कि यदि ये संसार में रहें तो मेरी छोटी भतीजी के साथ इनका रिश्ता पक्का कर लें। मैं यह भी चाहूँगा कि इन्हें मेरे मित्र बहादुरसिंह पटोलिया की गोद बिठा दिया जाए। पचास हजार रुपये अभी उनके नाम कर दिये जायेंगे और बाद में तो उनकी सारी सम्पत्ति के एकमात्र ये ही अधिकारी हो जाएंगे।’¹

कल्लूजी का निर्णय

कल्लूजी अपने पुत्र को गोद देना नहीं चाहती थीं। सगाई भी कैसे की जा सकती थी, जबकि वह पहले ही एक जगह निश्चित हो चुकी थी। रुपयों का प्रलोभन उनके लिए कोई महत्व नहीं रखता था। सती अजबूजी को दिया हुआ वचन भी उन्हें याद था, अतः संयम की इच्छा होने पर वे उसमें बाधक बनना नहीं चाहती थीं। इसलिए उन्होंने लालाजी के कथन का आदर तो किया, परन्तु निर्णय बालक के भावी जीवन-क्रम के ऊपर ही छोड़ दिया। अन्य लोगों को उनके जीवन-क्रम के विषय में सन्दिग्धता हो सकती थी, पर स्वयं बालक जीतमल के लिए तो उनका अपना जीवन-क्रम बिलकुल निश्चित हो चुका

1. ‘ख्यात’ में जवेरचन्दजी की गोद बिठाने तथा पचहतर हजार की रकम सौंपने का उल्लेख है।

326 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
था। उन्हें न कांचन का प्रलोभन उस निश्चय से हटा सकता था और न कामिनी का। इन
दोनों से बढ़कर कोई तीसरा प्रलोभन अभी तक संसार में है नहीं।

अजबूजी की प्रेरणा

आचार्य भारमलजी का जयपुर में कारणवश चतुर्मास के पश्चात् भी फाल्गुन
तक विराजना हुआ। कल्लूजी ने भी सेवा करने का अपना विचार और बढ़ा लिया।
चतुर्मास के पश्चात् सन्त-सतियों का गुरु-दर्शनार्थ जयपुर-आगमन हुआ। कल्लूजी
की संसारपक्षीया ननद साध्वी अजबूजी भी आई। उन्होंने जब भाइयों का धर्म-विषयक
अनुराग और तत्त्वज्ञान के प्रति परिश्रम देखा तो वे बहुत प्रसन्न हुईं। सेवा कराते समय
उन्होंने अपनी ओर से भी उन्हें संयम की प्रेरणा दी। उस परिवार के सभी सदस्य मूलतः
संयम के प्रति बड़े अनुरागी थे। समय-समय पर मिलने वाली प्रेरणाएं उन्हें उस ओर
अधिकाधिक अनुरक्त बनाने वाली होती गईं।

मुनि-जीवन के बारह वर्ष

दीक्षा-ग्रहण

माता कल्लूजी का सारा परिवार विरक्ति की भावनाओं से ओत-प्रोत था। सर्वप्रथम सबसे बड़े पुत्र सरूपचंदजी ने माता की आज्ञा लेकर दीक्षा-ग्रहण का निश्चय किया। आचार्य भारमलजी ने उनको सं. 1869 पौष शुक्ला नवमी के दिन मोहनबाड़ी में दीक्षा प्रदान की। उसके पश्चात् सबसे छोटे पुत्र जीतमलजी को दीक्षित करने की तिथि निर्णीत कर दी गई। उन्हें दीक्षा देने के लिए आचार्य भारमलजी ने स्वयं न जाकर ऋषिराय को भेजा। ऋषिराय तब तक साधारण साधु की अवस्था में ही थे, पर आचार्य भारमलजी ने मानो उन दोनों के लिए उपयुक्त पद पहले ही निर्धारित कर लिये थे और उसी आधार पर दीक्षा देने के लिए ऋषिराय को भेजते हुए उन्होंने कहा—‘मेरे पीछे तो भार सम्भालने के लिए तू है ही, तुझे भार सम्भालने वाला चाहिएगा, अतः तू ही जा।’ गुरु के आदेशानुसार ऋषिराय ने तब निर्णीत तिथि सं. 1869 माघ कृष्णा सप्तमी के दिन घाट दरवाजे के बाहर वट वृक्ष के नीचे उन्हें दीक्षित किया। वे उनके स्वहस्त दीक्षित प्रथम शिष्य थे।

आचार्यश्री ने दोनों भाइयों को प्रशिक्षण के लिए मुनि हेमराजजी को सौंपा और कुछ दिनों पश्चात् वहां से माधोपुर की ओर विहार करा दिया। पीछे से मझले भाई भीमराजजी के मन में भी विराग-भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने अपनी माता से वह बात कही तो उन्होंने भी अपनी तैयारी बतलाई। आचार्य भारमलजी ने उन दोनों को सं. 1869 फाल्गुन कृष्णा एकादशी को दीक्षा प्रदान की। इस प्रकार लगभग डेढ़ महीने में एक घर के चारों व्यक्तियों की पृथक्-पृथक् करके तीन बार में दीक्षाएं सम्पन्न हो गईं। तीनों बार लाला हरचंदलालजी ने दीक्षा-महोत्सव किये।

नव-दीक्षित मुनि भीमराजजी को आचार्यश्री ने अपने पास रखा और साध्वी कल्लूजी को साध्वी अजबूजी के सिंघाड़े में सौंप दिया।

बड़ी-दीक्षा

आचार्य भारमलजी जयपुर से विहार करते हुए माधोपुर पधारे। मुनि हेमराजजी तब तक बूंदी और कोटा की तरफ विचरण कर माधोपुर पहुंच गये। वहां तीनों भाई साधु

328 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
की अवस्था में प्रथम बार मिले। मुनि सरूपचंदजी को तो 'छेदोपस्थापनीय चारित्र' (बड़ी दीक्षा) दीक्षा के सात दिन पश्चात् ही दे दिया गया, किन्तु मुनि जीतमलजी को नहीं दिया गया। मझले भाई मुनि भीमराजजी को दीक्षा-क्रम में उनसे बड़ा रखने के लिए ऐसा किया गया। मुनि भीमराजजी को चार महीने पश्चात् माधोपुर में आचार्य भारमलजी ने तथा मुनि जीतमलजी को छह महीने पश्चात् इन्द्रगढ़ चतुर्मास में मुनि हेमराजजी ने बड़ी दीक्षा प्रदान की।¹

भावना का आम

नव-दीक्षित मुनि सरूपचंदजी तथा मुनि जीतमलजी को साथ लेकर मुनि हेमराजजी ने जयपुर से विहार किया। वे वहां से बूंदी तथा कोटा की ओर गए। नव-दीक्षितों के लिए प्रारम्भ में पाद-विहार प्रायः कठिन ही होता है, फिर मुनि जीतमलजी तो नौ वर्ष के बालक ही थे। कोटा पहुंचने वाले दिन विहार में वे बहुत थक गये। प्यास भी बड़े जोर से लगी। मुनि हेमराजजी ने कहा—‘गांव तक चलो। वहां बाहर के घरों में ही जल की गवेषणा कर लेंगे। अन्दर जाने तक तुम्हें प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी।’ उनका साहस बड़ाते हुए उन्होंने कहा :

बूंदी का हाड़ा तीन सौ साठ
एकलो भीमड़ो लोह की लाट

‘वास्तव में तुम बड़े साहसी बालक हो। इन साधारण परीषहों से घबराने वाले नहीं। बस, अब थोड़े-से पग उठाओगे इतने में गांव आया ही समझो।’ मुनिश्री का प्रोत्साहन पाकर बालमुनि के धीमे पड़ते पैर फिर से तेज हो गये।

गांव में प्रविष्ट होकर थोड़ी दूर ही चले थे कि छाया देखकर मुनि हेमराजजी बालमुनि के साथ एक जगह ठहर गये। उन्होंने आस-पास के घरों में पानी की गवेषणा करने के लिए मुनियों को भेजा। मुनि कई घरों में गये परन्तु अचित्त-जल प्राप्त नहीं हुआ। इतने में एक बहिन ने मुनि हेमराजजी आदि को खड़े देखा तो वह उनके पास आई, बन्दन किया और अपने घर पधारने की प्रार्थना की। मुनिश्री वहां पधारे। उसके वहां पर्याप्त अचित्त-जल प्राप्त हुआ। सभी सन्तों ने पानी पीकर तृप्ति का अनुभव किया।

वह बहिन जयपुर के कुम्भावतों की पुत्री थी। कोटा में उसका ससुराल था। कुम्भावत परिवार बहुत पहले से ही तेरापंथी था। उस परिवार में सन्तों के प्रति बड़ा आदरभाव तथा

1. सामायिक चारित्र के पश्चात् छेदोपस्थापनीय (बड़ी दीक्षा) या तो सात दिन पश्चात् या चार महीने पश्चात् या फिर छह महीने पश्चात् ही दिया जा सकता है। मुनि भीमराजजी को यदि सात दिन पश्चात् बड़ी दीक्षा दी जाती तो उन्हें बड़ा रखकर मुनि जीतमलजी को चार महीने पश्चात् बड़ी दीक्षा दी जा सकती थी। पर उन्हें जब चार महीने पश्चात् बड़ी दीक्षा दी गई, तब मुनि जीतमलजी को छह महीने पश्चात् देना आवश्यक हो गया। सम्भव है मुनि भीमराजजी को पहले प्रतिक्रिमण सीखने का अवसर न मिला हो और दीक्षा के पश्चात् सात दिनों में वे उसे न सीख पाये हों, अतः चार महीने पश्चात् उन्हें बड़ी दीक्षा दी गई।

भावना का विशेष गुण था। पुत्री में भी वे संस्कार थे। ससुराल में आने पर भी वह प्रतिदिन भावना भाती। प्रातःकाल सारे बर्तन राख से मांजकर धो लेने के पश्चात् ही काम में लेने की वहां पद्धति थी, अतः सहज ही निष्पन्न उस अचित्त-जल को वह इसलिए प्रतिदिन अवेर कर रखती कि स्यात् कभी कोई 'सिंघाड़ा' इधर से आ जाए तो उसका ब्रत निपज जाए। पास-पड़ोस के प्रायः सभी व्यक्ति उसके उस कार्य का उपहास किया करते। ससुराल वाले भी उस कार्य को उसकी एक सनक समझते। सबके ताने सहती हुई भी वह अपने कार्य से कभी विरत नहीं हुई। वह उस जल को बड़ी सावधानी से रखती। सूर्यास्त होने के पश्चात् वह उसे किसी काम में बरत लेती या यों ही बाहर गिरा देती। उसकी वह भावना और साधना बारह वर्षों तक निरन्तर चलती रही, परन्तु कभी ऐसा सुयोग नहीं मिला कि उसका ब्रत निपज सके। इतने वर्षों के पश्चात् उस दिन उसका ब्रत निपजा। बालसाधु जीतमलजी पानी पीकर तृप्त हुए तो वह बहिन इतने वर्षों की भावना पूर्ण होने पर तृप्त हुई। उसने मुनि हेमराजजी से कहा कि बारह वर्षों के पश्चात् जैसे आम का वृक्ष फलता है, उसी प्रकार मेरी भावना का आम भी बारह वर्षों से आज फलीभूत हुआ है।

तीनों भाइयों का साथ

सं. 1870 के प्रथम चतुर्मास में मुनि सरूपचंदजी और जीतमलजी को मुनि हेमराजजी के साथ इन्द्रगढ़ भेजा गया, जबकि मुनि भीमराजजी को आचार्य भारमलजी ने अपने साथ माधोपुर में रखा। द्वितीय चतुर्मास सं. 1871 में मुनि सरूपचंदजी को आचार्यश्री ने अपने पास रख लिया और मुनि भीमराजजी को मुनि हेमराजजी के साथ पाली चतुर्मास करवाया। वहां चतुर्मास करने के पश्चात् जब मुनि हेमराजजी ने गुरु-दर्शन किये तब आचार्यश्री ने फरमाया कि अब से तीनों भाई मुनि हेमराजजी के साथ रहा करो। तब सं. 1872 से सं. 1876 तक के पांच चतुर्मास तीनों भाइयों ने साथ-साथ किये। फिर मुनि सरूपचंदजी को अग्रणी बनाकर पृथक् विहार करवा दिया गया।

संस्कार-अर्जन

दीक्षा के प्रारम्भिक वर्षों को साधु-जीवन के अनुकूल संस्कार अर्जित करने के लिए स्वर्ण अवसर कहा जा सकता है। 'जैसा संग वैसा रंग' प्रायः प्रत्येक पर आता ही है। इसलिए उस अवस्था में संरक्षक या मार्गदर्शक का बड़ा महत्व होता है। प्रारम्भिक संस्कार बड़े गहरे होते हैं और आजीवन अपना प्रभाव रखते हैं।

आचार्य भारमलजी ने मुनि जीतमलजी को संस्कार अर्जन के लिए ही मुनि हेमराजजी को सौंपा था। मुनिचर्या का आद्योपान्त प्रशिक्षण और अनुशीलन का समग्र प्रकार उन्होंने वर्हीं से प्राप्त किया। लगभग बारह वर्ष तक वे उनके साथ रहे। उस लम्बी अवधि में उन्होंने न केवल संस्कारों का ही अर्जन किया, अपितु उन्हें फलीभूत कर जीवन की अनेक महत्ताओं का नवोद्गम भी किया। मुनि हेमराजजी जैसे मार्गदर्शक विरल मिलते हैं, तो जयाचार्य जैसे मार्ग-गवेषक भी विरल ही मिलते हैं।

ज्ञान के उत्तराधिकारी

मुनि हेमराजजी का आगम-ज्ञान अगाध था। जयाचार्य को बाल्यावस्था से ही उसका अवगाहन करने का अच्छा अवसर उपलब्ध हुआ। उन्होंने उस अवसर का बड़ी तत्परता से लाभ उठाया। वे अपने अनवरत परिश्रम के द्वारा आगम-सिन्धु के मंथन में जुट गये। फलस्वरूप उन्होंने मुनि हेमराजजी के गम्भीर आगम-ज्ञान का न केवल उत्तराधिकार ही प्राप्त किया, अपितु अपने बुद्धि-बल से उसे शतगुण करने का सामर्थ्य भी अर्जित किया।

योगों की स्थिरता

मुनि हेमराजजी के साथ रहकर जयाचार्य ने जहां आगम-ज्ञान, विनय और नियमानुवर्तिता आदि सद्गुणों में वृद्धि की, वहां योगों की स्थिरता में भी विशेषता पाई। उनके बाल्य-जीवन की एतद् विषयक अनेक घटनाओं में से एक सर्वाधिक प्रसिद्ध है। वह इस प्रकार है :

मुनि हेमराजजी एक बार पाली पधारे। वे बाजार में दुकानों पर ठहरे। बालमुनि जीतमलजी भी उनके साथ ही थे। उन्हीं दिनों वहां कोई नट-मण्डली आई। बाजार में बांस रोपकर उसने अपना खेल प्रारम्भ किया। नगर की प्रायः आबाल-वृद्ध जनता उसे देखने के लिए आ जुटी। बालमुनि जीतमलजी अपनी लेखनी, स्याही और पत्र आदि सामग्री लेकर ऊपर के चोबारे में लिखना कर रहे थे, तभी नीचे उनके बिलकुल सामने नाटक प्रारम्भ हुआ। इधर उनका लेखन-कार्य चलता रहा, उधर नाटक चलता रहा। उनकी दृष्टि अपनी लेखनी, मसी-पात्र और पत्र पर ही धूमती रही, नाटक की ओर उन्होंने आंख उठाकर भी नहीं देखा।

नाटक देखने के लिए आए हुए व्यक्तियों में से एक वृद्ध सज्जन तेरापंथियों से बहुत द्वेष रखा करते थे। उन्होंने बालमुनि को सामने बैठे देखा तो सोचा कि यदि एक बार भी यह मुनि नाटक की ओर देख लेगा तो तेरापंथ की निन्दा करने का थोड़ा-बहुत मसाला मिल ही जाएगा। उन्होंने अन्त तक उनकी ओर ध्यान रखा, पर वे नितान्त असफल ही रहे। आखिर नाटक समाप्त हुआ और सब लोग उठकर अपने-अपने घर जाने लगे। वृद्ध सज्जन भी उठे और अपने साथियों से कहने लगे-'हम लोग तेरापंथ की जड़ खोद देना चाहते हैं, पर आज मुझे ज्ञात हुआ कि यह जड़ बहुत गहरी है। कम से कम सौ वर्षों तक तो इस पंथ का हम कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे, यह मैं आज के अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ।'

उक्त सज्जन के मुंह से तेरापंथ के विषय में कुछ अच्छे शब्दों का निकलना तो भूत के मुंह से रामनाम निकलने जैसा अभूतपूर्व ही था, अतः लोगों ने पूछा-'आज ऐसी क्या बात हो गई है?'

उक्त सज्जन ने नाटक और बालमुनि की सारी घटना बताते हुए कहा-'मैंने पूरी तरह से ध्यान रखा कि देखें यह बालक नाटक की ओर देखता है या नहीं? मुझे पूरा

विश्वास था कि जब हम जैसे बूढ़े भी नाटक देखने के लिए इतनी देर से यहां धूप में बैठे हुए हैं, तो यह बालक तो देखे बिना रह ही नहीं सकेगा। पर मैंने पाया कि उसने एक बार भी आंख उठाकर इधर नहीं देखा। जिस संस्था का एक बालक भी इतना सावधान और दृढ़ होता है, उसकी जड़ कोई नहीं खोद सकता।'

उक्त घटना जहां बालमुनि जीतमलजी की मानसिक स्थिरता पर प्रकाश डालती है, वहां इस बात की ओर भी संकेत करती है कि सौ मन उपदेशों से एक छटांक आचरण का मूल्य सदा से ही अधिक रहा है। तेरापंथ के प्रचार और प्रसार में भी उसकी दार्शनिक व्याख्या तथा मौलिक साहित्य-रचनाओं से कहीं अधिक सहायक उनका सुमर्यादित आचरण रहा है। आज ऐसे अनेक धर्म-संघों का इतिहास उपलब्ध है जो मृत्यु की गोद में समा गये। उनके सिद्धान्त ऊँचे और तर्क-संगत थे, पर आचरणहीन अनुयायियों की दुर्बलताओं ने उन्हें ऐसी दशा में ला पटका, जहां से उन्हें फिर कभी उठने का अवसर ही नहीं मिल सका।

तेरापंथ की आचार-प्रधानता की छाप प्रारम्भ से ही चली आ रही है। उससे विरोध रखने वाले व्यक्ति भी इस बात का लोहा मानते रहे हैं। तेरापंथ ने वस्तुतः आचार को अपना मूलधन माना है। पहले मूल-आचार की सुरक्षा है, बाकी सब बातें पीछे हैं। बालमुनि जीतमलजी की उस आचार-सम्पन्नता और स्थिरयोगता ने तेरापंथ के आचार-प्राधान्य की उस छाप को और भी अधिक गहरा कर दिया।

आचार्य थोड़े ही हो गया ?

मुनि हेमराजजी जयाचार्य के विद्या-गुरु थे। जयाचार्य ने स्वयं को उनके सम्मुख सदैव एक शिष्य ही समझा। उनके विनयी और शालीन स्वभाव से मुनिश्री इतने प्रभावित थे कि उनकी किसी बात को प्रायः टाला नहीं करते थे। एक बार मुनि हेमराजजी ने आचार्य भारमलजी के केलवा में दर्शन किये। बहुत लम्बी मंजिल तय करके वे वहां पहुंचे थे, अतः अत्यन्त श्रान्त हो गये। आचार्यश्री को वन्दन करके उठे तो उनके पैर एक क्षण के लिए सीधे नहीं हो पाये। आचार्यश्री ने देखा तो पूछ लिया कि क्या आज पैरों में पीड़ा अधिक है? मुनिश्री ने कहा—‘विहार लम्बा होने से आज तो थक कर चूर-चूर हो गया हूँ।’ आचार्यश्री ने फरमाया—‘इतना लम्बा विहार न कर, छोटा करते। बीच में जैतपुरा था, वहां ठहर गये होते।’ मुनि हेमराजजी ने कहा—‘जीतमल का मन था कि आज ही दर्शन कर लें।’ आचार्य भारमलजी हँसे और कहने लगे—‘अच्छा, यह बात है। परन्तु जीतमल कोई आचार्य थोड़े ही हो गया है? तुम कह देते कि तुम्हारी बात मानने का विचार नहीं है।’¹

विग्रह-परिहार

मुनि जीतमलजी में अपने सभी गुरुजनों के प्रति अत्यन्त विनीत भाव रहता था। उनमें भी तीन व्यक्ति-आचार्य भारमलजी, मुनि रायचंदजी (ऋषिराय) और मुनि

332 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
हेमराजजी विशेष उल्लेखनीय थे। आचार्य भारमलजी के शासन में वे दीक्षित हुए, अतः वे उनके मूल गुरु थे। मुनि रायचंदजी ने उनको दीक्षा प्रदान की, अतः वे दीक्षा-गुरु थे और मुनि हेमराजजी के पास रहकर उन्होंने विद्यार्जन किया, अतः वे उनके विद्यागुरु थे। तीनों के प्रति उनका उद्ग्र विनयभाव था।

आचार्य भारमलजी की सेवा और दर्शन की उनके मन में बड़ी तीव्र भावना रहती थी। अग्रोक्त घटना उसका अप्रतिम उदाहरण है :

बाल्यावस्था में मुनि हेमराजजी के साथ उनका सं. 1875 का चतुर्मास पाली में था। वहां से विहार हुआ तब उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक आचार्यश्री के दर्शन नहीं होंगे, तब तक वे पांच 'विगय' का सेवन नहीं करेंगे। मुनि हेमराजजी वहां से विहार करते हुए मेवाड़ में देवगढ़ तक पधार गये। वहां सायंकाल के समय जब वे बहिर्भूमि से वापस आ रहे थे तब एक गाय ने अचानक उनके चोट लगा दी। उनके धुटने की ढकनी उत्तर गई। उस अनाकर्णक्षित बाधा से उन्हें वहां करीब नौ महीने तक रुकना पड़ा। उसके पश्चात् जब आचार्यश्री के दर्शन हुए, तब तक मुनि जीतमलजी को विगय-परिहार करते हुए लगभग तेरह महीने हो गये थे। इतने लम्बे समय तक विगय-परिहार के मूल में उनकी उत्कट गुरु-भक्ति ही काम कर रही थी।

सत्-परामर्श

जयाचार्य बाल्यावस्था से ही प्रखर विचारशील और बुद्धिमान् व्यक्ति थे। उनका परामर्श जहां व्यक्ति के लिए हितावह और उपयोगी हुआ करता था, वहां समग्र संघ की दृष्टि से भी अनुशीलनीय होता था। सं. 1876 में आचार्य भारमलजी ने मुनि सरूपचंदजी को अग्रणी बनाना चाहा। उस समय तक वे मुनि जीतमलजी की ही तरह मुनि हेमराजजी के साथ रहे थे। उनका समग्र प्रशिक्षण वहीं हुआ था। वे नहीं चाहते थे कि उन्हें उनसे पृथक् किया जाये। उन्होंने आचार्यश्री के चरण पकड़ कर आग्रहपूर्वक मुनि हेमराजजी के साथ ही रखने की प्रार्थना की।

आचार्य भारमलजी ने समझाते हुए फरमाया—'जो साधु पृथक् विहार करने के योग्य हों उन्हें धर्म-प्रसार की दृष्टि से पृथक् विहार करवाया जाता है। तुम्हें संघ-हित को ध्यान में रखते हुए इस विषय में सोचना चाहिए तथा आग्रह नहीं करना चाहिए।' इस प्रकार उन्हें बार-बार समझाया गया, परन्तु वे अपने आग्रह पर ही डटे रहे। आचार्यश्री ने तब उन्हें समझाने के लिए नया उपाय काम में लिया। उन्होंने उनको मुनि हेमराजजी से तब तक के लिए बोलने का त्याग करा दिया जब तक कि वे अपना सिंघाड़ा स्वीकार न कर लें।

मुनि सरूपचंदजी उस त्याग से बड़े धर्मसंकट में पड़ गये। न वे अपना सिंघाड़ा चाहते थे और न मुनि हेमराजजी के साथ मौन। आखिर उनको मुनि जीतमलजी ने ही उस उलझन में से निकाला। उन्होंने सत्-परामर्श देते हुए कहा—'हम लोगों को आचार्यश्री के दृष्टिकोण को आगे रखकर ही चलना चाहिए। हम अपनी-अपनी व्यक्तिगत सीमाओं में आबद्ध होकर सोचते हैं, जबकि आचार्यश्री समग्रता से सोचते हैं। वे आपको पृथक्

विहार करवाना चाहते हैं तो आपका कर्तव्य हो जाता है कि उसे सहर्ष स्वीकार कर लें।’ इस परामर्श के पश्चात् मुनि सरूपचंदजी ने अपना आग्रह छोड़ दिया और आचार्यश्री के कथन को शिरोधार्य कर लिया। मुनि जीतमलजी की अवस्था उस समय सोलह वर्ष की थी।

दो नाम नहीं

संघ की प्रत्येक घटना पर जयाचार्य की पैनी दृष्टि प्रारम्भ से ही बड़ी सावधान रहा करती थी। वे घटना का मूल्य तत्कालीन लाभालाभ से न आंक कर अन्तिम फल के आधार पर आंका करते थे। उनका वह स्वभाव किशोरावस्था में भी कितना परिपक्व था, यह निम्नोक्त घटना से जाना जा सकता है :

आचार्य भारमलजी ने सं. 1878 में अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति का निश्चय किया। नियुक्ति-पत्र लिखने के लिए उन्होंने मुनि जीतमलजी को ही बिठाया।¹ उन्होंने उसमें दो व्यक्तियों के नामों का उल्लेख करते हुए लिखवाया—‘सर्व साध-साधवी खेतसीजी रायचंदंजी री आगन्या मांहें चालणो।’

मुनि खेतसीजी संसार-पक्ष से मुनि रायचंदजी के मामा थे। उक्त संबंध के आधार पर ही पत्र में दोनों नाम लिखवाये गये थे। मुनिश्री ने दोनों नाम लिख तो दिये, परन्तु वे ठिक गये। वे उस समय 18 वर्ष के ही थे, फिर भी उनकी राजनीतिक प्रतिभा ने वैसी स्थिति में संभाव्य खतरे का अनुमान लगा लिया। उन्होंने विनयपूर्वक निवेदन करते हुए कहा— ‘भगवन्! आप चाहें जिसका नाम लिखवाएं, परन्तु वह एक ही होना चाहिए। दो नाम किसी भी स्थिति में नहीं रहने चाहिए।’

आचार्यश्री ने कहा—‘इससे क्या अन्तर पड़ता है? दोनों मामा-भानजे हैं, अतः एक ही तो हैं।’

मुनिश्री ने फिर निवेदन करते हुए कहा—‘कोई कितने भी निकट सम्बन्धी क्यों न हों, परन्तु आचार्य-पद की नियुक्ति पर उसका प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। यह परम्परा आगे कभी खतरा बन सकती है।’

आचार्य भारमलजी को उनके सुझाव में दूरदर्शिता तथा व्यावहारिकता का अनुभव हुआ। उन्होंने उसे मान्य किया और प्रथम नाम हटाकर केवल मुनि रायचंदजी का ही नाम रखा।

कृतज्ञता-वृत्ति

जयाचार्य में अपने उपकारी के प्रति कृतज्ञ रहने की वृत्ति बड़ी उदग्र थी। यही कारण था कि वे आजीवन मूनि हेमराजजी के प्रति बड़े विनीत और शिष्य-भावयुक्त रहे। वे

- नियुक्ति-पत्र की प्रथम आधी पंक्ति और अंतिम पंक्ति आचार्यश्री ने स्वयं लिखी और शेष पत्र मुनि जीतमलजी से लिखवाया। ऐसा उक्त पत्र की लिपि से ज्ञात होता है।

334 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
अपनी सारी योग्यता को मुनिश्री की देन ही माना करते थे। उन्होंने अपनी कृतियों में उनके प्रति जो भक्ति-भाव अभिव्यक्त किया है, वह वस्तुतः उन जैसे कृतज्ञ व्यक्तियों की लेखनी के द्वारा ही उद्भूत हो सकता है। वे कहते हैं :

मो सुं उपकार कियो घणो, कह्यो कठा लग जाय।
निश दिन तुम गुण संभरूं, बस रह्या मो मन मांय॥
सुपने में सूरत स्वाम नी, पेखत पामै प्रेम।
याद कियां हियो हुलसै, कहणी आवै केम॥
हूं तो बिन्दु समान थो, तुम कियो सिन्धु समान।
तुम गुण कबहु न बिसरूं, निश दिन धरूं तुम ध्यान॥
साचा पारस थे सही, कर देवो आप सरीस।
विरह तुम्हारो दोहिलो, जाण रह्या जगदीश॥
जीत तणी जय थे करी, विद्यादिक विस्तार।

..... ॥¹

आधा अक्षर

मुनि हेमराजजी के प्रति मुनि जीतमलजी की भक्ति केवल वाणी-विलास ही नहीं थी, वह उनके अन्तर्गं से उद्भूत थी। उनके प्रत्येक कार्य में उसकी अभिव्यक्ति होती रहती थी। अनेक बार ऐसे अवसर आए जब वे स्थिरचित्त होकर लिखने में लगे होते और तभी अचानक मुनि हेमराजजी के स्थंडिल-भूमि की ओर जाने की तैयारी का उन्हें पता लगता। उस समय वे किसी भी प्रकार का विलम्ब किये बिना तत्काल अपने लेखन को छोड़कर उनके साथ जाने की तैयारी करने लगते। अनेक बार तो अक्षर भी अधूरा ही रह जाया करता था। वे उनके साथ जाने के लिए इतनी फुर्ती से तैयार होते कि देखने वाले चकित रह जाते। उस फुर्ती के पीछे उनकी मानसिक भक्ति छिपी होती थी। वे मुनि हेमराजजी की प्रतीक्षा कर लेना अपना कर्तव्य समझते थे, पर ऐसा अवसर कभी नहीं आने देना चाहते थे, जिसमें मुनि हेमराजजी को उनकी प्रतीक्षा करनी पड़े।

हेम भगवती

मुनि हेमराजजी की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति करने में मुनि जीतमलजी अपनी पूरी शक्ति लगा दिया करते थे। उनका संकेत भर उन्हें कार्य-प्रवृत्त कर दिया करता था। एक बार बात ही बात में मुनि हेमराजजी ने कहा—‘हमारे पास अन्य अनेक सूत्रों की प्रतियां तो हैं, परन्तु भगवती की प्रति नहीं है’।

मुनि जीतमलजी ने उनके आशय को समझा और शीघ्र ही स्तबकार्थ सहित भगवती सूत्र का लेखन प्रारम्भ कर दिया। भगवती सूत्र उपलब्ध जैनागमों में सबसे बड़ा माना जाता है। उसकी प्रतिलिपि करने वाले को बड़े धैर्य और सातत्य की अपेक्षा होती है।

1. हेम नवरसो, 7।19 से 23।

काफी लम्बा समय लगाये बिना उस समुद्र का पार पाना असंभव ही होता है। वे अत्यन्त तल्लीनता से अपने कार्य को प्रतिदिन आगे बढ़ाते जा रहे थे कि अचानक ही उसमें एक बाधा उपस्थित हो गई। आचार्य ऋषिराय ने उन्हें अग्रणी बनाकर मुनि हेमराजजी से पृथक् विहार करा दिया। वह नया उत्तरदायित्व ग्रहण करने के पश्चात् भगवती लेखन का कार्य उन्हें स्थगित ही कर देना पड़ा। उस कार्य के लिए उन्होंने फिर अपने परम सहयोगी तथा मित्र मुनि सतीदासजी को प्रेरित किया। उन्होंने तब उस अधूरी प्रति को सं. 1889 में पूर्ण किया। आठ सौ पत्रों में लिखी गई वह भगवती संघ में 'हेम-भगवती' के नाम से प्रसिद्ध है। मुनि हेमराजजी के कर-कमलों में समर्पित मुनि जीतमलजी की वह एक अद्वितीय श्रम-सिक्त भेंट कही जा सकती है।

दर्शनों की उत्सुकता

मुनि हेमराजजी के प्रति जयाचार्य की भक्ति स्थायी और निःस्वार्थ थी। वे बारह वर्ष तक उनके साथ रहे। उन्होंने उनसे गम्भीर तत्त्व-ज्ञान तथा व्यवहार-ज्ञान अर्जित किया। यदि उनके प्रति उनकी भक्ति स्थायी बने तो इसमें आश्चर्य ही क्या हो सकता है? वे अग्रणी हो जाने के पश्चात् भी मुनिश्री के प्रति उतने ही भक्ति-संभृत रहे, जितने कि छात्रावस्था में थे। उनमें मुनिश्री के दर्शन एवं सेवा की उत्सुकता उतनी ही तीव्र देखी जाती है जितनी कि आचार्य के लिए होती है। वे काफी घुमाव लेकर भी मुनिश्री के दर्शन करने को जाते रहते थे। उनके दर्शनों से उन्हें एक अनिर्वचनीय आत्मतृप्ति मिला करती थी।

एक बार मुनि हेमराजजी काणाणा में थे। मुनि जीतमलजी ने उनके दर्शन करने के निमित्त जोधपुर से विहार किया। उन दिनों वे एकान्तर तप कर रहे थे, फिर भी अक्षय-तृतीया तक दर्शन कर लेने का उन्होंने निश्चय किया। एक दिन उपवास का होता तो दूसरा पारण का। दोनों ही दिन समान रूप से लम्बे विहार करते हुए चले, तब कहीं यथासमय वहां पहुंच सके। उपवास के दिन आठ कोस (लगभग 26 कि.मी.) की मंजिल तय करके उन्होंने मुनिश्री के दर्शन किये।

दर्शन कर आऊं

सं. 1889 का दिल्ली चतुर्मास करके मुनि जीतमलजी ने गोगूंदा में ऋषिराय के दर्शन किए। ऋषिराय का उस वर्ष लम्बी यात्रा करने का विचार था। वे ऐसे अवसर पर मुनिश्री को भी अपने साथ ही रखना चाहते थे। यात्रा की बात चलाते हुए उन्होंने कहा—‘जीतमल! अब गुजरात चलना है।’

मुनिश्री के लिए उसमें किसी भी प्रकार की बाधा तो हो ही क्या सकती थी? वह तो उनके लिए अतिरिक्त प्रसन्नता की ही बात थी। उन्होंने अपनी तैयारी व्यक्त करते हुए प्रार्थना की—‘गुरुदेव! मुनि हेमराजजी के दर्शन हुए लगभग दो वर्ष हो गये हैं, अतः यदि आप आज्ञा प्रदान करें तो मैं उनके दर्शन कर आऊं और शीघ्रता से चलकर गुजरात के मार्ग में आपकी सेवा में उपस्थित हो जाऊं।’

ऋषिराय ने उनको दर्शन कर आने की आज्ञा प्रदान की और स्वयं गुजरात की ओर विहार कर गये। मुनि जीतमलजी ने वहां से सिरियारी की ओर विहार किया। मुनि हेमराजजी उन दिनों वहीं विराजमान थे। छह पड़ावों से वे वहां पहुंचे और दस दिन तक उनकी सेवा में ठहरे। उसके पश्चात् लम्बे विहार करते हुए अहमदाबाद से भी कुछ आगे जाकर 'साणंद' में उन्होंने ऋषिराय के दर्शन कर लिये। अपने विद्या-गुरु के प्रति उनकी वह अनन्य भक्ति वस्तुतः महत्ता के अनुरूप ही थी।

अग्रणी-जीवन और सफल यात्राएं

प्रचण्ड योग्यता

जयाचार्य ने अपने द्वादश-वर्षीय विद्यार्थी-जीवन में जो योग्यताएं अर्जित कीं, उनका विशेष उपयोग उनके अग्रणी-जीवन से प्रारम्भ हुआ। वे धर्म-प्रसार में प्रबल रुचि रखा करते थे तो साथ ही एकान्त मनन और चिन्तन में भी किसी से पीछे नहीं थे। चर्चा-वार्ता में भाग लेने की रुचि ने उन्हें प्रतिवादी-भयंकर बना दिया, तो साहित्यिक रुचि ने एक उच्च साहित्यकार। उनके जीवन के विविध पहलुओं को देखने पर ऐसा लगता है कि वे स्थाद्वाद की तरह अनेक विरोधी स्वभावों के समन्वय-स्थल थे। उन्हें अपनी योग्यता का स्वतन्त्र प्रयोग करने के अनेक अवसर प्राप्त हुए। अग्रणी बनने से पूर्व तो वे प्रत्येक कार्य में अपने-आपको मुनि हेमराजजी की ओट में रखना ही पसन्द करते थे। परन्तु योग्यता कभी किसी ओट में छिपकर नहीं रह सकती। छिपाने पर तो वह और तीव्रता से प्रकट होती है। जयाचार्य जैसे व्यक्तियों की प्रचण्ड योग्यता छिपकर कैसे रह सकती थी?

अग्रणी

सं. 1881 का जयपुर-चतुर्मास सम्पन्न करके मुनि हेमराजजी ने पौष कृष्णा 13 को पाली में ऋषिराय के दर्शन किये। वहां पांच दिन ही व्यतीत हो पाये थे कि आचार्यश्री ने मुनि जीतमलजी को मुनि हेमराजजी के पास से ले लिया और पौष शुक्ला 3 को उन्हें 'अग्रणी' बना दिया। मुनि वर्धमानजी, मुनि कर्मचन्दजी और मुनि जीवराजजी को उनके साथ दिया गया।¹ मेवाड़ की ओर जाने का आदेश देकर उन्हें उसी दिन वहां से विहार करा दिया गया। प्रथम पड़ाव उन्होंने खैरवा में किया। वहां से क्रमशः विहार करते हुए वे मेवाड़ की ओर पथार गये।

मेवाड़-यात्रा

मुनि जीतमलजी अपनी प्रथम यात्रा में मेवाड़ पथारे। उनके पदार्पण से उस वर्ष मेवाड़ की जनता में अच्छा उत्साह रहा। उनकी वाणी में एक ऐसा आकर्षण था कि वे जिस ग्राम में जाते, वहां की जनता अपने-आप उनके पास आ जुटती। छोटे से बड़े

1. क्र. सु., 8।12।

338 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
व्यक्ति तक को वे अपने ढंग से बतलाते, धर्म-चर्चा करते और थोड़ी ही देर में पाते मानो
वह उनके लिए सर्वथा अपना ही हो गया है।

प्रत्येक गांव के श्रावक-वर्ग की इच्छा थी कि उस यात्रा में उनके गांव में अवश्य पदार्पण हो। मुनि जीतमलजी ने भी अधिक से अधिक गांवों में विचरने का निश्चय किया। देवगढ़, आमेट, आगरिया, सरदारगढ़, राजनगर, कांकरोली और नाथद्वारा में ठहरते हुए वे उदयपुर पधारे। वहां से गोगूंदा आये तब उन्हें ज्ञात हुआ कि मुनि हेमराजी सादड़ी में हैं। गोगूंदा के अनेक भाई वहां दर्शन करने के लिए गये और गोगूंदा पधारने की प्रार्थना की। मुनिश्री तब भाणपुर के मार्ग से वहां पधारे। मुनि जीतमलजी पांच कोस (16 कि. मी.) तक सामने गये। अपने विद्या-गुरु के दर्शन पाकर उन्हें असीम प्रसन्नता हुई। मुनि हेमराजी ने जब जनता के मुख से अपने छात्र की भूरि-भूरि प्रशंसा सुनी तथा उनके कार्य-कलापों को देखा तो मन ही मन अत्यन्त आहादित हुए।

दोनों सिंघाड़े एक महीने तक गोगूंदा में साथ रहे, फिर पृथक्-पृथक् दिशाओं में विहार कर गये।

मुनि जीतमलजी वहां से नाथद्वारा आये। मुनि सरूपचंदजी उज्जयिनी-चतुर्मास के पश्चात् गुरु दर्शन के लिए आ रहे थे। वे भी वहां पहुंचे। दोनों भाइयों का तब अनायास ही मिलन हो गया। वहां से दोनों सिंघाड़ों ने साथ-साथ ही विहार किया और मारवाड़ में आकर ऋषिराय के दर्शन किये।

मुनि सरूपचंदजी मालव से पूजोजी, हिन्दूजी और धनजी-इन तीनों व्यक्तियों को दीक्षित करके लाए थे। उन्हें गुरु-चरणों में समर्पित किया और कहा—‘मालव में कोदरजी की दीक्षा भी होने वाली थी, परन्तु कुछ कारणों से उसमें थोड़ा विलम्ब होने की संभावना हो गई, अतः मैंने उन्हें वैशाख-पूर्णिमा तक आपके दर्शन कर लेने को कहा है।’ ऋषिराय उनके उपकार-कार्यों से बड़े सन्तुष्ट हुए। वे विहार करते हुए कंटालिया पधारे। वहां पूर्व निर्णयानुसार कोदरजी ने दर्शन कर लिए। सं. 1881 (चै. 1882) ज्येष्ठ कृष्णा 2 को ऋषिराय ने उनको वहां दीक्षा प्रदान की। उसी समय जयाचार्य के मझले भाई मुनि भीमजी का सिंघाड़ा किया और मुनि भवानजी तथा नव-दीक्षित मुनि कोदरजी को उनके साथ भेज दिया। मुनि जीतमलजी के सिंघाड़े में भी परिवर्तन किया गया। वहां से मुनि कर्मचन्दजी को वापस लेकर उनके स्थान पर नव-दीक्षित मुनि हिन्दूजी को भेज दिया गया।

मुनि जीतमलजी को अपना प्रथम चतुर्मास करने के लिए उदयपुर क्षेत्र दिया गया। वे वहां से विहार करते हुए पुनः मेवाड़ पधार गये। उस चतुर्मास में उन्होंने उदयपुर की जनता पर तो प्रभाव जमाया ही, महाराणा भीमसिंहजी तथा युवराज जवानसिंहजी पर भी उनके उपदेशों का अच्छा प्रभाव रहा। सफलता ने उनका सदैव साथ दिया। वे जहां जाते या जिस कार्य में हाथ डालते, वहां सफलता उनका पहले से ही स्वागत करने को तैयार खड़ी मिलती। होनहार विवाह के, होत चीकने पात के अनुसार उनका वह प्रथम

श्री जयाचार्य ■ अग्रणी-जीवन और सफल यात्रा एं 339
विहरण ही उनकी भावी महान् सफलताओं का अनुमान लगाने के लिए एक सफल साधन बन गया।

ग्रंथ-संग्रह

मुनि जीतमलजी ने अपने प्रथम प्रवास-काल से ही तेरापंथ को अनेक प्रकार से लाभान्वित करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने अपने व्याख्यानों तथा तत्त्वचर्चाओं के द्वारा अनेक व्यक्तियों को सुलभबोधि तथा सम्यक्त्वी बनाया। दूसरा कार्य उन्होंने ग्रन्थ-संग्रह का किया। तेरापंथ को अपने प्रारम्भकाल में प्रायः ग्रन्थों के अभाव का सामना करना पड़ा। ऋषिराय के युग तक भी ग्रन्थों की कोई बहुत सुलभता नहीं थी। कुछ मुनि लेखन के द्वारा उस कमी को पूर्ण करने का प्रयास करते थे, परन्तु अक्षरों की सुघड़ता के लिए कोई संकल्पबद्ध प्रयास न होने के कारण उनकी लिखी प्रतियां बहुधा तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति तो करती थीं, परन्तु उनमें अपेक्षित सुपठनीयता नहीं आ पाती थी। उस यात्रा में मुनि जीतमलजी ने उस अभाव की पूर्ति के लिए अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया। उन्होंने अनेक स्थानों से अनेक प्रकार के ग्रंथ संगृहीत किये।

वे नाथद्वारा पधारे तब वहां के यति नन्दगमजी उनके सम्पर्क में आए। तत्त्वचर्चा करते समय अनेक संदेह दूर हुए। अपने प्रश्नों का अत्यन्त सटीक उत्तर पाकर वे गद्गद हो गये। उन्होंने उपाश्रय में पधारकर ग्रन्थ-भण्डार को देखने की प्रार्थना की। मुनिश्री वहां पधारे और भण्डार को देखा। यतिजी ने तब अपनी आवश्यकता के एक ज्ञातासूत्र को छोड़कर बाकी जो भी चाहिए, वही ग्रन्थ लेने का अनुरोध किया। मुनिश्री ने वहां से भगवती, अनुयोगद्वारा, उत्तराध्ययन आदि सूत्र तथा उनकी संस्कृत टीकाएं लीं। इसी प्रकार उदयपुर में भी केसरजी भंडारी के वहां से सूत्रकृतांग-दीपिका तथा सटीक कर्मग्रंथ लिये। कांकरोली में भी एक भाई के वहां प्राचीन पुस्तक-भण्डार था। उसने भी मुनिश्री से प्रार्थना की कि आपको जो प्रति चाहिए वह यहां से ले लें। मुनिश्री ने उस भण्डार से भी सूत्र तथा उनकी टीकाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक संस्कृत और प्राकृत के ग्रन्थ लिए। इस प्रकार अपने प्रथम वर्ष के प्रवास-काल में उन्होंने अपने लिए सहज ही काफी ज्ञान-सामग्री जुटा ली। यद्यपि उस सामग्री ने उनकी ज्ञान-लिप्सा को तृप्त करने की अपेक्षा अतृप्त ही अधिक किया होगा, पर वही अतृप्ति तेरापंथ के वर्तमान तथा भावी अनुयायियों के लिए गौरवशाली साहित्य-संपदा के उत्पादन का एक अजस्र-स्रोत प्रवाहित कर गई।

मालव-यात्रा में

मुनि जीतमलजी के प्रथम प्रवासकाल में उनके व्यक्तित्व और ज्ञान का मेवाड़ की जनता पर जो प्रभाव पड़ा था, ऋषिराय ने उसे अवश्य ही लक्ष्य किया था। इसीलिए जब मालव-यात्रा का निश्चय किया, तब उन्होंने मुनि जीतमलजी को भी अपने साथ रखा। उस यात्रा में उन्होंने ऋषिराय के अतिरिक्त परिश्रम को अपने ऊपर ले लिया और उन्हें

340 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
बहुत हलका कर दिया। चर्चा के बड़े से बड़े अवसर पर ऋषिराय उन्हें बिना किसी संकोच के लगा दिया करते थे। वे जानते थे कि इसने पराजित होना तो कभी सीखा ही नहीं है। ऋषिराय का उक्त विश्वास जितनी बार निकष पर चढ़ा, उतनी ही बार खरा उतरा।

मुनि जीतमलजी ने उस यात्रा में प्रथम चर्चा खाचरोद में की। वहां संवेगी मुनि पहले से आए हुए थे। तेरापंथ के आचार्य का प्रथम बार मालव में पदार्पण हो रहा था, इसलिए वे उससे अप्रसन्न थे। वे चाहते थे कि उन्हें शास्त्रार्थ में पराजित कर यहीं से वापस खेड़े दिया जाए। उन्होंने शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया। ऋषिराय ने उसे स्वीकार कर लिया और मुनि जीतमलजी को उस कार्य में नियुक्त किया। उनकी आगम-धारणा और तर्कशक्ति के सम्मुख संवेगी मुनि अधिक समय तक टिक नहीं पाये। थोड़ी देर में ही पराजय लेकर उन्हें वहां से हट जाना पड़ा। मालव-प्रवेश के साथ ही वह प्रथम विजय आगे की यात्रा को प्रशस्त करने वाली सिद्ध हुई।

ऋषिराय रत्नाम में पधारे। वहां स्थानकवासी मुनि रविमलजी ने उन्हें शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया। तेरापंथ के विरुद्ध पहले से ही काफी प्रचार किया गया था, अतः लोगों में तेरापंथ को जानने की एक स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न हो चुकी थी। आचार्यश्री ने अनुभव किया कि ऐसे अवसरों पर किए गये शास्त्रार्थ बहुत गुणकारक होते हैं। उन्होंने वह आह्वान स्वीकार किया और मुनि जीतमलजी को उसके लिए प्रेषित किया। लोगों की अधिक उपस्थिति की सम्भावना से शास्त्रार्थ का स्थान गांव से बाहर की ओर एक बड़े मकान में रखा गया। जनता बहुत आई। तेरापंथियों की सामग्री तो वहां बहुत स्वल्प थी, परन्तु साहस बहुत बड़ा था। उस शास्त्रार्थ में थोड़े ही समय में यह निर्णय हो गया कि केवल भावावेश में ही शास्त्रार्थ का आह्वान कर दिया गया था। उसके लिए आगम-ज्ञान की जिस गम्भीरता की अपेक्षा होती है, वह विशेष नहीं थी। उन्हें उस शास्त्रार्थ में करारी पराजय का सामना करना पड़ा।

शास्त्रार्थ का तीसरा अवसर उज्जयिनी में आया। वहां स्थानकवासी मुनि शोभाचन्द्रजी थे। उन्होंने भी अपनी ओर से शास्त्रार्थ का आह्वान किया। वहां भी मुनि जीतमलजी ने ही उस कार्य को संभाला और पूर्ण विजय प्राप्त की। इनके अतिरिक्त अन्य छुट-पुट चर्चाएं तो प्रायः प्रत्येक गांव में चलती ही रहती थीं।

ऋषिराय वहां से बड़नगर पधारे और फिर सं. 1884 का चतुर्मास पेटलावद में किया। चतुर्मास के पश्चात् मन्दसौर होते हुए वे पुनः मेवाड़ पधार गये। उस पूरी यात्रा में मुनि जीतमलजी उनके साथ रहे और विविध सेवाओं के द्वारा संघ की गौरव-वृद्धि करते रहे।

दूँड़ाड़ में

मालव-यात्रा के पश्चात् ऋषिराय ने मुनि जीतमलजी को पुनः स्वतंत्र रूप से विहार करा दिया। उन्होंने उस वर्ष दूँड़ाड़ में जाने का आदेश दिया। वहां जिन-जिन क्षेत्रों में उनका पदार्पण हुआ, वहां-वहां उन्होंने अपने व्यक्तित्व की विशेष छाप छोड़ी। शैषकाल

में विभिन्न स्थानों में विहरण करने के पश्चात् सं. 1885 का चतुर्मास उन्होंने जयपुर में किया। जयपुर उनके लिए सदैव एक महत्वपूर्ण क्षेत्र रहा। जब-जब भी उन्होंने वहां चतुर्मास किया, कोई न कोई नवीन उपकार अवश्य हुआ। उपर्युक्त चतुर्मास जनोपकार की दृष्टि से अत्यन्त गौरवशाली रहा। उसमें वहां के रामचन्द्रजी कोठारी, मालीरामजी लूनिया, गोरुमलजी लूनिया आदि 52 महत्वपूर्ण व्यक्तियों ने सम्यक्त्व-दीक्षा ग्रहण की।

चतुर्मास के पश्चात् वे किशनगढ़ पधरे। वहां भी चन्द्रमलजी धाढ़ीवाल तथा उग्रचन्द्रजी भण्डारी आदि 14 व्यक्तियों ने सम्यक्त्व-दीक्षा ली। इस प्रकार ढूँढ़ाड़ के अनेक क्षेत्रों में उपकार करके वे वापस ऋषिराय के पास पहुंचे और उन्हें अपनी यात्रा के संस्मरण सुनाये तो वे अत्यंत आहादित हुए।

थली में

थली में सं. 1837 में स्वामी भीखणजी का पदार्पण हुआ था, परन्तु वह धर्म-प्रचार के लिए उतना नहीं था, जितना मुनि सन्तोषचन्द्रजी तथा शिवरामजी को समझाने के लिए था। उक्त दोनों मुनि सं. 1836 में सर्वप्रथम थली में विचरने के लिए गये, अगले ही वर्ष टालोकर मुनि तिलोकचन्द्रजी और चन्द्रभाणजी भी उधर पहुंच गये। उन्होंने उनको भ्रान्त कर अपने साथ मिला लिया। स्वामीजी उन्हें समझाने के लिए चूरू तक पधारे थे। कई दिनों तक वहां ठहरे भी थे। परन्तु वह पदार्पण अस्थायी ही था। वर्षों तक पुनः उधर अन्य किसी सिंधाड़े का विहरण नहीं हो पाया।

थली में सर्वप्रथम ऋषिराय ने सं. 1887 का चतुर्मास बीदासर में किया। तभी से वहां सुव्यवस्थित धर्म-प्रचार का कार्य प्रारम्भ हुआ। उसमें मुनि जीतमलजी का महत्वपूर्ण योगदान रहा। उस वर्ष थली के अनेक नगरों में साधु-साध्वियों के चतुर्मास करवाये गये। मुनि जीतमलजी को चूरू भेजा गया। वहां उन्होंने बड़ी सफलता से जनता को धर्म के अनुकूल बनाया। उससे पूर्व वहां के अधिकांश व्यक्ति टालोकर मुनि तिलोकचन्द्रजी एवं चन्द्रभाणजी के अनुयायी थे। वे दिवंगत हो चुके थे। उनके शिष्य शिवरामजी आदि उन क्षेत्रों में प्रमुख रूप से विहार किया करते थे। वे न आगम्ज थे और न व्याख्यानी। लोग उनसे उदासीन हो चुके थे। वैसी स्थिति में उधर के क्षेत्रों का वातावरण तेरापंथ के लिए सर्वथा अनुकूल था। प्रायः कहीं कोई प्रतिरोध नहीं था, अतः लोग सहज ही तेरापंथी बनते चले गये।

मुनि जीतमलजी के परिश्रम से उस समय बहुत भाई-बहिन समझे। अनेक दिनों तक तत्त्व-चर्चा करने के पश्चात् उन लोगों ने सम्यक्त्व-दीक्षा ग्रहण की। तेरापंथ की सुप्रसिद्ध साध्वियों में से एक महासती सरदारांजी उसी वर्ष मुनिश्री के पास समझीं तथा सम्यक्त्वी बनी थीं।

गुरु-धारणा की शर्त

सं. 1891 के शेषकाल में मुनि जीतमलजी लाडनुं आए। वहां लालचंद्रजी पाटणी आदि अनेक भाई टालोकर मुनि चन्द्रभाणजी की श्रद्धा के थे। उन लोगों ने मुनिश्री से

तत्त्व-चर्चा करके अच्छा लाभ उठाया। नगर के अनेक प्रमुख व्यक्ति मुनिश्री के व्यक्तित्व तथा योग्यता से बहुत प्रभावित हुए। धार्मिक रहस्यों को अच्छी तरह से समझ लेने के पश्चात् लोगों ने उनके सामने एक शर्त रखते हुए कहा—‘यदि इस वर्ष का चतुर्मास आप यहां करें तो हम सब आपके अनुयायी हो जाएं। आप चतुर्मास स्वीकार कर लें और फिर चाहे इसी समय हमें गुरु-धारणा करा दें।’

मुनिश्री ने पहले तो उनको समझाने का प्रयत्न किया कि जहां गुरु की आज्ञा होती है वहीं चतुर्मास किया जाता है, अतः अपनी ओर से मैं स्वीकृति कैसे दे सकता हूं? परन्तु जब उन्होंने जनता का अत्यन्त आग्रह देखा और उपकार का कारण भी देखा तो अपनी ओर से एक अपवाद रखते हुए चतुर्मास की स्वीकृति दे दी। उनका वह अपवाद यह था कि आचार्यश्री कहीं अन्यत्र चतुर्मास करने की आज्ञा दें तो बात अलग है, अन्यथा यहां चतुर्मास करने का विचार है।

अवसरज्ज मुनि जीतमलजी ने लोगों के उत्साह और अपनी सीमा को अत्यन्त चतुरतापूर्वक सुरक्षित रखकर उनको गुरु-धारणा करवा दी। उसके पश्चात् ऋषिराय से आज्ञा मंगवाकर उन्होंने सं. 1892 का वह चतुर्मास लाडनूं में किया। तभी से लाडनूं का क्षेत्र साधु-सतियों के लिए विहरण का केन्द्र बन गया। उक्त चतुर्मास की प्रेरणा करने तथा गुरु-धारणा लेने वालों में वहां के सरावगी लालचंदजी पाटणी आदि प्रमुख थे।

बीकायत में

थली का पूर्व भाग उस समय बीदायत और पश्चिम भाग बीकायत कहलाता था। मुनि जीतमलजी बीदायत में तो काफी विचरे ही थे, पर बीकायत में भी धर्म-प्रचार करने का श्रेय प्रमुख रूप से उन्हीं को है। उन्होंने अपनी अग्रणी अवस्था में बीकानेर में दो चतुर्मास किये। प्रथम सं. 1888 का और द्वितीय सं. 1893 का। दोनों ही अवसरों पर मुनिश्री को वहां स्थान संबंधी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। प्रथम चतुर्मास के अवसर पर नगर में स्थान की बहुत गवेषणा की गई, परन्तु वह प्राप्त नहीं हो सका। आखिर नगर-प्राचीर से बाहर ‘हमालों की बारी’ से कुछ आगे एक बगीची में स्थान मिला। वह चतुर्मास उन्होंने वहीं किया। वहां प्रातः-सायं काफी लोग आया करते थे। मुनिश्री ने उनसे संपर्क बढ़ाया। उनसे जो तत्त्व-चर्चा होती उसकी प्रतिध्वनि नगर में भी होने लगी। उनसे आकृष्ट होकर अनेक नये व्यक्ति सम्पर्क में आने लगे। उस क्रम में अनेक व्यक्ति सुलभबोधि बने तथा अनेकों ने सम्यक्त्व-दीक्षा ग्रहण की। उन लोगों में सम्पन्न व्यक्ति कोई नहीं था, अतः किसी के पास मुनिश्री को नगर में ठहराने योग्य स्थान नहीं था। वह चतुर्मास उन्हें बगीची में ही बिताना पड़ा।

सं. 1893 के द्वितीय चतुर्मास में भी उन्हें वही बगीची का स्थान मिला। तत्त्व-चर्चा करते समय एक दिन कुछ व्यक्तियों ने कहा—‘आप यदि नगर में आ जाएं तो उपकार होने की अधिक संभावना है।’ मुनिश्री ने कहा—‘हमें स्थान वही दे सकता है जो

समाज के विरोध का सामना कर सके। उसके लिए गजभर की छाती चाहिये। अभी तक तो यहां हमें वैसा कोई व्यक्ति मिला नहीं है, आगे की भगवान् जाने।'

मुनिश्री के वे शब्द नगर में चर्चा का विषय बने। नथमलजी बैद के कानों में जब वे शब्द पढ़े तो उन्होंने बगीची में जाने वाले कई व्यक्तियों को बुलाकर कहा—‘आप मेरी ओर से संतों को प्रार्थना कर दें कि वे चाहें तो मेरे दीवानखाने में विराज सकते हैं। न मैं किसी से डरता हूँ और न मेरा कोई कुछ बिगाड़ सकता है।’ श्रावकों ने नथमलजी की प्रार्थना मुनिश्री तक पहुंचा दी तथा अपनी ओर से भी नगर में पधारने का निवेदन किया। मुनिश्री तो वैसा चाहते ही थे। वे वहां पधार गये। विरोधी लोगों को जब यह पता चला तो उन्होंने सामाजिक विरोध का तूफान खड़ा कर दिया। अनेक दबाव डाले गये। परन्तु नथमलजी ने स्पष्ट कह दिया—‘संत चतुर्मास की समाप्ति तक यहां ठहरेंगे, तुम्हें जो करना हो सो कर लेना।’ इस स्पष्टोक्ति पर विरोध करने वालों को मौन हो जाना पड़ा।

संयोग ऐसा मिला कि मुनिश्री के वहां पधार जाने के कुछ दिन पश्चात् ही बीकानेर-नरेश ने नथमलजी को दीवान के पद पर नियुक्त कर दिया। उनकी अप्रत्याशित उन्नति को लोगों ने मुनि जीतमलजी के पदार्पण का ही सुफल माना। नथमलजी तभी से पक्के भक्त हो गये। कालान्तर में उन्होंने तथा उनके पूरे परिवार ने तत्त्व को समझकर सम्यक्त्व-दीक्षा ग्रहण कर ली। उस वर्ष वहां के अनेक परिवार तेरापंथी बने।

असहिष्णुता का फल

सं. 1893 के चतुर्मास में मुनि जीतमलजी ने बीकानेर में जो उपकार किया वह तो बहुत महत्वपूर्ण था ही, परन्तु सं. 1888 के प्रथम चतुर्मास का उपकार भी कम नहीं था। विरोधी लोगों के कान तो उसी समय से खड़े हो गये थे। टालोकर मुनि फतेचन्दजी द्वारा तेरापंथ की वह प्रगति फूटी आंखों से भी नहीं देखी गई। उन्होंने भ्रान्तियां फैलाकर लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया। बीकानेर के श्रावक उस समय नये ही थे, फिर भी अपने उत्तरदायित्व को अच्छी तरह से समझते थे। उन लोगों को जब यह पता चला कि देशनोक-चतुर्मास समाप्त करके मुनि फतेचन्दजी बीकानेर आयेंगे तो उन्होंने फलोदी के श्रावकों को पत्र दिया और मुनि जीतमलजी को निवेदन करवाया कि चतुर्मास-समाप्ति पर वे यथाशीघ्र बीकानेर पधारें। टालोकर मुनि फतेचन्दजी यहां आ रहे हैं। उन्होंने पहले भी अनेक भ्रान्तियां फैलाई थीं, इस बार भी वे सम्भवतः यही कार्य करेंगे, अतः उनका निराकरण करना अत्यन्त आवश्यक होगा।

सं. 1891 का चतुर्मास समाप्त होते ही मुनिश्री ने फलोदी से बीकानेर की ओर विहार कर दिया। टालोकर मुनि फतेचन्दजी वहां पहले से ही पहुंचे हुए थे। उन्होंने वहां भ्रान्तियां फैलाकर अनेक व्यक्तियों को शंकाशील बना दिया था। मुनिश्री ने उनकी बातों का तर्क और युक्तिसंगत उत्तर दिया। श्रावक-समुदाय तो उन उत्तरों से निःशंक बना ही, परन्तु उसका दूसरामी परिणाम ऐसा हुआ कि मुनि फतेचन्दजी के साथी मुनि उदेचन्दजी तेरापंथ की मान्यता को शास्त्रानुमोदित समझने लगे और वहां से पृथक् होकर मुनि

जीतमलजी के पास दीक्षित हो गये। मुनि फतेचन्दजी को अपनी असहिष्णुता का फल हाथो-हाथ भोगना पड़ा।

पैर नहीं जम पाये

मुनि जीतमलजी ने बीकानेर से नागौर होते हुए लाडनूं की ओर विहार किया। मुनि फतेचन्दजी भी उसी मार्ग से उधर ही जा रहे थे। नागौर से आगे भदाणा गांव में अचानक वे उन्हें मिल गये। मुनि जीतमलजी ने पैर रोके और उन्हें पूछा—‘पहले आप तेरापंथ में सात दोष बतलाया करते थे, फिर बत्तीस बतलाने लगो। अब सुना है कि वह संख्या और आगे बढ़ा दी गयी है। अपना निर्णय इस प्रकार बार-बार कैसे बदल रहे हैं?’

मुनि फतेचन्दजी ने कहा—‘इसमें बदलने जैसी क्या बात हुई? ज्यों-ज्यों दोषों का पता लगता जाता है त्यों-त्यों संख्या बढ़ाना आवश्यक हो जाता है।’ मुनि जीतमलजी ने कुछ अन्य बातें भी पूछीं, परन्तु उन्होंने बतलाने से इनकार कर दिया। शायद उन्हें भय था कि कहीं बात ही बात में फांस लिया न जाऊँ?

आगे के विहारों में मुनि फतेचन्दजी कई दिनों के लिए डेह में रुक गए। जबकि मुनि जीतमलजी लाडनूं पधार गये। कुछ दिनों पश्चात् मुनि फतेचन्दजी भी लाडनूं आए। वहां उन्हें पता चला कि आगे आकर मुनि जीतमलजी ने लालचंदजी पाटणी आदि अनेक व्यक्तियों को तेरापंथी बना लिया है।

मुनि फतेचन्दजी को उक्त सूचना से असह्य मानसिक पीड़ा हुई। उन्होंने निश्चय किया कि जैसे भी हो पाटणीजी के विचारों को बदल डालना है। दूसरे ही दिन वे उनके घर गये और नाना प्रकार की विपरीत बातें बतलाकर उन्हें भ्रांत करने का यत्न किया। पाटणीजी पर उनकी बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने तब अपना पैतरा बदला और उनके मन में मुनि चन्द्रभाणजी के प्रति अनुराग जगाने का प्रयास किया। उन्होंने पाटणीजी से सीधा प्रश्न करते हुए पूछा—‘तेरापंथी बन जाने के पश्चात् अब तुम अपने पूर्व गुरु मुनि चंद्रभाणजी को क्या समझते हो?’

पाटणीजी ने तब बेशिङ्गक उत्तर देते हुए कहा—‘जैसा जीतमलजी महाराज समझते हैं, वैसा ही मैं भी समझता हूं।’

मुनि फतेचन्दजी उक्त उत्तर से बड़े निराश हुए और चुपचाप वहां से खिसक गये। वे समझ नहीं पा रहे थे कि मुनि जीतमलजी ने कुछ ही दिनों में पाटणीजी को इतना दृढ़ कैसे बना दिया?

वास्तविकता यह थी कि बीकानेर की ही तरह लाडनूं में भी मुनि जीतमलजी की कार्यक्षमता के समक्ष उनके पैर जम नहीं पाये।

दिल्ली-यात्रा

मुनि जीतमलजी की यात्राओं में दिल्ली-यात्रा का एक विशिष्ट स्थान है। उनसे पूर्व किसी भी तेरापंथी साधु का उधर जाना नहीं हुआ। मुनिश्री को उधर जाने की प्रेरणा

सं. 1888 के बीकानेर-चतुर्मास में प्राप्त हुई। वहां हरियाणा के दो भाई—मोमनचन्द और गुलहजारी मुनि जीतमलजी के दर्शन करने आये। दोनों नगुरा के निवासी थे और चूरू में नौकरी करते थे। थली में जब साधु-साधियों का आगमन प्रारम्भ हुआ, तभी से वे उनके सम्पर्क में आते रहे थे। बीकानेर भी वे दर्शनार्थ ही गये थे। बात ही बात में उन्होंने मुनिश्री से दिल्ली पधारने के लिए कहा। अपने अनुभव के आधार पर उन्होंने वहां की धार्मिक स्थिति भी बतलाई। उन दोनों का व्यापारिक कार्यों से दिल्ली आना-जाना रहता था और वे वहां से अच्छी तरह परिचित थे।

दिल्ली जाने की बात मुनि जीतमलजी के ध्यान में बैठ गई, अतः चतुर्मास की समाप्ति पर उन्होंने तपस्वी मुनि कोदरजी को मेवाड़ भेजकर ऋषिराय से आज्ञा मंगवाई। उस समय आजकल की तरह पत्राचार की सुव्यवस्था नहीं थी, अतः गृहस्थों के माध्यम से वह कार्य सहज ही सम्पन्न होना सम्भव नहीं था। मुनि कोदरजी चलने में बहुत तेज थे। वे ऐसे कार्य थोड़े ही दिनों में सम्पन्न कर दिया करते थे। मुनि जीतमलजी बीकानेर से चूरू पधारे और वहां मार्गशीर्ष शुक्ला 10 को गुलहजारी को दीक्षा प्रदान की। वे मुनिश्री द्वारा दीक्षित प्रथम मुनि हुए। चूरू से विहार कर मुनिश्री बिसाऊ पहुंचे, तब तक मुनि कोदरजी भी दिल्ली के लिए आज्ञा प्राप्त कर वहां पहुंच गये। मुनिश्री वहां से राजगढ़, ऊमरा, हांसी, जमालपुर, भिवानी, दादरी, झज्जर, फरुखनगर और गढ़ी आदि क्षेत्रों में ठहरते हुए दिल्ली के एकदम निकटवर्ती पहाड़ीग्राम में पधार गये। वह ग्राम दिल्ली से एक कोस पर ही था।¹

मुनि जीतमलजी ने जब मुनि हेमराजजी के साथ सं. 1881 का चतुर्मास जयपुर में किया था, तब दिल्ली के कृष्णचन्दजी माहेश्वरी और चतुर्भुजजी ओसवाल वहां आए थे। दोनों ने मुनि जीतमलजी से तत्त्व-बोध पाकर सम्यक्त्व-दीक्षा ग्रहण की थी। मूलतः वे स्थानकवासी थे। जयपुर से जब वे वापस दिल्ली आए तब उन दोनों का मूर्तिपूजक श्रावक किसनचन्दजी ओसवाल से लंबे समय तक सम्पर्क रहा। उनकी संगति से वे दोनों ही मूर्तिपूजक बन गये। यद्यपि कृष्णचन्दजी माहेश्वरी मूर्तिपूजक बन गये थे, परन्तु मुनि जीतमलजी के शास्त्र-ज्ञान और समझाने के प्रकार से वे मुध थे। उनके मन में उनके प्रति एक अज्ञात आकर्षण था। जब उन्होंने उनके पहाड़ीग्राम में पधारने की बात सुनी तो प्रसन्नता से नाच उठे। उन्होंने वहां जाने का निश्चय किया, परन्तु संकोच ने उनके पैरों को जकड़ लिया। वे जाना चाहकर भी नहीं जा सके। चौथे दिन आखिर वे अपने-आपको नहीं रोक सके। वे अन्य नौ व्यक्तियों को साथ लेकर प्रातः ही पहाड़ीग्राम में आए और दिल्ली पधारने की प्रार्थना करने लगे। स्थान के विषय में भी व्यवस्था कर देने का विश्वास दिलाया।

मुनि जीतमलजी तब वहां से विहार कर दिल्ली पधारे। कृष्णचन्दजी ने बाजार में दुकानों के ऊपर एक जगह बतलाई, परन्तु पास वाले मकान में वेश्याएं रहती थीं, अतः

1. 'पहाड़ीग्राम' अब पुरानी दिल्ली का ही एक अंग 'पहाड़ीधीरज' नाम से प्रसिद्ध है।

मुनिश्री ने कहा—‘यह स्थान तो साधुओं के उपयुक्त नहीं है।’ कृष्णचन्द्रजी ने तब अन्य कई स्थान बतलाए। उनमें से रोशनपुरा में गंगारामजी काशमीरी का स्थान उपयुक्त लगा, अतः आज्ञा लेकर वहां विराजे। शेषकाल में सत्रह रात वहां रहे और फिर आसपास के क्षेत्रों में विचरण कर सं. 1889 का चतुर्मास उसी स्थान में किया। वहां भाई-बहिनों का आगमन काफी रहा। विभिन्न सम्प्रदायों के भाई चर्चा करने के लिए आते और मुनिश्री के युक्तिपूर्ण उत्तरों से प्रभावित होकर जाते।

माहेश्वरी कृष्णचन्द्रजी प्रायः नित्य ही आया करते, व्याख्यान सुना करते, किन्तु सामायिक आदि नहीं करते, बन्दना भी नहीं करते। उन्होंने जयाचार्य से कहा—‘जयपुर में आपके दर्शन किए, तभी से आपकी मूर्ति हृदय में बसी हुई है। आपके प्रति मेरे मन में बहुत स्नेह-भावना है। आप जैसा आगमिक उत्तर देने वाला तथा सैद्धान्तिक ज्ञान रखने वाला मुझे और कोई नहीं मिला। मैं यहां ज्ञान-चर्चा के लिए ही आया करता हूँ, पर मेरी और आपकी मान्यताओं में बहुत अन्तर हो गया है।’

जयाचार्य ने कहा—‘मान्यताओं की सच्चाई का हल आगमों की कसौटी पर कसकर ही निकाला जा सकता है, अतः जिन बातों में अन्तर है उन्हें न्यायपूर्वक आगमों के प्रकाश में देखने की आवश्यकता है। ऐसा करने पर सम्भव है हम दोनों एक ही निष्कर्ष पर पहुंच जाएं।’

कृष्णचन्द्रजी ने इस बात को स्वीकार किया और वे आगम-चर्चा में अपना काफी समय लगाने लगे। ओसवाल किसनचन्द्रजी को वह सम्पर्क भाया नहीं, अतः वे प्रायः उनके साथ ही आया करते और बीच-बीच में तथा बाद में भी उनके पास ऐसी बातें छेड़ते रहते, जिससे मुनि जीतमलजी की बातों का प्रभाव उनके मन पर रहने न पाए। परन्तु मुनिश्री के प्रभाव का प्रवाह इतना कमज़ोर नहीं हुआ करता था कि उसे रोका जा सके। ओसवाल किसनचन्द्रजी का प्रयास सफल नहीं हो सका और माहेश्वरी कृष्णचन्द्रजी फिर से तत्त्व-ज्ञान को समझकर श्रद्धालु बन गये। फिर तो उन्हें धर्म की ऐसी लगन लागी कि संसार से विरक्त होकर संयमी-जीवन बिताने की बात सोचने लगे।

कृष्णचन्द्रजी अच्छे धनी व्यक्ति थे। दुकान पर मुनीम-गुमाश्ते काम किया करते थे। एक विवाहित पुत्र था। सब प्रकार की सांसारिक सुविधाओं के होते हुए भी उन्होंने अपने मन को त्याग की ओर लगा दिया। यद्यपि उनके पुत्र ने आज्ञा बड़ी कठिनाई से दी, पर जिसका मन संसार से विरक्त हो गया हो उसे रोककर रख लेना भी तो सम्भव नहीं होता।

चतुर्मास की समाप्ति पर मुनि जीतमलजी मार्गशीर्ष कृष्ण प्रतिपदा को दिल्ली से विहार कर पहाड़ीग्राम पधार गये। उसी दिन वहां पर कृष्णचन्द्रजी माहेश्वरी को संयम प्रदान किया। इस प्रकार दिल्ली का प्रथम प्रवास पूर्णरूपेण सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

पांच साधु आए थे और एक दीक्षा हो जाने से छह साधुओं ने वहां से जयपुर होते हुए मेवाड़ में ऋषिग्राम के दर्शन करने के लिए विहार किया। गोगूंदा में आचार्यश्री के

दर्शन हुए। वहां मुनिश्री ने दिल्ली-यात्रा के संस्मरण सुनाये। ऋषिराय के मन में उससे बड़ी प्रसन्नता हुई।

ગुજरात-यात्रा

सं. 1889 के शेषकाल में ऋषिराय ने गुजरात की ओर विहार करने का निश्चय किया। मुनि जीत को भी वे अपने साथ ले जाना चाहते थे। दिल्ली से गोगूँदा पहुंचने पर ऋषिराय ने उनसे कहा—‘जीतमल! अब गुजरात चलना है।’ ऐसी यात्राओं में वे तो तैयार ही रहते थे, परन्तु उस यात्रा से पूर्व वे मुनि हेमराजजी के दर्शन कर लेना चाहते थे। उन्होंने ऋषिराय से आज्ञा ली और गुजरात में शीघ्र ही दर्शन कर लेने का निर्णय कर मारवाड़ की ओर विहार कर दिया। सातवें दिन सिरियारी पहुंचकर उन्होंने मुनि हेमराजजी के दर्शन किये और दस दिनों तक उनके साथ रहे। वहां से पुनः तेज विहार करते हुए वे गोगूँदा आ गये।

गोगूँदा में उस समय मुनि सरूपचंदजी थे। ऋषिराय को गुजरात की ओर विहार किये काफी दिन हो गये थे। मुनि जीतमलजी वहां एक दिन ही ठहरे। पांच अन्य मुनियों के साथ उन्होंने दूसरे दिन ही वहां से विहार कर दिया। पहाड़ी और जंगली मार्ग होने के कारण वहां से दो भाई भी मार्गदर्शन के लिए उनकी सेवा में साथ हो गये। वे झाड़ोल पहुंचे। वहां मुनि जीवोजी आदि तीन मुनि थे। उनमें एक मुनि रामसुखजी ने गुजरात-यात्रा की इच्छा प्रकट की। मुनि जीतमलजी ने तब उन्हें भी अपने साथ ले लिया। इस प्रकार सात मुनियों ने वहां से गुजरात की ओर प्रस्थान किया। गहन जंगलों और पहाड़ों से भेरे उस विकट मार्ग को तेजी से पार करते हुए वे चावड़ी एवं ईंडर होकर औमनगर आ गये। पहाड़ों और जंगलों का सिलसिला समाप्त हो चुका था।

मुनि जीतमलजी ने अपने साथ के मुनि मोतीजी आदि से कहा—‘मैं अब अधिक तेज विहार करके शीघ्र ही ऋषिराय के दर्शन कर लेना चाहता हूँ, अतः मुनि कोदरजी मेरे साथ चलेंगे। शेष पांच सन्त यथाशक्ति चलकर थोड़े दिनों बाद दर्शन कर लें।’ इसी निर्णय के अनुसार तेज चलते हुए वे दांती होकर अहमदाबाद पहुंचे। वहां स्वामी नारायण के स्थान में ठहरे। लोगों से पता चला कि ऋषिराय ने आज प्रातः ही यहां से विहार किया है। इस सूचना से वे पुलकित हो उठे। दूसरे ही दिन लम्बा विहार करके उन्होंने ‘साणंद’ में गुरु-दर्शन किये। आचार्यश्री वहां चार दिन विराजे। तब तक पीछे से आने वाले पांचों मुनि भी पहुंच गये।

वहां से आचार्यश्री ने सौराष्ट्र की यात्रा की, परन्तु कच्छ के ‘रण’ में पानी आने से पूर्व ही वे कच्छ की यात्रा सम्पन्न कर लेना चाहते थे, अतः विशेष ठहरना नहीं हुआ। कच्छ में भी उसी तरह विहार की शीघ्रता रही। उस यात्रा को देशाटन ही कहा जा सकता है। कच्छ से ऋषिराय चतुर्मास करने के लिए पाली पधार गये और मुनि जीतमलजी को बालोतरा भेज दिया।

मुनि जीतमलजी के अग्रणी-काल का काफी भाग यायावरता में व्यतीत हुआ। दिल्ली-चतुर्मास की समाप्ति पर प्रारम्भ हुई यात्रा उनके जीवन की सबसे लंबी यात्रा थी। वे उस शेषकाल में लगभग सात सौ कोस (2240 कि.मी.) चले। उसमें दिल्ली, ढूँडाड़, मारवाड़, मेवाड़, गुजरात, सौराष्ट्र तथा कच्छ तक का दौरा करने के पश्चात् पुनः मारवाड़ के बालोतरा शहर में आकर उन्होंने चतुर्मास किया। उस यात्रा का पूर्वांश उनका स्वतंत्र विहार था, जबकि गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ के विहार में वे ऋषिग्राम के साथ रहे। यात्रा के उन आठ महीनों में वे केवल चलते ही नहीं रहे, अपितु बीच में आने वाले क्षेत्रों में लगातार अनेक दिनों तक ठहरते भी रहे। वे जयपुर में अठारह और सिरियारी में दस दिन ठहरे थे। इसी प्रकार और भी अनेक ग्रामों में पांच-पांच, चार-चार दिन ठहरते हुए आगे बढ़े थे। ठहरने के दिनों की संख्या उनके चलने के कोसों की संख्या में वृद्धि करती रही थी।

'धकै जाओ'

गुजरात-यात्रा की सम्पन्नता पर सं. 1890 का चतुर्मास बालोतरा में करने के लिए जाते समय उनका 'जसोल' में पदार्पण हुआ। 'जसोल' उस समय तेरापंथ का बड़ा इकरंगा क्षेत्र था। वहां के प्रायः सभी लोग मुनि जीतमल को जानते थे। संघ के प्रछयात साधुओं को कौन नहीं जानता? उनकी विद्वत्ता की छाप सभी पर थी, परन्तु उस समय उन्हें कोई पहचान नहीं पाया। निरन्तर चलते रहने के कारण उनका वर्ण कुछ काला हो गया था और साथ ही वे कुछ दुबले भी हो गये थे। जब वे बाजार में आकर खड़े हुए तो किसी ने विशेष भावोद्रेक से, जैसा कि ऐसे अवसरों पर प्रायः हुआ करता है, स्वागत नहीं किया। बन्दन आदि तो दूर, परन्तु स्थान के लिए पूछने पर भी अनेकों ने तो 'धकै जाओ' अर्थात् 'आगे जाइये' कहकर अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। वे बाजार के इस किनारे से उस किनारे पहुंच गये, परन्तु न स्थान प्राप्त हुआ और न आदर ही।

लोगों के उस व्यवहार से स्वयं मुनि जीतमलजी तथा उनके साथी संत बहुत चकित हुए। उन्होंने सोचा—'आखिर बात क्या है? यहां के श्रावकों की भक्ति और भावना के विषय में तो बहुत-बहुत बातें सुनी थीं। तो क्या दूर के ढोल सुहावने लगा करते हैं? यहां तो कोई पूछने वाला भी नहीं है।' इस प्रकार का चिन्तन करते हुए वे पुनः बाजार के बीच में आ गये। मुनिश्री ने सोचा—'कहीं अपरिचय के कारण ही तो यह बाधा नहीं है।' वे किसी श्रावक से बातचीत करने की सोच ही रहे थे कि आसपास की दुकानों से उठ कर कुछ भाई उनके पास आये। वे भी परिचय करने की दृष्टि से ही आए थे, अतः पूछने लगे—'आप किस टोले के हैं? क्या नाम है?' मुनि जीतमलजी तथा अन्य मुनि हँसे। मुनियों ने कहा—'ये तो तेरापंथ के सुप्रसिद्ध मुनि जीतमलजी हैं। क्या आप लोगों ने पहचाना नहीं?'

मुनि जीतमलजी का नाम सुनते ही श्रावकों के नीचे से मानो धरती ही खिसक गई। एक ही क्षण में बात पूरे बाजार में फैल गई और तब आनन-फानन में सैकड़ों लोग एकत्रित हो गये। बड़ी नप्रतापूर्वक सभी ने क्षमा-याचना की और न पहचान सकने के लिए लज्जा का अनुभव किया। मुनि जीतमलजी ने तब सभी को सामयिक शिक्षा दी और उनके लज्जावनत मुखों को फिर से विकसित कर दिया।

बारह वर्ष

जयाचार्य का अग्रणी-जीवन लगभग बारह वर्षों का रहा। उनके उस जीवन को विभिन्न प्रदेशों में धर्म-प्रसार के लिए किये जाने वाले सफल अभियानों का जीवन कहा जा सकता है। अपनी प्रत्येक यात्रा में उन्होंने बड़ी सूझ-बूझ के साथ काम किया। तेरापंथ के सिद्धांतों के प्रतिपादन की कुशलता और उन्हें दूसरों के हृदय में जमा देने की योग्यता उनमें प्रारम्भ से ही थी। इन्हीं विशेषताओं ने उनकी यात्राओं को पूर्णतः सफल बनाया। अग्रणी अवस्था के उनके वे वर्ष उनकी योग्यताओं को प्रकाश में लाने के लिए जहाँ पर्याप्त साधन बने, वहाँ धर्म-जिज्ञासु जनता के लिए भी अत्यन्त तृप्ति का कारण बने।

युवाचार्य-पद पर

अप्रकट नियुक्ति

जयाचार्य के जीवन के प्रत्येक पहलू के साथ प्रायः कुछ-न-कुछ नवीनता जुड़ी हुई दिखाई देती है। शायद प्रकृति ने उनके साथ किसी गुप्त रहस्य के तार संयुक्त कर रखे थे। अन्य कार्यों के साथ-साथ उनका युवाचार्य-पद भी इसका अपवाद नहीं रहा। ऋषिराय ने न जाने कौनसी आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर उनको युवाचार्य-पद तब दिया, जब वे वहाँ से बहुत दूर थे। कुछ अरसे तक उसे प्रकट भी नहीं किया गया। वह सब इस प्रकार क्यों किया गया, यह अपने-आप में आज भी एक गवेषणा का विषय प्रतीत होता है।

मुनि जीतमलजी ने सं. 1893 का चतुर्मास बीकानेर में करने के पश्चात् शोषकाल का अधिकांश समय थली में ही व्यतीत किया। उसके पश्चात् सं. 1894 का चतुर्मास करने के लिए वे आषाढ़ में पाली पहुंचे। उन्हीं दिनों ऋषिराय मेवाड़ में विहार करते हुए चतुर्मास करने के लिए आषाढ़ के महीने में नाथद्वारा पधारे। वहाँ उन्होंने एक पत्र लिखकर अपने उत्तराधिकारी के रूप में मुनि जीतमलजी को नियुक्त किया। वह पत्र मुनि सरूपचंदजी को देते हुए उन्होंने कहा कि अभी इसे प्रकट मत करना। चतुर्मास के पश्चात् जब जीतमल से मिलेंगे, तभी प्रकट करने का विचार है।

पत्र-प्रेषण

पाली-चतुर्मास में मुनि जीतमलजी आदि पांच संत थे। चतुर्मास की समाप्ति पर विहार करके वे खैरवा आये। उनके साथ के तपस्वी मुनि रामसुखजी चतुर्मास-काल में की गई लम्बी तपस्या के कारण विहार के लिए पूरे समर्थ नहीं हो पाये थे, अतः उन्हें तथा एक अन्य मुनि को उनकी सेवा में वहीं छोड़कर मुनि जीतमलजी ने 'बड़ी फलोदी' की तरफ विहार कर दिया। वहाँ से गुरु-दर्शनार्थ मेवाड़ की ओर विहार करते हुए वे 'खीचन' पहुंचे। उधर से ऋषिराय के द्वारा भेजे गये दो साधु भी वहाँ पहुंच गये। सन्तों ने बन्दन, सुख-पृच्छा आदि के पश्चात् कुछ मौखिक समाचार कहे और फिर स्वयं ऋषिराय द्वारा लिखे गये दो पत्र उनको समर्पित किये। उनमें से एक पत्र बड़ा था और खुला हुआ था। उसमें सुख-साता के समाचार थे तथा उन्हें शीघ्रतापूर्वक पहुंचने के लिए लिखा गया था।

दूसरा पत्र छोटा था और बंद था। उसे मुनि जीतमलजी के सिवाय अन्य सन्तों को खोलने व पढ़ने की मनाही थी। वह युवाचार्य-पद की नियुक्ति का पत्र था। मुनि जीतमलजी ने उसे खोलकर पढ़ा तो उनकी आकृति पर एक साथ ही कुछ गम्भीरता छा गई। वे उसे हाथ में लिए हुए कुछ देर तक निःस्पंद-से होकर यों निहारते रहे, मानो उसे दुबारा पढ़ रहे हों। पत्र के पीछे की ओर कुछ भी नहीं लिखा था, फिर भी उन्होंने उसे उलट कर यों देखा मानो जो लिखा हुआ था, वह पर्याप्त न हो और वे कुछ अधिक विस्तार से जानना चाह रहे हों। ऋषिराय के अक्षरों को पहचानते हुए भी उन्हें इतने ध्यान से देखते रहे मानो वे प्रत्येक अक्षर के अन्तःगमों को हृदयांगम कर रहे हों। चिन्तन और मनन की मुद्रा में वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो उस पत्र की अलिखित भूमिका का अवगाहन कर रहे हों तथा दूरस्थ आचार्यश्री के मानसिक संकल्पों के साथ तादात्य स्थापित करते हुए उन्हें आत्मसात् करने का प्रयास कर रहे हों। वे भावी की आकृति पर कुछ पढ़ रहे थे और पास में खड़े सन्त उनकी आकृति पर कुछ पढ़ लेने का प्रयत्न कर रहे थे।

तेज विहार

मुनिश्री ने सहसा पत्र को बन्द किया और सन्तों से आगामी विहार के विषय में बातचीत करने लगे। एक मंजिल सबके साथ रह कर उन्होंने धीमे चलने वाले तीन सन्तों को पीछे से आने को कहा और स्वयं एक मुनि को साथ लेकर आगे बढ़े। उन्होंने आचार्यश्री के दर्शन होने से पूर्व किसी भी ग्राम में दो रात न ठहरने का निश्चय किया और यदि ठहरना ही पड़े तो वहां चारों आहार का प्रत्याख्यान कर दिया। वहां से तेज विहार करते हुए जोधपुर, पाली, खैरवा और बांता होकर उन्होंने मेवाड़ में प्रवेश किया। आगे केलवा तथा राजनगर होकर नाथद्वारा पधार गये।

नाम की घोषणा

नाथद्वारा में चतुर्मास सम्पन्न करने के पश्चात् ऋषिराय उदयपुर की ओर पधार गये थे। वहां से वे भी नाथद्वारा पहुंच गये। मुनि जीतमलजी ने सामने जाकर गुरु दर्शन किये। ऋषिराय ने उसी दिन जनता में मुनि जीतमलजी को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। यद्यपि लगभग पांच महीने पूर्व वे इसकी व्यवस्था कर चुके थे, परन्तु उसका पता प्रायः किसी को नहीं था। मुनि जीतमलजी की योग्यता और विशेषताओं से प्रायः सभी परिचित थे, अतः एक सुयोग्य भावी शासन-पति का नाम सुनकर आनन्दातिरिक्त में निमग्न हो गये।

नियुक्ति-पत्र

मुनि जीतमलजी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करते समय सं. 1893 (चै. 1894) के आषाढ़ मास में ऋषिराय ने जो पत्र लिखकर मुनि सरूपचंदजी को प्रदान किया था, वह प्रकट में युवाचार्य की घोषणा करते समय पढ़कर सुनाया गया। वह नियुक्ति-पत्र इस प्रकार है :

ओं नमः सिद्धम्

‘भिक्षु गुरु भारीमाल त्यां को शरणम्। ऋषि भिक्षु पाट भारीमाल। ऋषिराय पाट ऋषि जीतमल। जुगराज पद स्थापनम्। विनेवंतं ऋषिराय नी आज्ञा परमाणै चालसी, जीवै जितरै। घणा हरख स्यूं स्वमत थी ए काम कीधो। बीजा नो जश इणमें छै नहीं।’

व्यवस्था में सहयोग

जयाचार्य युवाचार्य-पद की स्थिति में चौदह वर्ष से कुछ अधिक रहे। उस अवधि में वे संघ की अन्य सेवाओं में तो संलग्न रहे ही, पर साथ ही उसके व्यवस्था सम्बन्धी कार्यों में भी ऋषिराय का भार हल्का करते रहे। आचार्य के लिए आगम में ‘गण-तत्त्व विष्यमुक्तो’—‘गण की चिन्ताओं से मुक्त’ विशेषण आता है, वह जयाचार्य जैसे शिष्यों द्वारा ही सार्थक किया जा सकता है। संघ के संगठन को सुदृढ़ बनाये रखना, विघटन न होने देना, विघटन की स्थिति अनिवार्य हो जाए तो उसका साहसपूर्वक सामना करना—आचार्य के इन सभी कार्यों में युवाचार्य जीतमलजी उनके निपुण सहयोगी रहे। विघटित तत्त्वों को पुनः एकीकरण में बांध लेने की भी उनमें अपूर्व सूझ-बूझ थी।

तपस्वी गुलाबजी का बखेड़ा

अनुशासन सम्बन्धी एक कार्य तो जयाचार्य के सम्मुख युवाचार्य बनने के कुछ समय पश्चात् ही ऐसा आया, जो काफी चिन्ताजनक था। उन्होंने उसे ऐसी दृढ़ता से सम्भाला कि देखने वाले चकित रह गये। उस कार्य में ऋषिराय को विशेष-कुछ नहीं करना पड़ा। प्रायः आदि से अन्त तक युवाचार्य ने ही उसको भुगता दिया। उस समय पुर में तपस्वी मुनि गुलाबजी, मुनि ईसरजी, मुनि उदयरामजी, मुनि रामोजी और मुनि जीवराजजी—ये पांच मुनि थे। उनमें मुनि गुलाबजी तपस्वी होने के साथ ही काफी विराग-भावना वाले गिने जाते थे। आस-पास की जनता में उनके प्रति बहुत आदर-भाव था।

तपस्वी और विरागी होना एक बात है, जबकि विवेकी होना बिलकुल ही दूसरी बात है। यद्यपि तपस्वी और विरागी व्यक्ति विवेकी भी होते हैं, परन्तु सबके लिए वैसा होना नितान्त निश्चित नहीं है। विवेक के लिए जिस विश्लेषणात्मक बुद्धि की आवश्यकता होती है वह सब में परिपूर्ण मिल जाये, यह असम्भव है। फिर तपस्या और विवेक कोई इतरेतराश्रित भाव तो हैं नहीं कि एक के भाव में दूसरे का भी भाव मान ही लिया जाये। परन्तु जनता पर तपस्या का प्रभाव सहज पड़ता है वैसा उसके विवेक की स्वल्पाधिकता का नहीं पड़ता। यही कारण है कि कुछ लोग तपस्या के प्रभाव में आकर बहुधा गलती कर जाते हैं। अनेक तपस्वी भी तप की महिमा को अपने विवेक की महिमा समझ बैठते हैं। अतः उसी के बल-बूते पर वे संघ की गतिविधियों के लिए निर्णय देने पर भी उत्तर आते हैं। उस स्थिति में जब कुछ अल्पज्ञ लोग उनकी पीठ थपथपा देते हैं, तब तो फिर वे अपने विरागी होने का सबूत भी इसी रूप में प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर देते हैं कि दूसरे सब

शिथिल हो गये हैं। तपस्वी गुलाबजी की उस समय कुछ ऐसी ही स्थिति थी। वे अपने को उच्चकोटि का साधक समझने लगे थे, जबकि संघ के अन्य मुनियों को शिथिलाचारी।

एक दिन भीलवाड़ा के श्रावक भोपजी सिंधी तपस्वी गुलाबजी के दर्शन करने के लिए पुर आए। वे उनकी सेवा में बैठे ही थे कि मुनि गुलाबजी ने उलटी-सीधी बातें करनी प्रारम्भ कर दीं।

उन्होंने संघ के लिए निम्नता के शब्दों का प्रयोग करते हुए कहा—‘किसी साहूकार के घर में घाटा हो तो वह उसे छिपाकर अपना काम कितने दिन चला सकता है? आखिर एक-न-एक दिन वह सबके सामने स्वयं आ ही जाता है।’

भोपजी श्रावक भी पक्के थे। वे उनकी बातों को सुनकर पहले तो कुछ चकित हुए, पर संघ के प्रति उनका वह बुरा इंगित वे तत्काल समझ गये। उन्होंने बराबर का उत्तर देते हुए कहा—‘जिस व्यक्ति को यह पता लग जाए कि सेठ के घर में घाटा है, फिर भी उसके साथ रहे तो उसकी बुद्धि को क्या कहा जाए?’

अपने प्रति यह व्यंग्य सुना तो मुनि गुलाबजी और अधिक जोश खा गये। संघ के विषय में अनेक प्रकार की भ्रान्तिपूर्ण बातें कहने लगे। मुनि ईसरजी उनके संसार-पक्षीय छोटे भाई थे। उन्होंने उनको ऐसा करने से बहुत दबाव देकर रोका, तब कहीं बोलते बंद हुए। दूसरे दिन फिर उसी प्रकार अंट-संट बोलने लगे और अपनी शंकाओं की लम्बी-लम्बी संख्याएं बतलाने लगे। अन्ततः घटा-बढ़ा कर उन्होंने अपनी शंकाओं के 27 बोल निश्चित किये।¹ उनकी उक्त मनःस्थिति से खिन्न होकर उनके साथ के मुनि रामोजी ने नाथद्वारा में जाकर ऋषिराय के दर्शन किये और वहां की सारी परिस्थिति निवेदित की।

ऋषिराय ने नाथद्वारा से पुर जाकर ही सारी परिस्थिति को सुलझाने का निश्चय किया। युवाचार्य आदि आठ सन्तों सहित विहार कर कांकरोली, गंगापुर होते हुए वे पुर की ओर पधारे। तपस्वी गुलाबजी ने जब यह समाचार सुना तो उन्होंने अपनी शंकाओं की संख्या को घटाकर कम कर दिया और कहने लगे कि यदि मेरी चार शंकाएं मेट दी जायें तो सारी बात ठीक हो जाए। भोपजी सिंधी ने मार्ग के ‘कारोई’ ग्राम में ऋषिराय के दर्शन किये, तब उन्होंने बतलाया कि मुनि गुलाबजी कहते हैं—‘मेरी चार शंकाओं का उत्तर मुनि हेमराजजी से मंगा दिया जाये। वे जो भी उत्तर देंगे, मैं सर्वथा स्वीकार कर लूंगा।’

युवाचार्य जीतमलजी ने उस बात का उत्तर देते हुए भोपजी से कहा—‘जब आचार्य स्वयं ही वहां पधार रहे हैं, तब मुनि हेमराजजी से उत्तर मांगने की क्या आवश्यकता रह जाती है?’

दूसरे दिन ऋषिराय पुर में पहुंच रहे थे, तब भोपजी ने आकर फिर बतलाया कि मुनि गुलाबजी कहते हैं—‘यदि एक साधु आकर मुझे यह कह दे कि हम स्वामीजी की सब मर्यादाओं को ठीक पालते हैं, तो मैं सामने आकर पैर पकड़ लूंगा।’

युवाचार्य ने उसका उत्तर देते हुए कहा—‘स्वामीजी की मर्यादाएं तो हमें सदा से ही मान्य रही हैं। अब एक साधु को भेजकर नये सिरे से उसके विषय में कहलाने की कौन-सी आवश्यकता आ पड़ी?’

पुर से सामने आने वाले भाइयों ने भी ऋषिराय से प्रार्थना की कि एक साधु को भेज देना चाहिये। तपस्वीजी को यदि इतने में ही तसल्ली हो जाती है, तो ऐसा करने में कोई अड़चन नहीं होनी चाहिए। किन्तु उनकी वह प्रार्थना उपयुक्त न होने से स्वीकार नहीं की गई। युवाचार्यश्री ने ऋषिराय की दृष्टि को देखते हुए कहा—‘जो सन्त अमुक सीमा तक सामने आ जायेंगे, वे ही गण के समझे जाएंगे। जो सामने नहीं आएंगे, वे गण-विरोधी होने के कारण उससे पृथक् समझे जाएंगे।’ उक्त समाचार सुनने के पश्चात् उनमें से एक मुनि जीवराजजी तो कोसभर सामने आ गये, किन्तु अवशिष्ट तीन मुनि नहीं आये।

पुर में पधार कर ऋषिराय बाजार में विराजे। वे जिन दुकानों में ठहरे थे, उनके पास वाली दुकान में ही मुनि गुलाबजी ठहरे हुए थे। वहां युवाचार्यश्री ने परिषद् के सामने मुनि गुलाबजी की शंकाओं का समाधान किया। लगभग दो वर्ष पूर्व भी उनके ऐसी शंकाएं पड़ी थीं। उस समय उनके इकतालीस शंकाएं थीं। उनका निराकरण भी जयाचार्य ने ही किया था। उन शंकाओं की निवृत्ति पर उन्होंने एक लिखित प्रतिज्ञा की थी। उसके अनुसार उन्हें किसी भी साधु-साध्वी की निन्दा करने का त्याग था। युवाचार्यश्री ने लिखित प्रतिज्ञा वाला वह पत्र भी जनता को दिखलाया।

तपस्वी गुलाबजी यह सब अन्दर बैठे सुन रहे थे। वे बाहर आए और कहने लगे—‘स्वामीजी की सब बातें मुझे स्वीकार हैं, किन्तु जो लोग पहले तो नियमों का पालन कठोरता से करते थे, पर अब ढीले पड़ गये, उनकी बात कैसे मानी जाए?’

युवाचार्यश्री ने कहा—‘दो वर्ष पहले जो पत्र लिखकर दिया था, उसमें आपने संघ को पूर्णतः विशुद्ध स्वीकार किया है। उस समय तक यदि हम ठीक थे तो उसके पश्चात् कौनसी ढिलाई आ गई? आपने साधु-साध्वियों की निन्दा करने का त्याग किया था। कम-से-कम अपने उस नियम का तो ध्यान रखते।’

मुनि गुलाबजी ने कहा—‘मेरा त्याग भंग हुआ है, उसका मुझे दण्ड ही तो आयेगा, मिर थोड़े ही कटेगा? पर बात तो जैसी होगी वही कही जाएगी।’ इस प्रकार बोलते हुए वे युवाचार्यश्री के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वापस अन्दर चले गये।

दूसरे दिन सायंकाल में युवाचार्यश्री को अकेला देखकर मुनि गुलाबजी कहने लगे—‘मैं तो गले तक भरा हुआ हूं, पर किससे कहूं? कोई मेरी बात सुनने वाला भी नहीं है।’

युवाचार्यश्री ने उनके मानसिक उभाड़ को शांत करने के लिये उपयुक्त समय समझकर सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् ऋषिराय से वहां जाने की आज्ञा ली। वे

‘नेवों’¹ के नीचे से वहां पधारे और तपस्वी गुलाबजी से बोले—‘आप कहते थे कि मेरी बात सुनने वाला कोई नहीं है। कहिए, मैं आपकी बातें सुनने के लिए आया हूँ।’

मुनि गुलाबजी ने तब लगभग दो घंटे तक अनाप-शनाप बातें कहकर अपने मन की भड़ास निकाली। उन्होंने अनेक मुनियों की नामपूर्वक कटु आलोचना करते हुए कहा—‘ये सब ढांगी हैं। किसी में भी विराग-भावना नहीं है। मैं इन सबकी दुर्बलताओं को अच्छी तरह से जानता हूँ। केवल आपका कोई दुर्बल पक्ष मेरे हाथ नहीं लगा। कह नहीं सकता, आप में विराग की बहुलता है या छलना की?’

युवाचार्यश्री केवल एक श्रोता के रूप में ध्यान देकर ऊंची-नीची सब बातें शान्तिपूर्वक सुनते रहे। जब वे सब-कुछ कह चुके तब उन्होंने मिठास से एक-एक आलोचना का उत्तर देना प्रारम्भ किया। उनकी मुख्य शंकाओं का भी उन्होंने धैर्यपूर्वक समाधान किया। मुनि गुलाबजी को यह स्वप्न में भी विश्वास नहीं था कि उनकी बातों को कोई इतनी शान्ति से सुन लेगा और उत्तर भी देगा। वे तो अपने प्रश्नों को ऐसा मान बैठे थे कि मानो उनका कोई उत्तर हो ही नहीं सकता। परन्तु अब उन उत्तरों के सामने उन्हें लगने लगा कि वे वस्तुतः कोई गहराई लिए हुए नहीं थे।

युवाचार्य ने तीसरे दिन मुनि गुलाबजी के साथी तपस्वी मुनि उदयचन्द्रजी को भी सारी बातें समझाई। उनके भी वे ध्यान में बैठ गयीं। अब वे स्वयं ही मुनि गुलाबजी की बातों का उत्तर देने लगे। मुनि गुलाबजी जब अपने साथी को भी निरुत्तर नहीं कर सके तब उन्हें अपनी बातों की साधारणता का अच्छी तरह से भान हो गया। वे युवाचार्यश्री से बोले—‘अब मेरे मन में कोई शंका नहीं है, अतः संघ की निंदा आदि करने में जो दोष लगा है, उसका दण्ड देकर मुझे आराधक बना दें।’

युवाचार्यश्री ने कहा—‘प्रायश्चित्त के विषय में कम या अधिक देने का भ्रम हो सकता है, अतः अच्छा हो कि जिस पर आपका अधिक-से-अधिक विश्वास हो उस व्यक्ति को आप स्वयं ही प्रायश्चित्त देने के लिये चुन लें। इसके लिए मैं ऋषिराय से स्वीकृति दिलाने का प्रयास करूँगा।’

मुनि गुलाबजी ने कहा—‘आप पर मेरा पूर्ण विश्वास है, अतः आप जो भी दण्ड देंगे वह मुझे स्वीकार होगा।’

युवाचार्यश्री ने तब उनको पूर्णतः सरलमना होकर ऋषिराय से प्रायश्चित्त मांगने का परामर्श दिया। इस पर तीनों ही सन्त युवाचार्यश्री के साथ ऋषिराय के पास आ गये और विधिपूर्वक वंदन करके जनता के सामने ही प्रायश्चित्त की याचना करने लगे। लोगों को इस पर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। किसी को यह विश्वास नहीं था कि अब उन्हें समझाया जा सकेगा। कुछ गृहस्थ उनके पक्षधर बनकर संघ की निंदा करने लगे थे, उनकी स्थिति अत्यन्त हास्यास्पद हो गई, जब ऋषिराय ने दण्ड देकर वापस गण में ले लिया।

1. खपैल की छतवाले मकानों में जो भाग छज्जेनुमा बाहर निकला हुआ होता है, उसे ‘नेव’ कहा जाता है।

उक्त गड़बड़ में यदि प्रारम्भ से ही दृढ़ता से काम नहीं लिया जाता और मुनि गुलाबजी की शर्तें मान ली जातीं तो सम्भव है, बात का अन्त संघ के लिये इतना अनुकूल नहीं निकल पाता, जितना उस क्रम से निकला। युवाचार्यश्री ने अपनी प्रशासनिक सूझ-बूझ से उस सारे बखेड़े को बहुत ही सरलता से सुलझा लिया।

संकेत भी आज्ञा

युवाचार्य जय प्रारम्भ से ही अत्यन्त विनीत और आज्ञाकारी थे। पद-प्राप्ति के पश्चात् तो वे इस विषय में अत्यधिक सावधान रहने लगे। गुरु के सामान्य-से संकेत को भी वे उनकी आज्ञा जितना ही महत्व दिया करते थे। सं. 1897 की घटना है। आमेट में चतुर्मास करने के लिए जिस सिंधाड़े की नियुक्ति की गई थी, वह कारणवश अन्यत्र अटक गया। समाचारों के आदान-प्रदान से जब यह निश्चित हो गया कि वह सिंधाड़ा आमेट नहीं पहुंच पायेगा, तब स्थानीय श्रावकों को बहुत चिंता हुई। आमेट उस समय मेवाड़ में सबसे बड़ा और प्रभावशाली क्षेत्र था। वहां चतुर्मास न हो, यह कल्पना भी असह्य थी। कुछ श्रावक एकत्र होकर जयपुर पहुंचे और सारी स्थिति बतलाते हुए किसी अन्य सिंधाड़े को भेजने की प्रार्थना की। आचार्यश्री ने पूरा ध्यान देकर देखा, परन्तु किसी को भेज पाना संभव नहीं लगा। आमेट को खाली रखना भी उन्हें इष्ट नहीं था। उन्होंने फरमाया—‘यदि जीतमल अपने साथ के दो संतों को भेज सके तो तुम्हारा काम हो सकता है।’

युवाचार्यश्री उस समय मेवाड़ में ही थे। श्रावकों ने वहां दर्शन किये, अपने क्षेत्र की सारी स्थिति बतलाई और आचार्यश्री द्वारा फरमाये हुए शब्द भी यथावत् निवेदित किये।

युवाचार्यश्री ने तत्काल अपने दो सन्तों—मुनि कर्मचन्दजी और मुनि रामचन्दजी को आमेट में चतुर्मास करने के लिये भेज दिया। स्वयं ने चार सन्तों से उदयपुर में चतुर्मास किया। आमेट-निवासी श्रावक कृतकृत्य होकर युवाचार्यश्री की आज्ञाकारिता और आचार्यश्री की कृपालुता की प्रशंसा करते हुए वापस गये।

सफल चतुर्मास

युवाचार्य पद देने के पश्चात् भी जयाचार्य को प्रायः पृथक् क्षेत्रों में ही चतुर्मास करवाये जाते रहे। ऋषिराय का विचार था कि ऐसा करने से दो क्षेत्रों में धार्मिक जागृति होती है। वास्तविकता भी यही थी। युवाचार्यश्री जहां-जहां पधारते वहां-वहां धार्मिक चर्चाओं तथा जन-संपर्क की बाढ़ आ जाती। उनके तर्कसंगत उत्तर जन-मानस को बहुत प्रभावित करते।

सं. 1906 में युवाचार्यश्री का चतुर्मास बीकानेर करवाया गया। वे अग्रणी-अवस्था में भी बीकानेर में दो चतुर्मास कर चुके थे। उन्हीं के प्रभाव से वह क्षेत्र बना था। अब युवाचार्य-अवस्था में जब वे वहां पधारे तो लोगों में अपार उत्साह भर गया। उनका नाम

सुनकर अनेक नये व्यक्तिसम्पर्क में आने लगे। उस चतुर्मास में अनेक परिवार तेरापंथी बने। उनमें मदनचन्दजी राखेचा तथा उनके छोटे भाई फकीरचन्दजी का परिवार प्रमुख था। दोनों ही भाई धनी तथा राजमान्य थे। धार्मिक क्षेत्र में भी वे कुछ ही दिनों में इतने पक्के हो गये कि स्थानीय श्रावकों में प्रमुख गिने जाने लगे। संघ-हित के लिए वे विशेष जागरूकता रखते थे। ऐसे महत्वपूर्ण व्यक्तियों के श्रद्धाशील बनने के कारण युवाचार्यश्री का वह चतुर्मास विशेष रूप से सफल माना गया।

गली निकालिये

ऋषिराय ने युवाचार्य जय को सं. 1907 का चतुर्मास बीदासर करने की आज्ञा प्रदान की। वे आषाढ़ मास में चतुर्मास करने के लिए बीदासर पहुंच गये। ऋषिराय अपना चतुर्मास करने के लिये जयपुर पधार चुके थे। वहां पर बीकानेर के प्रमुख श्रावक मदनचन्दजी राखेचा आदि ने ऋषिराय के पास प्रार्थना भेजी कि इस वर्ष युवाचार्य जय को पुनः बीकानेर चतुर्मास करने की आज्ञा दी जाए। यहां अच्छा उपकार होने का अवसर है। मदनचन्दजी जैसे महत्वपूर्ण और विश्वसनीय व्यक्ति ने प्रार्थना करवाई थी, अतः ऋषिराय ने उस पर तत्काल ध्यान दिया और उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। युवाचार्यश्री पिछले वर्ष बीकानेर चतुर्मास कर चुके थे, अतः इस वर्ष का चतुर्मास वहां तभी कल्प सकता था जब कोई दीक्षा-वृद्ध साधु उनके साथ रहे। इसलिए मुनि सरूपचंदजी को साथ लेकर वहां चतुर्मास करने के लिये उन्हें आदेश दिया गया।

जब ये समाचार बीदासर पहुंचे तो वहां के भाइयों को यह परिवर्तन काफी खटका। गरमी के दिन थे, लू इतनी तेज चल रही थी कि दुपहरी में घर से बाहर निकलना एक साहस का ही काम हो रहा था। मार्ग के छोटे ग्रामों में अचित्त पानी का योग मिलना भी काफी दुष्कर था। इन सब कठिनाइयों को सामने रखते हुए लोगों ने युवाचार्यश्री से वहीं चतुर्मास करने की प्रार्थना की। सहवर्ती साधुओं का मन भी विहार करने से कसमसा रहा था।

युवाचार्यश्री ने ध्यानपूर्वक सबकी बातें सुनीं और कहा—‘तुम कहते हो वह सब ठीक है, पर गुरुदेव की जो आज्ञा है, वह तो इन सबसे ऊपर है। उसकी पूर्ति तो होनी ही चाहिये।’

उपस्थित लोगों में से किसी एक ने कहा—‘आचार्यश्री की आज्ञा तो है, पर आप उसमें कोई गली निकालिये।’

युवाचार्यश्री ने तत्काल उसे टोकते हुए कहा—‘यह तुम क्या कह रहे हो? गली तो कोई ‘गोला’ या कामचोर ही निकालता है। यह तो सद्गुरु की आज्ञा है, इसमें गली निकालने जैसी कोई बात नहीं होती।’

‘युवाचार्य जय अनुशासन की दृढ़ता में विश्वास रखने वाले व्यक्ति थे। अनुशासन भंग करने तथा उसमें गली निकालने को वे अक्षम्य अपराध मानते थे। इसलिये उन्होंने

उस भयंकर गरमी में भी वहां से आषाढ़ शुक्ला 2 को विहार कर दिया। युवाचार्यश्री तथा मुनि सरूपचंदजी आदि-उस समय वे दस मुनि थे। गरमी के भयंकर कष्ट झेलते हुए वे आषाढ़ शुक्ला 10 को बीकानेर पहुंच गये। एक दिन तो उस विहार में उन्हें जल के अभाव में तृष्णा का मरणांत-सदृश¹ कष्ट भी उठाना पड़ा।

आप सही हैं

युवाचार्य जय का सं. 1907 का चतुर्मास बीकानेर के लिये अत्यन्त उपयोगी रहा। पिछले सभी चतुर्मासों की अपेक्षा उसमें अधिक उपकार हुआ। अनेक नये परिवार श्रद्धाशील बने। अन्य जैनों पर उस चतुर्मास में युवाचार्यश्री के पांडित्य का व्यापक प्रभाव पड़ा। अग्रोक्त घटना उसके साक्ष्य में उद्धृत की जा सकती है :

एक दिन प्रभात के समय युवाचार्यश्री आदि मुनि स्थांडिलभूमि की ओर जा रहे थे। रांगड़ी चौक में बड़े उपाश्रय के पास उन्हें मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के प्रमुख श्रावक भैरुंदानजी ढड़ा मिल गये। उन्हीं दिनों वहां नागौर से एक बड़ा संघ आया हुआ था। उसी विषय में बातचीत करते समय ‘साधर्मिक वात्सल्य’ का प्रसंग चल पड़ा। ढड़ाजी ने कहा—‘यह तो आगमोक्त है। वैयावृत्ति के प्रकरण में संघ वैयावच्चे पाठ आया है। उसमें यही तो कहा गया है कि संघ की वैयावृत्ति करना महान् लाभ का कारण है। संघ में साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—ये चारों ही आ जाते हैं।’

युवाचार्य जय ने कहा—‘ढड़ाजी! वैयावृत्ति के प्रकरण में ‘संघ’ शब्द का अर्थ ‘चतुर्विध संघ’ नहीं किया गया है। वहां तो साधर्मिक साधु-साध्वियों के गण-समूह को संघ कहा गया है।’

ढड़ाजी ने प्रतिवाद करते हुए कहा—‘नहीं महाराज! वहां तो ‘चतुर्विध संघ’ का ही अर्थ किया गया है।’

युवाचार्यश्री ने कहा—‘नहीं ढड़ाजी! वहां यह अर्थ नहीं मिलेगा।’

ढड़ाजी ने आग्रहपूर्वक फिर कहा—‘यही अर्थ मिलेगा। सन्देह हो तो यह पास में ही उपाश्रय रहा। आप वहां चलिये और आगम-पाठ को देखकर निर्णय कर लीजिए।’

युवाचार्यश्री ने उनके कथन को स्वीकार किया और उपाश्रय की ओर कदम बढ़ा दिये। कुछ ही कदम चले थे कि वे एकाएक रुक गये। गम्भीर मुद्रा में उन्होंने ढड़ाजी से कहा—‘यदि मैं कहता हूं वही अर्थ निकल गया तो?’

ढड़ाजी ने आत्मविश्वास के साथ कहा—‘आप कहते हैं वह अर्थ निकलेगा तो उसे मैं मानूंगा, किन्तु मैं कहता हूं वह निकल गया तो उसे आपको मानना पड़ेगा।’

युवाचार्यश्री ने आश्वस्त भाव से कहा—‘यह ठीक है।’

1. ज. सु. 31।11 :

‘मरणांत सदृश कष्ट सद्यो तिण दिने, स्ते तावड़ो अति तिह वेर।’

चौक में परस्पर यह बात काफी देर तक चलती रही थी। आस-पास में अधिकांश घर जैनों के ही थे, अतः कुछ ही समय में वहां सैकड़ों व्यक्ति एकत्रित हो गये। युवाचार्यश्री उपाश्रय में पधारे तब तक बात चारों ओर फैल गई। संवेगी तथा स्थानकवासी समाज के अनेक प्रमुख श्रावक वहां आ पहुंचे। उपाश्रय में उस समय स्वयं श्रीपूज्य उपस्थित नहीं थे। उनके प्रमुख शिष्य यति हंसराजजी वहां थे। युवाचार्य जय ने उनसे 'ओववाइय' की टीका दिखलाने को कहा। यतिजी ने तत्काल पुस्तक-भण्डार में से निर्दिष्ट प्रति निकाली और युवाचार्य के सम्मुख रख दी। युवाचार्यश्री ने चर्चित प्रकरण निकालकर पत्र को ढड़दाजी की ओर बढ़ाते हुए फरमाया—'यह देखिये और फिर पढ़कर सबको सुना दीजिये।' ढड़दाजी ने नप्रतापूर्वक कहा—'नहीं-नहीं, मैं इस कार्य का अधिकारी नहीं हूँ। इसमें जो लिखा हो वह आप ही पढ़कर सुना दीजिये।'

युवाचार्यश्री ने तब उच्च स्वर से सूत्र पाठ तथा उसका अर्थ पढ़कर उपस्थित लोगों को सुनाया और यति हंसराजजी से पूछा—'क्यों यतिजी! प्रति में जो लिखा गया है वही इस पाठ का ठीक अर्थ है न?' यतिजी ने स्वीकृति-सूचक सिर हिलाते हुए कहा—'हाँ, यही बिल्कुल सही अर्थ है।' युवाचार्यश्री ने तब ढड़दाजी की ओर उन्मुख होते हुए फरमाया—'क्यों ढड़दाजी! अब तो आपको यह अर्थ मान्य होगा?' ढड़दाजी ने हाथ जोड़ते हुए कहा—'ऐसा ढीठ कौन हो सकता है जो जिनवचनों का उत्थापन करे! वस्तुतः आपने जो कहा था, वही अर्थ प्रति में निकला है। आप सही हैं, मैं गलती पर था।'

इसके पश्चात् युवाचार्य जय वहां से पधार गये। लोग भी अपने-अपने घर चले गये। उपाश्रय में चर्चा होने और उसमें युवाचार्यश्री द्वारा बतलाये गये अर्थ के ठीक निकलने की बात नगर में सर्वत्र फैल गई। उस चर्चा से सभी सम्प्रदायों के लोगों पर युवाचार्यश्री के पाण्डित्य का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

चोटी तेरे हाथ में है

जयाचार्य संघ की व्यवस्था में साधारण मुनि अवस्था से ही प्रायः रुचि रखने लगे थे। युवाचार्य बना देने के पश्चात् तो उस विषय में अधिक सजग रहने की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही थी। ऋषिराय समय-समय पर सन्तों को अनेक प्रकार की बछरीशें करते रहे थे। किसी को उन्होंने पृथक् विहार-क्षेत्र देने का वचन दिया था तो किसी को चतुर्थ मुनि देने का और किसी को कोई प्रति देने का। इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों को उन्होंने लिखित रूप में विभिन्न छूटें दी थीं। युवाचार्यश्री संघ की एकसूत्रता बनाये रखने में इस क्रम को बाधक समझते थे। सं. 1902 पौष कृष्णा 11 को बींठोड़ा के बाहर तालाब के पास वृक्षों की छाया में एक बार ऋषिराय पीछे आने वाले सन्तों की प्रतीक्षा कर रहे थे। युवाचार्यश्री उनके पास थे। एकान्त का अवसर देखकर उन्होंने ऋषिराय से उस विषय में प्रार्थना करते हुए कहा—'पृथक्-पृथक् विहार क्षेत्र दे देने से कालान्तर में अन्य सम्प्रदायों की तरह यहां भी वैसी स्थिति पैदा होने की सम्भावना हो सकती है, जिससे एक सिंघाडे

360 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
के क्षेत्र में दूसरे सिंघाड़े का चले जाना असद्य लगने लगे। अधिक छूटें संघ में पारस्परिक
भेद खड़ा कर सकती हैं। इसलिए इसमें संकोच से ही काम लेना आवश्यक लगता है।'

युवाचार्यश्री का वह कथन ऋषिराय को उपयुक्त लगा। उन्होंने संक्षिप्त-सा उत्तर
देते हुए कहा—‘छूटें तो मैं दे चुका हूं, परन्तु किसी क्षेत्र या व्यक्ति का मैंने नाम नहीं
खोला है, अतः चोटी तो तेरे हाथ में ही रहेगी। जब जैसा अवसर देखे, वैसे ही कार्य
सलटा लेना।’¹

नागौर-पट्टी

ऋषिराय के द्वारा दी गई छूटों ने जयाचार्य के पदारूढ़ होते ही अपना रंग दिखाना
प्रारम्भ कर दिया, परन्तु ‘चोटी तेरे हाथ में है’—ऋषिराय के उक्त वाक्य को आधार बना
कर जयाचार्य ने उस समस्या का हल सहज ही निकाल लिया। एक बार मुनि छोगजी
जयाचार्य के पास आए और ऋषिराय द्वारा प्रदत्त वचन का लिखित पत्र दिखाते हुए अपने
लिये स्वतंत्र विहार-क्षेत्र प्रदान करने की मांग करने लगे।

जयाचार्य ने फरमाया—‘तुम्हें नागौर-पट्टी दी जाती है। वहां स्वतंत्र रूप से विचरे
और जनोपकार करो।’

नागौर-पट्टी में श्रद्धा के घर विशेष नहीं थे, अतः उनका मन उस क्षेत्र को पाकर
सन्तुष्ट नहीं हो सका। उन्होंने कहा—‘यह तो नहीं, कोई दूसरा क्षेत्र दीजिए।’

जयाचार्य ने कहा—‘लेना हो तो यही क्षेत्र है। दूसरा क्षेत्र देने का अभी कोई विचार
नहीं है।’

वे उस क्षेत्र के लिये इनकार करके उस समय तो चले गये, पर कुछ देर पश्चात् ही
पुनः आए और कहने लगे—‘अच्छा, तो मैं नागौर-पट्टी में ही विहार कर लूंगा। वही दे
दीजिए।’

जयाचार्य ने कहा—‘नहीं, अब नहीं। वह तो उस समय की बात थी। उस समय
तुमने स्वीकार नहीं किया, अब मुझे स्वीकार नहीं है।’

जयाचार्य के उस दृढ़ रुख का अन्य साधुओं पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि फिर किसी ने
पृथक् पट्टी की मांग करने का साहस ही नहीं किया। संघ की आन्तरिक व्यवस्था में उन्होंने
प्रारम्भ से ही अपनी प्रतिभा का जो उपयोग किया, वह उनकी योग्यता का परिचायक तो
था ही, साथ ही संघ की उन्नति और संगठन की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण था।

1. प्र.प.सं., पत्र 26।

महान् आचार्य

पदासीन

जयाचार्य तेरापंथ के महान् आचार्य थे। वे सं. 1908 माघ पूर्णिमा के दिन बीदासर में पदासीन हुए। यद्यपि ऋषिराय छोटी रावलियां (मेवाड़) में माघ कृष्णा चतुर्दशी को ही दिवंगत हो गये थे, पर युवाचार्य उस समय उनके पास न होकर थली में विहार कर रहे थे। उस समय समाचार या संचार-साधनों की व्यवस्था इस समय जैसी नहीं थी कि आज पत्र डाला और कल पहुंच गया, या आज चले और कल किसी दूरस्थ प्रदेश में पहुंच गये। प्रायः सभी-कुछ अपेक्षाकृत धीमी गति से हुआ करता था। इसीलिए जयाचार्य के पास वे समाचार कासीद के द्वारा लाये गये पत्र से बीदासर में माघ शुक्ला अष्टमी को पहुंच पाये। उसके पश्चात् शुभ दिन देखकर माघ पूर्णिमा को पदासीन होने का उत्सव मनाया गया। उस उत्सव के उपलक्ष्य में अनेक व्यक्तियों ने त्याग-विराग की वृद्धि की। मुनि रामजी ने उस अवसर पर यावज्जीवन के लिए बेले-बेले की तपस्या ग्रहण की। जयाचार्य भी उस दिन श्रावकों के घर गोचरी के लिए पधरे और अशन-वसन ग्रहण कर लाये। आचार्यश्री के उस अचानक और अयाचित प्रथम पदार्पण से जनता को उतना ही हर्ष हुआ जितना कि वर्षाकाल की प्रथम वर्षा के अवसर पर किसानों को होता है।

जयाचार्य के उस प्रथम पट्टोत्सव पर सम्मिलित होने का अवसर अधिकांश साधु-साध्वियों को नहीं मिल सका। उसका कारण यह था कि उस समय तक थली में बहुत कम सिंघाड़े आया करते थे। साधु-साध्वियों का विहार-क्षेत्र, मुख्यतः मेवाड़ या मारवाड़ ही था। उस वर्ष ऋषिराय स्वयं मेवाड़ में थे, अतः दर्शनार्थी सिंघाड़े वहीं एकत्रित हुए थे। जब आधे माघ में ऋषिराय अचानक दिवंगत हो गये, तब वहाँ से विहार कर सन्त-सतियों का जयाचार्य की सेवा में शीघ्र ही पहुंच पाना सम्भव नहीं था। इसलिए वह उत्सव थोड़े-से साधुओं द्वारा ही मनाया गया।

मीठा उपालम्भ, मीठा उत्तर

पट्टोत्सव के छोटे समारोह का एक दूसरा कारण यह था कि स्वयं जयाचार्य उस कार्य से शीघ्र ही निवृत्त होना चाहते थे। अधिक सन्तों के एकत्रित होने पर उनके द्वारा

उस अवसर पर कुछ मांगें प्रस्तुत की जाने की उन्हें सम्भावना थी। ऋषिराय द्वारा दी गई बछशीशों को कार्यरूप में परिणत करवाने तथा उनके अतिरिक्त कुछ नई मांगें रखने की कठिपय सन्तों की पूर्व चिन्तित योजना थी। वे उसे जयाचार्य के पदासीन होने के उपलक्ष्य में स्वीकृत कराना चाहते थे।

जयाचार्य को उनकी उस योजना का पहले से ही कुछ अनुमान था। संयोगवश उन्हें पदासीन होने का अवसर ऐसा प्राप्त हो गया कि अधिक सन्त वहां एकत्रित नहीं हो सके। उन्होंने उस आकस्मिक संयोग का पूरा लाभ उठाया। वे नहीं चाहते थे कि प्रथम अवसर पर ही किसी की मांग को अस्वीकृत कर उन्हें निराश किया जाये। वे यह भी नहीं चाहते थे कि पूरा चिन्तन किये बिना किसी भी मांग को स्वीकार करके सदा के लिये कोई सिरदर्द पैदा कर लिया जाए। अपने कार्य में वे पूरे सावधान थे, अतः ऐसा अवसर उन्होंने उपस्थित ही नहीं होने दिया।

कालान्तर में बीदासर से विहार कर जयाचार्य लाडनूं पधारे। तब तक मारवाड़ और मेवाड़ से अनेक सिंघाड़े पहुंच गये। चालीस साधु और चौवालीस साध्वियों ने वहां दर्शन-सेवा का लाभ प्राप्त किया। उस अवसर पर कुछ साधुओं ने मिलकर जयाचार्य को एक मीठा उपालम्भ देते हुए कहा—‘आपने यह क्या किया? हम मेवाड़ में आपकी प्रतीक्षा कर रहे थे और आप यहीं पर विराज गये। पाट तो आपको वहीं विराजना चाहिए था जहां काफी सन्त एकत्रित थे। आपने हमें एक महनीय उत्सव में सम्मिलित होने के अवसर से वंचित कर दिया।’

महान् नीतिज्ञ जयाचार्य ने उस मीठे उपालम्भ को अपने मीठे उत्तर से टाल देने के लिए एक प्रश्न पूछते हुए कहा—‘उस समय सम्मिलित होकर आखिर तुम लोग क्या करते?’

साधुओं ने कहा—‘हम भी उत्सव मनाते और आपको नया उत्तरीय धारण करवाते।’

जयाचार्य ने स्मयमान मुद्रा से कहा—‘बस, तो इतनी-सी ही बात थी? ऐसा तो तुम अब भी कर सकते हो।’ और उनके उस छोटे वाक्य ने उन सबको निरुत्तर कर दिया।

भावना की पूर्ति

जयाचार्य लाडनूं से विहार कर सुजानगढ़ पधार गये। सभी आगन्तुक मुनियों को पट्टोत्सव में सम्मिलित न हो पाने का रंज था। वे चाहते थे कि एक बार फिर पट्टोत्सव मनाया जाए और उन सबको उस आनन्द में सम्मिलित होने का अवसर दिया जाए। जयाचार्य उन सबकी भावना पूर्ण करने की बात सोच ही रहे थे कि वहां बीदासर के सुप्रसिद्ध श्रावक शोभाचन्द्रजी बैंगानी ने दर्शन किये। उन्होंने जयाचार्य से बीदासर पधारने और एक बार फिर वैसा ही उत्सव मनाने की प्रार्थना की।¹

1. ज. सु. 36। दो. 5 :

‘शोभाचन्द्रजी तिह समे, विनती करी विशेष।

इक मेलो बीदासरे, कीजे वली गणेश॥’

जयाचार्य ने मुनि समुदाय की भावना और शोभाचन्द्रजी की प्रार्थना की एक साथ ही पूर्ति का अवसर देखकर उसे स्वीकार कर लिया और फिर बीदासर पधारे। वहां नवागन्तुक साधु-साधियों ने ज्येष्ठ कृष्णा 4 को बड़े उत्साह से पट्टोत्सव मनाया। जयाचार्य ने अपनी एक गीतिका में इसी पट्टोत्सव का उल्लेख करते हुए लिखा है :

संवत् उगाणीसै आठै समै, जेठ कृष्ण चोथ जाण।
पट मंगल पद पामियो, बीदासर सुविहाण॥¹

कांटे निकाल देंगे

आचार्य अपना उत्तराधिकार तो किसी को भी सौंप सकते हैं, परन्तु उसे जनता में श्रद्धेय तथा आदर-पात्र नहीं बना सकते। श्रद्धास्पद तथा आदरणीय तो उसे उसका गुण और सामर्थ्य ही बना सकता है। जयाचार्य के गुणों तथा सामर्थ्य से समग्र संघ पहले से ही परिचित था। इसलिए प्रायः सभी उनके प्रति श्रद्धा एवं आदर का भाव रखते थे। फिर भी संघ में ऐसे अनेक व्यक्ति थे जो उनके वर्चस्व से प्रसन्न नहीं थे। उनमें एक साधी चतरूजी भी थीं। वे ऋषिगाय की कृपा-पात्र थीं। स्वभाव से बहुत अक्खड़ थीं। जनता पर उनका प्रभाव अच्छा था। उस समय के साधियों के सिंघाड़ों में उनका दीपता सिंघाड़ा गिना जाता था।

जयाचार्य ने आचार्य-पद सम्भाला तब वे स्वतः ही सावधान हो गईं। प्रथम बार दर्शन किये तब उन्होंने जयाचार्य को एक काष्ठ-निर्मित चिमटी और एक बेंत भेंट की। अपनी भेंट का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा—‘चिमटी कांटे निकालती है। आप संघ के मार्ग में आने वाले समग्र कांटे निकाल देंगे। बेंत सीधी होती है, अतः आपके सभी ‘बैंट’—अक्सर स्वतः सीधे और अच्छे होंगे।’²

शम्भु के चूहे

नये राजा के समान नये आचार्य को भी बड़ी सावधानी से सबके साथ व्यवहार करना पड़ता है। पहले-पहल उसके प्रति सबके मन में श्रद्धा से कहीं अधिक आशंका रहती है। आचार्य यदि सबको संभाल कर अपने प्रभाव में ले लेते हैं तब तो ठीक कार्य चलने लगता है, अन्यथा गड़बड़ एवं बिखराव होने लग जाता है। जयाचार्य ने आचार्य-पद प्राप्त होते ही सारी स्थितियों पर अपनी पकड़ सुदृढ़ कर ली। अक्खड़ कहे जाने वाले व्यक्ति भी उनके सम्मुख सीधे और अनुशासित हो गये।

एक बार मालव के तत्कालीन सुप्रसिद्ध श्रावक ऋषभदासजी मोदी जयाचार्य की सेवा में बैठे थे। वे अत्यन्त विश्वसनीय तथा अन्तरंग परिषद् के श्रावक कहलाते थे। बातचीत के क्रम में उन्होंने जयाचार्य से सन्तों के व्यवहार के विषय में पूछ लिया।

1. विक्षुगुण-वर्णन, ढाल 2013।

2. प्र. प. सं., पत्र 27।

364 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
जयाचार्य ने कहा—‘सब ठीक चल रहे हैं। गड़बड़ की आशंकाएं थीं अवश्य, परन्तु वे निर्मूल ही सिद्ध हुईं।’

ऋषभदासजी ने कहा—‘मुनिजनों का ठीक चलना ही अच्छा है। अन्यथा उन्हीं के लिये बुरा होता है।’ उन्होंने एक उदाहरण देते हुए कहा—‘एक जागीरदार के शम्भु नाम का नौकर था। जागीरदार वृद्ध थे। सेवा करते-करते नौकर उनके मुंह लग गया। अन्य किसी को तो वह कुछ गिनता ही नहीं था, परन्तु जागीरदार को भी कभी-कभी अपमानित कर देता था। सेवा के लालच में जागीरदार उसकी सभी ज्यादतियां सहते गये। जागीरदार कभी अपने आभूषण, रूपये, मुहर आदि सुनिश्चित स्थान पर सुरक्षित रख देने के लिए देते तो वह उनमें से भी अवसर देखकर कुछ को पार कर देता। वापस मंगाने पर कह देता—‘उस कमरे में चूहे और कोल बहुत आते हैं। अब कैसे पता लगे कि वे आभूषण आदि को किस बिल में ले गये हैं?’ इस प्रकार कभी कण्ठा तो कभी रूपया और मुहर आदि पार होती रही। जागीरदार उसकी चालाकी को समझ तो गये, परन्तु उसकी सेवा को छोड़ नहीं सकते थे, अतः मौन रहने को विवश थे।

‘एक बार जागीरदार बहुत रुण हो गये। बचने की आशा क्षीण हो गई। पास में बैठे उदास शम्भु ने अपने लिए कुछ अन्तिम शिक्षा देने के लिये कहा तो वे ठहर-ठहर कर बोले—‘शम्भुडा! मैं तो अब जा रहा हूँ। पीछे से मेरा बेटा पद्मसिंह जागीर सम्भालेगा। उसका स्वभाव कुछ भिन्न है। अब तू अपने सभी कोलों और चूहों को समझा लेना। अन्यथा वह छट्टी का खाया हुआ भी निकलवा लेगा।’ शम्भु चतुर व्यक्ति था। स्वामी के बदलते ही उसने स्वयं को बदल लिया।’

अपने कथन का उपसंहार करते हुए ऋषभदासजी ने कहा—‘आपके प्रभाव तथा तेज को देखकर सभी सन्त मन ही मन समझ गये और उन्होंने स्वयं को बदल लिया, तो यह बहुत ही प्रसन्नता की बात है।’

भक्ति से बंधे

जयाचार्य का प्रथम चतुर्मास प्राप्त करने के लिये थली के अनेक क्षेत्रों ने आग्रहभरी प्रार्थना की, परन्तु उन्होंने किसी की भी प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया और विभिन्न क्षेत्रों में विहार करते हुए जयपुर पधार गये। वहां से उनका कोई संस्कारगत ही सम्बन्ध रहा प्रतीत होता है।

जयपुर के भैरूलालजी सिंधड जयाचार्य के समवयस्क थे। आचार्य भारमलजी के युग में जब जय दीक्षार्थी थे तब उन्हीं के मकान में ठहरे थे। स्यात् तभी से उनका उनसे परिचय हो गया था। समवयस्कता के कारण वही परिचय कालान्तर में प्रगाढ़ हो गया। जयाचार्य ने आचार्य बनने से पूर्व 5 चतुर्मास जयपुर में किये। उनमें एक मुनि हेमराजजी के साथ, एक अग्रणी अवस्था में और तीन युवाचार्य अवस्था में किये। कहा जाता है कि युवाचार्य अवस्था के अन्तिम सं. 1904 के चतुर्मास में लाला भैरूलालजी ने उनसे

आग्रहभरी प्रार्थना की थी कि आचार्य बनने के पश्चात् प्रथम चतुर्मासि वे जयपुर को प्रदान करें। यद्यपि ऐसे किसी भी आग्रह पर वचनबद्ध हो जाना सम्भव नहीं होता, फिर भी भक्त की भावना मन पर अपना एक प्रभाव अवश्य छोड़ती है। भक्त सदा ही भगवान् के आदेश में बंधे रहते हैं, पर कभी-कभी भगवान् को भी भक्त की भावना में बंध जाना पड़ता है। अवश्य ही लालाजी की भक्ति ने जयाचार्य को उस समय बांधा और वे सहष बंध गये। उसी आधार पर सं. 1909 का अपना प्रथम चतुर्मासि उन्होंने जयपुर में किया।

कौर छिन गया

जयपुर-चतुर्मासि के पश्चात् जयाचार्य जोबनेर पधारे। वहां एक महीना ठहर कर किशनगढ़ पधार गये। वहां भी एक महीना ठहरे। वहां से स्यात् वे थली की ओर पधारते, परन्तु उज्जयिनी के मोतीचन्दजी कांकरिया आदि दर्शनार्थ आये हुए भाइयों ने मालव पधारने की भक्तिपूर्ण प्रार्थना करते हुए कहा—‘आप धर्मक्षेत्र के चक्रवर्ती हैं। आपको चक्रवर्ती की तरह ही सब देशों को साधना चाहिए। नये आचार्य के दर्शनों की प्यास सभी को है, परन्तु दूर देश के लोगों का यहां तक पहुंच पाना न बहुत सरल है और न सबके सामर्थ्य का, अतः आप ही दर्शन देने की कृपा करें।’

उनकी प्रार्थना पर जयाचार्य का मन मालव-भूमि की ओर विहार करने का हो गया। उन्होंने कहा तो कुछ नहीं परन्तु उसी मनोभावना से सीधे मार्ग से विहार करते हुए वे बनेड़ा और भीलवाड़ा होकर पुर पधार गये। वहां से मालव की ओर जाने का सुगम मार्ग था। मेवाड़ में विहार करने वाले अनेक सिंघाड़े वहां आये। फलतः पुर में एक सौ बीस साधु-साध्वियां एकत्रित हो गये।

मेवाड़ के प्रमुख नगरों से श्रावक-वर्ग भी वहां एकत्रित हुआ। उसमें उदयपुर, नाथद्वारा, राजनगर और गंगापुर के श्रावक प्रमुख थे। ऋषभदासजी तलेसरा तथा फोजमलजी तलेसरा आदि सभी श्रावकों ने सम्मिलित होकर प्रार्थना की कि आचार्य बनने के पश्चात् प्रथम बार आप मेवाड़ में पधारे हैं, तब हमें तृष्णित छोड़कर ऊपर के ऊपर मालव की यात्रा पर कैसे पधार सकते हैं? यह चतुर्मासि मेवाड़ में करें, उसके पश्चात् सुखपूर्वक मालव में पधारें। मेवाड़वासियों की प्रार्थना ने इतने प्रबल आग्रह का रूप ले लिया कि जयाचार्य को अपनी भावना बदलनी पड़ी। मालव-यात्रा एक वर्ष के लिये आगे सरक गई। आश्वस्त हुए मालववासियों को ज्ञात होने पर अवश्य ही लगा होगा कि मुख के सम्मुख आया कौर भी छिन सकता है।

स्वामीजी उपालभ देंगे

पुर में एक मास ठहर कर जयाचार्य ने विहार किया और मेवाड़ के छोटे-बड़े क्षेत्रों में काफी घूमे। गंगापुर, रायपुर, लावा (सरदारगढ़) और आमेट होते हुए वे केलवा पधारे। वहां से राजनगर को पाश्वर्म में छोड़कर अन्य मार्ग से कांकरोली पधार गये। सम्भव है, उसके पश्चात् वहां पधारने की योजना ही रही हो, परन्तु स्थानीय श्रावकों को ऐसे

366 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
पधारना बहुत अखरा। तेरापंथ के इतिहास में स्वामीजी के समय से ही राजनगर का
विशिष्ट स्थान रहता आया था। उस स्थिति में जयाचार्य द्वारा उसकी उपेक्षा करके इस
प्रकार आगे पधार जाना वस्तुतः ही अखरने वाला था।

राजनगर के श्रावक एकत्रित हुए और सम्मिलित रूप से उन्होंने कांकरोली में
जयाचार्य के दर्शन किये। यद्यपि वे सब पूर्ण श्रद्धाशील व्यक्ति थे, फिर भी उनके मन
में असन्तोष घुमड़ रहा था। वे अपने श्रद्धेय के सम्मुख झगड़ा तो नहीं, परन्तु असन्तोष
की अभिव्यक्ति तो कर ही सकते थे। वे एक गीतिका बना कर लाये थे। उसमें जयाचार्य
को उपालम्भ देते हुए कहा गया था—‘आप हमें छोड़कर पधार गये, यह अच्छा नहीं
किया। राजनगर की तो स्वयं स्वामीजी ने प्रशंसा की है। आचार्य भारमलजी और आचार्य
रायचंदजी ने भी उसे महत्व दिया है। वे सब स्वर्ग से आपको यहां उपालम्भ भेजेंगे कि
जीतमल! यह क्या काम किया?’ गीतिका के पद्यों में से कुछ इस प्रकार थे :

राजनगर किम टालियो जी, कांकरोली रै काम।

आप टाली नै नीकलत्या जी, पिण म्हारो वेली छै राम।

भीखण्णजी गुण भाखिया जी, भार राय ज्यांरी भेट।

स्वर्ग मांही बैठा थका जी, थानै ओलंभो देसी ठेट॥¹

गीतिका बहुत मार्मिक थी और भाव-विभोर होकर गाई गई थी, अतः सुनने वाले
सभी गद्गद हो गये। जयाचार्य ने भी उनकी उचित प्रार्थना का आदर किया और वहां से
राजनगर पधार कर सबको तृप्त कर दिया।²

दो हजार यात्री

जयाचार्य के प्रति जनता का आकर्षण बहुत तीव्र था। वे जहां भी पधारते, लोग
सहज ही एकत्रित हो जाते। दूर-दूर क्षेत्रों के लोग भी दर्शन-सेवा के लिए बहुत आते
रहते। सं. 1910 का चतुर्मास उन्होंने नाथद्वारा में किया। जयाचार्य आदि 12 साधु और
सरदासस्ती आदि 15 साधियां वहां पर थीं। आचार्यश्री के साथ साधियों के चतुर्मास
का क्रम यहीं से प्रारम्भ हुआ, जो कि बाद में निरन्तर चलने वाले एक अनिवार्य क्रम
जैसा बन गया।

उस चतुर्मास में मेवाड़ के लोगों का आगमन तो अधिक रहा ही, दूरस्थ क्षेत्रों के
दर्शनार्थी भी बहुत आए। कहा जाता है कि वहां दो हजार से भी कहीं अधिक यात्रियों का
आगमन हुआ।

तुलसी की माला

नाथद्वारा चतुर्मास के पश्चात् जयाचार्य गोगूंदा, रावलियां तथा ‘सेलानला’ के क्षेत्रों
में विचरण कर उदयपुर पधार गये। वहां से मालव-यात्रा का मनोगत निर्णय कर कानोड़

1. उक्त पद्य राजनगर के श्रावक हंसराजजी सेवग द्वारा रचित गीतिका के हैं।

2. ज. सु. 38।७ में केलवा से राजनगर और फिर कांकरोली पधारने का उल्लेख है। किन्तु उक्त गीतिका के
पद्यों से स्पष्ट है कि कांकरोली और फिर राजनगर पदार्पण हुआ।

की ओर विहार कर दिया। मालववासियों को जब यह समाचार मिले तो वे प्रसन्नता से शूम उठे। कानोड़ तो मालव की सीमा से बहुत निकट का क्षेत्र है। मालव-पदार्पण के लिए प्रायः वही मार्ग लिया जाता है। रत्लाम के प्रमुख श्रावक मायाचन्दजी अग्रवाल तथा भैरजी गांधी ने कानोड़ में दर्शन कर मालव-यात्रा के लिये घोषणा करवा लेना उचित समझा। दोनों ने रथ पर यात्रा की। सुरक्षा तथा आवश्यक सेवा के लिए दो घुड़सवार भी उनके साथ थे। जयाचार्य के साथ रहकर पूरे मार्ग में सेवा करते हुए ही वे वापस जाने का निर्णय करके आये थे।

कानोड़ में उन्होंने जयाचार्य से मालव-यात्रा की घोषणा कर देने की कई बार प्रार्थना की, परन्तु न जाने क्यों, वे उसे यही फरमाकर टालते रहे कि अवसर आने दो। मायाचन्दजी से आखिर नहीं रहा गया। उन्होंने अपनी जेब में से तुलसी की माला निकाली और जयाचार्य की गोद में रखते हुए कहा—‘हमारे पूर्वज वैष्णव थे। गोमुखी में हाथ डालकर तुलसी की माला से वे जप किया करते थे। मुनि वेणीरामजी वहां आये और हमारे पूर्वजों को उन्होंने जैन बनाया। अपने पूर्वजों से प्राप्त जैन-पद्धति को हम आज तक उसी श्रद्धा और भावना के साथ निभाते आये हैं। परन्तु अब आप हमारी संभाल ही नहीं ले रहे हैं, तब हम क्या करें और कहां जाएँ? या तो आप मालव-भूमि में पधारने की घोषणा कर दें या फिर अपने हाथों से यह तुलसी की माला हमें पुनः पकड़ा दें।’

जयाचार्य उनकी उपालंभ एवं भक्तिभरी प्रार्थना सुनकर मुग्ध हो गये। उन्होंने उसी समय मालव-यात्रा की घोषणा कर दी और फिर कानोड़ में 21 रात विराज कर मालव की ओर विहार कर दिया।

मालव में

आचार्य-अवस्था में जयाचार्य की वह प्रथम मालव-यात्रा थी। सभी क्षेत्रों में अपार उत्साह था। मालव-प्रवेश करते ही मन्दसौर पधारे। वहां रत्लाम के 50 व्यक्तियों ने एक साथ आकर दर्शन किये। अन्यत्र भी जहां पधारे वहां विभिन्न क्षेत्रों के लोगों ने सामूहिक रूप से दर्शन किये। उस यात्रा में जयाचार्य ने वहां के प्रायः सभी प्रमुख क्षेत्रों का स्पर्श किया। कुछ में चतुर्मास से पूर्व, कुछ में चतुर्मास के पश्चात् पधारे। बीहड़ जंगलों से भरे मार्ग को लांघते हुए वे झाबुआ जैसे क्षेत्रों में भी पधारे। वहां से पांच कोस (16 कि. मी.) राणपुर है, वहां तेरापंथी मुनियों का पहले कभी पदार्पण नहीं हुआ था। स्थानीय लोगों की प्रार्थना पर दो दिनों के लिये वहां भी पधारे। प्रायः प्रत्येक क्षेत्र को उन्होंने यथायोग्य अच्छा समय प्रदान किया। ऋषिराय के पदार्पण से 26 वर्ष पश्चात् मालव-भूमि की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को पुनः हरा-भरा कर देने का वह स्वर्णमय अवसर था।

जयाचार्य मालव के लिए पर्याप्त संख्या में संत-सतियों को लेकर पधारे थे। विशिष्ट अवसरों पर जब वे एकत्रित हुए तो उस शिष्य-सम्पदा को देख कर लोग चकित

368 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
हो गये। मुख्यतः वे दो अवसरों पर एकत्रित हुए। प्रथम बार तो चतुर्मास से पूर्व ग्रीष्मकाल में रतलाम पधारे तब वहां 65 'ठाणे' एकत्रित हुए और दूसरी बार चतुर्मास के पश्चात् शीतकाल में इन्दौर पधारे तब वहां 72 'ठाणे' एकत्रित हुए।

जयाचार्य ने सं. 1911 का अपना वह चतुर्मास रतलाम में किया। वहां 15 संत और 30 सतियां थीं। शेष सभी को चतुर्मास करने के लिए विभिन्न नगरों में भेज दिया गया। जयाचार्य का वह चतुर्मास जनोपकार की दृष्टि से अत्यन्त सफल रहा। मालव के विभिन्न नगरों से तो बड़ी संख्या में सेवार्थी आए ही, परन्तु मेवाड़ और थली के भी बहुत लोग सेवा में आये और लम्बे समय तक वहां रहे।

स्थानकवासी तथा मूर्तिपूजक आम्नाय के लोग वहां काफी थे। वे भी व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से आते रहते थे। कोई श्रद्धा से आता तो कोई जिज्ञासा लेकर। कोई-कोई वाद-विवाद तथा वितंडा के लिये भी आ जाता था। जयाचार्य सभी को यथानुरूप ऐसा उत्तर देते कि जिज्ञासुओं को तो समाधान मिल जाता और शेष निरुत्तर होकर चुप हो जाते। कहा जा सकता है कि वह चतुर्मास चर्चा-वार्ताओं के लिए विशेष महत्वपूर्ण रहा। जयाचार्य के समृद्ध ज्ञान-बल से रतलाम की जनता जहां सम्यक्त्व या सुलभबोधिता को प्राप्त हुई वहां समग्र मालव में धर्म की महिमा वृद्धिंगत हुई।

प्रभावक आचार्य

मालव-यात्रा सम्पन्न कर जयाचार्य पुनः मेवाड़ पधार गये। सं. 1912 का चतुर्मास उन्होंने उदयपुर में किया। वहां महाराणा से लेकर सामान्य-जन तक उनके सम्पर्क में आये और प्रभावित हुए। वे एक ऐसे प्रभावक आचार्य थे जिन्होंने अपने विभिन्न जनोपयोगी कार्यों से जनता को उपकृत तथा प्रभावित किया। उनके व्याख्यान से प्रतिदिन सैकड़ों व्यक्ति लाभ उठाते। विशेषज्ञ-जन आगमिक रहस्यों की गुत्थी सुलझाने के लिये उनसे सम्पर्क करते। विद्वान् उनके साहित्यिक व्यक्तित्व पर मुग्ध थे तो नरेश उनके निलिप्त जीवन-क्रम की बलिहारी जाते थे।

मालव-यात्रा के पश्चात् यद्यपि वे अपने आचार्य-काल में वर्तमान राजस्थान के प्रमुख घटक मेवाड़, मारवाड़, ढूँढ़ाड़ और थली में ही विहार करते रहे, फिर भी उनके व्यक्तित्व की सुरभि दूर-दूर तक फैली। उन्होंने अपने आध्यात्मिक जीवन से जो अमृतरस जन-जन को वितरित किया वही उन्हें अमर बना गया। उन जैसे प्रभावशाली आचार्य प्रायः शताब्दियों में ही हो पाते हैं।

महान् योजनाएं

नवीनता और प्राचीनता

जयाचार्य का शासन-काल संघ की चतुर्मुखी प्रगति का काल था, पर साथ ही वह आन्तरिक संघर्ष का कारण भी बन गया। वस्तुतः संघर्ष के बिना कोई प्रगति संभव भी नहीं होती। प्रगति में सदैव नवीनता की प्रमुखता रहती आई है और जब-जब नवीनता ने अपने उपयुक्त स्थान की मांग की है तब-तब प्राचीनता ने दुर्योधन की तरह टका-सा उत्तर देते हुए प्रायः यही कहा है—‘सूच्यग्रमपि नो दास्ये, बिना युद्धेन केशव! ’ ‘सूई की नोक जितना भी स्थान युद्ध के बिना नहीं दिया जाएगा।’ तब संघर्ष के अतिरिक्त नवीनता के सामने कोई मार्ग ही नहीं बच रहता। जयाचार्य ने आचार्य-पद का भार संभालते ही संघ की आन्तरिक सुचारूता के लिए आवश्यक परिवर्तन किये। परिणामस्वरूप अन्दर ही अन्दर कुछ संघर्ष की स्थितियां भी बनने लगीं।

जयाचार्य उन विरोधी स्थितियों से अनभिज्ञ नहीं थे, अतः वे प्रारम्भ से ही उनसे बचने का प्रयास करते रहे। ‘सांप भी मर जाये और लाठी भी ना टूटे’ यह नीति उनके प्रत्येक कार्य में बनी रही। वे अपने प्रगतिशीलता के कार्यों को भी चालू रखना चाहते थे और साथ ही विरोधी व्यक्तियों को खुलकर आलोचना करने का अवसर भी नहीं देना चाहते थे। उनकी इसी नीति के कारण प्रारम्भ के अनेक वर्षों तक विरोध ऊपर नहीं आ सका। जब वह ऊपर आया तब भी अधिक टिक नहीं पाया और शीघ्र ही छिन-भिन्न हो गया।

जो समाज नई खुराक को पचाकर नई शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकता, वह समय की लम्बी दौड़ में निभ नहीं सकता। तेरापंथ की अपनी यह विशेषता रही है कि वह मूल गुणों की प्राचीनता रखते हुए भी उत्तरगुणों में यथासम्भव नवीनता को स्थान देता रहा है। प्राचीनता और नवीनता में समन्वय बिठा लेने की अपनी विशिष्ट क्षमता के आधार पर ही उसने प्रगति-मार्ग तय किया है। जो इस समन्वय को टुकराकर केवल प्राचीनता या केवल नवीनता को अपनाकर चलना चाहता है, वह केवल विनाश की ओर ही जा सकता है। जयाचार्य एक सूक्ष्मेक्षिका-संपन्न आचार्य थे। वे इस तथ्य से पूर्णतया अभिज्ञ थे। इसीलिए उन्होंने आवश्यक और उपादेय नवीनता को ग्रहण करने में कभी विलम्ब नहीं किया तथा मूलभूत और लाभदायक प्राचीनता की कभी अवहेलना नहीं की।

जयाचार्य तेरापंथ के आचार्य-पद पर नवीनता और प्राचीनता के समन्वय को साथ लिए हुए ही आए। जिस वर्ष वे पदासीन हुए उसी वर्ष उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये। ऐसा अनुमान होता है कि संघ के लम्बे हित के लिए अनेक बातों में जिस परिवर्तन की आवश्यकता थी, वह उनके मन में पहले से ही घुमड़ रहा था। साधारण साधु-अवस्था और अग्रणी अवस्था में वे स्वयं जिन परिस्थितियों तथा विचारों में से गुजरे तथा दूसरों को गुजरते देखा, उनमें से अनेक पर चिन्तन करते हुए उनके मन में जो प्रश्न उठे उनका समाधान उन्होंने केवल अपने लिए ही नहीं, किन्तु सारे संघ के लिए खोजा। परिणामतः वे परिवर्तन की अनिवार्य आवश्यकता अनुभव करने लगे।

युवाचार्य बनने पर उन्होंने उन विषयों पर फिर से गहरा मनन किया और लगातार मनन के फलस्वरूप जिन निर्णयों पर पहुंचे, उनको लागू करने के उपाय भी सोचे। ऋषिराय के दिवंगत हो जाने पर जब सारे संघ का भार उनके कंधों पर आ गया, तब उन्होंने उन निर्णयों को तत्परता से लागू कर उनकी सम्भावित सफलता से संघ को लाभान्वित करने का विचार किया।

जयाचार्य एक दूरदर्शी आचार्य थे। उन्होंने अपनी दिव्य-दृष्टि से भविष्य के परदे के पीछे छिपे जिस रहस्य को देखा, तथा अपने संघ को परिस्थितियों के समक्ष अपराजेय बनाने के लिए जिन योजनाओं को क्रियान्वित करना प्रारम्भ किया, उन्हें देखने एवं समझने के लिए सबके पास अपेक्षित तीव्र दृष्टि एवं विवेक का बल उपलब्ध नहीं था। इसीलिए कुछ व्यक्ति अपनी ही आंखों तथा विवेक की दुर्बलता के कारण उन्हें देख और समझ नहीं सके। परन्तु प्रलम्बितर समय की कसौटी पर उनकी योजनाएं खरी उतरीं। आज तेरापंथ उन योजनाओं के बीज से फलित महान् वृक्ष की छाया का उपभोग और उसके मधुर फलों का आस्वादन कर रहा है। उस समय के कुछ व्यक्तियों ने जिन कार्यों की बहुत जोर-शोर से आलोचना की थी वे कार्य तो आज संघ के प्राण बने हुए हैं और उन आलोचनाओं का नामोनिशान कभी का मिट चुका है।

कार्य प्रारम्भ

आचार्य-पद पर आसीन होने के पश्चात् तत्काल ही जयाचार्य ने अपनी योजनाओं को कार्यरूप में परिणत करने की तैयारी की। उस समय संघ-हित की दृष्टि से परिवर्तनकारी अनेक उपयोगी योजनाएं उनके मन में अंगड़ाई ले रही थीं तो अनेक चिन्तन-मनन की भट्टी में तपन-गलन की प्रक्रिया में से गुजर रही थीं।

बीदासर में सं. 1908 माघ-पूर्णिमा को जब वे आचार्य बने तब उनके आसपास के क्षेत्रों में साधु-साधिक्यां बहुत कम थीं। दूरवर्ती क्षेत्रों से उनके आगमन की प्रतीक्षा थी। वे लाडनूं पधारे तब तक मेवाड़ और मारवाड़ से काफी सिंघाड़े एकत्रित हो गये। अच्छा अवसर देखकर उन्होंने वहीं से अपनी योजनाओं को कार्यरूप देना प्रारम्भ कर दिया।

1. पुस्तकों का सांधिकीकरण

प्रारम्भिक अभाव

जयाचार्य ने सर्वप्रथम पुस्तकों के अभाव को मिटाने की योजना अपने हाथ में ली। स्वामी भीखण्डी के समय से ही संघ में पुस्तकों का बड़ा अभाव था। न तो आगम-प्रतियों की ही बहुलता थी और न व्याख्यान आदि की प्रतियों की। कई साधु तो एक चतुर्मास में एक व्याख्यान को ही अनेक बार सुनाया करते थे। स्वामीजी को अपने प्रारम्भिक वर्षों में जब आहार और स्थान आदि का भी पूरा-पूरा अभाव भोगना पड़ा था, तो वैसी स्थिति में पुस्तकों की सुलभता की कल्पना करना ही व्यर्थ है। जयाचार्य को वह अभाव सदा से ही खटकता रहा, परन्तु प्रत्येक कार्य उपयुक्त समय की अपेक्षा रखता है। उनके आचार्य बनते ही अपेक्षित समय आ गया, ऐसा प्रतीत होता है।

संग्रह और तारतम्य

स्वामीजी के समय की स्थिति में धीरे-धीरे परिवर्तन आया। गृहस्थों के पास से तथा यतियों के उपाश्रय में संगृहीत भण्डारों से पुस्तकें प्राप्त होने लगीं। अनेक साधु भी स्वयं लिखकर उस आवश्यकता की पूर्ति करने लगे। साधु-साधियों के सिंघाड़े जिन क्षेत्रों में जाते, वहां सुलभ होने पर भण्डारों आदि में से शास्त्रों की गवेषणा करते। जो सिंघाड़े दूर-दूर तक विहार किया करते, उनको स्वभावतः ही पुस्तक-प्राप्ति के अधिक अवसर प्राप्त हो जाते, परन्तु जो दूर जाने की स्थिति में नहीं होते, उन्हें क्षेत्र की इयत्ता के अनुरूप ही भण्डारों आदि का सुयोग प्राप्त हो पाता। इन्हीं सब कारणों के आधार पर पुस्तकों के संग्रह में काफी तरतमता उत्पन्न हो गई। किसी सिंघाड़े में पुस्तकों की बहुलता हो गई तो किसी में वही पुरातनकालीन अभाव चलता रहा। पुस्तकें होते हुए भी सुव्यवस्था के अभाव में उनका लाभ संघ के सब सदस्य नहीं उठा पा रहे थे।

जयाचार्य ने अपने अग्रणी-काल में काफी भण्डारों का निरीक्षण किया। वहां से उन्होंने पुस्तकें भी बहुत प्राप्त कीं। अपनी पुस्तकों में से काफी प्रतियां उन्होंने दूसरे सिंघाड़ों को प्रदान कीं, फिर भी अनेक सिंघाड़े ऐसे थे जिनके पास आवश्यक पुस्तकों का अभाव था। साधियों के पास तो वह अपेक्षाकृत और भी गम्भीर था। जयाचार्य ने अपना प्राथमिक लक्ष्य बनाया कि सभी सिंघाड़ों की पुस्तकों सम्बन्धी न्यूनतम आवश्यकता यथाशीघ्र पूर्ण की जाए।

अनेक करार

उस समय साधुओं के कुछ सिंघाड़े ऐसे थे, जिनके पास आगम तथा व्याख्यानों की अतिरिक्त प्रतियां थीं। कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने स्वयं लिखकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर ली और फिर अनावश्यक भार-वृद्धि के भय से लिपि-कार्य को बंद कर दिया। जयाचार्य उन सबका उपयोग कर लेना चाहते थे। उन्होंने साधुओं के पास की अतिरिक्त प्रतियां ग्रहण करने तथा नई प्रतियां लिखवाने का निश्चय किया। लिपिकार मुनियों को

372 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
उन्होंने उस विषय में विशेष प्रोत्साहन दिया। एक व्यवसायी के समान उन्होंने संग्रहकारों तथा लिपिकारों के साथ अनेक लिखित करार किये। उनके करारों का सारांश यह था कि जो अपनी पुस्तकों में से अथवा नये लिखकर इतने-इतने पत्र प्रदान करेगा, उसे अमुक-अमुक छूटें दी जाएंगी। लाडनूं के अपने प्रथम प्रवास में उन्होंने अनेक साधुओं से इस प्रकार के विभिन्न करार किये। जानकारी के लिए उनमें से एक करार का यहां विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :

मुनि हिन्दूजी से सं. 1908 चैत्र कृष्णा 1 को उन्होंने एक करार किया। उसके अनुसार 3100 लिखित पत्र प्रदान करने के बदले में उन्हें सिंघाड़े में मिलने वाले भार से मुक्त किया गया। उन्होंने 1205 पत्र तो अपने पूर्व-लिखित अथवा याचित पत्रों में से उसी समय प्रदान कर दिये। शेष 1895 पत्र प्रतिवर्ष 201 के हिसाब से लिख देने का लिखित वचन दिया। उस करार के मूल शब्द इस प्रकार हैं :

‘सही, रिष जीतमल नै रिष हिन्दू 1895 पाना देणा, बोझ छुड़ायो तिणरा। सर्व पाना 3100 तिण में 1205 दीधा, अनै 1895 बाकी रह्या, ते सर्व वर्स एक-एक में पाना 201 रै लेखै लिख देणा। घोट राखवा रा त्याग। पाना रो ग्रन्थ हिन्दूजी पूर्टै में मांड्यो ते प्रमाणै देख लेणो। सं. 1908 रा चैत विद 1 लिष्टू रिष हिन्दू। ऊपर लिख्यो ते सही।’¹

उपर्युक्त करार-पद्धति से जयाचार्य को हजारों पत्रों की सामग्री तो उसी अवसर पर प्राप्त हो गई तथा भविष्य में प्रतिवर्ष हजारों पत्रों की सामग्री प्राप्त होते रहने का मार्ग प्रशस्त हो गया।

विचारों में नवोन्मेष

जयाचार्य प्रत्येक कार्य तथा स्थिति को अपने मन ही मन विचारों की तुला पर तोलते रहते। औचित्य तथा अनौचित्य के पलड़ों में कौनसा भारी है, इस पर सदा ध्यान देते रहते। करार-पद्धति पर चिन्तन आगे बढ़ा त्यों ही विचारों में नये-नये उन्मेष उभरने लगे। उन्हें अनुभव हुआ कि उक्त पद्धति से कुछ सिंघाड़ों को कुछ प्रतियां उपलब्ध कराई जा सकती हैं, परन्तु पुस्तकों के तारतम्य का स्थायी समाधान उससे सम्भव नहीं। उस पद्धति को अधिक विस्तार देने में उन्हें एक खतरा भी दिखाई दिया कि लिपिकारों को दी जाने वाली विभिन्न छूटें सामूहिक जीवन-व्यवहार में भेद खड़ा कर सकती हैं।

विचारों ने सहसा करवट बदली, जयाचार्य सोचने लगे कि स्वामीजी ने व्यक्तिगत शिष्य बनाने की परम्परा को समाप्त कर दिया, उसी प्रकार से पुस्तकों पर व्यक्तिगत स्वामित्व की परम्परा को भी समाप्त किया जा सकता है। तद्-विषयक सभी फलितार्थों पर उन्होंने गहराई से चिन्तन-मनन किया। अन्ततः वे इसी निर्णय पर पहुंचे कि संघहित के लिए सभी पुस्तकों का सांघिकीकरण कर लिया जाना चाहिए।

1. लाडनूं स्थित भण्डार के प्राचीन पत्रों से।

पुस्तकें किसकी ?

जयाचार्य बीदासर में विराज रहे थे। सं. 1908 (चैत्रादि 1909) वैशाख शुक्ला 3 को उन्होंने तत्रस्थ साधु-साधियों की एक सभा बुलाई।¹ सबके उपस्थित होने पर उन्होंने अग्रणी साधु-साधियों से एक प्रश्न किया—‘तुम लोगों के साथ रहने वाले साधु-साधियां किसकी निशा में हैं?’

तत्काल सबने एक स्वर से उत्तर देते हुए कहा—‘आचार्यश्री की निशा में।’

तब उन्होंने दूसरा प्रश्न पूछा—‘तुम लोगों के पास जो पुस्तकें हैं, वे किसकी निशा में हैं?’

उत्तर मिला—‘वे तो जो जिसके पास हैं उसी की निशा में हैं।’

जयाचार्य ने कहा—‘मेरे साधु-साधियां आपकी व्यक्तिगत पुस्तकों का भार क्यों उठायें?’

सभा में सन्नाटा छा गया। सभी मौन थे। किसी के पास समुचित उत्तर नहीं था। अन्तः: जयाचार्य ने ही उस सन्नाटे को तोड़ा। उन्होंने अपने तर्क को निष्कर्ष की भाषा पहनाते हुए कहा—‘अब से जिसकी पुस्तकें हैं वही उनका भार उठाये। साथ के साधु-साधियों को उनका भार देने की कोई आवश्यकता नहीं।’

जयाचार्य की उस अप्रत्याशित आज्ञा से सभी अग्रणी चकित हो गये। उनमें से कुछ ने नम्रतापूर्वक कहा—‘हम अकेले तो इतना भार उठा नहीं सकते, अतः अब हमें क्या करना चाहिए, यह मार्गदर्शन देने की कृपा करें। आप जैसी आज्ञा देंगे हम वैसा ही करने को उद्यत हैं।’

जयाचार्य ने तब फरमाया—‘जो अपनी पुस्तकों का भार स्वयं नहीं उठा सकते, या स्वयं उठाना नहीं चाहते, वे अपनी-अपनी पुस्तकें संघ को समर्पित कर सकते हैं। आवश्यकता और उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए उन समर्पित पुस्तकों को सब सिंधाड़ों में वितरित कर दिया जाएगा।’

पुस्तकें समर्पित

अनेक अग्रणी साधुओं ने उसी दिन (वैशाख शुक्ला 3 को) अपनी पुस्तकें जयाचार्य को समर्पित कर दीं। परन्तु कई अग्रणी ऐसे भी थे, जिन्हें समर्पण की उक्त भावना को हृदयंगम करने में कुछ समय लगा। साधियों की पुस्तकें पहले सरदारसती को भेंट की गई, फिर सरदारसती ने उन सबको जयाचार्य के चरणों में समर्पित कर दिया। इस विषय में जयाचार्य ने शासक के रूप में अपने सीधे आदेश के द्वारा किसी को बाध्य नहीं किया, अतः अपनी निशा की पुस्तकों का भार स्वयं उठा सकने की क्षमता पर विश्वास करने वालों ने जो विलम्ब किया, वह कोई अपराध नहीं था। हृदय-परिवर्तन के कार्यों में

1. लाडनूं स्थित भण्डार के प्राचीन पत्रों से।

प्रायः यह विलम्ब सर्वत्र ही देखा जाता है। कहीं-कहीं तो इस प्रक्रिया में इतना विलम्ब भी हो जाता है कि सुधार के इस प्रकार में अनेक व्यक्तियों का विश्वास ही उठ जाता है। पर एक अहिंसक सुधारक के लिए इसके अतिरिक्त कोई दूसरा ऐसा प्रशस्त मार्ग हो नहीं सकता, जिससे उसके अहिंसात्र की सीमा को भी कोई आंच न आये और काम भी हो जाए। जयाचार्य ने हृदय-परिवर्तन के आधार पर ही पुस्तकों के सांघिकीकरण का कार्य प्रारम्भ किया था।

समान वितरण

उस समय जो पुस्तकें जयाचार्य को समर्पित हुईं, उनमें से समर्पकों की न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति करने के पश्चात् जो प्रतियां अवशिष्ट रहीं वे तथा विभिन्न करारों से प्राप्त प्रतियां साधु-साध्वियों के विभिन्न सिंघाड़ों में यथावश्यक वितरित कर दी गईं। उनके वितरण से पूर्व अग्रणी साध्वियों से एक मर्यादा-पत्र पर हस्ताक्षर करवाये गये कि जो पुस्तकें और साध्वियां उनको सौंपी जा रही हैं वे 'पाडिहारिय' हैं। मूलतः वे आचार्य की निशा में हैं। चतुर्मास की समाप्ति पर जब आचार्य की सेवा में आगमन हो तब उन्हें पुनः आचार्य को सौंप दिया जाए। अब से उन पर किसी प्रकार का स्थायी अधिकार नहीं रखा जा सकेगा।¹ उपर्युक्त कार्य बोरावड़ में सम्पन्न किया गया। सं. 1909 का अपना प्रथम चतुर्मास करने के लिए वे जयपुर पधार रहे थे, तब बोरावड़ उनके मार्ग में आया। वे वहां कुछ दिन रुके थे।

इस प्रकार पुस्तकों के सांघिकीकरण का जो सूत्रपात हुआ, वह आगे-से-आगे बढ़ता गया। कुछ अर्से तक पुस्तकों के समर्पण और वितरण की प्रक्रिया चलती रही। जब सब साधु-साध्वियों ने उस योजना में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया अथवा यों कह दिया जाए कि जब सबने अपनी-अपनी पुस्तकें समर्पित कर दीं, तब जयाचार्य ने सब सिंघाड़ों में उनका समान वितरण कर दिया।

अविस्मरण के लिए

पुस्तकों के समर्पण और वितरण की प्रक्रिया पूर्ण होने के पश्चात् जयाचार्य ने उस भावना की अविस्मृति के लिए एक नियम बनाया। उसके अनुसार प्रत्येक अग्रणी के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया कि वह निर्णीत स्थल पर चतुर्मास सम्पन्न कर जब आचार्य के पास वापस आये तब वंदन आदि के पश्चात् अपने को दी गई पुस्तकों तथा साधु एवं साध्वियों को पुनः समर्पित कर दे। समर्पण के शब्द इस प्रकार हैं—‘मुझे सौंपी गई पुस्तकें

1. ज. सु. 36, 11, 12 :

‘तिहां सिंघाड़ा बंध सतियां कनै, अक्षर लिखाया ताय।

संया पाडियारा पुस्तक सत्यां, छै गणपति नेश्राय॥

ते चतुर्मास उत्तर्या छतां, सतियां दरसण करै जिवार।

सूंपणां पुस्तक सत्यां, तिणरी ममत नहीं करणी लिगार॥’

तथा साधु-साधियां आपकी सेवा में समर्पित हैं। मैं स्वयं समर्पित हूं। जहां का आदेश देंगे वहीं जाने तथा रहने का भाव है।' उक्त समर्पण करने से पूर्व कोई अग्रणी अन्न-जल ग्रहण नहीं कर सकता।

मुद्रांकन

पुस्तकों के समर्पण के साथ-साथ प्रत्येक साधु को यह अधिकार भी दिया गया कि वह अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए स्वतंत्र रूप से प्रतियां लिख सकता है, तथा अपने जीवनकाल तक उन्हें अपनी निशा में रख सकता है। उक्त स्थिति में एक समस्या उभरी कि व्यक्तिगत तथा संघ की प्रतियों का भेद कैसे किया जाए? अन्ततः सं. 1914 (चैत्रादि 1915) में मुद्रांकन का नियम बनाकर उस समस्या का समाधान किया गया। संघ को समर्पित की गई प्रतियों पर 'वर्तमान आचार्य की निशा में हैं'—ऐसा मुद्रांकन करना अनिवार्य कर दिया गया।

मुनि सरूपचंदजी की निशा में रही प्रतियों पर किया गया मुद्रांकन सं. 1914 प्रथम ज्येष्ठ कृष्णा 8 का है, अतः मुद्रांकन पद्धति के प्रारम्भ का वही दिन कहा जा सकता है। वहां लिखा गया है : 'सरूपचंदजी स्वामी रै नेश्वाय में हुंता ते सर्व पाना जयाचार्य री भेट कीधा। भीक्खू, भारीमाल, ऋषिराय, जीतमल आदि गणपति अनें वर्तमान आचार्य री नेश्वाय में छै। संवत् 1914 प्रथम जेठ विद 8 लिख्या छै।'¹

साध्यियों द्वारा सरदारसती को जो पुस्तकें समर्पित की गई थीं, उनकी प्रतियों पर भी उसी समय मुद्रांकन किया गया। उन पर प्रायः इस प्रकार लिखा मिलता है : ‘ए पाना सिरदारांजी कै नेश्वाय में हंता, तिका जयाचार्य नै भेट किधा। सं. 1914।’

एक कार्य, अनेक लाभ

पुस्तकों का सांधिकीकरण यों तो केवल एक सामान्य कार्य ही दिखाई देता है, पर वस्तुतः वह अपने गर्भ में अनेक लाभ धारण किये हुए एक महत्वपूर्ण कार्य था। उस एक कार्य की सम्पन्नता के साथ ही संघ को अनेक लाभ प्राप्त हुए। सबसे प्रथम और महत्वपूर्ण लाभ तो उसका यह था कि उससे संघ में एकता को बहुत बड़ा बल प्राप्त हुआ। उसके अतिरिक्त तरतमता की स्थिति मिटकर समता का उदय हुआ। वस्तु के उपयोग की सम्भावनाएं और क्षमताएं सीमित दायरे से निकल कर विशाल बनीं। साथ ही सामूहिक हित के लिए सोचने तथा उसके लिए अपने स्वत्व का परित्याग करने की वृत्ति का भी उदय हुआ। अवान्तर रूप से भी उससे अनेक लाभ प्राप्त हुए। उनमें से प्रमुख ये कहे जा सकते हैं—अध्ययन सामग्री सबके लिए सुलभ हो गई, व्यक्तिगत भार की कमी

- उपर्युक्त मुद्रांकन में 'सरूपचंदजी स्वामी री नेश्यां में हुंता ते सर्व पाना जयाचार्य री भेंट कीधा' उक्त लेखांश मुद्रांकन से पूर्व के इतिहास की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए है। उससे आगे का लेखांश मुद्रांकन और उसके समय का द्योतक है। पुस्तकों के समर्पण का समय सं. 1908 (चै. 1909) वैशाख शुक्ला 3 से प्रारम्भ होकर कछ समय पश्चात् तक का है, जो कि पहले बतलाया जा चका है।

376 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
हुई, भार का समाजिकरण और गाथा प्रणाली जैसी उपयोगी योजनाएं अस्तित्व में आ सकीं।

सांघिकीकरण अथवा सामाजिकीकरण का वह प्रथम चरणन्यास था। धर्मसंघों में तो वह अपने प्रकार का प्रथम प्रयोग था ही, पर अन्यत्र भी उस समय तक सामाजिकीकरण का सिद्धान्त कहीं कार्यरूप नहीं ले पाया था। प्रारम्भ में वह कार्य अपरिचित होने के कारण कुछ लोगों को अवश्य ही कठिन और अव्यवहार्य प्रतीत हुआ होगा, परन्तु आज उसकी सफलता हम सबके सामने मूर्त रूप से विद्यमान है।

2. गाथा-प्रणाली

एक आशंका

पुस्तकों के सांघिकीकरण द्वारा संघ की स्वाध्याय-सम्बन्धी अनेक आवश्यकताओं को पूरा किया गया था, किन्तु उससे एक नई समस्या उत्पन्न होने की आशंका भी थी। पहले अनेक साधु अपनी आवश्यकता के ग्रन्थ भण्डारों आदि से कुछ काल के लिए प्राप्त कर स्वयं लिख लिया करते थे। पुस्तकों पर से अधिकार हट जाने के पश्चात् उनके उत्साह में कमी हो जाने की आशंका थी। यह चिंतन उभर सकता था कि अब लिखना व्यर्थ है, क्योंकि स्वयं द्वारा लिखे जाने पर भी वह ग्रन्थ उनका न होकर संघ का ही होगा। आचार्य आवश्यकता होने पर उसे किसी दूसरे को भी दे सकेंगे। उक्त भावना के द्वारा लिपिकों की संख्या कहीं कम न हो जाए, अतः उस सम्भावित समस्या का समाधान शीघ्र ही खोजना आवश्यक था।

लिपि-सुधार

जयाचार्य जब लिपिकों के स्थायी आकर्षण का आधार खोज रहे थे, तब अचानक उनका ध्यान लिपि-सुधार की तरफ भी गया। उन्होंने अनेक प्राचीन प्रतियों के बड़े ही सुन्दर अक्षर देखे थे, पर साधुजनों में वैसे सुन्दर अक्षर लिखने वालों का अभाव-सा था। साधारण अक्षर और अशुद्धिबहुल लिखने वाले व्यक्ति केवल संघ में पुस्तकों का भार ही बढ़ा सकते थे। जयाचार्य चाहते थे कि मुनिजनों में सुन्दर अक्षर लिखने वाले हों। उसके लिए लिपिकर्ताओं पर कुछ ऐसा भावनात्मक दबाव देना आवश्यक था कि जिससे वे अपने अक्षरों को सुधारने के लिए स्वतः प्रेरित हों।

लिपि-सुधार के उस कार्यक्रम में पहले-पहल जयाचार्य ने अपने ही अक्षर सुधारने का निश्चय किया। संघ में भगवती की एक प्राचीन प्रति बहुत सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई थी। वे उसे ही 'मानक' मानकर अपने अक्षर उसके अनुरूप करने के प्रयास में लग गये। उस प्रति के अक्षरों को देख-देख कर उन्होंने कुछ ही दिनों में अपने अक्षरों में इतना सुधार कर लिया कि उनकी उस समय से पूर्व लिखित प्रतियों तथा उसके पश्चात् लिखी गई प्रतियों में लिपिकर्ता के एकत्व की कल्पना करना भी कठिन हो गया। इस तरह अपने

अक्षरों को सुधार लेने के पश्चात् उन्होंने अन्य साधुओं को भी लिपि-सुधार के लिए प्रोत्साहित करना प्रारम्भ किया।

साधुओं का धन

लिखने का परिश्रम आखिर किस प्रेरणा के आधार पर स्थित किया जाए? उक्त समस्या का समाधान उन्होंने एक नये रूप में ही खोज निकाला। उन्होंने सोचा, जिस प्रकार ज्ञान तथा तपस्या को साधुओं का धन माना जाता है, उसी प्रकार लिपि-कार्य के श्रम को भी क्यों न उनका धन गिन लिया जाए? उसका सम्बन्ध ज्ञान और तपस्या, दोनों से ही है। ज्ञान का जहां वह एक उत्कृष्ट साधन है, वहां मनोयोग की एकाग्रता का उत्तम साधन एवं सत्-क्रिया होने के कारण तपस्या के अन्तर्गत भी आ जाता है। इस प्रकार उसे साधु का धन मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। जयाचार्य के उक्त चिन्तन ने जब कार्यरूप ग्रहण किया तब वह 'गाथा-प्रणाली' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वस्तुतः उसे अकिञ्चन साधुओं की एक अभूतपूर्व अर्थ-प्रणाली कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

'गाथा' शब्द शास्त्रीय है और एक पद्य-विशेष का द्योतक है। परन्तु जयाचार्य ने उसे बत्तीस अक्षर-प्रमाण गद्य-लेखन तथा किसी भी एक पद्य-लेखन के अर्थ में प्रयुक्त किया है। उन्होंने 'गाथा-प्रणाली' को प्रचलित करते हुए यह स्थापना की कि जो साधु जितनी गाथाएं लिखेगा, वे उसकी जमा कर ली जाएंगी, परन्तु लिपिकर्ता के अक्षर तथा लेख्य ग्रन्थ पहले से आचार्य द्वारा स्वीकृत होने चाहिए।

अग्रगामियों पर कर

गाथा-प्रणाली चालू कर देने पर भी जयाचार्य के सामने यह समस्या थी कि कोई क्यों उन गाथाओं को एकत्रित करने का प्रयास करेगा? अनुपयोगी वस्तु को संगृहीत करने की किसी की इच्छा होगी भी तो क्यों? आखिर उन्होंने उसमें उपयोगिता उत्पन्न करने के लिए कुछ उपाय खोजे। उनमें प्रथम तो यह था कि सब अग्रणी साधुओं पर उनके अग्रणीकाल में प्रतिदिन पच्चीस गाथाओं के हिसाब से 'कर' लगा दिया। दूसरा यह था कि गाथाओं और कार्यों का सम्बन्ध जोड़ दिया। कोई भी साधु किसी वृद्ध या रोगी साधु की एक दिन सेवा करके पच्चीस गाथाएं प्राप्त कर सकता है। अर्थात् एक दिन की सेवा और पच्चीस गाथाओं का लेखन, यह दोनों कार्य उस व्यवस्था में समकक्ष मान लिए गये। धीरे-धीरे अन्य दैनिक कार्यों की भी गाथाओं के साथ समकक्षता बैठती गई।

यद्यपि सेवा-कार्य और गाथाओं की एक मर्यादित समकक्षता कर दी गई, पर इससे यह भय उत्पन्न होने की गुंजाइश नहीं छोड़ी गई कि किसी समय सभी साधुओं के पास पर्याप्त गाथाएं जमा हो जाएंगी तो रोगी साधु की सेवा कौन करेगा? सेवा-कार्य का महत्व गाथाओं से सदैव ऊपर समझा जाता रहा। उसके लिए यह पृथक् नियम है कि वृद्ध एवं रोगी साधु की सेवा के लिए आचार्य किसी भी साधु को भेज सकते हैं। सेवा के लिए इनकार

378 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
करने का किसी को भी अधिकार नहीं है। कितनी भी गाथाएं जमा क्यों न हों, फिर भी आवश्यकता होने पर उसके लिए सेवा-कार्य अनिवार्य है। इतना अवश्य है कि जिसने सेवा की हो उसके नाम से प्रतिदिन पच्चीस के हिसाब से गाथाएं जमा कर ली जाती हैं।

गाथाओं का लेखा

गाथाओं के आय-व्यय का लेखा प्रारम्भ में तो यथावकाश किया जाता रहा, पर कालान्तर में ‘मर्यादा-महोत्सव’ के अवसर पर किया जाने लगा, क्योंकि साधु-वर्ग प्रायः उसी समय एकत्रित होने लगा था। कुछ साधुओं को लेखा-कार्य के लिए नियुक्त कर दिया जाता। वे दीक्षा-वृद्ध या ‘साझा’ के क्रम से उस कार्य को सम्पन्न कर देते।

लेखा कराने से पहले और लेखा कराने के पश्चात् अपना ‘लेखा-पत्र’ आचार्य को दिखाना होता। कोई भी व्यक्ति अपनी लिखित प्रति की गाथाएं तभी प्राप्त कर सकता, जब वह आचार्य को दिखाकर उसके लिए स्वीकृति प्राप्त कर लेता। उस स्वीकृति के पश्चात् वह प्रति पर संघ को समर्पण करने के लिए निर्णीत मुद्रांकन करता और फिर लेखाकर्ताओं के पास जाकर उसकी गाथाएं जमा कराता।

लेखाकार लिखित प्रति के विभिन्न पृष्ठों के चार-पांच पंक्तियों के अक्षर गिनता और उन्हीं में से मध्यम कोटि की पंक्ति के आधार पर पहले एक पत्र की गाथा-संख्या निर्णीत करता, फिर उसी आधार से पूरी प्रति की गाथा-संख्या फला लेता। एक प्रति की गणना कर लेने पर वस्तुतः उस ग्रंथ की ही गाथा-संख्या निर्णीत हो जाती।

वर्तमान वर्ष में लेखा कराने वाले व्यक्ति के किस आधार से कितनी गाथाओं का आय-व्यय हुआ, उसका पूरा विवरण देते हुए शेष जमा गाथाओं की संख्या लिखकर एक पत्र लेखा कराने वाले को दे दिया जाता। तद्वर्षीय प्रत्येक व्यक्ति की जमा राशि एक दूसरे पत्र में भी लिख ली जाती। वह पत्र आचार्यश्री के पास रहता।

व्यक्तिगत लेखन

कोई भी साधु अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए कोई प्रति लिखना चाहता तो वह स्वतंत्रापूर्वक लिख सकता था, परन्तु उससे वह न तो गाथाएं प्राप्त कर सकता, न उस पर संघीय मुहर लगा सकता और न उसे संघीय भार में ही गिन सकता था। उसके दिवंगत हो जाने के पश्चात् उसकी व्यक्तिगत प्रतियों को आचार्य आवश्यक समझते तो संघीय बना सकते थे, अन्यथा व्यक्तिगत उपयोग के लिए मांगने वाले को भी दे सकते थे। किसी के न लेने पर वे स्वतः संघीय बन जातीं। खराब अक्षर लिख लाने पर या अनावश्यक प्रति लिख लाने पर जो प्रति अस्वीकृत कर दी जाती, वह भी उसके अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए ही रह जाती। वह उसे किसी दूसरे साधु को भी प्रदान कर सकता था।

वस्तु-विनिमय का माध्यम

गाथा-प्रणाली धर्म-धर्मे विकास करती रही। उसमें अनेक पूरक बातें समय-समय पर जुड़ती चली गई। जब वह मुनि-जनों के परस्पर वस्तु-विनिमय का माध्यम बनी,

तब उसे धन का व्यवहार्य रूप भी प्राप्त हो गया। उस माध्यम से व्यक्तिगत प्रतियों का आदान-प्रदान किया जाने लगा। जो व्यक्ति स्वयं नहीं लिख सकते थे, परन्तु किसी ग्रन्थ को व्यक्तिगत रूप से अपनी निशा में रखना चाहते थे, तो वे यथावश्यक गाथाएं देकर किसी से भी यथेष्ट प्रतियां प्राप्त कर सकते थे।

कार्य और गाथाएं

कालान्तर में व्यक्तिगत तथा समुच्चय के कार्यों का भी मूल्य गाथाओं में निश्चित होने लगा। एक व्यक्ति दूसरे की कार्य-सेवा निर्जरार्थिता से तो करता ही था, पर वह गाथाओं के माध्यम से भी की जाने लगी। प्रत्येक कार्य का भाव लेने वालों तथा देने वालों की आवश्यकता के आधार पर घटता-बढ़ता रहता। कुछ कार्य ऐसे भी थे जिनके भाव आचार्यश्री की ओर से निर्णीत कर दिये गये। वैसे कार्यों में सेवा, सिलाई, रंगाई आदि कार्य प्रमुख रूप से गिने जा सकते हैं।

जीवन-काल तक

अपने जीवन-काल में संगृहीत गाथाओं का प्रत्येक व्यक्ति यथेष्ट उपयोग कर सकता था। वह जहां उन्हें अपने कार्य में व्यय कर सकता, वहां दूसरे किसी को प्रदान भी कर सकता था, परन्तु ऐसा करते समय उसे आचार्यश्री की आज्ञा लेनी आवश्यक होती थी। गाथाओं की यह पूँजी स्वयं के जीवन-काल तक ही कार्यकर होती, उसके पश्चात् उसका उत्तराधिकार किसी दूसरे को नहीं मिलता। व्यक्ति की मृत्यु के साथ ही उसका लेखा समाप्त समझा जाता था।

साधियों पर कर

जयाचार्य के समय में बहुत कम साधियां लिपि कर सकने वाली थीं। इसलिए अग्रणी साधियों पर गाथाओं का 'कर' लगाना सम्भव नहीं था। उनके प्रत्येक सिंघाड़े पर एक रजोहरण, एक प्रमार्जनी और प्रति साध्वी एक-एक डोरी बना लाने का भार गया। साधुओं से 'कर' के रूप में ली जाने वाली प्रतियां आवश्यकतानुसार साधियों को दे दी जातीं और साधियों से 'कर' के रूप में लिए हुए रजोहरण आदि साधुओं को दे दिये जाते। यह सब विनिमय स्वतंत्र रूप से कोई नहीं कर सकता था। साधु-साधियों द्वारा अपनी-अपनी वस्तुएं आचार्यश्री को सौंप दी जातीं और फिर वे उन्हें यथावश्यक वितरित कर देते।

साम्यभाव का आनन्द

इस प्रकार जयाचार्य द्वारा प्रवर्तित 'गाथा-प्रणाली' की योजना तेरापंथ-संघ के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। दूरदर्शी जयाचार्य ने उक्त योजना के आधार पर संघ के सारे लिपि-प्रकार को ही नहीं सुधार दिया, अपितु व्यक्तिगत पुस्तक-सम्पत्ति का सामाजिकीकरण करके संसार के सम्मुख एक आदर्श पद्धति उपस्थित कर दी। संसार जब समाजवादी विचारों की प्रसवपीड़ा में ही था, तब उन्होंने अपने संघ में उनकी स्थापना करके अपनी विचार-शक्ति की अग्रगमिता प्रमाणित कर दी। तेरापंथ ने उस योजना के

380 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
द्वारा अच्छे लिपिकार, अच्छे ग्रंथ, अच्छा वितरण और वस्तु का अच्छा उपयोग प्राप्त किया। सबसे अधिक, उसने उस योजना द्वारा साम्यभाव का आनन्द प्राप्त किया।¹

3. आहार-संविभाग

प्रारम्भिक रूप

आहार-संविभाग के विषय में स्वामीजी के समय में भी पद्धति तो यही चालू थी कि थोड़ा या अधिक, जितना भी आहार आया हो, उसे सब बराबर बांट कर खा लें। पर उस समय प्रारम्भिक अवस्था में साधियां कम थीं और साधु अधिक। विद्वेष के कारण पूरा आहार मिल सकने की संभावनाएं कम रहती थीं, अतः साधु तथा साधियों द्वारा गोचरी करके जो आहार लाया जाता, वह स्वामीजी के सामने रख दिया जाता। साधियां कम थीं, अतः उन्हें कम आहार की आवश्यकता पड़ती। गोचरी में प्राप्त आहार में जितना अधिक होता, वह साधु अपने स्थान पर रख लेते और अवशिष्ट आहार साधियां अपने स्थान पर लाकर संविभाग करके अथवा मिलकर खा लेतीं।

परिवर्तन की आवश्यकता

प्रारम्भिक वर्षों में अवशिष्ट आहार साधियों को देने की व्यवस्था एक आवश्यकता थी, परन्तु बाद में उसने परिपाठी का रूप ले लिया। प्रत्येक सामयिक व्यवस्था इसी प्रकार से एक-न-एक दिन परम्परा बनती रही है। परन्तु सावधान व्यक्ति प्रत्येक परम्परा को तब तक के लिए ही पोषण देता है जब तक वह आवश्यकता की पूर्ति में सहायक होती है। जब उसमें वह सामर्थ्य समाप्त हो जाता है और वह निपट परम्परा ही रह जाती है, तब उसे बदल देना भी उनका कार्य रहा है। आहार-व्यवस्था का वह रूप ऋषिराय के युग तक ही चालू रहा। उस समय तक साधियों की संख्या साधुओं से कहीं अधिक हो चुकी थी, अतः पूर्व व्यवस्था में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभूत की जाने लगी। अवशिष्ट आहार-ग्रहण की पद्धति को संविभाग नहीं कहा जा सकता। जयाचार्य साम्यभाव के प्राण-प्रतिष्ठापक थे, उनकी सूक्ष्म-ग्रहणी दृष्टि से वह 'असाम्य' कैसे ओझल रह सकता था। पुस्तकों आदि के साम्य की तरह वे उसमें भी साम्य लाना चाहते थे। अपने शासन-काल के प्रथम वर्ष में ही उन्होंने उस विषय पर चिंतन किया और संविभाग स्थापित करने के लिए सोचा।

कवलानुसारी विभाग

सं. 1909 का चतुर्मास सम्पन्न कर जयाचार्य जयपुर से जोबनेर पधारे। वहां 67 'ठाणे' एकत्रित हुए। एक महीना विराजकर वहां से किशनगढ़ पधारे। आहार-संविभाग

1. 'गाथा-प्रणाली' सं. 2027 तक कार्यरूप में प्रचलित रही। उसके पश्चात् बंद कर दी गई। छपी हुई पुस्तकों की सुलभता के कारण हस्तलेखन अनावश्यक हो गया। इस प्रकार उक्त प्रणाली सौ वर्षों से भी कुछ अधिक समय तक विभिन्न कार्यों के लिये प्रेरणा-स्रोत रही।

सम्बन्धी अपनी योजना को उन्होंने वहीं से कार्यरूप में परिणत करने का निर्णय किया। आगम में पुरुष के लिए बत्तीस कवल और स्त्री के लिए अट्टाईस कवल आहार परिपूर्ण बतलाया गया। उसी आधार पर मर्यादा बनाकर साधु-साधियों को बतलाया गया कि अब से जो आहार आए, उसे प्रति साधु के लिए बत्तीस कवल और प्रति साध्वी के लिए अट्टाईस कवल को इकाई मानकर विभक्त कर लिया जाए। तब से जो आहार आता, उसे उपर्युक्त अनुपात से साधु विभक्त कर देते और साधियां अपने विभाग का आहार लेकर बड़ी साध्वी के स्थान पर दीक्षा-वृद्ध के क्रम से परस्पर विभक्त कर लिया करतीं।¹

उस शीतकाल में यह क्रम चलता रहा, पर कवल के अनुपात से आहार को प्रतिदिन विभक्त करना सहज कार्य नहीं था। दर्शन के लिए आने तथा फिर विहार करने से साधु-साध्वियों की संख्या में परिवर्तन आता रहता था। याचना से गृहीत आहार के प्रमाण में भी प्रतिदिन अन्तर आना प्रायः निश्चित और स्वाभाविक ही था। इससे प्रायः प्रतिदिन ही नये सिरे से गणना करके ठीक अनुपात निकालना पड़ता था।² आहार संविभाग की नई योजना का वह प्रथम प्रयोग था, अतः उसमें अनेक कमियों का होना कोई बड़ी बात नहीं थी।

समान विभाग

जयाचार्य ने अपना अगला चतुर्मास (संवत् 1910) नाथद्वारा में किया। वहाँ आहार-संविभाग की पद्धति में फिर परिवर्तन किया गया। बत्तीस और अट्टाईस कवलों के अनुपात को हटाकर दीपावली के दिन से सबके लिए समान विभाग का नियम बना दिया³ यद्यपि उसमें धीरे-धीरे कछ पूरक सधार भी पीछे से होते रहे, परन्तु उपर्युक्त

1. ज. सु. 3919 से 11 :

‘तिहां समण सत्यां रै स्वामीजी, बांधी एक मरजाद
सतियां नै आहार देवा तणी, कोई पुष्ट प्रयोजन लाध।।
कह्यो सूर्य में पुरुष नैं, बत्तीस कवल नौं आहार।।
स्त्री नौं कवल अठवीसनौं, ए समय-वचन अनुसार।।
तिण प्रमाण श्रमण्यां भर्णीं, आहार देणो ठैरायो स्वाम।।
इम आहार लई सतियां करै, पांती बडी रै ठाम।।

2. कवलानुसारी अनुपात में यदि साधु की एक पांती में चार फुलके गिने जाते तो साध्वी की एक पांती में साढ़े तीन। इसी आधार पर जितने साधु और साधियां होतीं उनका हिसाब निकाल लिया जाता।

3. ज. सु. 3914,5 :

‘दीपमालिका रै दिन गणपति, त्यां समर्पण सत्यां रै सारी
पांती आहार नीं सहुनै बराबर, ए रीत ठहराई भारी॥
करणी ते मुनिवर नै ठिकाणै, पांती सखर श्रीकारी॥
अद्वैत बत्तीस कवल न राख्या, अवसर देखे उदारी॥’

382 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
मौलिक परिवर्तन काफी बड़ा और स्थायी रूप लेकर आया, वह लगभग सौ वर्षों तक
साधारण परिवर्तनों के साथ अपने मूलरूप में बहुत ही सफलतापूर्वक चलता रहा।¹

साझा-व्यवस्था

जयाचार्य ने पूर्वोक्त आहार-व्यवस्था को सुविधाजनक बनाने के दृष्टिकोण से
साधुओं के पृथक्-पृथक् मंडल स्थापित कर दिये। उन मंडलों का प्रचलित नाम ‘साझा’
दिया गया। प्रत्येक ‘साझा’ में एक व्यक्ति को मुखिया स्थापित किया गया। ‘साझा’ की
आहार-विषयक व्यवस्था का सारा दायित्व उसे दिया गया। इसके अतिरिक्त ‘साझा’ के
सन्तों की देख-रेख का भार भी उसी व्यक्ति को सौंपा गया। कालान्तर में साझापति का
पद भी अग्रणी के पद जितना ही सम्मानजनक हो गया।

धड़ा-व्यवस्था

‘साझा’ की व्यवस्था के पश्चात् यह पता लगाना सहज हो गया कि आज के लिए
साधुओं को कितना आहार चाहिए। गोचरी में आहार अधिक न आने पाये, इसके लिए
प्रत्येक साझापति से उसके साझा की आवश्यकता की एक स्थूल ‘कूंत’ प्राप्त करने का
विचार हुआ। उसके लिए भोजन सम्बन्धी द्रव्यों के कुछ नाम निश्चित कर दिये गये। शेष
द्रव्यों को भी उन्हीं निश्चित नामों में अन्तर्गर्भित कर दिया गया। एक पत्र पर भोजन-द्रव्यों
की वह निश्चित सूची लिखकर प्रत्येक साझापति के नाम से उसमें कोष्ठक कर दिये गये।
उस पत्र का नाम दिया गया ‘धड़ा’।

एक व्यक्ति दीक्षा-क्रमानुसार अपनी-अपनी बारी पर साझापतियों के पास प्रतिदिन
धड़ा लिखाने के लिए जाता और साझापति अपने नाम के कोष्ठक में भोजन-द्रव्यों के
सामने अपने मण्डल के सब व्यक्तियों के लिए अनुमानित आवश्यक सामग्री को अंकों में
लिख दिया करता। उसे ‘पांती’ कहा जाने लगा। एक व्यक्ति के लिए किसी भी भोजन-
द्रव्य की एक से अधिक पांती नहीं लिखी जा सकती। कम लिखी जा सकती थी। एक
पांती की द्रव्य-मात्रा निश्चित कर दी गई। गोचरी में भोजन-द्रव्य जितना उपलब्ध होता,
उसे पांती के अनुसार विभक्त कर दिया जाता।

‘धड़ा’ लिखाने वाला व्यक्ति ‘पांती’ के सब अंकों का योग लगा देता और उस पत्र
को दूसरे निर्धारित व्यक्ति को सौंप देता। इसी प्रकार का एक पत्र साधियों के यहां से भी

1. लगभग सौ वर्षों के पश्चात् आचार्यश्री तुलसी ने उस व्यवस्था में परिवर्तन किया। परिवर्तन के प्रथम दौर के अनुसार साधु-साधियों का आहार एकत्रित करके विभक्त करने की आवश्यकता नहीं रही। साधुओं द्वारा लाया गया आहार साधुओं के स्थान पर और साधियों द्वारा लाया गया आहार साधियों के स्थान पर विभक्त कर दिया जाने लगा। परिवर्तन के द्वितीय दौर के अनुसार अब समस्त साधुओं के तथा समस्त साधियों के आहार को भी एकत्रित करने की आवश्यकता नहीं रही। केवल अपने ‘साझा’ अथवा ‘सिंघड़े’ का आहार सम्मिलित आता है, उसे विभक्त करके अथवा अविभक्त रूप से यथारुचि कर लिया जाता है।

उस व्यक्ति के पास आ जाता। वह तीसरे पत्र पर उन दोनों पत्रों पर दी गई जोड़ को सन्तों और सतियों के नाम से किये गये कोष्ठकों में उतार लेता और 'चौक'¹ के आधार पर उन सबको जोड़कर आचार्यश्री के सम्मुख उपस्थित कर देता। उसे 'चौकों का धड़ा' कहा जाता। यह सारा कार्य नियमतः गोचरी के समय से पहले-पहले हो जाया करता। गोचरी के लिए जाने वाले साधुओं को आचार्यश्री 'चौकों के धड़े' के आधार पर आहार लाने की अनुमानित मात्रा बतला देते।

बांटने की व्यवस्था

गोचरी से आए हुए आहार का लिखित पांती के आधार पर विभाग कर सब में बांट देने के लिए भी बारी-बारी से चार साधु नियुक्त रहते। वे प्रत्येक साधु की गोचरी के आहार को गिनते, ताकि अधिक ले आने वाले को आगे के लिए सावधान किया जा सके। गोचरी के लिए गये हुए सब संत-सतियों के आ जाने पर दीक्षा-वृद्ध 'साझा' के क्रम से पांती रखानी प्रारम्भ कर दी जाती। बांटना करने वालों के पास चौकों का धड़ा रहता और अपने-अपने साझों की पांती देखने के लिए साधुओं के पास साधुओं का धड़ा और साधियों के पास साधियों का धड़ा रहा करता। पांती रखाने का वह कार्य बहुत थोड़ी देर में सम्पन्न हो जाता। साधु-साधियां अपने-अपने साझा की पांतियों को अपने निर्धारित स्थानों पर ले जाकर आहार करते। बांटने की बारी वाले सन्त समुच्चय के उस स्थान को, जहां सबके लिए आहार का संविभाग किया जाता, साफ करने के बाद सबके पीछे आहार किया करते।

टहुका

संविभाग से प्राप्त आहार को अपने-अपने स्थानों पर ले जाकर जब साधु-साधियां भोजन करने बैठते तब प्रत्येक 'साझा' में एक व्यक्ति द्वारा उन्हें प्रतिदिन 'टहुका' सुनाया जाता। वह सं. 1911 (चैत्रादि 1912) चैत्र शुक्ला 5 से वैशाख शुक्ला 10 तक प्रदर्त जयाचार्य की मुख्यतः 10 विशेष शिक्षाओं का एक संकलन है। संविभाग की नई पद्धति में निष्ठा उत्पन्न करने तथा अन्य व्यावहारिक प्रशिक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से वे शिक्षाएं दी गई और प्रतिदिन आहार के समय उनके वाचन का नियम बनाया गया।² कोयल की धवनि को राजस्थानी भाषा में 'टहुको' कहा जाता है कोयल की 'कुहुक' सदा से ही जन-मानस को अतिशय प्रभावित करती रही है। स्यात् उक्त शिक्षाओं का 'टहुका' नामकरण करने में जयाचार्य का यही आशय रहा कि वे भी श्रमणवृन्द को कोयल की कुहुक के समान ही मधुर और प्रीणित करने वाली होंगी।

1. चार के समूह को 'चौक' कहा जाता है। उनमें चार पांतियों को एक अंक में लिखा जाता था।
2. मुनि मधवा (मधवागणी) द्वारा खाचरोद (मध्यप्रदेश) में सं. 1911 (चै. 1912) ज्येष्ठ कृष्णा 11 को लिखित 'टहुका' की प्रति उपलब्ध है। वही उक्त संकलन की प्रथम प्रति है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि 'टहुका' के निर्माण का तथा प्रतिदिन के वाचन के नियम का वही समय है। प्रति की सम्पूर्ति पर लिखा है—'ए टहुको साध आहार करवा विराजै जद नित्य बांचणो, दिन में एक बार।'

कुछ समय तक टहुके का वाचन-क्रम यथाविधि चलता रहा। जब पांती के भोजन में सबकी निष्ठा जम गई तथा उसमें प्रदत्त अन्य शिक्षाएं भी हृदयंगम हो गई, तब प्रतिदिन सुनाने का क्रम बंद कर दिया गया।

सर्वप्रियता

सं. 1910 का चतुर्मास समाप्त कर जयाचार्य नाथद्वारा से उदयपुर पधारे। वहां इकतालीस सन्त और एक सौ तीन सतियां एकत्रित हुईं। सन्तों का निवास ऋषभदासजी तलेसरा के नोहरे में और साधियों का उनकी हवेली में हुआ। एक-सौ चौवालीस व्यक्तियों के आहार का संविभाग नोहरे में किया जाता और वह थोड़े समय में सम्पन्न कर दिया जाता। लगता है, वह क्रम थोड़े ही समय में सब में प्रिय हो गया। प्रारम्भ में चौकों की पांती केवल सन्त ही अपनी बारी से किया करते, पर बाद में सतियों की भी बारी कर दी गई। सतियों की बारी कब से प्रारम्भ हुई, इसका कहीं उल्लेख देखने में नहीं आया, पर वह शीघ्र ही प्रारम्भ हो गई थी—ऐसी अनुश्रुति है।

असंविभागी न हु तस्म मोक्खो शास्त्रकारों के इस कथन को जयाचार्य की आहार-संविभाग योजना ने इतना स्वाभाविक बना दिया कि असंविभाग का कहीं स्थान नहीं रहने पाया। उक्त योजना आद्योपान्त उनकी मौलिक सूझ से ही उत्पन्न हुई थी। इस योजना ने संघ का बहुत बड़ा हित-साधन किया और सबको समान भाव से रहने के लिए एक सम्मानपूर्ण वातावरण प्रदान किया।

4. श्रम का सम विभाजन

कार्य और कर्ता

व्यक्ति अपने कार्य को बड़ी सावधानी से करता है, पर जब उसे समूह, संघ या समाज का कार्य करना पड़ता है, तब प्रायः उतनी उत्तरदायित्वपूर्ण भावना से उस पर अमल नहीं करता जितनी की उससे अपेक्षा की जाती है। उस समय तो और भी अधिक आपाधापी या अव्यवस्थापूर्ण स्थिति हो जाती है, जब उस कार्य के लिए उस पर कोई दबाव या नियंत्रण नहीं होता। ऐसी स्थिति में कुछ व्यक्तियों पर कार्य का भार बहुत अधिक लद जाता है, तथा कुछ व्यक्ति उससे साफ-साफ बच जाते हैं। यह स्थिति धीरे-धीरे समाज में अनियमितता उत्पन्न कर देती है।

जयाचार्य ने अनुभव किया कि साधु-संघ में कुछ ऐसे कार्य हैं जो व्यक्ति के न होकर संघ के हैं। उन्हें यदि नियमित रूप नहीं दिया गया तो कभी एक काम के लिए अनेक व्यक्ति उपस्थित हो सकते हैं और कभी एक भी नहीं। जो कार्य करता है उसके मन में भी यह भावना उत्पन्न हो सकती है कि बार-बार मुझे ही क्यों करना पड़ता है, तथा जो आलसी होता है वह यह सोच सकता है कि जब तक दूसरा कर रहा है तब तक मुझे हाथ लगाने की क्या आवश्यकता है? ऐसी स्थिति जब लम्बे काल तक चलती है, तब हर कोई उन सामूहिक कार्यों से विरक्त हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति यही

सोचने लग जाता है कि मेरे पर ही कौन-सा भार है? मैं नहीं करूँगा तो स्वयं कोई दूसरा कर लेगा।

थोड़े व्यक्ति, थोड़ा काम

स्वामी भीखण्डी के समय में कार्य-विषयक यह क्रम चालू था कि सामूहिक कार्यों पर जब जिसका ध्यान जाता, वह उन्हें तभी सम्पन्न कर देता। कुछ कार्य ऐसे भी थे, जिनको दीक्षा में सबसे छोटा व्यक्ति किया करता। उस समय के लिए वह क्रम चल सकने वाला था। थोड़े ही व्यक्ति थे, अतः जब वे एकत्रित होते तब भी कार्यभार बहुत अधिक नहीं होता, परन्तु जयाचार्य ने संघ का भार संभाला तब तक साधुओं तथा साधियों की संख्या काफी बढ़ गई थी। जब वे सम्मिलित होते तब कार्य-भार का बढ़ना स्वाभाविक ही था। उन दिनों कार्य की मात्रा तथा कार्य की संख्या-दोनों ही बढ़ जाया करती थीं।

श्रम में साम्य

जयाचार्य साम्य के प्रतिष्ठाता थे। संघ की सुव्यवस्था के लिए प्रत्येक क्षेत्र में उनका चिंतन साम्य की ओर ही अप्रसर होता। उनके युग का प्रारम्भ होते ही संविभाग या साम्य के द्वारा अपने-आप खुलते चले गये। फिर भी साम्य के प्रकाश में प्रत्येक कार्य-व्यवस्था को सुचारू रूप प्रदान करना तथा उसे चिरकाल तक जीवित रह सकने योग्य भूमिका प्रदान करना आवश्यक था। जयाचार्य की प्रतिभा उस विषय में निरन्तर चिन्तनशील बनी रहती। अपने स्वभावानुसार उन्होंने श्रम में साम्य की स्थापना के विषय में भी सोचा और दीर्घ-कालीन समाधान प्रस्तुत किया। जिस दिन उन्होंने सामूहिक कार्यों को दीक्षा-क्रम के अनुसार बारी-बारी से करने का नियम बनाया, उसी दिन से संघ में श्रम के साम्य का शिलान्यास हुआ।

एक प्रसंग, एक प्रेरणा

श्रम के सम-विभाजन सम्बन्धी जयाचार्य के विचारों को उत्प्रेरित करने में एक सामयिक प्रसंग का अद्वितीय सहयोग रहा। सं. 1909 के जयपुर-चतुर्मास में कार्तिक कृष्ण 2 को हरियाणा के रामदत्तजी जयाचार्य के पास दीक्षित हुए। उस समय की पद्धति के अनुसार मुनिजनों में परिष्ठापन आदि अनेक कार्य ऐसे थे, जो प्रतिदिन केवल पर्याय-लघु मुनि को ही करने होते थे। मुनि रामदत्तजी वृद्ध थे, अतः उन कार्यों के सम्पादन में उन्हें काफी कठिनाई का अनुभव होने लगा। एक दिन उन्होंने मुनि मधजी (मधवागणी) से कहा—‘ये भाग-दौड़ के कार्य मेरे से नहीं हो पाते। इन्हें यदि आप कर दें तो बदले में मैं आपके पैर दबा दिया करूँगा। दयार्द्र मुनि मधजी ने कहा ‘मैं तो अभी बालक हूँ, मुझे पैर दबवाने की आवश्यकता नहीं है। मैं तुम्हारे कार्य वैसे ही कर दिया करूँगा।’ उसी दिन से उनके वे कार्य मुनि मधवा सम्पन्न करने लगे।

जयाचार्य को जब उक्त स्थिति का पता लगा तो उन्होंने भविष्य की गहराइयों तक दृष्टि दौड़ाई। उन्हें लगा कि मुनि रामदत्तजी के सम्मुख वृद्धता के कारण जो कठिनाई उपस्थित हुई है, वह अन्य वयःप्राप्त नवदीक्षितों के सम्मुख भी हो सकती है। प्रतिदिन एक ही व्यक्ति को कार्य करना पड़े तो क्या वह पद्धति स्वयं सबसे बड़ी कठिनाई नहीं है? उन्होंने चिन्तन किया और फिर सामूहिक कार्यों को दीक्षाक्रमानुसार बारी से करने का नियम बना दिया।

पांच वर्षों का संकल्प

जो मुनि अपनी पर्याय-लघुता के समय कार्य कर चुके थे, उनमें से कुछ नई व्यवस्था से सहमत नहीं हो पाये। जयाचार्य ने तब उन्हें मानसिक स्तर पर प्रभावित करने के लिए मुनि मधवा को प्रयोग-भूमि बनाया। उन्होंने कहा—‘मघजी! मैं सामूहिक कार्यों के लिए नई व्यवस्था करना चाहता हूँ। क्या तुम उसके लिए तैयार हो?’

मुनि मधवा ने कहा—‘गुरुवर! आप जो भी व्यवस्था करें, मैं उसके लिए सदा तैयार हूँ।’

जयाचार्य ने फरमाया—‘तो पांच वर्षों के लिए बारी से कार्य करने का संकल्प करो।’

मुनि मधवा ने तत्काल खड़े होकर वह संकल्प ग्रहण कर लिया। फलतः उनका वह मनोभाव अन्य मुनियों में भी संक्रांत हुआ। उसी समय अनेक मुनियों ने वह संकल्प किया। स्वल्पकाल में ही तब वह व्यवस्था सर्वमान्य एवं सर्वग्राह्य हो गई।

श्रम के सम-विभाजन की उक्त प्रक्रिया को तब जयपुर से ही प्रारम्भ कर दिया गया। कालान्तर में कार्य-व्यवस्था में जो नवोन्मेष होते रहे, वे सब श्रम के सम-विभाजन की प्रक्रिया में समाविष्ट होते गये।

तीन प्रकार के कार्य

सामूहिक कार्य तीन प्रकार के समझे जा सकते हैं। कुछ ‘समुच्चय’ के, कुछ ‘साझा’ के तथा कुछ उनसे व्यतिरिक्त। समुच्चय के कार्यों में केवल ‘बाजोटों का कार्य’ आचार्यश्री से सम्बन्धित होता है, शेष सब साधु-साधिव्यों की सामूहिक व्यवस्था को सुचारू रूप प्रदान करने वाले होते हैं। प्रत्येक कार्य प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी बारी आने पर करना होता है। यह बारी अन्य सब कार्यों में तो दीक्षा-क्रम से चलती, केवल आहार-संविभाग के लिए साझा-क्रम से चलती थी। उससे उसमें थोड़ी सुविधा रहती थी। समुच्चय के कार्यों की बारी, जितने अधिक सन्त होते, उतनी ही देर से आती।

तीनों ही प्रकार के कार्यों की बारी मुख्यतः आचार्यश्री के साथ रहने वालों से ही सम्बन्धित थी। वहां अधिक सन्तों के एकत्रित होने पर भी इस क्रम से अव्यवस्था नहीं हो पाती और बराबर सुव्यवस्था बनी रहती। जो साधु-साधिव्यां पृथक्-पृथक् सिंघाड़ों में विहार करते, उनके लिए वहां की स्थिति के अनुरूप ही कार्य-विभाजन होता। इनमें

से अनेक कार्य तो वहां होते ही नहीं, जो होते, उनमें भी विभाजन अनिवार्य न होकर यथारुचि होता। जैसे सबके अनुकूल बैठता, वैसे ही कर लेने की वहां छूट रहती।

(1) समुच्चय के कार्य

बांटने का काम

मध्याह्नकालीन गोचरी में लाये गये आहार का जो संविभाग किया जाता उस कार्य को साधारणतया 'बांटना' कहा जाता। प्रतिदिन एक साझ़ा के चार व्यक्तियों पर उसका भार रहता। गोचरी आने के पश्चात् उनका कार्य प्रारम्भ होता। आये हुए आहार को गिनना, पांती लगाना, यथा-क्रम से सब साझ़ों को पांती रखाना और फिर वहां बिखरी 'सीतों' (अन्कणों) को बुहार कर उस स्थान को धो-पोछ कर साफ कर देने तक का कार्य उन्होंने का होता। सौ 'ठाणे' एकत्रित होते तब तक तो चार व्यक्ति ही वह कार्य करते, फिर प्रत्येक नये शतक के प्रारम्भ में एक व्यक्ति बढ़ा दिया जाता।

धड़े का काम

तेरापंथ-द्विशताब्दी से पूर्व तक प्रायः एक समय मध्याह्न में ही गोचरी की जाती थी। प्रातः या सायंकाल की गोचरी अपवाद-स्वरूप कदाचित् ही होती। जब कभी ऐसा होता तब उस आहार के संविभाग का दायित्व धड़े की बारी वाले व्यक्ति का होता था। वह कार्य ‘धड़े का बांटना’ कहलाता। मध्याह्न में भी ‘बांटना’ होने से पहले या पीछे आने वाली आहार-सामग्री का संविभाग भी धड़े वाला ही करता। उसके अतिरिक्त आचार्यश्री जहां आहार करते वहां आवश्यकता होने पर ‘चिलमिली’ बांधने तथा वहां पर बिखरे अन्नकणों की सफाई कर स्थान को धो डालने का कार्य भी उसी का होता। इन सारे कार्यों को सम्मिलित रूप से ‘धड़े का काम’ कहा जाता।

पानी का काम

पानी मापने के लिए एक पात्र-विशेष 'कलसिया' होता था। उसी के आधार पर सब पात्र मापे हुए होते थे। पानी लाने वाले सन्तों को ऋतु-अनुसार एक निर्देश दे दिया जाता कि गोचरी में आ सके तो प्रत्येक साधु को इतने 'कलसिया' पानी लाना है। उसी निर्देशानुसार संत पानी लाकर पूर्व निर्धारित स्थान पर रख देते। पानी के काम की जिसकी बारी होती, वह उस आए हुए सारे पानी को छानता, फिर जितने संत होते उतनी पांती लगाकर प्रत्येक साझे के किसी एक व्यक्ति को बुलाकर साझे-क्रम से पांतियां संभला देता। उसके पश्चात् चतुर्थ प्रहर प्रारम्भ होते ही सब साझों में जाकर वह पूछ आता कि किस साझे में कितना पानी और चाहिए? साथ ही यह भी पूछ आता कि गोचरी के समय पात्र के अभाव में या कार्यवश अपने विभाग का पानी कौन-कौन नहीं ला पाया या कम ला पाया है? जितना पानी मंगाया जाता उसमें जितना कम लाया गया होता, उतना तो उन्हें लाने के लिए कह दिया जाता और अधिक मंगाने पर शेष पानी विभागानुसार प्रत्येक गोचरी में से मंगा लिया जाता। जब

388 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
वह पानी आ जाता, तब जिस साझ में जितने 'कलसिये' मंगाये होते, उसी आधार पर
वह विभक्त कर दिया जाता।¹

चोकी

संतों का कोई भी वस्त्र-पात्र आदि उपकरण रात्रि में बाहर 'अछायां' में न रहने
पाये तथा बिना प्रतिलेखन न रहने पाये, इसी सावधानी के लिए प्रतिदिन एक संत प्रातः
प्रतिलेखन का समय आते ही तथा सायं सूर्यास्त होते ही उन सभी स्थानों को, जहां
संतों का निवास होता है तथा धोने आदि के लिए जाना-आना होता है, घूम-फिर कर
देख लेता है। कोई वस्त्र-खण्ड या अन्य कोई विस्मृत वस्तु बाहर रह गई हो अथवा
कोई वस्तु बिना अवेर के यों ही इधर-उधर पड़ी हो तो उन सबको वह उठा लाता है।
वह उनका प्रतिलेखन तो कर ही लेता है, पर साथ ही जिन पर नाम लिखा हो, उन्हें
उन तक पहुंचा देने तथा अन्य वस्तुओं को सबके पास जाकर दिखा आने का भार भी
वही उठाता है। विस्मृति के कारण जो छोटे वस्त्र-खण्ड बच जाते हैं, आचार्यश्री को
बताकर उनका परिष्ठापन कर देना भी उसी का कार्य होता है। इस कार्य को 'चोकी'
कहा जाता है।

परिष्ठापन-कार्य

रात्रि-काल में परिष्ठापन-कार्य भी बारी से होता है। इसकी अपनी विशेष प्रकार
की व्यवस्थाएं हैं, जो शीतकाल आदि में सभी के लिए सुविधा का कारण बनती हैं।

बाजोटों का काम

आचार्यश्री के व्याख्यान देने, विराजने और शयन करने आदि के लिए जहां-जहां
बाजोट या पट्ट आदि के बिछाने की आवश्यकता होती है, उसका भार बारी के क्रम से
एक व्यक्ति पर होता है। आचार्यश्री जहां पधरे, वहां उनका आसन ले जाकर बिछाना,
आवश्यकतावश उनके उपकरणों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना तथा पट्ट
आदि का प्रतिलेखन करना भी उसी कार्य के अंग होते हैं।

(2) साझ के कार्य

प्रतिदिन की आवश्यकता

आचार्य के साथ जितने संत होते हैं उनकी अनेक मंडलियां बना दी जाती हैं।
पारस्परिक चित्त-समाधि, सेवा-व्यवस्था, स्थान-व्यवस्था, गोचरी-व्यवस्था और

- वर्तमान में आचार्यश्री तुलसी द्वारा आहार-पानी की व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिये जाने के
पश्चात् आहार-विभाजन और पानी का काम, इन दो कार्यों की पूर्व-व्यवस्था पूर्णतः बन्द हो गई है।
धड़े के काम में भी धड़ा लिखाना बन्द है, किन्तु आचार्यश्री के स्थान पर 'चिलमिली' बांधने, भोजन का
स्थान धोने, आचार्यश्री द्वारा लाई गई अथवा मंगवाई गई भोज्य-सामग्री का विभाग करने का कार्य अब
भी 'धड़े का काम' कहलाता है तथा दीक्षा-क्रम से चलता है।

भोजन-व्यवस्था आदि की सुविधा के लिए ऐसा किया जाता है। यों तो प्रत्येक साधु को दूसरे की चित्त-समाधि में सहयोगी बनना चाहिए, परन्तु उसमें प्रथम दायित्व अपने साझा के संतों का होता है। इसी प्रकार आवश्यक होने पर सेवा का भी प्रथम दायित्व उन्हीं का है। प्रत्येक साझा के सन्तों के लिए निवास की व्यवस्था सम्मिलित की जाती है। गोचरी और भोजन भी उनका सम्मिलित होता है।

समुच्चय से जब आहार तथा पानी की पांतियां अपने-अपने साझा में ले आई जाती हैं,¹ तब साझा के सारे सन्त आहार करने के लिए बैठते हैं। साझा में अधिक संत होते हैं तब वे प्रायः एक 'मंडलिया' बिछाकर उस पर आहार रखते हैं और पात्र में 'व्यंजन' (साग) लेकर आहार करते हैं। थोड़े संत होते हैं तब प्रायः अपने-अपने व्यंजन वाले पात्र में ही भोजन-सामग्री भी रख लेते हैं। आहार कर लेने के पश्चात् पात्र तथा हाथों को धोकर 'लूहने' से पोंछ लिया जाता है। फिर भोजन-पात्रों को एक स्थान पर एकत्रित कर दिया जाता है और अपने हाथों को दुबारा धोकर एक वस्त्र, जिसे 'जोड़ीपल्ला' कहते हैं, से पोंछ कर पूर्णतः साफ कर लिया जाता है।

साझा की सामूहिकता के अपने कुछ कार्य होते हैं। वे प्रायः आहार-पानी से सम्बन्धित ही होते हैं। वे प्रतिदिन की आवश्यकता के कार्य होते हैं, अतः साझा में जितने सन्त होते हैं उनमें सुविधानुसार वितरित कर दिये जाते हैं। कम सन्त होते हैं तब अनुपात देखकर प्रत्येक संत को इनमें से कई काम संभला दिये जाते हैं और अधिक होते हैं तब प्रत्येक काम के लिए अनुपातानुसार कई संत नियुक्त कर दिये जाते हैं। साझा के कार्य प्रमुख रूप से अग्रेक्ट होते हैं :

भोजन-स्थान की सफाई

प्रत्येक साझा के संत को अपने-अपने निर्धारित स्थानों पर जहां बैठकर भोजन करते हैं, उस स्थान को धोकर साफ कर देना अनिवार्य होता है। भोजन करते समय गिरे हुए अथवा छूटे हुए अंशों को 'सीत' कहते हैं। उन्हें एकत्रित करते समय खाने योग्य को खा लेना तथा शेष को एकान्त में 'परठना' भी इसी कार्य के अन्तर्गत होता है।

झोली आदि की सफाई

साझा में जितने संत आहार की गोचरी करते हों उन सबकी झोलियों को प्रतिदिन धोया जाता है। इसी प्रकार मंडलिया, लूहना तथा जोड़ीपल्ला भी प्रतिदिन धोया जाता है। उनको धोने में जो संत नियुक्त होते हैं, उन्हें उन वस्त्रों को धोने और सुखाने के पश्चात् किसी दूसरे संत से उनका प्रतिलेखन करा लेना पड़ता है कि वे कहीं से भी चिकने नहीं हैं। इतना होने पर ही वे दूसरे दिन काम में लिए जा सकते हैं।

1. अब समुच्चय से पांती नहीं लाई जाती। गोचरी में उपलब्ध आहार आचार्यश्री को दिखलाकर सीधा साझे में ले जाया जाता है।

आहार के पात्र को प्रथम बार तो जो उसमें आहार करता है, वही धोकर साफ कर देता है। उसके पश्चात् एक निर्धारित स्थान पर वे सब एकत्रित कर दिये जाते हैं। वहां उनको फिर से धोकर बिलकुल साफ किया जाता है। इस कार्य को 'जोड़ी करना' कहते हैं।

पात्र-प्रतिलेखन

आहार-पानी के सभी पात्रों को साफ करने के पश्चात् भी सूर्यास्त के समय एक बार फिर देख लिया जाता है कि कहीं कोई पात्र चिकना या आर्द्ध तो नहीं रहा? उसी प्रकार सूर्योदय होने पर उनका फिर प्रतिलेखन कर लिया जाता है। यदि कोई पात्र भूल से बासी रह जाता है तो उसे साफ कर लेने के पश्चात् ही काम में लिया जा सकता है। बासी रहा उसके लिए, सायंकाल के समय पात्र-प्रतिलेखन करने वाले को 'आलोयणा' करनी पड़ती है।

पानी उठाना

साझ के पानी को अवेर कर रखना, साझ की आवश्यकतानुसार पानी मंगाना, यदि पानी कम आया हो तो साझ के सब संतों को धोने आदि के लिए माप कर पानी घालना तथा पीने के लिए अधिक से अधिक बचा रखना और सायंकाल में सूर्यास्त से पहले-पहले 'गलना', 'रस्तान' आदि को धोकर सारे पानी को चुका देना आदि कार्य पानी उठाने के अन्तर्गत होते हैं।

(3) कुछ अन्य कार्य

स्वतंत्र व्यवस्था

कुछ कार्य ऐसे भी हैं जो उपर्युक्त दोनों विभागों के अन्तर्गत नहीं आते, अतः उन्हें उनसे व्यतिरिक्त ही समझना चाहिए। ऐसे कार्यों के लिए भी स्वतंत्र रूप से व्यवस्था कर दी गई। गोचरी, पुस्तक-प्रतिलेखन तथा स्थान-प्रमार्जन आदि कार्य उसी कोटि के कार्यों में गिने जा सकते हैं।

गोचरी की व्यवस्था

आवश्यक आहार तथा पानी लाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को गोचरी जाना आवश्यक होता है। प्रत्येक साझ के व्यक्तियों की संख्या के आधार पर गोचरी के संघात बना दिये जाते हैं। प्रायः तीन संतों का एक संघात होता है। उनमें एक व्यक्ति आहार लाने के लिए और शेष दो पानी लाने के लिए नियुक्त होते हैं। आहार की गोचरी करने वाले व्यक्ति गांव के घरों तथा गलियों के आधार पर विभक्त हो जाते हैं। वे घरों की पृथक्-पृथक् एक स्थूल सीमा निर्धारित कर लेते हैं, ताकि कोई घर गोचरी जाने से छूटने भी न पाए तथा किसी घर में अनेक बार भी न जाया जा सके। प्रत्येक गोचरी के साथ दो संत पानी लाने वाले भी जाते हैं। वे उस निर्धारित सीमा के घरों में ही पानी की गवेषणा करते हैं। यदि वहां पानी न मिले तो अन्य गोचरी वाले संतों से पूछकर उनकी सीमा वाले घरों

से ला सकते हैं। गोचरी की सीमा निर्धारित करने तथा निर्धारित सीमा में गोचरी जाने का निश्चय यथाक्रम से किया जाता है।

पुस्तक-प्रतिलेखन

पुस्तकों के सांघिकीकरण के पश्चात् उनके प्रतिलेखन की व्यवस्था नये सिरे से की गई। हर किसी के द्वारा हस्तलिखित पुस्तकों का प्रतिलेखन सम्भव नहीं था। उसके लिए सुदृश्य व्यक्तियों को ही चुना जा सकता था, अन्यथा प्रतियों के पन्ने टूट जाने आदि की संभावना रहती। प्रत्येक पुस्तक-प्रतिलेखक को साधारणतया दो पुस्तकें दी जाती थीं।

स्थान प्रमार्जन

मुनिजन जहां आहार करते, बैठते तथा सोते, उन सब स्थानों की सफाई का कार्य भी उन्हीं का अपना कार्य गिना जाता। वह कार्य उन संतों को सौंपा जाता, जो पुस्तक-प्रतिलेखन के कार्य में नहीं होते। वस्तुतः पुस्तक-प्रतिलेखन और स्थान प्रमार्जन, दोनों को मिलाकर एक काम माना जाता।

उक्त दोनों कार्यों का एकत्र करके जयाचार्य ने एक प्रकार से यह सक्रिय शिक्षा प्रदान की थी कि कोई भी कार्य छोटा नहीं होता। पुस्तक-प्रतिलेखन और स्थान-प्रमार्जन-ये दोनों ही कार्य आवश्यक हैं, अतः इनमें भेद न मानते हुए किसी भी एक को स्वीकार किया जा सकता था। जयाचार्य की इस प्रक्रिया ने साधुओं के मन में कार्यों के प्रति एकत्र की वैसी मनोवृत्ति पैदा करने में काफी सफलता पाई। अनेक दक्ष साधु पुस्तक-प्रतिलेखन के कार्य को छोड़कर सरलता की दृष्टि से स्थान-प्रमार्जन का कार्य लेते रहे थे। साधारण व्यवहार से बड़े तथा छोटे लगने वाले इन कार्यों को तेरापंथ की श्रम-प्रणाली में तुल्य माना गया। इस प्रकार श्रम का सम-विभाजन करने के साथ-साथ श्रम के प्रति समानरूपेण सम्मानभाव पैदा करने का प्रयास भी जयाचार्य ने किया।

5. गण-विशृद्धीकरण हाजरी

मर्यादाओं का वर्गीकरण

स्वामी भीखण्डी ने अपने जीवनकाल में जो मर्यादाएं बनाई थीं, उनको जयाचार्य ने विभिन्न वर्गों में संकलित कर दिया। स्वामीजी की मर्यादाओं के उस वर्गीकरण का नाम उन्होंने 'गण-विशुद्धीकरण हाजरी' दिया। वह नाम कालान्तर में अपने संक्षिप्त रूप में 'हाजरी' ही रह गया। वे हाजरियां अनेक हैं। उनमें स्वामीजी द्वारा निर्मित मर्यादाओं के अंश यथाप्रकरण उद्धृत किये गये हैं। प्रत्येक हाजरी शिक्षा और मर्यादा का एक सुन्दर सम्मिश्रण कही जा सकती है। कुछ हाजरियां ऐसी भी हैं जो जनसभा में भी सुनाई जाती हैं। संघ में साधु-साधियों को किस प्रकार से रहना चाहिए, गण और गणी के साथ उनका कैसा सम्बन्ध होना चाहिए, शासन हितैषियों को संघ से बहिर्गत व्यक्तियों का संसर्ग क्यों वर्जित करना चाहिए आदि संघीय-जीवन की अनेक आवश्यक सचनाओं

392 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
तथा शिक्षाओं से गृहस्थों को भी परिचित रखना आवश्यक होता है। हाजरियों द्वारा यह
कार्य सुचारू रूप से सम्पन्न किया जा सकता है।

प्रारम्भ और रूपान्तर

‘हाजरी’ का प्रारम्भ पहले छोटे रूप में ही हुआ था। सं. 1910 में नाथद्वारा-
चतुर्मास के पश्चात् जयाचार्य बड़ी रावलियां पधारे। वहाँ पौष कृष्णा शनिवार के दिन यह
स्थापना की कि प्रातःकालीन व्याख्यान में सब संत खड़े होकर प्रतिदिन स्वामीजी का
‘लिखत’ (र्यादा पत्र) सुना करें।¹ हाजरी का यह रूप लगभग एक महीने तक चलता
रहा। उसके पश्चात् उसमें प्रथम रूपान्तर हुआ। एक बार रात्रि के समय जयाचार्य को
स्वप्न आया। उसमें किसी ने उनसे कहा कि सब संत खड़े होकर ‘लिखत’ सुनते हैं, उससे
जनता को दर्शनों की बाधा पड़ती है, अतः बैठकर सुनना ही उपयुक्त है। उसी दिन से
बैठकर सुनने का क्रम प्रारम्भ कर दिया गया।

पहले केवल ‘लिखत’ पढ़कर सुनाया जाता था, परन्तु जब से बैठकर सुनने का
क्रम चालू हुआ, तब से उसकी व्याख्या करने की पद्धति भी चालू हो गई। कालान्तर में
उसने व्याख्यान का रूप ले लिया। वह क्रम भी थोड़े ही दिन चल सका, क्योंकि प्रतिदिन
एक ही बात की व्याख्या करते रहना न तो वक्ता को ही अभीष्ट हो सकता था और न
श्रोता को। तब उसमें फिर रूपान्तर की आवश्यकता प्रतीत हुई। समय-समय की उन्हीं
आवश्यकताओं ने हाजरी को पहले सप्ताह में दो बार, फिर साप्ताहिक और फिर पाक्षिक
रूप प्रदान किया। जब अनेक दिनों के ‘व्यवधानों’ से, ‘हाजरी’ होने लगी, तब स्वतः
ही उसे एक पर्व का रूप प्राप्त हो गया। नियत दिन पर सब साधु-साधियां व्याख्यान में
एकत्रित होकर संघ की नियमावली को सुनते और अपनी प्रतिज्ञाओं को दुहराते। उस दिन
के व्याख्यान में तेरापंथ के अनुयायी-श्रावक तो विशेष उत्साह से भाग लेते ही, अन्य
मतावलम्बी भी नियमावली तथा संघ-संगठन की पद्धति को जानने के लिए विशिष्ट
उत्सुकतापूर्वक उपस्थित हुआ करते।²

कार्यक्रम

‘हाजरी’ के दिन नियमावली पढ़कर सुनाई जाती है और यथावसर उसकी व्याख्या
भी की जाती है। प्रकरणानुसार जहाँ जिस बात के त्याग का उल्लेख आता है, वहाँ साधु-

1. ज. सु. 3817, 8 :

‘तिहाँ पोह विद नवमी दिन प्रभाते, भिक्खु स्वाम लिखत अति भारी।
मुनि ऊभा थईनै नित्य सुनवारी, करी स्थापन अति गुणकारी॥
तसु ‘गण विशुद्ध करण हाजरी’, दियो गुण निष्पन्न नाम भारी।
गण अति निर्मल करण गणाधिप, बांधी मरजाद उदारी॥’

2. ज. सु. 44111 :

‘त्यां हाजरी में अन्यमति स्वमति, सैकड़ा मिनख समुदाय।
गणि वच सुणी हिये धारता, प्रफुल्ल थई मन मांय॥’

साध्वी-वर्ग को सम्मिलित घोष से त्याग करवाये जाते हैं। उससे सारे संघ को एकनिष्ठ होने का संबल प्राप्त होता है। उसके पश्चात् साधु-जन दीक्षा-क्रम से खड़े होकर एक साथ 'लिखत' का उच्चारण करते हैं और अपनी प्रतिज्ञाओं को दुहराते हैं। 'हाजरी' का यह क्रम संभवतः उसके खड़े होकर सुनने के प्रारम्भिक रूप से लेकर शिक्षा-प्रदान तक के सुधरे रूपों का सम्मिलित रूप कहा जा सकता है।

उपयोगी पद्धति

'हाजरी' के द्वारा जन-साधारण को तेरापंथ के संगठन सम्बन्धी नियमों से अवगत करने से साधु-साध्वी-वर्ग को विशेष सावधानी की प्रेरणा मिली और साथ ही संगठन में भी और अधिक दृढ़ता आई। पृथक् विहार करने वाले साधु-साध्वियों को भी यह निर्देश दिया गया कि वे स्थानीय परिषद् में अपने सब सहयोगियों की उपस्थिति में प्रत्येक चतुर्दशी को 'हाजरी' किया करें। इससे जिन क्षेत्रों में आचार्यों के पदार्पण का अवसर नहीं होता, वहां के भाई तथा बहिनें भी अपने संघ के नियमों से परिचित रहने लगे। अनेक बार ऐसे अवसर भी आये, जब किसी साधु या साध्वी ने मर्यादाओं का समुचित आदर नहीं किया, वहां के श्रावक-वर्ग ने तत्काल उनको सावधान किया कि आप यह कार्य अपने संघ की मर्यादा के प्रतिकूल कर रहे हैं। उससे सहज रूप से ही गलती करने वाले व्यक्तियों को संभल जाने का अवसर मिलता रहा और गलती आगे बढ़ने से रुकती रही। गलतियों के बढ़ने की वहां अधिक सम्भावना रहती है, जहां उनके लिए कोई टोकने वाला न हो। टोकने पर तथा टोके जाने की संभावना पर प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही सावधान होकर रहता है। तेरापंथ की यह पद्धति प्रत्येक प्रकार से उसके लिए उपयोगी सिद्ध हुई है।

6. साध्वियों के सिंघाड़ों की व्यवस्था

व्यवस्था से पूर्व

साधुओं के सिंघाड़ों की व्यवस्था जयाचार्य के समय से पूर्व भी ठीक थी और व्यवस्थित चल रही थी। साध्वियों के सिंघाड़े व्यवस्थित नहीं थे। किसी सिंघाड़े में दस, किसी में बारह, यहां तक कि किसी में 23 तक साध्वियां भी थीं¹, तो किसी में तीन या चार ही। जिसने जिसके पास दीक्षा ग्रहण की या दीक्षा देकर जो जिसको सौंपी गई, उस पर उसी का प्रमुख रूप से अधिकार रहा करता था। सारे सिंघाड़े किसी एक आर्या को मुख्यता दें और उसका आदेश-निर्देश प्राप्त करें, ऐसी कोई पूर्ण व्यवस्था नहीं थी।

धीरे-धीरे नियंत्रण

जयाचार्य ने ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता अनुभूत की। उससे पूर्व उन्हें किसी ऐसी आर्या की आवश्यकता थी जो सब आर्याओं को निभा सके और अपने स्नेह के आधार पर सबके विश्वास को जीत सके। सरदारसती जयाचार्य की उस कसौटी के सर्वथा

1. सं. 1909 में दीपांजी का चतुर्मास पुर में था, वहां वे 23 साध्वियां थीं।

394 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
अनुकूल थीं। उन्होंने उनके व्यक्तित्व में और भी अनेक विशेषताएं देखीं। फलस्वरूप सं. 1910 में उन्हें साध्वीप्रमुखा बना कर व्यवस्थित रूप से साध्वियों का कार्यभार सौंप दिया गया।¹ उसके पश्चात् साध्वियों से सम्बन्धित जो भी कार्य होता, वह सरदारसती के माध्यम से ही करवाया जाता। धीरे-धीरे उनका प्रभाव और कार्यक्षमता बढ़ती चली गई।

सं. 1914 (चैत्रादि 1915) में जयाचार्य ने साध्वियों के सिंघाड़ों को व्यवस्थित करने का निश्चय किया। उस निर्णय के साथ ही उन्होंने साध्वियों के सिंघाड़ों को सरदारसती की निश्रा में आने के लिए प्रेरित करना प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम वैशाख कृष्णा नवमी के दिन छोटी नवलांजी का सिंघाड़ा सरदारसती की निश्रा में आया। उसके पश्चात् धीरे-धीरे अन्य सिंघाड़े भी उनकी निश्रा में आते गये। जयाचार्य ने सबको पहले ही सावधान कर दिया कि जो भी सिंघाड़ा उनकी निश्रा में आएगा उसे काम, बोझ, गोचरी, आहार आदि की सब व्यवस्थाओं को उनके कथनानुसार मान्य करके चलना होगा। इतना होने पर भी सिंघाड़े उनकी निश्रा में आते रहे।

जयाचार्य ने तब सं. 1914 (चैत्रादि 1915) अक्षय तृतीया के दिन लाडनू में एक लेख-पत्र लिखा और फिर उसी के आधार पर साध्वियों को सरदारसती की निश्रा में मान्य किया। वैशाख से पौष तक साध्वियों के 14 सिंघाड़ों ने लेखपत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। जो सिंघाड़े अस्वस्थता या वृद्धता के कारण नहीं आ सके, उनमें से साध्वी दीपांजी ने सं. 1916 के चतुर्मास के पश्चात् अपने सिंघाड़े की साध्वी मगानांजी को भेजकर तथा साध्वी रंगूजी ने मुनि हर्षचंद्रजी के साथ कहलवाकर सरदारसती की निश्रा में रहना स्वीकार कर लिया।

नये सिंघाड़े

महासती सरदारांजी की निश्रा में आ जाने के पश्चात् भी सिंघाड़ों में तत्काल परिवर्तन नहीं किया गया। कुछ काल तक वे पूर्ववत् ही विचरते रहे। सं. 1926 में सिंघाड़ों के उस पूर्व क्रम में आमूलचूल परिवर्तन करने का कार्य हाथ में लिया गया। फाल्गुन शुक्ला एकादशी को जयाचार्य ने महासती सरदारांजी को फरमाया कि अब साध्वियों के सारे सिंघाड़े व्यवस्थित कर देने चाहिए। इतने वर्षों में तुम सबकी प्रकृति से परिवर्तित हो गई हो, विशेष बात यह कि पुण्यवान् व्यक्ति के द्वारा प्रारम्भ किया हुआ कार्य सदैव सफल रहता है, अतः इस कार्य को तुम ही प्रारम्भ करो।

जयाचार्य ने उन्हें सिंघाड़े करने की सारी व्यवस्था बतला दी कि जो पहले अग्रणी रूप से विचरती हैं, वे तो हैं ही, उनके पास जो अधिक साध्वियां हैं, उन्हें लेकर योग्यता, प्रकृति तथा विनयशीलता आदि को ध्यान में रखते हुए नए सिंघाड़े बनाये जाएं। यह

1. सरदार सुजस, 11-दोहा 13 :

‘शासन-कार्य भोलावियो, सती भणी गणी जीत।

देश-देश में विस्तरी, काँई कीरति अधिक पुनीत।’

भी ध्यान रखा जाए कि प्रायः प्रत्येक सिंघाडे में चार या पांच से अधिक साधियां न हों। सरदारसती ने जयाचार्य की भावना के अनुसार उसी दिन रात्रि के समय में सारी व्यवस्था बिठाई और दूसरे दिन प्रातःकाल सिंघाडों के नामों की सूची उनके सम्मुख प्रस्तुत कर दी।

दस से तेंतीस

सं. 1926 के उस समय में भिक्षु-शासन में 174 साधियां थीं। उनमें 53 साधियां अपने जमे हुए 10 सिंघाडों में विचरती थीं। उक्त दसों पुरातन सिंघाडों को सरदारसती ने यथावत् रखा। उस समय अनेक सिंघाडे ऐसे भी थे जिनकी मूल अग्रणी साधियां दिवंगत हो चुकी थीं, परन्तु उनके साथ की साधियां अपने में से एक को मुख्य मानकर विचरती थीं। उनके सिंघाडे विधिवत् आचार्यश्री द्वारा उद्घोषित नहीं थे, फिर भी उनमें जो योग्य थीं उनके सिंघाडे मान्य कर लिए गये। नव-दीक्षित साधियां प्रायः सरदारसती को ही सौंपी जाती थीं। उनमें से कुछ उनके साथ रहतीं तथा कुछ को विहरण के लिए भेज दिया जाता। परन्तु उनके सुनिर्णीत सिंघाडे नहीं थे। उस अवसर पर पूर्वोक्त 10 सिंघाडों के अतिरिक्त शेष 121 साधियों में से 23 नए सिंघाडे बना दिये गये।

उक्त व्यवस्था से जहां साधियों के सिंघाडे सुव्यवस्थित हुए, वहां अधिक क्षेत्रों को चतुर्मास प्राप्त होने लगे। उसके कारण क्षेत्रों की संभाल तथा धर्म-प्रचार में सुव्यवस्था आई। उससे साध्वी-समाज में नई संघीय भावना की कड़ियां अधिक सुदृढ़ हुईं। यद्यपि यह कार्य बहुत टेढ़ा था, परन्तु अनुशास्ता जयाचार्य के सम्मुख कोई कार्य टेढ़ा रह नहीं पाता था। प्रत्येक ब्रक्रता के सरलीकरण का मंत्र उन्हें बहुत अच्छी तरह से ज्ञात था। उसी के प्रभाव से उन्होंने सरदारसती के माध्यम से उतना बड़ा कार्य करवा लिया। तेरापंथ संघ में बहिर्विहार करने वाली साधियों के सिंघाडे एक ही दिन में दस से बढ़कर तेंतीस हो गये।

प्राचीन सिंघाडों की दस तथा नये सिंघाडों की 23, इस प्रकार 33 अग्रणी साधियों के नाम क्रमशः अग्रेक्त हैं¹ :

1. नन्दूजी बड़ी	(92) ²	2. अमृतांजी	(109)
3. कंकूजी	(113)	4. नन्दूजी छोटी	(117)
5. जीवूजी	(123)	6. पन्नाजी	(126)
7. मोतांजी	(136)	8. महतावांजी	(145)
9. रंगूजी	(154)	10. सेरांजी	(199)
11. बरजूजी	(139)	12. हस्तूजी बड़ी	(152)

1. ये नाम 'आर्या दर्शन कीधा' ढाल 9 तथा सं. 1927 के लेखपत्र के हस्ताक्षरों के आधार पर संकलित हैं।
2. प्रत्येक नाम के आगे कोष्ठक में दी गई संख्या भिक्षु-शासन में उनके दीक्षा क्रमांक की द्योतक है।

13. रिद्धूजी	(155)	14. गोमांजी	(160)
15. चंपांजी	(161)	16. चंदनांजी	(165)
17. सिणगारांजी बड़ी	(179)	18. नवलांजी बड़ी	(182)
19. सुजानांजी	(200)	20. कस्तूरांजी बड़ी	(227)
21. नवलांजी छोटी	(240)	22. चांदकंवरजी	(274)
23. हरखूजी	(275)	24. सिणगारांजी छोटी	(280)
25. खेमांजी	(284)	26. लालांजी	(296)
27. केसरजी	(314)	28. रायकंवरजी	(328)
29. कस्तूरांजी छोटी	(332)	30. चांदांजी	(343)
31. जड़ावांजी	(347)	32. गोरखांजी	(359)
33. जेठांजी	(360)		

7. पंच-व्यवस्था

मनोनयन

शासन-व्यवस्था से न्याय-व्यवस्था को पृथक् करने की बात धर्मसंघों में शायद ही कहीं सोची गई हो। जयाचार्य ही प्रथम व्यक्ति कहे जा सकते हैं, जिन्होंने सोचने से भी आगे बढ़कर इस ओर प्रयोगात्मक चरणन्यास भी किया। आचार्य पद पर आसीन होने के तत्काल पश्चात् उन्होंने तेरापंथ की संघ-व्यवस्था में जो अनेक नये प्रयोग प्रारम्भ किये थे, उन्हीं में एक पंच-व्यवस्था भी था। उसमें मुनि छोगजी, मुनि हरखचंदजी आदि संघ के आगमज्ञ तथा प्रतिष्ठित पांच साधु मनोनीत किये गये। उन्हें अधिकार दिया गया कि छद्मस्थता के कारण साधुचर्चाया में स्खलना करने वाला कोई भी साधु प्रायश्चित्तकामी होकर जब उनसे प्रायश्चित्त की मांग करे अथवा किसी के चर्चा-दोष की कोई शिकायत आए, तब वे सम्मिलित होकर पूछताछ करें और फिर परस्पर विचार-विमर्श के पश्चात् दोषी व्यक्ति को यथायोग्य प्रायश्चित्त देकर विशुद्ध बनायें।

संभावित समय

पंच-व्यवस्था का प्रारम्भ-काल तथा प्रारम्भ-स्थान कहीं उल्लिखित नहीं मिलता, फिर भी कहा जा सकता है कि वह कम से कम सं. 1911 (चै. 1912) वैशाख शुक्ला 10 से कुछ काल पूर्व तो अवश्य ही प्रारम्भ हो चुकी थी, क्योंकि उक्त तिथि से पूर्व तो मुनि मधवा को सरपंच भी बनाया जा चुका था। 'ठहुका' में सं. 1911 (चै. 1912) वैशाख शुक्ला 10 की शिक्षाओं में लिखा है—'करड़ा वचन रो तथा खूंचणो, कतूहल, उतरती बात रो तथा अजयणादिक ओर ही बात रो च्यार-पांच साधु तथा सिरेपंच मंडल्या विचारी देवै ते लेणा। मन बिगाड़णो नहीं।' ठहुके की उक्त शिक्षा से पूर्व मुनि मधवा को

सरपंच बना दिया गया था, तभी वहां यह उल्लेख किया गया है। उन्हें खाचरोद (मध्य प्रदेश) में सरपंच बनाया गया था।¹

एक घटना, एक प्रभाव

पंच-व्यवस्था आगे कब तक चली, इसका भी कहीं कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है। सम्भव है मुनि कालूजी (रेलमगरा वाले) को दिया गया प्रायश्चित्त ही पंचों द्वारा निर्धारित किया गया अन्तिम प्रायश्चित्त रहा हो। मुनि कालूजी की घटना इस प्रकार है :

सं. 1911 (चै. 1912) के ग्रीष्म-काल में जयाचार्य मालव (मध्य-प्रदेश) में भ्रमण करते हुए खाचरोद पधारे। वहां बालमुनि कालूजी द्वारा कोई स्खलना हो गई। पंचों के पास शिकायत पहुंची तो उन्होंने मुनि कालूजी को बुलाकर पूरी पूछताछ की और फिर प्रायश्चित्त निश्चित किया। मुनि कालूजी ने उसे बहुत अधिक बतलाया और ग्रहण करने से इनकार कर दिया। अन्ततः सारी स्थिति जयाचार्य के सम्मुख रखी गई। जयाचार्य के सामने एक नई समस्या खड़ी हो गई। एक ओर पंचों का निर्णय था तो दूसरी ओर बालमुनि का अस्वीकार। प्रथम को अमान्य करने का तात्पर्य होता—पंचों तथा साथ ही अपने द्वारा स्थापित व्यवस्था की अवज्ञा, तथा द्वितीय को अमान्य करने का अर्थ होता—वह प्रायश्चित्त न होकर मात्र दण्ड ही रह जाए। दण्ड और प्रायश्चित्त में यहीं तो अन्तर है कि एक बलात् थोपा जाता है और दूसरा आत्म-शुद्धि के लिए स्वीकार किया जाता है। प्रथम में 'देना' प्रमुख रहता है तो द्वितीय में 'लेना'। अध्यात्म-जगत् में दण्ड देने की बात भाषा के साधारण प्रयोग के रूप में भले ही मान्य हो, वास्तव में तो वह 'प्रायश्चित्त लेना' ही होता है। जयाचार्य ने उक्त समस्या का समाधान इसी वास्तविकता के आधार पर किया। उन्होंने बालमुनि कालूजी से प्रायश्चित्त स्वीकार न करने का कारण पूछा तो उन्होंने पंचों की निष्पक्षता पर अविश्वास व्यक्त किया। उन्होंने जो बातें कहीं उनसे जयाचार्य को उस विषय पर पुनर्विचार करना आवश्यक प्रतीत हुआ।

उन्होंने मुनि कालूजी से पूछा—‘तुझे किस पर विश्वास है? क्या तू मघजी के निर्णय को स्वीकार कर लेगा?’

मुनि कालूजी ने कहा—‘हां, उनका निर्णय मुझे पूर्णतः मान्य होगा।’

जयाचार्य ने तब पंच-व्यवस्था को नया आयाम देते हुए कहा—‘पंच तो पहले से नियुक्त हैं ही, आज से मुनि मघजी को 'सरपंच' नियुक्त किया जाता है।’

मुनि मधराजजी ने मुनि कालूजी से सारी घटना पुनः सुनी और फिर जो प्रायश्चित्त दिया उससे उन्हें पूर्ण सन्तोष हो गया।

मुनि कालूजी की तात्कालिक समस्या तो सुलझ गई, परन्तु लगता है पंच-व्यवस्था से जो अपेक्षाएं रखी जाती थीं, वे सब धूमायित हो गई। शायद जयाचार्य को लगा कि इस व्यवस्था से अब निष्पक्ष न्याय की कोई आशा नहीं रखी जा सकती। उन्होंने तब उस

1. म.सु. 5- दोहा 6 :

‘खाचरोद में मघवा भणी, सिरे पंच दिया ठहराय।’

398 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
व्यवस्था को स्थगित कर दिया। लगता है, जयाचार्य की यही एक योजना ऐसी रही जो स्वल्पजीवी सिद्ध हुई।

सम्भावित कारण

पंच-व्यवस्था के स्थगित होने के अनेक सम्भावित कारण हो सकते हैं। उनमें एक प्रमुख कारण मुनि मधवा को 'सरपंच' बना देना भी हो सकता है, क्योंकि उस समय वे केवल चौदह वर्ष के ही थे। पूर्व-नियुक्त सभी पंच उनसे दीक्षावृद्ध तो थे ही, साथ ही वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध भी थे। वे सभी एक अल्पवयस्क बालक का इस प्रकार अपने ऊपर 'सरपंच' बनना पसंद नहीं कर सके हों तो कोई आशर्च्य नहीं। यह भी संभव है कि कालांतर में जयाचार्य के विचारों में परिवर्तन आ गया हो और उन्होंने न्याय-व्यवस्था को अपने हाथ में रखना ही हितकर समझा हो। उस स्थिति में पूर्व-स्थापित व्यवस्था को सीधा ही भंग न करके उन्होंने प्रकारान्तर से भंग करना चाहा हो। मुनि मधवा को 'सरपंच' बनाना स्यात् उस प्रकारान्तर का ही प्रथम चरण-न्यास रहा हो। फलस्वरूप पंचों में उभरे असन्तोष को उन्होंने अपने द्वितीय चरण-न्यास का हेतु बनाया हो। कैसे भी हुआ हो, पर इतना सुनिश्चित है कि शासन-व्यवस्था से न्याय-व्यवस्था के पृथक्करण का आदि-स्रोत अपनी गहराई प्राप्त करने से पूर्व ही सूख गया।

8. तीन महोत्सव

विशिष्ट पर्व

जयाचार्य ने अपनी नवीन योजनाओं के अन्तर्गत तेरापंथ संघ को तीन महोत्सव भी प्रदान किये। जैन शासन में प्रायः सर्वत्र मनाये जाने वाले पर्युषण, संवत्सरी, वीर जयन्ती आदि उत्सव तो परम्परा से उसे प्राप्त थे ही, पर ये तीनों महोत्सव तेरापंथ के अपने इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले विशिष्ट पर्व बन गये। उनके नाम क्रमशः ये हैं :

- (1) पट्ट-महोत्सव
- (2) चरम महोत्सव
- (3) मर्यादा महोत्सव

तीनों महोत्सव पृथक्-पृथक् समय में पृथक्-पृथक् प्रेरणाओं से चालू हुए थे।

जयाचार्य मनुष्य के इस स्वभाव से काफी गहराई से परिचित थे कि उसे अपने उत्साह को नवीन रूप देने के लिए, अपने महापुरुषों में निष्ठा उद्वीप्त रखने के लिए और अपने संगठन को गौरवशाली बनाये रखने के लिए पर्व या उत्सव चाहिए। जिस समाज या संघ में अपने उत्सव नहीं होते, वह हतोत्साह होता चला जाता है और एक दिन अपने पूर्वजों की सारी ख्याति को भूलकर अपने अस्तित्व की प्रेरणाओं को भी भूल जाता है। ऐसी स्थिति में वह हीन भावना से ग्रस्त होकर दूसरे किसी भी प्रेरणा-स्रोत की ओर आकृष्ट हो जाता है। उसका मूल लक्ष्य उसकी आंखों से इतना ओझल हो जाता है कि

वह खोजने पर भी इस निश्चय पर नहीं पहुंच पाता कि आखिर वह इस पद्धति को क्यों अपनाए हुए है? जयाचार्य ने तेरापंथ को इन महोत्सवों के रूप में वे पर्व दिये, जिनसे सभे संघ को नवीन प्रेरणाएं और नवीन उत्साह मिलता रहे तथा संघ का प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य को सदैव सामने रखकर आगे बढ़ने के संकल्प से चलता रहे।

(1) पट्ट-महोत्सव

संतों का आग्रह

तीनों महोत्सवों में सबसे पहले 'पट्ट-महोत्सव' का प्रारम्भ हुआ। जयाचार्य मालव-यात्रा करते हुए सं. 1911 के शीतकाल में इन्दौर पधारे। वहां काफी संख्या में साधु-साधियां एकत्रित हुईं। जयाचार्य के पदासीन होने की तिथि माघ पूर्णिमा निकट ही थी। कुछ व्यक्तियों के मन में यह प्रेरणा जागरित हुई कि उस दिन आचार्यश्री के गुणोत्कीर्तन की गीतिकाएं गाई जाएं। संतों ने उस विचार को कार्यरूप देने का अवसर प्रदान करने के लिए जयाचार्य से निवेदन किया और स्वीकृति चाही। संभवतः उस समय जयाचार्य ने उस बात पर काफी संकोच ही अनुभव किया होगा कि उनके सामने उन्हीं के गुणों का उत्कीर्तन हो, पर संतों के भक्ति-विद्वल आग्रह ने उनको मना लिया। उन्होंने प्रयोग के रूप में उसकी स्वीकृति दे दी।

गुणोत्कीर्तन का उत्साह

पूर्णिमा के पूर्व ही संत-सतियों में तथा गृहस्थों में उस दिन के लिए बहुत ही उत्साह देखा गया। अनेक व्यक्तियों ने आचार्यश्री की अभ्यर्थना करने के लिए नई गीतिकाओं का निर्माण किया। पूर्णिमा के दिन उन गीतिकाओं को जब जयाचार्य के समक्ष गाकर प्रस्तुत किया गया तो सभा में उत्साह की एक नई लहर दौड़ गई। भक्ति-भावनाओं से पूरित गीतिकाओं ने श्रोताओं को भक्ति-रस से सराबोर कर दिया।

अनायोजित स्थापना

मनुष्य की मानसिक वृत्तियों के सूक्ष्म पारखी जयाचार्य ने जब श्रोतागण और गायकगण के उत्साह को देखा तो उन्हें अनुभूत हुआ कि ऐसे पर्व अत्यन्त आवश्यक होते हैं। उनकी सूक्ष्म दृष्टि में यह बात भी छिपी नहीं रही कि ऐसे विशिष्ट अवसर साहित्यिक बुद्धि को जागरित करने में भी बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे। यह पर्व तब से प्रतिवर्ष मनाया जाने लगा। किसी पूर्व आयोजना और उद्घोषणा के बिना ही केवल संतों की भक्ति-भावना के आधार पर उसकी स्थापना हुई थी।¹ तब से प्रतिवर्ष माघ पूर्णिमा की बाट देखी जाने लगी। जयाचार्य उसमें एक परीक्षक के रूप में केवल श्रोता बनकर बैठते और वक्ताओं के उत्साह आदि के साथ उनकी प्रतिभा के विकास का भी निरीक्षण करते रहते।

1. ज. सु. 42। 12 :

'त्यां माह सुदि पूनम बहु मुनि श्रमणी, ढालां जोड़ गुणांरी गाई।

ते बरस थी पाट मोच्छव रीत ठहरी, प्रकट बरसो बरसी सुखदाई।'

पूर्णिमा और पट्टोत्सव

पट्टोत्सव जयाचार्य के युग में प्रारम्भ हुआ, अतः उनके जीवनकाल तक वह उन्हीं के पदासीन होने की तिथि माघ-पूर्णिमा को मनाया जाता रहा। उनके पश्चात् मधवागणी सं. 1938 भाद्र शुक्ला 2 को पदासीन हुए। उनके युग में उन्हीं की पदासीन-तिथि को पट्टोत्सव मनाया जाना उपयुक्त होता, परन्तु उन्होंने स्वयं को गौण करके माघ-पूर्णिमा को ही पट्टोत्सव के रूप में महत्व दिया। अपने अन्तिम वर्ष सं. 1949 तक उन्होंने वही क्रम चालू रखा। उस वर्ष वे रुण थे, अतः अशक्त हो गये थे, फिर भी माघ-पूर्णिमा के अवसर पर नई गीतिका बनाकर सभा में उन्होंने व्याख्या करके सुनाई।¹ संभव है उन्होंने अपने धर्मगुरु जयाचार्य को महत्व देने के लिए ऐसा किया। यह भी हो सकता है कि अपने लिए उत्सव मनाने में उन्हें संकोच का अनुभव हुआ। फिर भी मुनिजनों के आग्रह पर यदा-कदा भाद्र शुक्ला 2 को भी गीतिकाएं गाई जाती थीं, परन्तु उन्होंने उस तिथि को पट्टोत्सव के रूप में कभी स्थिर नहीं होने दिया।

वर्तमान से संबद्ध

मधवागणी के युग में पट्टोत्सव की तिथि भूतकाल से संबद्ध रही। उनके पश्चात् सं. 1949 चैत्र कृष्ण 8 को माणकगणी पदासीन हुए। प्रथम वर्ष तो उन्होंने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्य मधवागणी की पदासीन तिथि भाद्र शुक्ला 2 को ही पट्टोत्सव मनाया,² परन्तु उसके पश्चात् प्रतिवर्ष वह चैत्र कृष्ण 8 को मनाया जाने लगा। फिर तो यह परम्परा ही स्थिर हो गई कि वर्तमान आचार्य जिस दिन पदासीन हुए हों, उसी तिथि को प्रतिवर्ष पट्टोत्सव मनाया जाए। इस क्रम के पश्चात् पट्टोत्सव की कोई एक तिथि तो निर्णीत नहीं रह पाई, परन्तु वह वर्तमान से संबद्ध हो जाने के कारण एक नये उल्लास का स्रोत बन गया।

सम्मिलित पट्टोत्सव

जयाचार्य के समय में सभी पूर्वाचार्यों का एक सम्मिलित पट्टोत्सव मनाने का क्रम भी सं. 1921 में प्रारम्भ हुआ था। उसके लिए माघ शुक्ला सप्तमी का दिन निश्चित किया गया था। वही दिन स्वामीजी द्वारा निर्मित अन्तिम मर्यादा का था, अतः मर्यादा-महोत्सव के लिए भी निश्चित किया गया था। कई वर्षों तक वे दोनों महोत्सव सम्मिलित चलते रहे। कालान्तर में मर्यादा-महोत्सव प्रचलित रहा और सम्मिलित पट्टोत्सव विस्मृति में चला गया।³

1. म. सु. 24112,13 :

‘सातम मोच्छव घणी बार विराज्या, अर्थं फरमावता गणिराय।

ऊपर बखाण में पधारता फुन, पूनम पट्टोच्छव ढाल बणाय॥

पूनम पूठे शक्ति कम थई, सूर वीरता अधिक सवाय॥

सीख सुमति गणि आपता बहु, धर्यां शिव सुख पाय॥’

2. माणकगणी द्वारा सं. 1950 भाद्र शुक्ला 2 को रचित पट्टोत्सव की एक गीतिका उपलब्ध है।

3. इसका विशेष विवरण आगे मर्यादा-महोत्सव के वर्णन में देखें।

(2) चरम-महोत्सव

संभावित उद्गम

‘चरम महोत्सव’ स्वामी भीखणजी के स्मृति-दिवस के रूप में प्रारम्भ किया गया। उसका संभावित उद्गमकाल सं. 1914 भाद्र शुक्ला 13 है। जयाचार्य का वह चतुर्मास बीदासर में था, अतः उस महोत्सव का प्रारम्भ वर्ही से हुआ। यह स्मृति-दिवस स्वामीजी के जीवन की चरम तिथि को मनाया जाता है, अतः इसका नाम ‘चरम महोत्सव’ रखा गया।

यद्यपि उपर्युक्त महोत्सव के उद्गम स्थल तथा समय का उल्लेख कहीं नहीं मिलता, फिर भी ‘जय-सुजस’ में जहां जयाचार्य की साहित्यिक रचनाओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है, वहां बतलाया गया है कि उन्होंने चरम महोत्सव के उपलक्ष्य में चौबीस ढालों की रचना की थी।¹ इसी कथन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रति-महोत्सव एक ढाल जोड़ी गई हो तो यह महोत्सव उपर्युक्त संवत् और स्थान में ही प्रारम्भ हुआ सिद्ध होता है।

शाश्वत प्रेरणा-स्रोत

जयाचार्य ने चरम महोत्सव का प्रारम्भ करके वस्तुतः स्वामीजी के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा का द्योतन किया। वे चाहते थे कि स्वामीजी के जीवन से प्रत्येक साधु प्रतिवर्ष नया संबल ग्रहण करे और अपने प्रथम पुरुष को कृतज्ञताभरी श्रद्धांजलि अर्पित करे। वे जानते थे कि यह स्मृति-दिवस सारे संघ को कष्ट-सहिष्णुता और सत्य-परायणता का पाठ पढ़ाता रहेगा। समाज की अभिवृद्धि और उन्नति के लिए ये दोनों ही तत्त्व अत्यन्त अपेक्षणीय होते हैं। स्वामीजी का सारा जीवन इन दो आधारभूत स्तम्भों पर ही टिका हुआ था। सुख-शीलता और सत्य-पराङ्मुखता आ जाने के पश्चात् किसी भी संघ की अभिवृद्धि हास में परिणत होने लगती है। जयाचार्य अपने संघ को उससे सदा के लिए बचाना चाहते थे, अतः स्वामीजी की जीवन-स्मृति को उन्होंने शाश्वत-प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्थापित किया। तेरापंथ को ‘चरम महोत्सव’ के द्वारा जो प्रेरणाएं प्राप्त होती रही हैं, निश्चित ही वे उसे प्रगति के पथ पर आगे बढ़ाती रही हैं।

(3) मर्यादा-महोत्सव

मर्यादाओं का पर्व

‘मर्यादा-महोत्सव’ तेरापंथ का सबसे बड़ा महोत्सव है। इस पर्व को तेरापंथ की संघीय एकता को उज्जीवित रखने का मूल कहा जा सकता है। अपने प्रारम्भ-काल

1. ज. सु. 66। 24 :

‘भाद्रपद तेरस नां मोच्छव तणी, जोड़ी ढाल सखर चौबीस॥’

जयाचार्य संवत् 1938 भाद्र कृष्णा 12 को दिवंगत हुए, अतः वे अपने जीवन-काल में 1937 तक ही चरम महोत्सव मना सके। प्रथम महोत्सव सं. 1914 में होने पर 1937 तक प्रतिवर्ष एक के हिसाब से चौबीस ढालें पूरी होती हैं।

402 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
के साधारण रूप से बढ़ता हुआ यह पर्व आज यहाँ की प्रायः समस्त सांविधानिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक प्रवृत्तियों का प्रेरणा-केन्द्र बन गया है। यह तेरापंथ की प्रत्येक प्रगति का एक महान् साक्षी ही नहीं, किन्तु सप्ता भी है।

मर्यादा-महोत्सव का नाम आज के युग में कुछ विचित्र-सा लग सकता है, क्योंकि चारों ओर के वातावरण में मर्यादाओं के विघटन की आवाज ही अधिक सुनाई दे रही है। मर्यादा-निर्माण की कहीं से कोई क्षीण आवाज उठती भी है तो वह वहीं दबकर रह जाती है। ऐसी स्थिति में यदि कहीं मर्यादा को ही लक्ष्य बनाकर कोई पर्व मनाया जाता है तो वह अपने आप में एक महत्वपूर्ण बात ही कही जानी चाहिए। किसी भी धर्मसंघ, समाज या राष्ट्र में अपने संविधान के उपलक्ष्य में शायद ही कहीं कोई पर्व मनाया जाता हो। तेरापंथ ही एक ऐसा संगठन है जो अपनी 'मर्यादाओं' को इतने गौरवपूर्ण दृष्टिकोण से देखता है और उसके लिए एक 'पर्व' मनाता है।

नामकरण का आधार

स्वामी भीखण्डजी ने तेरापंथ के लिए लिखित रूप में सर्वप्रथम सं. 1832 मार्गशीर्ष कृष्ण 7 को मर्यादाएं बनाई। वह दिन वस्तुतः उसके संविधान का प्रथम दिन बन गया। उसके पश्चात् भी धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार अनेक मर्यादाएं बनती रहीं। स्वामीजी द्वारा निर्मित अन्तिम मर्यादा सं. 1859 माघ शुक्ला सप्तमी की है, अतः उसी दिन को संविधान की पूर्ति का दिन समझना चाहिए।

स्वामीजी ने धर्मसंघ की एकता और पवित्रता बनाये रखने के लिए कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में जो विधि-निषेध की सीमा स्थापित की, उसे उन्होंने 'मर्यादा' नाम से अभिहित किया। जयाचार्य ने उसी अर्थ-गौरवपूर्ण शब्द के आधार पर इस पर्व का 'मर्यादा-महोत्सव' नामकरण किया। उसके लिए उन्होंने माघ शुक्ला सप्तमी का ही दिन चुना, क्योंकि वही संविधान की सम्पन्नता का दिन था। माघ महीने में मनाये जाने के कारण उसका दूसरा नाम 'माघ-महोत्सव' भी प्रचलित है।

बालोतरा में

मर्यादा-महोत्सव का प्रारम्भ सं. 1921 माघ शुक्ला सप्तमी को बालोतरा में हुआ। उस समय जयाचार्य के अन्तःकरण में सम्भवतः स्वामीजी की मर्यादाओं के उपलक्ष्य में प्रतिवर्ष महोत्सव मनाने की कल्पना परिपाक पा रही थी कि वहाँ उसके व्यक्त होने के लिए एक उपयुक्त वातावरण भी बन गया। वे सं. 1921 के शीतकाल में बालोतरा पधारे। कुछ दिन वहाँ विराजकर पचपदरा पधारने का निश्चय था। माघ पूर्णिमा का पट्ट-महोत्सव वहाँ मनाना घोषित हो चुका था।

बालोतरा-निवासियों की इच्छा अपने यहाँ पट्ट-महोत्सव कराने की थी। वह उग्र हुई तो आग्रह बनकर सामने आई। जयाचार्य के सामने एक समस्या हो गई कि उनको किस प्रकार से समझाया जाए? अन्ततः बालोतरा-वासियों की भक्ति ने जयाचार्य के

मन पर विजय पाई। उन्होंने माघ-पूर्णिमा के पट्ट-महोत्सव को तो पचपदरा में करने का ही निश्चय रखा, परन्तु उसके स्थान पर बालोतरा में तेरापंथ की मर्यादाओं तथा सब पूर्वाचार्यों के पट्ट-महोत्सवों के प्रतीक स्वरूप सम्मिलित रूप से एक महोत्सव मनाने की घोषणा कर दी। वह मर्यादा-महोत्सव के विधिवत् प्रारम्भ की घोषणा कही जा सकती है।

पहले भी

बालोतरा में मनाये गये मर्यादा-महोत्सव से पूर्व भी माघ महीने में साधु-साधिकाओं एकत्रित हुआ करती थीं। जयाचार्य उन्हें शिक्षाएं भी दिया करते थे। गुणोत्कीर्तन रूप में विविध गीतिकाएं भी गाई जाती थीं। यहां तक कि माघ-पूर्णिमा को मनाये जाने वाले जयाचार्य के पट्टोत्सव को भी मर्यादा-महोत्सव कह दिया जाता था। इससे इतना तो स्पष्ट ध्वनित हो ही जाता है कि सप्तमी तिथि का निर्धारण होने से पूर्व भी मर्यादा-महोत्सव की भावना और नाम जन-मानस में उत्तर चुका था। मर्यादा-पुरुष स्वामीजी तथा व्यवस्था-पुरुष जयाचार्य के विषय में कोई भी कार्यक्रम क्यों न हो, मर्यादा की बात वहां सर्वाधिक मुखर रहा करती थी। यह स्वाभाविक भी था। इसीलिए पट्ट-महोत्सव और मर्यादा-महोत्सव, ये दोनों नाम उस समय एकार्थक की तरह चलते थे। अपनी सुविधा एवं आवश्यकता के अनुसार किसी भी एक शब्द का प्रयोग किया जाता रहा था।

सं. 1920 के माघ मास में जयाचार्य कसूम्बी पधारे। कई दिन विराजने के पश्चात् वहां से माघ शुक्ला 13 को लाडनूं पधार गये। तीसरे दिन माघ-पूर्णिमा को वहां पट्ट-महोत्सव मनाया गया।¹ उस अवसर पर मुनि जीवराजजी द्वारा गाई गई गीतिका² का अग्रोक्त अन्तिम पद्य दोनों शब्दों के यथारुचि प्रयोग की मान्यता का साक्षी है :

संवत् उगाणीसै वर्ष, बीसा के माह महिने।
मर्यादा-मोच्छव श्रीपूज, लाडनूं थट लहिने॥
थट लहिने जी आनन्द गहिने।
कहै जीव ऋषि कर जोड़ हजूर हाजर रहिने॥

प्रथम महोत्सव

बालोतरा से पहले जो मर्यादा-महोत्सव मनाये गये थे, वे प्रायोगिक ही थे। विधिवत् तथा निर्णीत घोषणा के अनुसार एक परम्परा डालने की दृष्टि से तो बालोतरा का मर्यादा-महोत्सव ही मनाया गया था, अतः प्रथम महोत्सव वही गिना जाता है। इस महत्वपूर्ण पर्व की स्थापना में जयाचार्य की दूरदर्शनी दृष्टि को तो मूल श्रेय प्राप्त है ही, पर साथ ही बालोतरा-निवासी श्रावकों का आग्रह भी उसमें कारणभूत बना था, अतः कुछ उनका भी श्रेयोभाग मान लेना अनुचित नहीं होगा। उस प्रथम मर्यादा-महोत्सव के

1. (क) जय-सुजस, 48। दो. 1, पद्य 1।

(ख) लघु रास, 148, 153।

2. देखें—जय कीर्ति गाथा, पृ. 238, 239।

अवसर पर आस-पास के गांवों से बहुत लोग आए थे। सहस्रों की संख्या में उपस्थित जनता में बड़े उल्लासपूर्ण वातावरण में उसकी सम्पन्नता हुई। उस प्रथम मर्यादा-महोत्सव से लेकर वर्तमान के मर्यादा-महोत्सवों तक का मनन करने से पता चलता है कि उसमें प्रतिवर्ष विविध प्रकार से विकास होता रहा है। प्रारम्भ में यद्यपि वह माघ-पूर्णिमा के पट्ट-महोत्सव के बदले में आयोजित किया गया था¹, परन्तु बाद में अन्य सब महोत्सवों से उसका महत्व बढ़कर हो गया।

पट्टोत्सव का प्रतीक

जयाचार्य द्वारा प्रारम्भ में मर्यादा-महोत्सव की तिथि को पूर्वाचार्यों के पट्ट-महोत्सव का प्रतीक भी माना गया था। पर वह भावना दो वर्षों के पश्चात् ही गौण या स्थगित हो गई मालूम होती है।² सम्भवतः एक तिथि दो विभिन्न उत्सवों को सम्मिलित रूप में मनाने के लिए पर्याप्त नहीं हो पाई। यह बात प्रायः अप्रसिद्ध ही है कि प्रारम्भ में मर्यादा-महोत्सव और पूर्वाचार्यों के पट्ट-महोत्सवों को सम्मिलित रूप से मनाने के लिए एक ही दिन निश्चित किया गया था। ‘जय सुजस’ में भी इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है, परन्तु जयाचार्य द्वारा विरचित महोत्सवों की गीतिकाओं से यह सारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। प्रथम महोत्सव के अवसर पर गायी गई गीतिका में उन्होंने कहा है :

स्वाम चरम मर्यादा गणि-पट-मोच्छव मंगल माल।
उगणीसै इकवीसै जोड़ी, जयजश हरस विशाल॥³

प्रथम वर्ष की ढाल में उन्होंने केवल यह संकेतमात्र ही किया है कि स्वामीजी की चरम मर्यादा और आचार्यों के पट्ट-महोत्सवों के रूप में यह मंगल दिन मनाया गया पर इससे अगले वर्ष की ढाल में, जहां वे यह खुलासा करते हैं कि ‘मर्यादा-महोत्सव’ और ‘गणिपट्ट-महोत्सव’ के लिए माघ महीने और सप्तमी तिथि को ही क्यों चुना गया, वहां एकदम स्पष्ट हो जाता है कि दोनों महोत्सव सम्मिलित रूप में ही चालू किये गये थे। वे कहते हैं :

इम गुणसठै माह सुद सप्तमी, बांधी ए मर्याद।
अष्टादश साठै भाद्रवै, अनशन भाव समाध।।
संवत् अठारै अठंतरै, माह बदि आठम ताय।।
भारीमाल अनशन भलो, ए द्वितीय पाट सुखदाय।।

1. ज. सु. 5017 :

- ‘इकवीस बालोतरे, महासित सातम जाण।
मर्यादा-महोत्सव करी, ते थई यूनम मोच्छव-स्थान।।’
2. जयाचार्यकृत महोत्सवों की ढालों में केवल सं. 1921 और 22 की ढालों में ही उक्त दोनों महोत्सवों का सम्मिलित उल्लेख है, आगे की ढालों में केवल ‘मर्यादा-महोत्सव’ का उल्लेख किया गया है, अतः अनुमानित है कि सम्मिलित-महोत्सव का सिलसिला दो वर्ष पश्चात् ही बन्द हो गया।
3. ज. कृ. म. ढा. 8।13।

उगणीसै आठै समै, माह बदि चौदस सार।
 ऋषिराय परलोक पधारिया, ए तृतीय पाट गुणधार॥
 तास पसाये संपदा जयजश करण सुपाय।
 ते सघला गणपति तणां, पट मोच्छव सुखदाय॥
 पाटानुपाट परवरा, रहिवो इक गुरु आण।
 गुणसठै माह सुद सप्तमी, बले विविध मर्यादि पिण्डाण॥
 तिण कारण मंगलीक ए, उत्तम दिवस उदार।
 मर्यादा नै गणि-पट तणो, मोच्छव मंगलाचार॥¹

उपर्युक्त पद्यों का मनन करने पर जाना जा सकता है कि उस समय तक के सभी पूर्वाचार्यों का माघ मास से कोई न कोई संबद्ध रहा था। स्वामीजी ने उसमें अन्तिम मर्यादा का निर्माण किया। आचार्य भारमलजी उसी महीने में दिवंगत हुए। ऋषिराय का पद्मारोहण और देहावसान, दोनों उसी महीने में हुए। इस प्रकार सभी पूर्वाचार्यों से संबद्ध होने के कारण उसे उन सबके पट्टोत्सवों का प्रतीक बनाया जाना उपयुक्त ही था। सप्तमी तिथि का चुनाव मर्यादाओं की परिपूर्णता के उपलक्ष्य में किया गया। जयाचार्य कहते हैं कि यह दिन तेरापंथ के लिए उत्तम और मंगलमय है। इसीलिए इसे ‘मर्यादा-महोत्सव’ और ‘पट्ट-महोत्सव’ के लिए चुना गया है।

‘सारणा-वारणा’

मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर प्रायः समस्त साधु-साध्वीगण एकत्रित हो जाते हैं। वार्धक्य, रोग या अन्य किसी कारण से अपवादस्वरूप ही कुछ सिंघाड़े अवशिष्ट रहते हैं। महोत्सव के लिए प्रतिवर्ष कोई एक स्थान आचार्य द्वारा घोषित कर दिया जाता है। सभी सिंघाड़े चतुर्मासि की समाप्ति पर उसी दिशा में विहार कर देते हैं। प्रायः मार्गशीर्ष का महीना उनके आने का और फाल्गुन का महीना जाने का रहता है। पौष और माघ-ये दो महीने आचार्यश्री की सेवा में रहकर विविध अनुभव अर्जित करने के होते हैं। इस अवसर पर आचार्यश्री स्वयं यथाक्रम से प्रत्येक सिंघाड़े को अपने पास बुलाते हैं और संघ की समुचित ‘सारणा-वारणा’ के लिए शेषकाल तथा चतुर्मास में किये गये कार्यों का विवरण पूछते हैं। पठन, पाठन और लेखन आदि की प्रगति से भी अवगत होते हैं। पारस्परिक-व्यवहार, मर्यादा-पालन और आचार-विचार संबंधी पृच्छा विशेष रूप से की जाती है। संघ को निर्दोष रखने के लिए यह सब पूछताछ अत्यन्त आवश्यक होती है। जिन व्यक्तियों में खामियां पाई जाती हैं, उन्हें यथानुरूप प्रायश्चित्त देकर विशुद्ध किया जाता है और अपने क्षेत्र में विशेष उपकार करने वालों को सम्मान देकर उत्साह बढ़ाया जाता है।

1. ज. कृ. म. ढा. 10129 से 34।

विचार-मंथन

मर्यादा-महोत्सव के दिनों में अनेक बार आचार्यश्री की शिक्षाओं का कार्यक्रम रहता है। सब साधु-साधियों की उपस्थिति में वे आचार-विचार की पवित्रता, मर्यादाओं के पालन में दृढ़ता तथा अन्य किसी सामयिक विषय पर प्रकाश डालते हैं और आवश्यक प्रेरणाएं देते हैं। उसके अतिरिक्त कभी-कभी साहित्यिक या शास्त्रीय विषयों पर विद्वान् संतों के भाषण होते हैं। कविगोष्ठी, विचारगोष्ठी, प्रश्नोत्तर, समस्यापूर्ति, निबंध-प्रतियोगिता आदि के कार्यक्रम भी रखे जाते हैं। आचार्यश्री के द्वारा समय-समय पर आन्तरिक गोष्ठियां भी बुलाई जाती हैं। उनमें संघ की उन्नति के लिए नये आयामों, संघ के समुख उपस्थित समस्याओं के समाधानों और मर्यादाओं तथा व्यवस्थाओं के नवोन्मेषणों के विषय में विचार-मंथन चलता है।

विश्वसनीयता की शपथ

महोत्सव की तिथि के आस-पास ही किसी एक दिन 'बड़ी हाजरी' होती है। उसमें तेरापंथ की नियमावली को आचार्यश्री व्याख्या करके सुनाते हैं। उसके पश्चात् साधु-साध्वी-वर्ग दीक्षा-क्रम से पंक्तिबद्ध खड़ा होता है और फिर समवेत स्वर से संघ के प्रति विश्वसनीयता की शपथ (लेखपत्र) को दुहराता है। उस कार्यक्रम में जनता को जहां नियमावली सुनने का आकर्षण होता है वहां साधु-साधियों की लंबी पंक्ति तथा शपथ-ग्रहण का दृश्य देखने का भी अपना एक आकर्षण होता है।

सप्तमी के दिन

मर्यादा-महोत्सव का मुख्य दिन सप्तमी का होता है। उस दिन मध्याह्न में चारों तीर्थ बड़े उल्लासमय वातावरण में एकत्रित होते हैं। आचार्यश्री उच्च पट्ट पर विराजमान होते हैं और 'ण्मुक्कार-मंत्र' का मेघ-मन्द्र स्वर में उच्चारण करते हुए कार्यक्रम का प्रारम्भ करते हैं। उसके पश्चात् संघ, आचार्य तथा मर्यादाओं के विषय में प्रकाश डालने वाली और भक्ति की अभिव्यक्ति करने वाली कविताओं तथा गीतिकाओं का क्रम प्रारंभ हो जाता है। कुछ चुने हुए विषयों पर चुने हुए व्यक्तियों के भाषण भी होते हैं। आचार्यश्री उस अवसर के लिए निमित्त अपनी नवीन गीतिका गाकर सुनाते हैं, तथा अपने भाषण में तेरापंथ की शासन-प्रणाली का जनता को दिग्दर्शन करते हैं। उसी के अन्तर्गत स्वामी भीखणजी के हाथ से लिखा हुआ अन्तिम मर्यादा-पत्र, जिसके आधार पर मर्यादा-महोत्सव मनाया जाना चालू हुआ, जनता को दिखाया जाता है तथा उस पर लिखी हुई मर्यादाओं को पढ़कर सुनाया जाता है।

चतुर्मासों की घोषणा

मर्यादा-महोत्सव के अन्तर्गत एक ऐसा भी कार्यक्रम होता है, जिसकी तुलना 'लॉटरी' खुलने से की जाती है। साधु-साधियों के लिए ही नहीं श्रावक-श्राविकाओं के लिए भी उसका आकर्षण कम नहीं है। प्रायः सभी उत्कंठापूर्वक उसकी प्रतीक्षा करते रहते

हैं। वह कार्य है—चतुर्मासों की घोषणा। आचार्यश्री उस समय चातुर्मासिक क्षेत्रों के लिए साधु-साधियों की नियुक्ति करते हैं। वे जिस अग्रणी साधु तथा साधी का नामोच्चारण करते हैं, वह व्यक्ति तत्काल अपने स्थान पर खड़ा हो जाता है और करबद्ध उनके आदेश की प्रतीक्षा करता है। किसी एक ग्राम या नगर का नामोल्लेख करते हुए आचार्यश्री तब उसे वहां चतुर्मास करने का आदेश देते हैं। वह व्यक्ति उस आदेश को शिरोधार्य करता हुआ वहीं से उन्हें वन्दन करता है।

उस अवसर पर सहस्रों की संख्या में दूर-दूर से आये हुए लोग उपस्थित होते हैं। जब वे अपने ग्राम के चतुर्मास की घोषणा सुनते हैं, तब बड़े उल्लसित भाव से जयनाद करते हैं। अग्रणी तथा स्थान की नियुक्ति के साथ वहां की जनता तथा निर्दिष्ट अग्रणी के मानस पर उभरने वाले तृप्ति के भाव वस्तुतः तेरापंथ की शासन-प्रणाली की उच्चता के द्योतक होते हैं। आचार्यश्री के द्वारा उद्घोषणा करने से पूर्व प्रायः किसी को यह पता तक नहीं होता कि इस वर्ष उन्हें किधर विहार करना होगा। श्रावकों के लिए यह नियम है कि वे किसी साधु या साधी-विशेष का नाम लेकर अपने वहां चतुर्मास कराने की प्रार्थना न करें। इसी प्रकार साधु-साधियों के लिए भी यह नियम है कि वे किसी क्षेत्र-विशेष का नाम लेकर अपने चतुर्मास की प्रार्थना न करें। इसलिए जिसको जहां जाने का आदेश दिया जाता है, वह वहां के लिए अपने आपको सदैव प्रस्तुत ही रखता है।

चतुर्मासों की घोषणा का कार्यक्रम प्रायः वसन्त-पंचमी के दिन से प्रारम्भ हो जाता है। उस दिन सर्वप्रथम लाडनू में स्थित वृद्ध साधियों की सेवा के लिए नियुक्ति की जाती है। उसके पश्चात् मुख्यतः मर्यादा-महोत्सव के दिन से ही चतुर्मासों की घोषणाओं का सिलसिला पुनः प्रारम्भ होता है। वह फिर अनेक दिनों तक प्रातः या मध्याह्न में महोत्सव के पूरक कार्यक्रमों के साथ-साथ चलता रहता है।

महोत्सव के पश्चात्

मर्यादा-महोत्सव संपन्न होने के पश्चात् शीघ्र ही सिंघाड़ों का विहार होना प्रारम्भ हो जाता है। विहार से पूर्व प्रत्येक अग्रणी को एक ‘पर्ची’ दी जाती है, उसमें विहार-क्षेत्र के ग्राम लिखे होते हैं। उस पर्ची में निर्धारित ग्राम-मंडल को ‘चोखला’ कहा जाता है। प्रत्येक सिंघाड़ शेषकाल में अपने-अपने ‘चोखले’ के ग्रामों में विहार करता है और फिर चतुर्मास के लिए निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच जाता है। इस क्रम से प्रायः सभी क्षेत्रों की प्रतिवर्ष संभाल होती रहती है।

संघर्षों के घरे

प्रत्येक मोड़ संघर्षमय

तेरापंथ के प्रथम तीन आचार्यों का जीवन संघीय दृष्टिकोण से आन्तरिक तथा बाह्य-दोनों ही प्रकार के संघर्षों का सामना करते हुए बीता। लगभग एक शताब्दी तक उन्हें एक साथ दो-दो मोर्चे संभालने पड़े। जयाचार्य का युग आते-आते बाह्य संघर्षों का वेग तो प्रायः शिथिल हो गया किन्तु आन्तरिक संघर्षों का वेग काफी तेज रहा।

जयाचार्य एक समर्थ आचार्य थे। संघर्ष के प्रत्येक उतार-चढ़ाव का उन्होंने सफलतापूर्वक सामना किया। जीवन के प्रत्येक मोड़ पर उन्हें संघर्षों के अनेक घरे मिले। उन्होंने उन सबको बड़ी वीरता के साथ धूलिसात् कर दिया। प्रत्येक परिस्थिति से लोहा लेने के कारण वे उस क्षेत्र के एक निष्पात योद्धा बन गये। बाल्यकाल में उन्होंने मृत्यु से संघर्ष करके ही जीवन को जीता था। मुनि बनने को उद्यत हुए तब कनक और कामिनी के प्रलोभन ने उन्हें बांधना चाहा, परन्तु उस भावनात्मक संघर्ष को उन्होंने अनुत्थानोपहत कर दिया और उसी क्षण आगे बढ़े गये।

युवाचार्य-पद की प्राप्ति में भी जयाचार्य को बाधाओं की अनेक घाटियां पार करनी पड़ीं। वह समय ऐसा था जब ऋषिराय के मन पर मुनि अमीचन्दजी छाये हुए थे। साधु-साधियों में भी अनेक ऐसे थे जो मुनि जीतमलजी की प्रखर चिन्तन-शक्ति तथा तत्काल निर्णायकता से घबराते थे। उन्हें भय था कि ऐसा व्यक्ति आचार्य बनेगा तो उनका महत्व समाप्त हो जाएगा। वे चाहते थे कि कोई दुलमुल नीतिवाला ही आचार्य पद पर आए।

मुनि अमीचन्दजी की प्रकृति में तुच्छता थी। उन्होंने अपने प्रवंचनापूर्ण कार्यों से ऋषिराय को अनेक बार परेशान किया। अन्ततः उनके अविनयपूर्ण व्यवहारों से आचार्यश्री के मन में एक निर्णायक परिवर्तन आया। उन्होंने उसी वर्ष मुनि जीतमलजी को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। वे युवाचार्य बने। परिस्थितियों ने उनको पूर्ण सहयोग दिया। विरोध के बीजों को कहीं से पोष नहीं मिल पाया, अतः वे पनप नहीं सके, परन्तु उनका अस्तित्व बना रहा।

जयाचार्य को आचार्य-अवस्था में भी अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा। कुछ मुनियों की योजना थी कि जब वे आचार्यपद पर आसीन हों तब उनके सम्मुख अमुक-

अमुक समस्याएं रखी जाएं और उनका समाधान मांगा जाए। कई मुनि चाहते थे कि अमुक-अमुक मांगें स्वीकृत होने पर ही उन्हें आचार्य-पद का उत्तरीय धारण करवाया जाए। परन्तु परिस्थितियां वहां भी जयाचार्य की सहयोगिनी बनीं। वे थली में आचार्य-पद पर आसीन हुए उस समय समस्याएं उठाने तथा मांगें प्रस्तुत करने वाले मुनि मेवाड़ में थे। इसलिए संघर्ष के स्फुलिंगों पर फिर कुछ समय के लिए अवसराभाव की राख पड़ गई।

असंतोष के कारण

जयाचार्य ने संघ का भार संभालते ही व्यवस्थाओं में अनेक परिवर्तन किये। उन्होंने पुस्तकों का सामाजिकीकरण किया। साधु-साध्वियों के भोजन में संविभाग स्थापित किया। श्रम का समान वितरण किया। इन सभी कार्यों ने भीतर ही भीतर उत्ताप बढ़ाने में सहयोग दिया। उन परिवर्तनों से नई पीढ़ी के लिए तो सुविधा और सुव्यवस्था होती थी, परन्तु पुरानी पीढ़ी वालों को वे एक प्रकार के नये झाँझट ही प्रतीत हुए। दीक्षा लेते ही जिन सेवा-कार्यों को करके वे सदा के लिए निवृत्त हो चुके थे, उन्हीं को फिर से आजीवन बारी-क्रम से करना उन्हें न्याय-संगत नहीं लगा।

जयाचार्य यथास्थिति को वहीं तक महत्व देते थे जहां तक वह मूल गुणों की सुरक्षा के लिए सहयोगी होती। प्रगति में बाधक या असाधक बनने वाली स्थितियों को बदलने में उन्होंने कभी संकोच नहीं किया। व्यवस्थाओं के समान ही उन्होंने मर्यादाओं एवं परम्पराओं में भी अनेक परिवर्तन किये। जो मुनि उन्हें हजम नहीं कर पाये वे असंतुलित हो गये। अनेक वर्षों तक उनका असंतोष भीतर ही भीतर सुलगता रहा, फिर विभिन्न निमित्तों से समय-समय पर विस्फुटित होने लगा।

स्वयं की दुर्बलता, मतभेद, महत्वाकांक्षा तथा स्वार्थ की अपूर्ति आदि अनेक कारण हैं, जो व्यक्ति को असंतुष्ट बनाते हैं। व्यक्ति बहुधा कर्तव्यों के प्रति उतना सजग नहीं होता, जितना अधिकारों के प्रति होता है। इसीलिए असन्तोष को विरोध या संघर्ष में बदलते देर नहीं लगती। बड़े संघ में सैकड़ों साधु-साध्वियां होते हैं। उन सबकी विभिन्न आवश्यकताएं तथा आकांक्षाएं होती हैं। उनमें धैर्य रखने वाले व्यक्ति ही सामूहिकता के साथ सामंजस्य बिठाने में सफल होते हैं। जिनमें अपेक्षित धैर्य का अभाव होता है वे आत्मानुशासन खो देते हैं। ऐसे व्यक्ति संघ के लिए जितने अहितकर होते हैं, उससे कहीं अधिक स्वयं के लिए अहितकर होते हैं। जयाचार्य के शासन-काल में अनेक अधैर्यवान् व्यक्तियों ने संघर्ष का मार्ग अपनाया।

छोग-हरख-मधराज

तेरापंथ में भावी शास्त्रा की नियुक्ति आचार्य ही करते हैं। इसलिए प्रत्येक आचार्य को इस दायित्व की पूर्ति के लिए अत्यन्त जागरूक और सावधान रहना होता है। वे प्रत्येक योग्य मुनि पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं और उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं को निरखते-परखते रहते हैं। जयाचार्य ने भी ऐसा किया। उस समय जिन तीन व्यक्तियों

410 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
ने उनकी दृष्टि को विशेष रूप से अपनी ओर आकृष्ट किया, वे थे मुनि छोगजी, मुनि
हरखचंदजी और मुनि मधराजजी।

उत्तराधिकारी के विषय में लोगों के मन में भी प्रायः जिज्ञासा उभरती रहती है।
अनेक व्यक्ति अपनी स्वतंत्र कल्पनाएं दौड़ाकर तदविषयक समाधान पाने का प्रयत्न करते
हैं, तो अनेक स्वयं अधिकारी तक पहुंच कर अपनी जिज्ञासा को समाहित करना चाहते
हैं। जयाचार्य से यह प्रश्न अनेक बार पूछा जाने लगा कि आप अपना उत्तराधिकारी किसे
नियुक्त करेंगे?

जयाचार्य बहुधा फरमाते—‘छोग, हरख और मधराज, इन तीनों में से किसी एक को
नियुक्त करने का विचार है।’¹

भावी आचार्य के लिए तीन नामों की घोषणा करने के पीछे जयाचार्य की क्या
भावना थी, कह पाना कठिन है, परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि आचार्य भारमलजी द्वारा दो
नाम लिखाए जाने पर उन्होंने जो प्रतिवादात्मक निवेदन किया था, उससे यह मेल नहीं
खाती। यह घोषणा नहीं होती तो शायद मुनि छोगजी के मन की महत्वाकांक्षा इतना तीव्र
रूप नहीं लेती, जितना कि उसने लिया। शायद इसे ही नियति कहा जाता है।

मधवा का उन्नयन

जयाचार्य ने तीनों मुनियों की योग्यता को अपनी कसौटी पर कसा। उनमें मुनि
मधराजजी को सर्वाधिक योग्य पाया। उन्होंने तब उनको अपनी आवश्यकता के अनुरूप
ढालना प्रारंभ कर दिया। मधवा बालवय में थे और स्वयं जयाचार्य के द्वारा ही दीक्षित
किये गये थे। आचार्यश्री की सन्निधि में रहकर ही उन्होंने विद्याभ्यास किया। विनयशीलता
और समर्पण-भाव के बल पर वे उनके पूर्ण विश्वास-भाजन बने। आचार्यश्री ने समय-
समय पर उन्हें आगे बढ़ाने तथा विशेष योग्यता अर्जित करने का अवसर प्रदान किया।

संघीय दृष्टि से गौरव प्रदान करने के लिए भी जयाचार्य ने मुनि मधवा को शीघ्र ही
आगे बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया, अग्रोक्त सभी घटनाएं उसी का निर्दर्शन कही जा सकती हैं :

सं. 1911 में मात्र चौदह वर्ष की अवस्था में वे ‘सरपंच’ बना दिये गये।

सं. 1912 में खैरवा में जयाचार्य की आंखों में कुछ गड़बड़ हुई। वे औषधोपचार
कराने लगे। उस समय परिषद् में मर्यादा-पत्र-वाचन (हाजरी) का भार उन्होंने मुनि मधवा
को सौंपा।

सं. 1919 के ज्येष्ठ मास में उन्हें अनेक प्रकार की छूटें देकर सम्मानित किया गया।

1. हरख चोढ़ालियो, 3। दोहा 5, 6 :

‘जन बहु पूछै जय भणी, सखरो युव पद साव।
किण मुनि नै देवा तणा, आप तणा छै भाव॥।
तब जय गणपति उच्चरै, छोग हरख मधराव।
त्रिहुं मैं युवपद इक भणी, थापण रा छै भाव॥’

चूरू में सं. 1920 के श्रावण मास में पट्ट पर बैठने का निर्देश देकर उनका गौरव बढ़ाया गया।

इस प्रकार मुनि मधवा के क्रमिक उन्नयन के उक्त सभी अवसरों ने अनेकों के मन को जहां हर्षोत्फुल्ल किया वहां कुछ की भावनाओं पर वज्रपात भी किया।

उत्तराधिकार-समर्पण

सं. 1920 आश्विन कृष्णा 13 को चूरू में जयाचार्य ने जन-परिषद् के मध्य मुनि मधवा को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। उन्होंने एक नया उत्तरीय अपने शरीर पर धारण किया और फिर तत्काल उतारकर मधवा को ओढ़ा दिया। चतुर्विधि संघ के कंठों से निकली सम्मिलित जय-ध्वनि के साथ ही मुनि मधवा युवाचार्य मधवा बन गये।

छोगजी की दुविधा

युवाचार्य पद की नियुक्ति ने मुनि हरखचंदजी के मन को उद्भेदित नहीं किया। लगता है, वे पद-लिप्सा से मुक्त एक अनासक्त मुनि थे। परन्तु मुनि छोगजी को उक्त घटना ने अन्दर तक झकझोर कर रख दिया। चारों ओर के हर्षोद्रिक के मध्य वे अपने मानसिक असन्तोष को न निगल पाने की स्थिति में रहे और न उगल पाने की। उन्हें अन्दर ही अन्दर घुट कर रह जाना पड़ा। वस्तुतः उनके लिए वह समय अत्यन्त दुविधा का था।

थाप-उत्थाप

मुनि छोगजी अच्छे आगमज्ञ और विद्वान् मुनियों में गिने जाते थे। भावी आचार्य की सूची में जब तक उनका नाम था, वे स्वयं को गौरवान्वित समझते थे। जयाचार्य ने उनको कई प्रकार की छूटें दे रखी थीं। उनके मन में भी आचार्यश्री के प्रति सामीप्य का भाव था, परन्तु युवाचार्य पद पर मधवा की नियुक्ति के पश्चात् उनमें अन्तर आ गया। यद्यपि वे ऊपर से शालीन बने रहे, परन्तु अन्तरंग में पूर्ववत् सामीप्य का अनुभव कर पाना उनके लिए सम्भव नहीं रहा। मन की घुटन ने उनमें अनेक कुंठाएं उत्पन्न कर दीं। जयाचार्य के कार्यों में उनकी सहमति का स्वर क्षीण होता गया और उसका स्थान असहमति लेती चली गई। जयाचार्य उनके उक्त आन्तरिक परिवर्तन से शीघ्र ही परिचित हो गये।

एक बार जयाचार्य के सम्मुख जल को अचित्त बनाने वाले साधनों के विषय में चर्चा चली। परिपूर्ण चिंतन के पश्चात् उन्होंने समाधान दिया कि जिस प्रकार आटा मिला जल अचित्त हो जाता है, उसी प्रकार राख मिला जल भी अचित्त हो जाता है। आटे की अपेक्षा राख का स्पर्श कहीं अधिक तीक्ष्ण होता है।

कुछ दिनों पश्चात् एक साधु ने जयाचार्य से कहा—‘राख के द्वारा जल के अचित्त होने में सन्देह है।’

जयाचार्य ने पूछा—‘किसे है सन्देह? तुम्हें ही या अन्य किसी को भी?’

मुनि ने कहा—‘मुझे तो है ही, परन्तु यह सन्देह तो उनको भी है जिनकी थाप-उत्थाप आपको मान्य है।’

जयाचार्य ने अपने समीप बैठे युवाचार्य मधवा को सम्बोधित करते हुए पूछा—‘क्यों मधजी! राख के जल के अचित्त होने में तुम्हें कोई सन्देह है?’

युवाचार्य मधवा ने बद्धांजलि होकर उत्तर दिया—‘नहीं गुरुदेव! मेरे मन में इस प्रकार का कोई सन्देह नहीं है।’

मुनि ने तब अपने कथन को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा—‘मेरे कथन का आशय मधराजजी महाराज के लिए नहीं, किन्तु छोगजी महाराज के लिए था। उनको यह सन्देह है।’

जयाचार्य ने कहा—‘छोगजी की थाप-उत्थाप मुझे मान्य नहीं है। मधजी को यदि सन्देह हो, तो मैं आज ही इसे छोड़ने का विचार कर सकता हूँ।’

वह मुनि खिसियाना होकर चला गया। उसने समग्र प्रसंग मुनि छोगजी को सुनाया तो वे उद्घिन्म हो उठे। आक्रोश गहरा गया। मन की दूरियां और अधिक हो गईं।

विद्रोह की तैयारी

मुनि चतुर्भुजजी छोगजी के बड़े भाई थे। वे अत्यन्त चालाक और स्वार्थ-परायण व्यक्ति थे। उनको दृढ़ विश्वास था कि जयाचार्य छोगजी को ही अपना उत्तराधिकारी बनायेंगे। उनके आचार्य बनने पर मेरा सम्मान बढ़ेगा। यदा-कदा अन्य मुनियों के सम्मुख वे अपनी उक्त भावना को प्रकट भी करते रहते थे। मुनि मधवा को युवाचार्य बना देने पर उनका स्वप्न भंग हो गया। वे बौखला उठे। तभी से उन्होंने संघ में भेद डालने के प्रयास प्रारम्भ कर दिये। वे छिपे-छिपे अनेक मुनियों तथा श्रावकों के सम्मुख आचार्यश्री की निंदा करने लगे।

जयाचार्य के कानों तक शीघ्र ही सारी स्थिति पहुँच गई। उन्होंने मुनि चतुर्भुजजी को बुलाया और सभी के सम्मुख उपालम्भ दिया। उन्होंने उसे अपना घोर अपमान समझा। प्रतिवाद तो नहीं कर सके, परन्तु अन्दर ही अन्दर जल-भुन गये। उन्होंने निश्चय किया कि इस अपमान का बदला अवश्य लूँगा। मौन रहने से अब काम नहीं चलेगा। मैं जब इनके दोषों का विवरण जनता के सम्मुख रखने लगूँगा, तभी इन्हें आटे-दाल के भावों का पता चलेगा।

मुनि चतुर्भुजजी अग्रणी बनकर स्वतंत्र विहार करने के बहुत इच्छुक थे, परन्तु जयाचार्य ने उन्हें कभी ऐसा अवसर प्रदान नहीं किया। इसका भी उनके मन में भारी रोष था। समय-समय पर प्रदत्त सामूहिक शिक्षाओं के विषय में उनका विचार था कि वे सब उन्हीं को लक्ष्य करके दी जा रही हैं। वे सोचते थे कि मर्यादा-निर्माण भी उन्हें चारों ओर से घेरने के लिए किया जा रहा है। उन सभी स्थितियों का प्रभावशाली ढंग से सामना करने के लिए उन्होंने अन्य साधुओं को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया।

विद्रोह करने की तैयारी में उन्होंने अनेक ऐसे साधुओं को अपने साथ मिलाया जो विभिन्न कारणों से जयाचार्य से असन्तुष्ट थे—कपूरजी, जीवोजी, संतोजी, छोटे छोगजी तथा कस्तूरजी आदि अनेक मुनि उनके उस विरोध-अभियान में सम्मिलित हो गये।

विस्फोट

विरोध का प्रथम विस्फोट जयाचार्य के पदासीन होने के लगभग दो वर्ष पश्चात् ही हो गया था, परन्तु वह कोई बहुत बड़ा विस्फोट नहीं था। उसमें छोटे जीवोजी, धनजी तथा हमीरजी—ये तीनों मुनि एक साथ संघ से पृथक् हो गये। जयाचार्य उस समय मालव-यात्रा का निश्चय करके कानोड़ पधार रहे थे। मार्गस्थ डबोक गांव में उक्त घटना घटी। पता चलने पर राजनगर-निवासी श्रावक लिखमीचंदजी ने उनसे वार्तालाप किया। उससे मुनि जीवोजी तो संभल गये और अपनी भूल का प्रायश्चित्त करके वापस संघ में आ गये। शेष दोनों मुनि पृथक् रहकर काफी निंदात्मक प्रचार करते रहे।

दस वर्षों के पश्चात् सं. 1920 में दूसरा सामूहिक विस्फोट हुआ। उसमें मुनि चतुर्भुजजी का विशेष हाथ था। चूरू-चतुर्मास के पश्चात् विहरण करते हुए जयाचार्य माघ शुक्ला 13 को कस्मी से लाडनू पधारे।¹ उस दिन कपूर्जी, जीवोजी, सन्तोजी और छोटे छोगजी—ये चारों मुनि प्रच्छन्न रूप से पीछे रह गये। सायंकाल तक नहीं पहुंचे तब समझ लिया गया कि वे संघ से पृथक् हो गये हैं।

एक मायाचार

माघ-पूर्णिमा का पट्टोत्सव लाडनू में मनाया गया। उसमें मुनि चतुर्भुजजी ने भी जयाचार्य के गुणोत्कीर्तन की नई गीतिका बना कर गाई। यद्यपि अंतरंग में वे पृथक् होने वाले मुनियों के साथ थे, परंतु बहिरंग में बिलकुल विलग थे। उन सबके साथ न जाकर स्यात् वे इसीलिए संघ में रहे थे कि अन्य कोई असन्तुष्ट हो तो उसे भी साहस बंधा कर पृथक् होने के लिए तैयार कर सकें। जब अन्य कोई तैयार होता दिखाई नहीं दिया, तब उन्होंने स्वयं जाने की तैयारी कर ली। मायाचारपूर्वक उन्होंने जयाचार्य से प्रार्थना की कि मैरे कुछ पत्र लघु छोगजी के पास रह गये हैं। आपकी आज्ञा हो तो उन्हें ले आऊं।

जयाचार्य ने फरमाया—‘थोड़े-से पन्नों के लिए उनके पीछे कहां जाओगे? ले गये तो ले जाने दो।’

मुनि चतुर्भुजजी ने कहा—‘सम्भव है, समझाने पर वे वापस संघ में आ जाएं तो यह एक लाभ ही होगा।’

जयाचार्य ने तब मुनि हंसराजजी को उनके साथ जाने का आदेश दिया। दोनों मुनि ‘माथासुख’ गांव में पहुंचे।² चारों टालोकर मुनि वहीं थे। मुनि हंसराजजी थोड़े आगे चल रहे थे, अतः कुछ क्षण पहले पहुंच गये। उन्हें देखकर चारों मुनि आश्चर्यचकित हुए। वे कहने लगे—‘हम तो तुम्हारी कोई वस्तु लेकर नहीं आये हैं, फिर तुम हमारे पीछे क्यों आए हो?’

1. चतुर्भुजजी की ख्यात में उक्त तिथि 12 दी गई है, परंतु जयाचार्य निर्मित ‘लघुरास’ (148 एवं 153) के कथन से 13 ही सिद्ध होती है।

2. उक्त गांव लाडनू से नागौर के मार्ग में ‘जवालिया’ के पास है।

मुनि हंसराजजी ने कहा—‘मेरी तो कोई वस्तु नहीं लाए, परन्तु मुनि चतुर्भुजजी के पन्ने ले आए हो। हम उन्हें ही लेने के लिए यहां आए हैं।’ वे उक्त बात कर ही रहे थे कि मुनि चतुर्भुजजी भी वहां पहुंच गए। उन्हें देख कर चारों मुनियों का मन अत्यंत आहादित हुआ। उन्होंने तत्काल खड़े होकर उनका स्वागत किया।

मुनि चतुर्भुजजी ने उन लोगों के साथ पहले से ही सांठ-गांठ कर रखी थी। पन्ने तो उनके साथ सम्मिलित होने का सुनिश्चित विश्वास दिलाने के लिए उन्होंने जान-बूझकर दे दिये थे। उनको लेने का बहाना बनाकर वस्तुतः वे उनके साथ सम्मिलित हो जाने के लिए ही वहां आए थे। उन्होंने मुनि हंसराजजी को स्पष्ट कह दिया कि अब मैं इन्हें छोड़कर तुम्हारे साथ नहीं आऊंगा। तुम वापस जा सकते हो।

मुनि हंसराजजी एक क्षण के लिए तो बड़ी असमंजसता की स्थिति में फंस गये, परन्तु दूसरे ही क्षण सावधान होकर उन सबको मायाचार-पूर्वक संघ परित्याग करने का उपालंभ देते हुए कहा—‘तुम लोगों को अपने निर्णय पर पुनर्विचार करना चाहिए।’ काफी देर तक समझाने-बुझाने पर भी जब उनमें से कोई भी वापस चलने को तैयार नहीं हुआ, तब मुनि हंसराजजी अकेले ही वापस लाडनूँ आ गये। उन्होंने जयाचार्य के सम्मुख सारी स्थिति यथावत् निवेदित कर दी।¹

कुछ महीनों पश्चात् मुनि चतुर्भुजजी ने संघ के एक अन्य सदस्य मुनि कस्तूरजी का मनोभंग किया और उन्हें अपने साथ मिला लिया।

जयाचार्य ने लघुरास में उपर्युक्त छहों व्यक्तियों को अविनीत तथा अनुशासनहीन बतलाया है। चतुर्भुजजी का स्थान उनमें प्रथम कोटि का है। उक्त छहों मुनि कालान्तर में

1. (क) लघुरास, 150, 151, 154, 159। (तेरापंथ : मर्यादा और व्यवस्था, पृ. 381)।

(ख) मुनि हंसराजजी निर्मित वार्ताधिकार (लघुरास के अन्तर्गत) 6, 8-10, 35।

(तेरापंथ : मर्यादा और व्यवस्था, पृ. 395)

मुनि हंसराजजी निर्मित वार्ताधिकार सं. 1921 की और जयाचार्य पिर्मित लघुरास सं. 1923 की रचना है। उक्त दोनों कृतियां घटना के बहुत समीपकाल की हैं। इन दोनों में मुनि चतुर्भुजजी के साथ केवल मुनि हंसराजजी को भेजने और फिर वापस आकर सारी स्थिति निवेदित करने का उल्लेख है।

(ग) मध्यवागणी निर्मित जय-सुजस सं. 1943 की रचना है। उसके अनुसार चतुर्भुजजी को उनके छोटे भाई बड़े छोगजी के साथ भेजते हुए जयाचार्य ने फरमाया कि इन्हें मारवाड़ भेज रहे हैं। टालोकर मुनि भी उसी मार्ग में कहीं मिलेंगे। अवसर देखो तो मुनि हंसराजजी को साथ भेज देना, मिल लेंगे। वे मिले तब चतुर्भुजजी टालोकरों के साथ हो गये। पद्य इस प्रकार हैं :

‘इम सुण भाखै स्वाम जय, बड़ा छोग प्रति जेह।

म्हेलां मरुधर देस में, तिण मारग है तेह॥

जो अवसर देखो तुम्हें, हंस भणी ले साथ।

जा ज्यो इम कहि छोग संग, म्हेल्या तब गणनाथ॥

गया गाम माथासुखे, हंस चतुर्भुज दोया।

चतुर्भुज तब तेहथी, सामल हुवो सुजोयो॥’

प्रायश्चित्त लेकर पुनः संघ में आ गए, परन्तु कुछ समय पश्चात् पुनः पृथक् हो गए। इनमें से कोई दो बार पृथक् हुआ तो कोई तीन, चार और पांच बार तक पृथक् हुआ। संघ से पृथक् रहते समय उक्त सभी व्यक्तियों ने संघ की भरपूर निंदा की। मुनि चतुर्भुजजी ने तो यहां तक प्रचारित किया कि जयाचार्य 84 दोषों का सेवन कर रहे हैं।

छोगजी का 'लिखत'

बड़े छोगजी यद्यपि मुनि चतुर्भुजजी के छोटे भाई थे, परंतु उन दोनों की प्रकृति में बहुत अन्तर था। मुनि छोगजी के मन में जयाचार्य के प्रति थोड़ा श्रद्धा भाव था। वे बड़े भाई जितने अविनीत एवं अनुशासनहीन भी नहीं थे। बड़े भाई ने संघ से पृथक् होने से पूर्व अवश्य ही उन पर अपने साथ चलने के लिए अनेक दबाव डाले होंगे, परन्तु उन्होंने संघ में रहने का ही निर्णय किया। वर्षों तक वे उसी निर्णय पर दृढ़ रहे, परंतु कालांतर में उनके मन में जयाचार्य के सामीप्य की अनुभूति अल्पतर होती चली गई। उसी के साथ मुनि चतुर्भुजजी की ओर से आने वाले दबावों ने उनके मन को विचलित कर दिया। मुनि हंसराजजी को साथ लेकर वे सं. 1927 चैत्र कृष्णा 12 को संघ से पृथक् हो गये। लगभग 7 प्रहर (21 घंटे) संघ से बाहर रहे। उसके पश्चात् उन्हें सद्बुद्धि आई। दूसरे ही दिन वे जयाचार्य के चरणों में आ गए। अत्यन्त नम्रतापूर्वक दोनों ने अपने अपराध के लिए क्षमायाचना की और प्रायश्चित्त स्वीकार किया। आचार्यश्री ने तब उन्हें पुनः संघ में सम्मिलित कर लिया। मुनि छोगजी से उस समय एक 'लिखत' लिखवाया गया। उन्होंने उसमें लिखा—भविष्य में किसी प्रश्न को लेकर आचार्यों से खींचतान करने का आजीवन त्याग है। मधराजजी महाराज जो कहें उसे हृदयंगम कर लेना है। यह प्रतिज्ञा साधुत्व की भाँति पालनीय है। सं. 1927 चैत्र कृष्णा 13। लिखत ऋषि छोग।'¹

यह लिखत लिख देने के पश्चात् मुनि छोगजी ने जयाचार्य से कहा—‘पुत्र कुपुत्र हो जाता है, परन्तु पिता कुपिता नहीं होता’ यह लौकिक कहावत है। आपने इसे सत्य सिद्ध कर दिखाया। मेरे अविनय को क्षमादान देकर आपने मेरे प्रति जो वात्सल्य दिखाया है, उससे मैं आपका आजीवन आभारी हो गया हूं।

प्रभुपंथ

गणित की पुस्तक में प्रत्येक प्रश्न का एक निर्णीत उत्तर होता है, परंतु जीवन की पुस्तक बड़ी विचित्र होती है। उसमें किसी भी प्रश्न का एक तथा निर्णीत उत्तर नहीं होता। आज एक उत्तर हो सकता है तो कल दूसरा। मुनि छोगजी की स्थिति कुछ वैसी ही हुई। वे संघ में पुनः सम्मिलित हुए, अनेक वर्षों तक रहे, परंतु मन पूर्ववत् जम नहीं पाया। जो

1. ‘लिखत’ की मूल भाषा इस प्रकार है। ‘...आगा थी बोलां आश्रयी आचार्य सूखांच करवा रा जावजीव त्याग छै। मधराजजी महाराज फुरमावे सो हीये बेसाय लेणी। साधुणा ज्यू ए त्याग छै। सं. 1927 चैत्र बिद 13 लिखतु ऋषि छोग, लिख्यो सही छै।’

416 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
कील भींत में से एक बार उखड़ जाती है वह उसी स्थान पर दूसरी बार उतनी बराबर नहीं बैठ पाती। मुनि छोगजी भी अपने स्थान पर पूर्ववत् जम नहीं पाये। अंदर ही अंदर तब उन्होंने दलबंदी प्रारम्भ कर दी और फिर सं. 1936 (चै. 1937) वैशाख शुक्ला 3 को संघ से पुनः पृथक् हो गये। उनके साथ हंसराजजी आदि 3 अन्य साधु तथा हरखूजी आदि 5 साधियां भी संघ से पृथक् हो गए।

मुनि चतुर्भुजजी आदि कुछ साधु पहले से ही सरदारशहर में थे। बड़े छोगजी के साथ संघ-मुक्त होने वाले साधु एवं साधियां भी वहां पहुंचे। सरदारशहर उस समय संघ से पृथक् हुए साधु-साधियों का एक संगम-स्थल बन गया। यद्यपि उन सबके संघ से पृथक् होने के कारण तथा समय भिन्न-भिन्न थे, फिर भी परिस्थितियों की विवशताओं ने उन्हें एकत्रित कर दिया। उन सभी ने मिलकर तेरापंथ के समकक्ष एक दूसरा संगठन खड़ा करने का निश्चय किया। उन्होंने अपने संघ का नाम 'प्रभुपंथ' दिया। बड़े छोगजी को आचार्य बनाया गया। जयाचार्य के बड़े भाई मुनि सरूपचंदजी थे, वैसे ही छोगजी के बड़े भाई मुनि चतुर्भुजजी थे ही। युवाचार्य मधवा के स्थान पर मुनि फोजमलजी को माना गया तथा हरखूजी को साध्वी-प्रमुखा बनाया गया।

एक जमावड़ा

पहले पौछे करके मुनि चतुर्भुजजी तथा छोगजी आदि 19 व्यक्ति एकत्रित हो गये थे। वह एक ऐसा जमावड़ा था, जो विभिन्न स्वार्थी की पूर्ति के अवसर टटोलता हुआ एकत्रित हुआ था। उनका वह जमाव वैसा ही था जैसा वृक्ष से टूट कर आये पत्तों का होता है। हवा के प्रत्येक झाँके के साथ अपना गन्तव्य खोजते हुए वे किसी भी बाढ़ या भींत के सहरे एकत्रित हो जाते हैं। नियति के मारे वे अपनी हरीतिमा को बनाये नहीं रख पाते। प्रतिक्षण नीरस पीतिमा उन्हें धेरती जाती है। अपनी उस भवितव्यता को वे समझ पायें, उससे पूर्व ही हवा का कोई दूसरा झाँका उन्हें वहां से डाठा कर दूर-दूर तक बिखेर देता है।

चतुर्भुजजी तथा छोगजी आदि टालोकर मुनियों की नियति उन झड़े पत्तों से कुछ भी भिन्न नहीं थी, फिर भी एकबार के लिए वे स्वयं तथा उनके आस-पास घिर आने वाले लोग काफी आश्वस्त हुए थे कि अब यह मार्ग चल निकलेगा। उन 19 व्यक्तियों में 13 साधु तथा 6 साधियां थीं। उन सबके नाम तथा तेरापंथ की दीक्षा के क्रमांक इस प्रकार हैं :

साधु—

- | | |
|---------------------|---------------------|
| 1. चतुर्भुजजी (137) | 2. छोगजी बड़े (138) |
| 3. हंसराजजी (151) | 4. माणकचंदजी (161) |
| 5. छोगजी छोटे (177) | 6. कस्तूरजी (185) |

- | | |
|-----------------------------------|--------------------|
| 7. रूपचन्दजी (205) | 8. हजारीमलजी (211) |
| 9. गंगारामजी (215) | 10. जोरजी (229) |
| 11. फोजमलजी (234) | 12. जोतरामजी (244) |
| 13. आसकरणजी क्षत्रिय ¹ | |

साधिव्यां—

- | | |
|--------------------|--------------------|
| 1. हरखूजी (275) | 2. वृद्धांजी (293) |
| 3. सेरांजी (320) | 4. बरजूजी (396) |
| 5. महाकंवरजी (433) | 6. जेठांजी (498) |

विफल अनुमान

बड़े छोगजी संघ से पृथक् हुए तब उनका अनुमान था कि संघ के अनेक साधु-साधिव्यां उनका साथ देंगे, परन्तु वैसा कुछ नहीं हुआ। उनके साथ केवल तीन संत गये। पृथक् होने वाले प्रायः बहुत बड़े-चढ़े अनुमान लगाने लगते हैं, परन्तु वे सब विफल ही सिद्ध होते हैं। अपने पास बैठने-उठने वालों तथा मधुर संबंध रखने वालों के विषय में भ्रमवश प्रायः ऐसा सोच लिया जाता है कि वे अवश्य ही उनका साथ देंगे, परन्तु वैसा कोई अदूरदर्शी ही करता है। जिनके पास अपने भविष्य का स्पष्ट चिन्तन होता है, वे कभी ऐसा नहीं करते।

मुनि छोगजी से सम्बन्धित एक घटना है। मुनि भोपजी का उनके साथ काफी सम्पर्क था। वे बहुधा उनके पास ही बैठा करते थे। आगमों का अध्ययन भी उनके पास किया करते थे। मुनि छोगजी संघ से पृथक् हो गये तब किसी ने मुनि भोपजी से पूछा—‘आपने छोगजी का साथ कैसे नहीं दिया? आप तो उनके बहुत निकट थे।’

मुनि भोपजी ने कहा—‘मेरी उनसे निकटता तभी तक थी जब तक वे संघ में थे। संघ से पृथक् होते ही वह स्वयं समाप्त हो गई।’

पृच्छक मुनि ने कहा—‘हमने तो सुना है कि आपने साथ चलने तक का भी उन्हें आश्वासन दिया था।’

मुनि भोपजी—‘हाँ, परन्तु वह उनकी शंकाओं का समाधान कराने के लिए दिया था। मैंने उनसे कहा था—‘आपको अपनी शंकाओं का समाधान कर लेना चाहिए। यदि जयाचार्य के पास अकेले जाने में संकोच होता है तो मैं आपके साथ चलने को तैयार हूँ।’ अब आप ही देख लें कि उन्होंने वह सीधा मार्ग तो नहीं अपनाया और संघ से पृथक् हो गये। इस कार्य में तो कोई भाग्यहीन ही उनका साथ देगा।’

1. मुनि चतुर्भुजजी ने संघ से पृथक् होने के पश्चात् सं. 1922 में इन्हें दीक्षित किया था।

मुनि भोपजी का वह कथन संघ के प्रति उनकी अगाध निष्ठा सूचित करने वाला था। जब उसकी सूचना जयाचार्य के कानों तक पहुंची तो वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने तत्काल मुनि भोपजी को बुलाया और उन्हें अग्रणी बना दिया।

चतुर्भुजजी का वाक़्छल

जयाचार्य के समय में तेरापंथ के लिए सरदारशहर केवल बहिनों का क्षेत्र कहा जाता था। वहां तेरापंथ को मान्यता देने वाले भाई कम ही थे। सरदारशहर सं. 1895 के आस-पास बसना प्रारम्भ हुआ। जिन गांवों से लोग आकर वहां बसे, उनमें तेरापंथ के साधु-साधियों का प्रायः कोई विहरण नहीं था। स्वामी भीखणजी के समय तेरापंथ से पृथक् हुए मुनि चन्द्रभाणजी उधर के क्षेत्रों में काफी रहे। उन्होंने 'सवाई' में चतुर्मासी भी किया। उन क्षेत्रों में काफी लोग उनके अनुयायी बने। उनकी परम्परा नहीं चल पाई, परन्तु तब तक मुनि फतेचन्दजी तेरापंथ से पृथक् होकर उधर विहार करने लगे। सरदारशहर बसा तभी से वे वहां आने-जाने लगे। वहां के काफी लोग उनके भक्त बन गये। सं. 1919 में उनका देहांत हो गया। उनकी परम्परा भी नहीं चली। सं. 1920 में मुनि चतुर्भुजजी तेरापंथ से पृथक् हुए। सं. 1923 में वे प्रथम बार सरदारशहर गये। मुनि फतेचन्दजी के अनुयायियों को उन्होंने वाक़्छल से यह कह कर अपनी ओर झुका लिया कि वे और हम तो एक ही हैं। शीघ्र ही वहां के श्रावक उनके अनुयायी हो गये। इस प्रकार उस समय सरदारशहर मुख्यतः मुनि चतुर्भुजजी का क्षेत्र बना हुआ था।

मुनि कालूजी का प्रयास

सरदारशहर में तेरापंथ की नींव को गहरा करने में मुनि कालूजी का प्रयास मुख्य रूप से रहा। उन्होंने अपने बुद्धि-कौशल तथा व्यवहार-कौशल से जन-मानस को धर्मसंघ की ओर आकृष्ट किया। वह समय सं. 1936 तथा 37 का था। यद्यपि उससे पूर्व भी वहां कुछ कार्य हो चुका था। कहा जाता है कि सर्वप्रथम वहां युवाचार्य जय का पदार्पण हुआ। वे सं. 1896 का अपना चातुर्मासिक प्रवास करने के लिए चूरू जा रहे थे। उन्होंने सरदारशहर को मार्ग में लिया और एक रात्रि का वहां प्रवास किया। उस समय तो नगर का प्रारम्भ मात्र ही हुआ था। उसके पश्चात् सं. 1907 में अग्रणी अवस्था में सरदारसती वहां कुछ दिन ठहरीं। उस समय कुछ बहिनों ने गुरु-धारणा की। फिर लंबे समय तक तेरापंथ के किसी सिंघाड़े को उधर विहार करने का अवसर नहीं मिला। संघ से पृथक् होकर मुनि चतुर्भुजजी ने उधर के उपेक्षित क्षेत्रों में विहार किया और अपना प्रभाव जमाया।

सरदारशहर की ओर तेरापंथ के साधु-साधियों का व्यवस्थित विहरण काफी विलम्ब से प्रारम्भ हुआ। पहले कुछ वर्षों तक केवल साधियां ही उधर गईं। उनके पास बहिनों का ही मुख्यतः आगमन हुआ और वे ही श्रद्धालु बनीं। कालान्तर में मुनि कालूजी का वहां पदार्पण हुआ, फिर भी स्थिति में स्वल्प अन्तर ही आया।

जोगी की जटा

जयाचार्य ने सरदारशहर की उलझी हुई धार्मिक स्थिति की तुलना 'जोगी की जटा' से की। सार-संभाल कम होने से वह प्रायः उलझ जाती है। केश परस्पर चिपक जाते हैं। उन्हें कंधी से सुलझाना सम्भव नहीं होता। उसके सुलझाव का उपाय तो एकमात्र उस्तरा ही है। जयाचार्य के कथन का भाव होता कि सरदारशहर के लोग तेरापंथ से विद्वेष रखते हैं, अतः अनावश्यक ही मानसिक स्तर पर उलझे हुए हैं। तत्त्व-चर्चा की कंधी से उनका सुलझाव कठिन है। समय-परिपाक से कभी किसी घटना-विशेष का उस्तरा फिरेगा तभी उसमें सुलझाव आयेगा।

जयाचार्य का कथन सत्य निकला। अनेक वर्षों तक प्रयास करते रहने पर भी स्थिति नहीं सुलझ पाई। मुनि कालूजी के जन-सम्पर्क तथा तत्त्व-चर्चा ने लोकप्रियता तो अर्जित की, परन्तु लोगों की आग्रह-बुद्धि में विशेष अन्तर नहीं आया।

कैसे महाजन हो?

सं. 1924 के शीतकाल की घटना है। जयाचार्य सुजानगढ़ में विराज रहे थे। सरदारशहर के जैतरूपजी आंचलिया किसी कार्यवश वहां गये। जयाचार्य के वहां भी गये। वार्तालाप के प्रसंग में आचार्यश्री ने पूछा—‘तुम मुनि फतेचन्दजी को क्या समझते हो?’ उन्होंने कहा—‘असली साधु।’ जयाचार्य का दूसरा प्रश्न था—‘और मुनि चतुर्भुजजी को?’ आंचलियाजी ने कहा—‘उन्हें भी असली साधु समझता हूँ।’ जयाचार्य ने तब अपने तर्क को पैना करते हुए कहा—‘तुम कैसे महाजन हो? लाखों रुपयों का लेखा-जोखा करते हो फिर भी इतनी-सी बात नहीं समझ पाते कि मुनि चतुर्भुजजी संघ से पृथक् होने से पूर्व तक हमारी ही तरह मुनि फतेचन्दजी को असाधु मानते थे। मुनि फतेचन्दजी भी हमें असाधु मानते थे। संघ से पृथक् होकर मुनि चतुर्भुजजी ने नई साधुता नहीं ली है, तब मुनि फतेचन्दजी उनकी दृष्टि में साधु कैसे हो गये?’ जैतरूपजी कोई उत्तर नहीं दे पाये। उन्होंने कहा—‘सरदारशहर जाकर मैं उनसे पूछूँगा।’

जैतरूपजी ने वहां जाकर मुनि चतुर्भुजजी के सम्मुख प्रश्न उठाया। उन्होंने उत्तर देने का प्रयास तो किया, परन्तु बात कुछ जम नहीं पाई। जनता में तब उस प्रश्न ने ऊहापोह का रूप ले लिया। आखिर चतुर्भुजजी को उस प्रश्न को समाहित करने के लिए सं. 1924 में नई दीक्षा ग्रहण करनी पड़ी। उसके पश्चात् अनेक वर्षों तक उनकी स्थिति जमी हुई चलती रही। परन्तु सं. 1936 (चै. 1937) में उनके भाई मुनि छोगजी जब उनसे आ मिले तब एक बार स्थिति में पुनः परिवर्तन आया। लगभग उन्नीस साधु-साध्वियां हो जाने से उन्होंने उसे एक संगठन का रूप प्रदान किया। लोग अनुमान लगाने लगे कि अच्छा संख्या-बल हो जाने से अब यह स्थायित्व ग्रहण कर लेगा।

भाइयों का मतभेद

मुनि चतुर्भुजजी सं. 1920 में तेरापंथ से पृथक् हुए थे, अतः उसी समय तक तेरापंथ में साधुता मानते थे, उसके बाद नहीं। मुनि छोगजी प्रथम बार सं. 1927 में पृथक् हुए। वे उस समय तक साधुता मानते थे। दोनों भाइयों के मन्तव्यों में सात वर्षों का प्रत्यक्ष अन्तर था। दोनों ही उस समस्या को समाहित करना तो चाहते थे, परन्तु अपने-अपने घोषित निर्णयों में परिवर्तन करने को कोई उद्यत नहीं था। काफी समय तक वह मतभेद एक समस्या बना रहा। तेरापंथ की ओर से प्रश्न उठाये जाने लगे तब जनता में फिर एक ऊहापोह का वातावरण बना। दोनों भाई उस प्रश्न को टालने का प्रयास करते रहे। फलतः उनकी वैचारिक दुर्बलता को समझने में लोगों को अधिक देर नहीं लगी। स्वभावतः ही तब जनता का झुकाव तेरापंथ की ओर होने लगा।

तीन प्रश्न

जयाचार्य उस समय जयपुर में थे। उन्होंने वहाँ श्रावकों के सम्मुख संघ से पृथक् हुए साधुओं के मन्तव्यों तथा कार्यों की समीक्षा की। उसके समाचार सरदारशहर पहुंचे तब उसी आधार पर मुनि कालूजी ने वहाँ की जनता के सम्मुख तीन प्रश्न रखे और मुनि चतुर्भुजजी तथा मुनि छोगजी को उनका उत्तर देने के लिए आह्वान किया। प्रथम प्रश्न था कि तेरापंथ की साधुता के विषय में दोनों भाइयों की मान्यता में सात वर्ष का जो अंतर है वह स्पष्ट कर देता है कि श्रद्धा की दृष्टि से वे एकमत नहीं हैं। ऐसी स्थिति में दोनों में से किसकी मान्यता को सही माना जाए? दोनों तो सही हो नहीं सकते।

दूसरा प्रश्न था कि एक भाई के अनुसार तेरापंथ में सं. 1920 तक साधुता थी और दूसरे के अनुसार सं. 1927 के पूर्व तक। यह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि उक्त समय के पश्चात् तेरापंथ में श्रद्धा अथवा आचार संबंधी ऐसा कौनसा दोष आ गया कि उसके सदस्यों की साधुता नष्ट हो गई?

तीसरा प्रश्न था कि मुनि चतुर्भुजजी तेरापंथ में सं. 1920 तक ही साधुता समझते हैं तो सं. 1936 (चै. 1937) में तेरापंथ से पृथक् होकर आने वाले मुनि छोगजी आदि को नई दीक्षा दिये बिना ही उन्होंने अपने में कैसे सम्मिलित कर लिया? उनका सम्मिलित होना क्या यह सिद्ध नहीं करता कि वे आज भी तेरापंथ की साधुता को मान्यता प्रदान करते हैं?

जेठमलजी गधैया उस समय मुनि चतुर्भुजजी के कट्टर श्रावक थे। मुनि कालूजी ने उपर्युक्त तीनों प्रश्नों के आधार पर ही उन्हें समझाया कि मुनि छोगजी यदि नई दीक्षा लिये बिना ही साधु हैं तो तेरापंथ की साधुता को तुम अमान्य कैसे कर सकते हो? जेठमलजी ने उक्त तर्क के हार्द को समझा। अन्य अनेक प्रश्नों का भी समाधान प्राप्त किया। पूर्ण आश्वस्त हो जाने पर वे तेरापंथी बन गये। एक प्रभावशाली व्यक्ति के चले जाने से मुनि चतुर्भुजजी के पक्ष को तीव्र आघात लगा। मुनि कालूजी द्वारा उठाये गये

तीनों प्रश्न तब उन लोगों के लिए जीवन और मृत्यु के प्रश्न बन गए। उनके पास आने वाला प्रत्येक व्यक्ति उन्हीं प्रश्नों का समाधान मांगने लगा। सम्यक् उत्तर नहीं दे पाने के कारण लोगों का उन पर से विश्वास उठने लगा। उस स्थिति में अनेक परिवार तेरापंथी बन गये।

नई दीक्षा

मुनि चतुर्भुजजी आदि को अपने नये समुदाय को बिखराव से बचाने की चिन्ता होने लगी। मुनि कालूजी द्वारा उठाये गये प्रश्नों का समाधान अत्यन्त शीघ्रता से खोज लेना उनके लिए नितान्त आवश्यक हो गया। सभी ने मिलकर विचार-विमर्श किया तो इसी निर्णय पर पहुंचे कि नई दीक्षा ग्रहण करने से ही उक्त प्रश्न समाहित हो सकते हैं। परन्तु वैसा करने में भी उन्हें एक भय सता रहा था कि नई दीक्षा की प्रक्रिया में यदि कहीं थोड़ी-सी भी भूल रह गई तो ‘डोकरा’ (जयाचार्य) जयपुर से ही कोई ऐसा तीर चलाएगा कि हम सबके लिए टिके रह पाना कठिन हो जाएगा।

गम्भीर विचार-विमर्श के पश्चात् उन लोगों ने एक व्यवस्था निश्चित की। सम्मुख उपस्थित तथा सम्भावित प्रश्नों का समाधान भी खोजा। निर्णीत व्यवस्था के अनुसार उन्होंने सं. 1937 श्रावण कृष्णा 14 को नई दीक्षा ग्रहण कर ली। मुनि छोगजी प्रथम बार सं. 1927 चैत्र कृष्णा 12 को संघ से पृथक् हुए थे। संघ में जो उस तिथि से पूर्व दीक्षित थे, उनको छेदोपस्थाप्य चारित्र दिया गया और उसके पश्चात् दीक्षितों को सामायिक चारित्र। तेरापंथ की साधुता के विषय में दोनों भाइयों में जो सात वर्षों का मतभेद था, उसे पाठने के लिए भी एक मार्ग खोजा गया। उसके अनुसार मुनि चतुर्भुजजी ने सं. 1920 के पश्चात् तथा मुनि छोगजी ने सं. 1927 के पश्चात् वर्तमान समय तक स्वयं में साधुता का अभाव घोषित किया। संघ की साधुता के विषय में दोनों भाइयों की मान्यता में जो सात वर्ष का अन्तर था, उसे मुनि चतुर्भुजजी ने केवलीगम्य करके सन्तुलित किया।

विस्फोटक पत्र

सरदारशहर के सुप्रसिद्ध श्रावक मेघराजजी आंचलिया ने आश्विन के अन्तिम दिनों में एक पत्र जयपुर के श्रावकों को भेजा। उसमें जयाचार्य से जिज्ञासा की गई थी कि मुनि चतुर्भुजजी ने सं. 1920 तक संघ में साधुता मानी है और उसके पश्चात् सात वर्षों को केवलीगम्य किया है, जबकि मुनि छोगजी ने सं. 1927 तक संघ में साधुता मानी है। इन दोनों की श्रद्धा में संगति हुई या नहीं? उक्त पत्र में वहां के सारे समाचार भी थे कि किस-किस ने कौन-सा चारित्र ग्रहण किया है तथा किस आधार पर ऐसा किया है।

जयाचार्य ने उक्त जिज्ञासा का उत्तर देते हुए फरमाया—‘नई दीक्षा में मुनि चतुर्भुजजी, छोगजी और हंसराजजी ने छेदोपस्थाप्य चारित्र लिया है जबकि मुनि फोजमलजी तथा जोतरामजी ने सामायिक चारित्र। साध्वियों में भी हरखूजी, वृद्धांजी और बरजूजी ने

422 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
छेदोपस्थाप्य तथा महाकंवरजी ने सामायिक चारित्र लिया है।¹ सामायिक चारित्र उन्हें ही
दिया गया है जो सं. 1927 के पश्चात् संघ में दीक्षित हुए थे। इस दीक्षा क्रम को मुनि
चतुर्भुजजी ने स्वीकार कर लिया है तब संघ में सं. 1927 तक की साधुता उन्हें स्वतः ही
मान्य हो गई। उसे केवलीगम्य करने की कहां आवश्यकता रही? परन्तु उन्होंने ऐसा किया
है, अतः मानना होगा कि या तो वे अपने पूर्वग्रह का पोषण कर रहे हैं या फिर किसी
नये मायाचार की सृष्टि। दूसरों के साथ उनकी संगति क्या बिठाई जाये, जबकि उनके
स्वयं के कार्यों में ही परस्पर संगति नहीं बैठती। उन्होंने संघ से पृथक् होने के पश्चात् सं.
1922 में एक क्षत्रिय को दीक्षित किया। यदि वे उस समय स्वयं में साधुता नहीं मानते थे
तो किसी अन्य को दीक्षा देने का उन्हें क्या अधिकार था? सुनते हैं कि सं. 1920 से 36
तक असाधु होते हुए भी उन्होंने स्वयं को साधु कहलवाने का जो मायाचार सेवन किया,
उसका प्रायश्चित्त लिया है। परन्तु जब उस अवधि में वे स्वयं को असाधु घोषित करते हैं
तब प्रायश्चित्त किस बात का लिया? प्रायश्चित्त तो साधुता में दोष लगे तभी लिया जाता
है। असाधु को तो नई दीक्षा ही लेनी होती है, प्रायश्चित्त से उसका काम नहीं चलता।’
इस प्रकार जयाचार्य ने आंचलियाजी की जिज्ञासाओं का समाधान करते हुए उन लोगों की
दीक्षा-प्रक्रिया के अनेक पारस्परिक विरोधों का दिग्दर्शन कराया।

वह उत्तर-पत्र जैसे ही सरदारशहर पहुंचा, सब में एक हलचल मच गई। पत्र क्या
था, एक विस्फोटक ही था। उसमें उठाए गये मुद्दों में से किसी एक का भी उत्तर मुनि
चतुर्भुजजी आदि के पास नहीं था। फलतः उनमें परस्पर मतभेदों का ऐसा तूफान उठा कि
एक ही धक्के में नव-निर्मित संगठन धराशायी हो गया। चतुर्मास भी पूर्ण नहीं हो पाया
कि कार्तिक मास में मुनि चतुर्भुजजी तथा मुनि छोगजी परस्पर सगे भाई होते हुए भी एक-
दूसरे से सदा के लिए पृथक् हो गये।

विद्रोह की अन्त्येष्टि

विद्रोह की रीढ़ इतनी सहजता से टूट जायेगी, ऐसी किसी को आशा नहीं थी,
परन्तु वह बहुत ही निर्बल सिद्ध हुई। सरदारशहर के वातावरण में सहज ही तब एक
परिवर्तन आया। जहां प्रतिकूलता ही प्रतिकूलता का क्षार भरा था वहां अनुकूलता की
हरियाली लहलहा उठी। वर्षों के प्रयास से जो कार्य नहीं हो पाया वह कुछ ही दिनों में
स्वतः सम्पन्न हो गया। वहां के अधिकांश श्रावक तेरापंथ की छत्रछाया में आ गये। जो
शेष रहे उन्हें भी अपनी स्थिति पर पुनः चिन्तन की आवश्यकता हुई।

सं. 1937 का चतुर्मास समाप्त कर जयाचार्य जयपुर के ही पाश्वर्वती क्षेत्रों में
विहार कर रहे थे। सरदारशहर के श्रावकों ने अपने वहां की सारी स्थिति का विवरण
जयपुर भेजा और प्रार्थना करवाई कि ऐसे अवसर पर यदि आचार्यश्री का पदार्पण यहां हो

1. हरखूजी आदि 5 साध्वियां संघ से पृथक् हुई थीं, परन्तु नई दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व ही छोटे छोगजी की
माता सेरांजी पुनः गण में सम्मिलित हो गई।

जाए तो बहुत लाभ होने की संभावना है। पत्र में आगे लिखा था—मुनि कालूजी का भी यही चिन्तन है। वे आचार्यश्री के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

जयाचार्य को लगभग 17 वर्षों तक निरन्तर उस संघर्ष के विभिन्न दबावों का सामना करना पड़ा था। बचाव और आक्रमण की उनकी संवलित नीति ने ध्वंसात्मक शक्ति को पराजित कर दिया। सरदारशहर से आये संवादों से पता चला कि अब उस विजय का लाभ उठाने का अवसर आ गया है। आचार्यश्री ने थली की ओर विहार करने का विचार किया। अक्षय तृतीया के दिन वे जयपुर से प्रस्थान कर देना चाहते थे। परन्तु श्रावकों के अनुरोध ने उन्हें वहीं रोक लिया। वृद्धावस्था तथा बढ़ता हुआ ग्रीष्मकाल—ये दोनों भी रुकने में हेतु बने।

जयाचार्य के शासनकाल में तूफान की तरह उठा वह विद्रोह अपनी ही विसंगतियों के कारण शीघ्र ही काल-कवलित हो गया। अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में उन्होंने उसकी अन्त्येष्टि होते देख ली। फलतः संघर्षों के सभी घेरे छिन्न-भिन्न हो गये। उससे जयाचार्य ने पूर्णतः निश्चिंतता का अनुभव किया। मधवागणी का भावी शासनकाल सहज ही निरापद हो गया। उसी समय से सरदारशहर तेरापंथ की गतिविधियों का मुख्य केन्द्र बन गया।

जीवन-प्रसंग, अनेक रंग

हीरों के समान

जयाचार्य का जीवन बड़ा ही घटनाप्रधान रहा है। अनेक घटनाओं का उल्लेख पीछे विविध प्रसंगों में किया जा चुका है, फिर भी बहुत से ऐसे घटना-प्रसंग अवशिष्ट हैं जो पूर्वोलिखित किसी विषय-विशेष से सम्बन्धित न होने पर भी उनके जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालने में बड़े महत्वपूर्ण हैं। प्रस्तुत अध्याय में उन स्फुट जीवन प्रसंगों का संकलन किया गया है। ये तराशे हुए उन छोटे-बड़े हीरों के समान हैं, जो किसी आभूषण में न जड़े होने पर भी अपने-आप में पूर्ण हैं, तथा अपनी अनेक रंगों वाली चमक से सभी को प्रभावित करते हैं। बहुमूल्यता तो उनकी प्रत्येक परिस्थिति में होती ही है।

गुरु-भक्ति

सं. 1883 के शेषकाल की घटना है। ऋषिराय उस समय मालव-यात्रा कर रहे थे। मुनि जीत उनके साथ थे। उस यात्रा के अन्तर्गत ग्रीष्मकाल में ऋषिराय 'झाबुआ' की ओर पथरे। उस प्रदेश में बहुत गहन जंगल है। कहावतों में आज भी 'झाड़ीबंको झाबुओ' प्रसिद्ध है। एक दिन वहां के बीहड़ जंगल में से विहार करते समय ऋषिराय आगे-आगे चल रहे थे और उनके चरणों का अनुसरण करते हुए थोड़े-से पीछे मुनि जीत चल रहे थे। अचानक सामने की झाड़ियों में कुछ हलचल हुई और उधर सबका ध्यान जाए, इतने में तो एक भीमकाय भालू मार्ग पर आ खड़ा हुआ।

'आप ठहरिये, आगे मुझे आने दीजिए' मुनि जीत ने पीछे से कहा और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना तत्काल लपक कर वे आगे आ गये। भालू ने मार्ग में खड़े होकर एक क्षण के लिए उधर देखा और संभवतः एक महान् पदयात्री के मार्ग में बाधक बनना अनुपयुक्त समझकर दूसरी ओर की झाड़ियों में घुसकर अदृश्य हो गया। उपसर्ग का भय टल जाने पर ऋषिराय अपने शिष्य-वर्ग के साथ गन्तव्य की ओर आगे बढ़ गये। युवक मुनि जीत का साहस और गुरु-भक्ति सबके लिए उदाहरण बन गई।

ऋण-मुक्ति

प्रत्येक सन्तान पर माता के उपकारों का इतना ऋण होता है कि आजीवन उनकी उत्कृष्ट कोटि की शारीरिक सेवाएं करके भी व्यक्ति ऋण-मुक्त नहीं हो सकता। उससे

मुक्ति तभी मिलती है जब वह उनके आत्मोत्कर्ष में सहयोगी बनता है। मुनि जीत ने अपनी माता साध्वी कल्लूजी के आत्मोत्कर्ष में सहयोग दिया और मातृ-ऋण से मुक्त हुए।

साध्वी कल्लूजी एक तपस्विनी साध्वी थीं। अपने साधना-काल में उन्होंने अनेक लम्बी तपस्याएं की थीं। जीवन के सान्ध्य में उन्होंने ऋषिराय से संलेखना की स्वीकृति मांगी। आचार्यश्री ने कहा—‘अभी तुम्हारी शक्ति अच्छी है। संलेखना के लिए इतनी शीघ्रता क्या है?’ साध्वीश्री ने कहा—‘गुरुदेव! मेरे मन में सहज ही यह भावना उठी है कि अब मुझे संलेखनापूर्वक समाधि मरण की तैयारी करनी चाहिए, तपस्या से मेरा लगाव सदा रहा है। आप मुझे स्वीकृति प्रदान करने की कृपा करें।’ अत्यन्त आग्रहपूर्वक उन्होंने स्वीकृति प्राप्त की और संलेखना प्रारम्भ कर दी। उन्होंने तपस्या को क्रमशः वृद्धिंगत करते हुए अपने शरीर को एकदम कृश कर लिया।

सं. 1886 का वर्षाकाल पाली में सम्पन्न कर ऋषिराय मिगसर मास में खैरवा पधारे। वहां साध्वी कल्लूजी को दर्शन दिये। मुनि जीत भी जोधपुर से वहां पहुंच गये। मुनि सरूपचंदजी तथा मुनि भीमराजजी भी आ गये। गुरुदेव तथा तीनों पुत्रों को एक साथ अपने पास पाकर साध्वीश्री हर्ष से गद्गाद हो गई। ऋषिराय उन्हें प्रतिदिन दर्शन देते और अमृतमय शिक्षा प्रदान करते। मुनि जीत भी वैराग्य-रस भरी चर्चाओं द्वारा उनके परिणामों की श्रेणी को उच्चतर बनाते। आचार्यश्री ने पच्चीस दिन वहां ठहर कर थली की अपनी प्रथम यात्रा के लिए प्रस्थान कर दिया। मुनि सरूपचंदजी और मुनि जीतमलजी भी उनके साथ ही विहार कर गये। मुनि भीमराजजी कुछ दिनों के लिए वहां ठहरे।

सबके विहार कर जाने के पश्चात् साध्वीश्री ने पौष मास से अपनी तपस्या को एक साथ ही उग्र बना दिया। पहले-पहल उन्होंने मासखमण किया, फिर ग्यारह दिनों की तपस्या, फिर अठाई और फिर लम्बे समय तक एकान्तर तप किया। फिर आजीवन अनशन ग्रहण कर सं. 1887 श्रावण शुक्ला 13 को देह-त्याग कर दिया।

क्या बाकी रहा है?

जयाचार्य का आगम-ज्ञान बाल्यकाल से ही अत्यन्त प्रौढ़ था। अनेक आगम उनको कंठस्थ थे। जो कंठस्थ नहीं थे उनके भी सहस्रों पद्य-प्रमाण मुक्त पाठ उनको याद थे। फिर भी उनकी इच्छा हुई कि सबसे बड़े आगम भगवती को कंठस्थ किया जाये। अपनी भावना को उन्होंने ऋषिराय के सम्मुख रखा तो सहज ही उनके मुख से ये शब्द निकले कि जीतमल! भगवती के अधिकांश पाठ तो तुझे यों ही कंठस्थ हैं, फिर सीखना क्या बाकी रह गया है?

आचार्यश्री के उन शब्दों के आधार से मुनिश्री के श्रद्धालु मन ने माना कि वे इसे अनावश्यक समझते हैं। उसके पश्चात् उन्होंने उस विचार को सदा के लिए त्याग दिया।

स्तबकार्थ

एक बार जयाचार्य ने चन्द्रप्रज्ञनि और सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र का स्तबकार्थ (लघु-व्याख्या) लिखना प्रारम्भ किया। उक्त दोनों आगमों का सम्बन्ध खगोल से है। गणित उसका मूल आधार है। माना जाता है कि कुछ विशिष्ट मंत्र भी उनमें हैं। उक्त सभी विषय जयाचार्य की रुचि के थे। उन्होंने उनका गहन अवगाहन किया और फिर स्तबकार्थ के कार्य को वे शीघ्रता से आगे बढ़ाने लगे।

एक दिन एक वयोवृद्ध स्थानकवासी मुनि उनसे मिले और पूछने लगे कि आजकल क्या कार्य चल रहा है? जयाचार्य ने स्तबकार्थ की बात बतलाई। वृद्ध मुनि काफी अनुभवी थे तथा तेरापंथ के प्रति अत्यन्त अनुकूल भावना रखते थे। उन्होंने जयाचार्य से कहा—‘इन आगमों पर प्राचीन आचार्यों ने भी विशेष-कुछ नहीं लिखा है। इसका कोई न कोई विशेष कारण है।’ उन्होंने फिर कोई रहस्यभरी बात उनके कान में कही। आचार्यश्री ने तब उस परामर्श को हितकर माना और स्तबकार्थ लिखना स्थगित कर दिया। जितना लिखा गया था वह आज भी संघ के ग्रन्थागार में विद्यमान है।

पंचांग निर्माण

जयाचार्य जहां जैन तत्त्व-ज्ञान के धुरीण विद्वान् थे, वहां अन्य विषयों में भी उनकी असाधारण गति थी। उनके प्रिय विषयों में से एक गणित-ज्योतिष भी था। जैन पर्वों के विषय में अन्य जैन सम्प्रदायों में विभिन्न मतभेदों को देखकर उनके मन में एक बार यह विचार उठा कि क्यों नहीं जैन पद्धति से एक शत-वर्षीय पंचांग की रचना की जाए? समग्र जैन-समाज उसे मान्य करे तो अत्युत्तम, अन्यथा तेरापंथ की आवश्यकता तो उससे पूर्ण हो ही जाएगी। इन्हीं विचारों के आधार पर उन्होंने शत-वर्षीय पंचांग का निर्माण प्रारम्भ कर दिया।

एक स्थानकवासी मुनि उन्हीं दिनों जयाचार्य से मिले। वे आचार्यश्री के शास्त्रीय ज्ञान और विद्वत्ता से बहुत प्रभावित होने के कारण उन्हें बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा करते थे। शतवर्षीय पंचांग-निर्माण विषयक बातचीत चलने पर उन्होंने कहा—‘आप इस विषय पर फिर से विचार कीजिए। आपकी प्रतिभा के विषय में मुझे कोई संदेह नहीं है, फिर भी वह जैनों के सभी संप्रदायों को मान्य हो जाएगा, इसमें मुझे संदेह है। कहीं ऐसा न हो जाए कि इस नये पंचांग को लेकर जैनों में परस्पर एक मतभेद और बढ़ जाए।’ जयाचार्य को उनके कथन में कुछ सार लगा। उन्होंने उसी दिन से उस कार्य को स्थगित कर दिया।

ऊधरीखा

सं. 1889 में अग्रणी अवस्था में मुनि जीत दिल्ली पधारे। वहां प्रातः शौचार्थ यमुना नदी की ओर गये। नदी की रेत में अंकित उनके पद-चिह्नों को एक रेखा-विशेषज्ञ (सामुद्रिक विद्वान्) ने देखा। ऊधरीखा-युक्त उस पद-पंक्ति ने उसे विस्मय और सन्देह

के चक्र में फंसा दिया। विस्मय उसे इस बात का था कि सप्राट् जैसे रेखा-चिह्नों वाला यह व्यक्ति यहां नंगे पैर क्यों धूमने आया? सन्देह उसे यह होने लगा कि ऐसी रेखाओं वाला व्यक्ति भी जब नंगे पैरों धूम रहा है तब सामुद्रिक-शास्त्र की सत्यता का कैसे विश्वास किया जा सकता है? विविध विकल्पों में डूबता-उतराता वह पद-चिह्नों का अनुगमन करता हुआ आगे बढ़ा। मुनि जीतमलजी आगे-आगे ही जा रहे थे। वह उनके पास पहुंचा। नमस्कार करके उनसे परिचय किया और फिर वार्तालाप करने लगा। उनके व्यक्तित्व तथा वार्तालाप के प्रकार से प्रभावित होकर कहने लगा—‘मैं सप्राट् जैसे इन चरण-चिह्नों को देख कर बड़ा असमंजस में पड़ गया था, पर अब निस्संदेह कह सकता हूं कि आप परिव्राट् हो गये हैं तो क्या हुआ, आपकी रेखाएं कह रही हैं कि अवश्य ही एक दिन आप परिव्राजक संघ के सप्राट् बन जायेंगे।’

तपस्या की अभिरुचि

मुनि अवस्था में जयाचार्य की अभिरुचि आगम-ज्ञान तथा साहित्य-रचना की ओर तो थी ही, पर कभी-कभी वो तपस्या की ओर भी हुआ करती थी। सं. 1875 के पाली चतुर्मास में उन्होंने 42 उपवास किये। उस समय उनकी अवस्था प्रायः 15 वर्ष की ही थी। उपवास आदि के अतिरिक्त उन्होंने कई बार अन्य तपस्याएं भी कीं। सं. 1884 में जब वे ऋषिराय के साथ मालव-यात्रा पर थे, तब पेटलावद-चतुर्मास में उन्होंने आछ के आगार से पन्द्रह दिनों की तपस्या की। इसी प्रकार सं. 1890 (चै. 1891) में चैत्र शुक्ला 1 से उन्होंने एकान्तर तप प्रारम्भ किया, वह काफी समय तक चलता रहा। परन्तु वह कब तक चला, इसका कोई निश्चित उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

व्यवहार से साधु

सं. 1911 के रत्नाम-चतुर्मास में एक दिन विभूतिसिंहजी पटवा आदि कुछ मूर्ति-पूजक श्रावक जयाचार्य से चर्चा करने के लिए आए। वे अपने साथ एक ब्राह्मण को भी कुछ सिखा-पढ़ा कर लाये। पंडितजी ने चर्चा करते हुए जयाचार्य को कहीं न कहीं अटका देने की भावना से पास में बैठे हुए एक साधु की ओर संकेत करके पूछा—‘आप इन्हें क्या समझते हैं?

जयाचार्य पंडितजी की भावना को तत्काल भाँप गये, अतः सीधा उत्तर नहीं देते हुए उन्हीं से प्रश्न किया—‘किसी व्यक्ति से कोई पूछे कि उसके पिता का क्या नाम है? तब उसे अपने पिता का नाम किस आधार पर बताना चाहिए?’

इस पर पंडितजी तो कुछ नहीं बोले, क्योंकि उन्हें उस उत्तर के साथ ही अपने प्रश्न के समाप्त हो जाने की झलक दिखाई देने लगी, परन्तु नहीं बोलना भी साथ के व्यक्तियों को कुछ अपने पक्ष को हीन करने वाला लगा, अतः पटवाजी ने कहा—‘मूलतः तो उसकी माँ ही जानती है, पर व्यवहार के आधार से जिसका बेटा होता है, उसी का नाम बतलाया जाता है।’

जयाचार्य बोले—‘बस, इसी तरह मूलतः तो यह जैसा केवली स्वीकार करते हैं, वैसा है, पर व्यवहार से हम इसे साधु समझते हैं।’

पंडितजी की सारी चालाकी धरी रह गई। उन्होंने तो सोचा था कि जब ये उसे साधु कहेंगे तब मैं उनकी बात पकड़ कर ‘मिच्छामि दुक्कडं’ दिलाऊंगा, क्योंकि सर्वज्ञ हुए बिना वे उसे निश्चित रूप से साधु कैसे कह सकते हैं? परन्तु उसे क्या पता था कि जयाचार्य जैसे मर्मज्ञ आचार्य उसके छल में कैसे फंस सकते हैं?

कितने आगम?

युक्ति-संगत उत्तर देने में जयाचार्य प्रारम्भ से ही बिलकुल निपुण थे। कौन व्यक्ति किस दृष्टिकोण से पूछ रहा है, यह सब वे तत्काल भाँप लिया करते थे। शास्त्रों के अस्वलित ज्ञान और उत्तर देने की निरूपम पद्धति ने उनको अजेय बना दिया था। अपनी अग्रणी अवस्था में सं. 1889 का चतुर्मास उन्होंने दिल्ली में किया। उससे पूर्व शेषकाल में जब वे दिल्ली में रहे तब एक बार मूर्तिपूजक समाज के बहुत-सारे व्यक्ति मिलकर उनसे चर्चा करने के लिए आये। उन सबका नेतृत्व करते हुए किसनचन्दजी ओसवाल ने प्रश्न उपस्थित किया कि आप आगम कितने मानते हैं?

जैनों में यह एक विवादाप्यद प्रश्न रहा है। विभिन्न सम्प्रदायों के लोग आगमों की विभिन्न संख्या स्वीकार करते हैं। दिग्म्बर जहां मूल-आगमों का विच्छेद होना मानते हैं, वहां श्वेताम्बरों में आगमों की बत्तीस, पैंतालीस और चौरासी तक संख्या मानी जाती है। कुछ तो ऐसे भी हैं, जो नियुक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीका और टब्बा-आगमों के इन पांचों व्याख्या ग्रन्थों को भी आगमवत् ही प्रमाण मानते हैं। मुनि जय इन विवादों के जंगल में बात को उलझाना नहीं चाहते थे, अतः एक नये ही मार्ग का अवलम्बन करते हुए उन्होंने आगम की भाषा में उत्तर दिया—‘हम तीन आगम मानते हैं : सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम।’

प्रश्नकर्ता किसनचन्दजी ओसवाल उस उत्तर से बहुत झुंझलाये। बत्तीस, पैंतालीस और चौरासी आगमों की संख्या के विषय में वे अनेक तर्क प्रस्तुत करना चाहते थे, परन्तु मुनि जय के उस उत्तर के आगे वे सब धरे-के-धरे ही रह गये। उन्होंने तब नये तर्क को टटोलते हुए पूछा—‘तो फिर आप नियुक्ति, भाष्य आदि व्याख्या-ग्रन्थों को मानते हैं या नहीं?’

मुनि जय ने कहा—‘सूत्रागम से मेल खाने वाली व्याख्या-ग्रन्थों की सभी बातें हमें मान्य हैं।’

प्रश्नकर्ता ने अपने व्यंग्य पर धार देते हुए कहा—‘तब आपको चार आगम मानने होंगे? तीन तो अभी आपने बतलाए ही हैं। अब यह ‘मिलतागम’ चौथा और हो गया।’

मुनि जय भी कब चूकने वाले थे। उन्होंने कहा—‘तब फिर आप लोगों का तो चार से भी निस्तार नहीं होगा। एक ‘अ-मिलतागम’ और मानना पड़ेगा, क्योंकि नियुक्ति, भाष्य आदि में अनेक ऐसे प्रसंग भी तो हैं जो मूल आगमों से विरुद्ध जाते हैं।’

इसके प्रत्युत्तर में कोई कुछ भी नहीं कह पाया। वे सब एक-दूसरे के मुंह की ओर ताकते रह गये।

खीर नहीं, रुपया

सैद्धान्तिक विषयों को सैद्धान्तिक तर्कों के आधार पर सुलझाने में जयाचार्य अद्वितीय माने जाते थे। परन्तु प्रश्नकर्ताओं की पैंतरेबाजी से भी वे कभी झुंझलाते नहीं थे। ‘जैसे को तैसा’ उत्तर देकर वहां भी वे उन्हें निरुत्तर कर दिया करते थे।

सं. 1889 के दिल्ली-चतुर्मास से पूर्व शेषकाल की बात है। एक चर्चा-प्रसंग में मुनि जय ने मिथ्यात्वी की ब्रह्मचर्यादि क्रिया को निरवद्य और उपादेय बतलाया। भगवती आदि आगम-स्थलों के उद्धरणों से उन्होंने अपने मन्तव्य को इस प्रकार पुष्ट किया कि प्रतिवादियों के लिए उसका सीधा खण्डन कर पाना सम्भव नहीं रहा। उन लोगों ने तब अपना पैंतरा बदला और दृष्टान्त का आधार लेते हुए कहा—‘माना, मिथ्यात्वी की उक्त प्रकार की क्रिया बहुत अच्छी है, पर वह भंगी के घर की खीर है। उसे कोई भी खाना पसन्द नहीं करता।’

मुनि जय ने तब बराबर का प्रतिदृष्टान्त देते हुए कहा—‘खीर नहीं, आप उसे भंगी के घर का रुपया कहिये। उसे लेने में किसी को कोई झिझक नहीं होती।’ प्रतिवादियों को उसका उत्तर देते नहीं बना। विवशता से उन्हें चुप हो जाना पड़ा।

लक्ष्य-वेद

जैन परम्परा मूलतः जातिवाद को मान्य नहीं करती, फिर भी कालान्तर में वह इतर परम्पराओं के प्रभाव में पड़कर उसी जाल में फँस गई। उस स्थिति में किसका अन्न-जल ग्राह्य है और किसका नहीं, यह प्रश्न सदियों तक एक महत्वपूर्ण और चर्चनीय विषय बना रहा। जयाचार्य के सम्मुख भी समय-समय पर यह प्रश्न उभरता रहता। वे प्रश्नकर्ताओं के मानसिक परिप्रेक्ष्य से जोड़कर उसका बड़ा सटीक उत्तर दिया करते। उनका उत्तर उस तीर के समान होता, जो अपने लक्ष्य को ठीक विद्ध करता है।

युवाचार्य अवस्था में जय सं. 1907 में जयपुर से थली की ओर पधार रहे थे। मार्ग में कुचामन भी कुछ दिन ठहरे। वहां एक दिन दिगम्बर आम्नाय के कुछ व्यक्ति आये और कहने लगे—‘आप लोग महाजनों के अतिरिक्त अन्य घरों से भी आहार-पानी ग्रहण करते हैं, यह अनुचित है। हमारे मुनि तो सरावगियों के अतिरिक्त अन्य किसी के घर से आहार नहीं लेते।’

युवाचार्य जय ने कहा—‘जिन घरों में मांसाहार को वर्जनीय माना जाता है, हम उनके यहां से आहार-पानी ग्रहण करने में कोई दोष नहीं मानते। महाजन भी तो उनके हाथ का अन्न-जल ग्रहण करते हैं।’

आगन्तुक व्यक्तियों ने कहा—‘श्वेताम्बर लोग ही ऐसा करते होंगे, हम दिगम्बर तो नहीं करते। हम तो मानते हैं कि शूद्र के स्पर्श से अन्न-जल अपवित्र हो जाता है। वैसा भोजन ग्रहण करने वालों की बुद्धि विकृत हुए बिना नहीं रह सकती।’

युवाचार्य जय ने बात को घुमाव देते हुए पूछा—‘तुम लोगों के वैवाहिक सम्बन्ध कहां-कहां होते हैं।’

सरावगियों ने कहा—‘वे तो नागौर, लाडनूं और सुजानगढ़ आदि में ही होते हैं।’

युवाचार्य जय ने कहा—‘नागौर का तो हमें पूरा पता नहीं है, परन्तु लाडनूं और सुजानगढ़ में तो हमने देखा है कि सरावगियों और ओसवालों के पारस्परिक संबंध बहुत अच्छे हैं। ओसवालों के घरों में भोजन पकाने के लिए ब्राह्मण, राजपूत, जाट, सेवग तथा नाई आदि विभिन्न जातियों की स्त्रियां रहती हैं। सरावगियों की लड़कियां ओसवालों के यहां भोजन करने में कोई संकोच नहीं करतीं। फिर वे ही लड़कियां विवाहित होकर आपके घरों में आती हैं। तब फिर उनके हाथ का पकाया भोजन आप तथा आपके मुनि ग्रहण करेंगे या नहीं?’

सरावगी बोले—‘उनका पकाया भोजन ग्रहण नहीं करेंगे तो जायेंगे कहां?’

युवाचार्य जय ने बात का उपसंहार करते हुए कहा—‘तब फिर दूसरों की अपेक्षा अपने को अधिक पवित्र मानने के अहंकार की व्यर्थता तो सिद्ध हो ही जाती है।’

उन सबके सम्मुख सारी स्थिति स्पष्ट हो चुकी थी, अतः मौनावलम्बन के अतिरिक्त कोई मार्ग शेष नहीं था।

मैं ही बैठा हूं न!

जयपुर के अन्तिम प्रवास सं. 1937-38 में जयाचार्य के पास एक जौहरी आया करते थे। वे मूर्तिपूजक आमनाय के थे। तत्त्व-चर्चा में रुचि रखने के कारण यदा-कदा अपनी जिज्ञासाओं के समाधानार्थ वहां आ जाया करते थे। जयाचार्य द्वारा प्रदत्त समाधान उन्हें शास्त्रीय होने के साथ-साथ तर्कसंगत भी प्रतीत होते थे। वे बहुधा कहा करते—‘मेरी जिज्ञासाओं को तो जयाचार्य ही ढंग से समाहित करते हैं। हमारे साधुओं से पूछता हूं तो उनसे अध्यक्षरे उत्तर ही प्राप्त होते हैं। उनके आधार पर कोई निःशंक धारणा नहीं बनाई जा सकती। मुझे तो जयाचार्य के उत्तरों से ही मनस्तोष मिलता है, इसलिए बार-बार यहां उपस्थित होता हूं।’

एक बार जौहरीजी काफी दिनों से आये। जयाचार्य के उन दिनों अस्वस्थता चल रही थी। इस बात का उन्हें पता था, अतः बन्दन और सुख-पृच्छा के पश्चात् वे वहां बैठे नहीं। पाश्वर्वर्ती किसी मुनि से उन्होंने पूछा—‘मघजी महाराज कहां विराजते हैं?’ जयाचार्य को बहुत आश्चर्य हुआ कि आज मघजी से इन्हें ऐसा कौनसा विशेष काम है? उन्होंने पूछ ही लिया—‘क्यों जौहरीजी! आज मघजी को क्यों पूछ रहे हो?’

जौहरीजी—‘कार्यवश कई दिनों से यहां आ नहीं पाया। अनेक जिज्ञासाएं एकत्रित हो गईं। उनके समाधान के लिए ही मघजी महाराज की खोज कर रहा था।’

जयाचार्य—‘मैं ही बैठा हूं न! यहीं पूछ लो। मुझे आयेगा उतना मैं बतला दूंगा, शेष रहेगा वह मघजी महाराज से पूछ लेना।’

जौहरीजी ने सकुचाते हुए कहा—‘आप यह क्या फरमा रहे हैं? आप अस्वस्थ हैं, इसलिए आपको कष्ट देना उचित न समझकर मैं मध्यजी महाराज को पूछ रहा था।’

जयाचार्य—‘तुम्हारे प्रश्नों का समाधान कर सकने जितना तो स्वस्थ हूँ ही। तुम निस्संकोच पूछो।’

जौहरीजी तब वहीं बैठे और अपने प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने में लग गये।

नरकगामी आचार्य

जौहरीजी द्वारा जयाचार्य के सम्मुख उपस्थित किए गये अनेक प्रश्नों में एक यह था कि महानिशीथ में उल्लिखित है कि इस पंचमकाल में 55 करोड़, 55 लाख, 55 हजार, 555 आचार्य नरकगामी बनेंगे। तो वे सब आप वालों में से होंगे या हमारे वालों में से?

प्रश्न सुनकर जयाचार्य बहुत हँसे। सीधा उत्तर न देकर उन्होंने जौहरीजी से प्रश्न किया—‘क्या करते हो?’

जौहरीजी बोले—‘वह तो आप से छिपा हुआ नहीं है। मैं जवाहरात का कार्य किया करता हूँ।’

जयाचार्य—‘माल कहां रखते हो?’

जौहरीजी—‘तिजोरी में।’

जयाचार्य—‘तिजोरी की चाबी एक हाथ में ही रहती है या जिस-किसी को सौंप देते हो?’

जौहरीजी—‘यह कैसे हो सकता है? चाबी तो मैं अपने पास ही रखता हूँ। जिस-किसी को सौंपने से तो सारा धंधा चौपट हो जाए।’

जयाचार्य—‘तुम ठीक कहते हो। एक के हाथ में चाबी रहने से ही घर का या व्यापार का कार्य सुचारू रूप से चल सकता है। अन्यथा वह बिगड़े बिना नहीं रहता। अब इसी बात को हमारे संघ पर लागू करके देख सकते हो। इस संघ की चाबी सदैव एक के हाथ में रहती है। इसीलिए 120 वर्ष हो जाने पर भी यह सुव्यवस्थित चल रहा है। इतने वर्षों में तेरापंथ में केवल 4 आचार्य हुए हैं। अब तुम थोड़ा हिसाब लगाकर देखो कि इस क्रम से पंचमकाल की समाप्ति तक तेरापंथ में कितने आचार्य हो सकते हैं? यदि हमारी साधना शुद्ध नहीं होगी और हम सबके सब नरकगामी हो जाएंगे, फिर भी हमारे से उपर्युक्त संख्या की पूर्ति तो सम्भव नहीं हो पायेगी।’

जौहरीजी—‘आप ठीक फरमा रहे हैं। इस क्रम से तो पंचमकाल की समाप्ति तक लगभग साढ़े छह सौ आचार्य ही हो पायेंगे।’ एक क्षण रुकने के पश्चात् उन्होंने कहा—‘तब फिर यह गड़द्वा तो हमारे वालों से भरता दिखाई देता है। हमारे यहां आचार्यों की भरमार रहती है।’

गोद ही दिया सही

जयाचार्य बड़े व्यवहारकुशल व्यक्ति थे। किस व्यक्ति को कैसे प्रभावित किया जा सकता है, इस विषय में वे बहुत निपुण थे। जो कार्य सौ उपदेशों और दबावों से नहीं सुलझता, उसे वे एक व्यावहारिक बात की चुटकी बजाते ही सुलझा लेते। सं. 1900 की बात है। युवाचार्य जय का चतुर्मास लाडनू में था। वहां से तेजपालजी गोलेछा संयम ग्रहण करने को उद्यत हुए, परन्तु उनके पिता ढूंगरसिंहजी ने आज्ञा प्रदान करने से इनकार कर दिया। सन्तों के अनेक उपदेश तथा श्रावकों के अनेक दबाव उन्हें अपने निर्णय से विचलित नहीं कर सके। जब किसी भी प्रकार से काम बनता दिखाई नहीं दिया तब तेजपालजी ने युवाचार्य जय से प्रार्थना की कि आप थोड़ा पिताजी को समझाएं तो मेरा कार्य सहज हो सकता है, अन्यथा वे तो आज्ञा न देने पर अड़े हुए हैं।

एक दिन युवाचार्यश्री ने बातचीत के प्रसंग में ढूंगरसिंहजी से कहा—‘आज्ञा देने में तुम्हें इतनी कठिनाई क्यों होनी चाहिए? तुम्हारा पुत्र कोई ऐसे-वैसे स्थान पर थोड़े ही जा रहा है। शासन में आकर वह जहां अपना कल्याण करेगा, वहां तुम्हारे लिए भी धार्मिक प्रेरणा का स्रोत बनेगा।’

ढूंगरसिंहजी युवाचार्य के सम्मुख स्पष्ट निषेध तो नहीं कर पाये, परन्तु आज्ञा देने को उद्यत भी नहीं हुए। उन्होंने अन्यमनस्कता दिखलाते हुए उस प्रसंग को टालना चाहा। युवाचार्य ने उनकी मनःस्थिति को परखा और अपने कथन को आत्मीयता की ओर मोड़ते हुए कहा—‘तुम द्विजक क्यों रहे हो? तुम भी गोलेछा हो और मैं भी। समझ लेना कि पांच पुत्रों में से एक को गोद ही दे दिया।’

युवाचार्यश्री की आत्मीयताभरी इस तनिक-सी बात ने ढूंगरसिंहजी को गद्गद कर दिया। अनेक महीनों से उलझी हुई गुत्थी क्षणभर में ही सुलझ गई। फलतः तेजपाल को आज्ञा प्राप्त हो गई और युवाचार्यश्री ने उन्हें दीक्षित कर लिया।

मानव-परीक्षा-दक्ष

जयाचार्य प्रारम्भ से ही मानव-परीक्षा में बड़े दक्ष थे। अग्रणी अवस्था में सं. 1887 में उन्होंने अपना चतुर्मास चूरू में किया। वह थली में तेरापंथ के प्रथम प्रवेश का ही समय था। अनेक भाई-बहिन उनके सम्पर्क में आए। उनमें से सरदारबाई की क्षमता और महत्ता को उन्होंने उसी समय आंक लिया। इसीलिए बड़ी तत्परता और सावधानी से उन्हें प्रतिबोध दिया, तत्त्व-ज्ञान सिखलाया और फिर संयम की ओर उन्मुख किया। वे उनके विरागभाव को परिपक्व बनाने के लिए उनकी ससुराल फलोदी में भी गये। और फिर युवाचार्य अवस्था में सं. 1897 में स्वयं ही उन्हें उदयपुर में दीक्षित भी किया। केश-लुंचन किसी साध्वी के द्वारा न करवा कर स्वयं नव-दीक्षिता को ही अपने हाथ से करने का निर्देश दिया। ये सब कार्य सरदारसती की महत्ता को पहले से ही पहचान लेने के कारण इस प्रकार किये गये।

सरदारसती भी जयाचार्य की परख के अनुरूप ही निकलीं। दीक्षा के प्रथम वर्ष में ही ऋषिराय ने उन्हें अग्रणी बना दिया। कालान्तर में जयाचार्य ने अपने युग के प्रारम्भ काल में ही उन्हें साध्वीप्रमुखा बना दिया।

लीक से हटकर

जयाचार्य बहुधा प्राचीन परिपाटी को महत्व दिया करते थे, परन्तु कभी-कभी उस लीक से हटकर स्वतन्त्र रूप से कार्य करके भी लोगों को चकित कर दिया करते थे। नीतिकारों ने कहा है—‘प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः, परोक्षे मित्र बाध्वाः’ अर्थात्, गुरुजनों की स्तुति उनके सम्मुख करनी चाहिए और मित्र, बन्धु तथा शिष्य आदि की परोक्ष में। परन्तु जयाचार्य ने इस नीति-वाक्य से बिलकुल विपरीत करके अपनी स्वतन्त्र कार्य-पद्धति का परिचय दिया।

मुनि हेमराजजी जयाचार्य के विद्यागुरु थे। परन्तु उनका जीवन-चरित्र उन्होंने उनके दिवंगत हो जाने के पश्चात् लिखा। इसके विपरीत जिनको प्रतिबोध देने से लेकर दीक्षित करने तथा साध्वीप्रमुखा बनाने तक का सारा श्रेय स्वयं जयाचार्य को ही था, उन सरदारसती का जीवन-चरित्र उनकी विद्यमानता में ही लिखकर उन्हें सुना दिया। उस जीवन-चरित्र की केवल एक अन्तिम गीतिका उनके दिवंगत हो जाने के पश्चात् लिखी गई थी।

विद्यागुरु के प्रति

जयाचार्य अपने विद्यागुरु मुनि हेमराजजी के प्रति अनन्य भक्ति रखा करते थे। सं. 1904 (चै. 1905) में वे दिवंगत हुए तब युवाचार्य जय को उनका जीवन-चरित्र लिखने की प्रेरणा देते हुए ऋषिराय ने कहा—‘नौ ढालों का नवरसा लिखो।’ युवाचार्य ने उनके कथन को शिरोधार्य किया और जीवन-चरित्र लिखना प्रारम्भ कर दिया। आठ ढालें बन जाने पर लगा कि अभी तो अन्तिम आराधना की सारी बातें अवशिष्ट हैं। ऋषिराय के मुख से सहज निकले शब्दों को बहुमान देते हुए उन्होंने उसे एक अनुल्लंघ्य आदेश के समान ही माना और अवशिष्ट समग्र विवरण एक ही ढाल में ग्रंथित करते हुए उसके 127 पद्य बनाये। गुरुजनों के वचनों का आदर करने की उनकी वह वृत्ति वस्तुतः अनुकरणीय थी।

परम मित्र के प्रति

मुनि सतीदासजी जयाचार्य के समवयस्क और बाल साथी थे। उनके दीक्षित होने में उनकी प्रबल प्रेरणा रही थी। वे दीक्षार्थी थे, परन्तु मां ने आत्महत्या की धमकी देकर उन्हें विवाह के लिए तैयार कर लिया। विवाह का दिन निश्चित हो गया और उसकी समग्र तैयारियां कर ली गईं।

मुनि हेमराजजी उन दिनों गोगूँदा आए थे। उनके साथ मुनि जीतमलजी भी थे। उन्होंने सतीदासजी से उनकी भावना के विषय में पूछा तो उन्होंने कहा—‘मेरे परिणाम तो

434 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
दीक्षा के पक्के हैं, परन्तु मां और बड़े भाई से आज्ञा कैसे प्राप्त करूं, यही कठिनाई है।' मुनि जीतमलजी (जयाचार्य) ने पारिवारिकों को समझाने का प्रयास किया। कालांतर में स्थानीय पंचों ने भी दबाव डाला। आखिर उन्हें आज्ञा प्राप्त हो गई। विवाह का एक 'बनोरा' उन्होंने खाया था। उसके स्थान पर अब दीक्षा के 'बनोरे' प्रारम्भ हो गये। सं. 1877 में वसन्त पंचमी के दिन मुनि हेमराजजी ने उनको दीक्षा प्रदान कर दी।

मुनि सतीदासजी ने दीक्षा की प्रथम रात्रि में दो उत्तरीय ओढ़े। मुनि जीतमलजी ने उनसे कहा—'वृद्धता के कारण मुनि हेमराजजी दो उत्तरीय ओढ़ते हैं। तुम युवा हो, तुम्हें एक ओढ़ना चाहिए। मैं भी एक ही ओढ़ता हूँ।' मुनि सतीदासजी ने उसी दिन से एक उत्तरीय ओढ़ना प्रारम्भ कर दिया। सत्ताइस वर्ष पश्चात् मुनि हेमराजजी के दिवंगत होने पर ऋषिराय के विशेष निर्देश पर उन्होंने दो उत्तरीय ओढ़ने स्वीकार किए।

जयाचार्य मुनि अवस्था में जब मुनि हेमराजजी के पास पढ़ा करते तब मुनि सतीदासजी को पढ़ाया भी करते। दोनों में परस्पर प्रगाढ़ सौहार्द था। जयाचार्य ने उनको अपना परम मित्र कहा है।

सं. 1908 में जयाचार्य आचार्य पद पर आसीन हुए। मुनि सतीदासजी अग्रणी थे। वे दर्शन करने के लिए लाडनूं पहुँचे। जयाचार्य ने एक मुनि को अपने पास रखा। मुनि सरूपचंदजी आदि शेष सभी मुनियों को उनकी अगवानी में भेज दिया। वे स्थान पर पहुँचे तब जयाचार्य ने हाथ पकड़कर उन्हें अपने बराबर पट्ट पर बिठा लिया। अनुश्रुति है कि रात्रिकाल में जयाचार्य को स्वप्न में किसी के कथन का आभास हुआ कि आचार्य किसी साधु को अपने बराबर न बिठाए। सम्मान देने के अन्य प्रकार बहुत हैं।

कितनी शूलें?

संसार में सुझाव देनेवालों की शायद ही कभी कोई कमी रही हो। जयाचार्य के पास भी विभिन्न प्रकार के सुझाव आते रहते थे। औचित्य की मात्रा देखकर वे उनमें से कुछ को स्वीकार कर लेते और कुछ को नहीं। परन्तु एक बार उन्हें ऐसे सुझाव पर भी ध्यान देना पड़ा, जिसका वे औचित्य नहीं मानते थे। घटना इस प्रकार हुई कि एक बार वे आमेट पधारे। वहां एक श्रावक ने सुझाव देते हुए कहा—'शूलों के घर में शूलों की संख्या का निर्धारण होना चाहिए। अन्यथा मुनिजन अनावश्यक ही बहुत सारी शूलें इकट्ठी कर लेते हैं।'

जयाचार्य ने फरमाया—'शूलें तो कांटे निकालने के काम आती हैं। वे विशेष स्थानों पर ही मिलती हैं, अतः जहां नहीं होतीं, वहां सन्तों को देने के लिए अधिक भी ले ली जाएं तो इसमें क्या दोष है?'

जयाचार्य के सम्मुख प्रत्युत्तर तो वह नहीं कर सका, परन्तु उसके मन में वह बात बैठी नहीं। धीरे-धीरे वही साधारण-सी बात आग्रह के रूप में परिणत हो गई। उसने आना-जाना छोड़ दिया। यहां तक कि वंदन-व्यवहार भी बंद कर दिया। कालांतर में जयाचार्य का पुनः आमेट में पदार्पण हुआ। एक दिन वह भाई मार्ग में मिल गया।

आचार्यश्री ने उसे बतलाया और सन्तों के पास आना-जाना छोड़ने का कारण पूछा। उसने कहा—‘मेरे हृदय में तो शूलें चुभ रही हैं, जब तक आप उनके लिए कोई नियम नहीं बना देंगे, तब तक मैं नहीं आऊंगा।’

जयाचार्य को उसका आग्रह अवश्य ही विचित्र लगा होगा, परन्तु वे मानव-मन की विचित्रताओं से अभिज्ञ थे, अतः स्यात् यही सोचा होगा कि यदि शूलों की संख्या निर्धारित कर देने मात्र से ही इसके श्रावकत्व की रक्षा होती है, तो क्यों न ऐसा कर दिया जाए? उन्होंने तब उस प्रौढ़ व्यक्ति के ‘बालहठ’ की पूर्ति करने के लिए यह नियम बनाया कि एक शूलों के घर में 13 शूलों से अधिक न रखी जाएं। उस श्रावक को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई और पूर्ववत् आने-जाने लग गया।

जयाचार्य ऐसी स्थितियों में ‘सांप मर जाए और लाठी भी न टूटे’ के सिद्धांत का अनुसरण किया करते थे। उक्त प्रकरण में भी उन्होंने वैसा ही किया। एक शूलों के घर में कितनी शूलें होनी चाहिए, यह निर्धारण तो उन्होंने कर दिया, परन्तु एक साधु को कितने शूलों के घर रखने चाहिए, इस विषय में कोई नियम नहीं बनाया। उसे उन्होंने साधु-साधियों के अपने विवेक पर ही छोड़ दिया।

दंड और वरदान

जयाचार्य मालव-यात्रा संपन्न करने के पश्चात् मेवाड़ में पधार गये। वहां पाली के श्रावक दर्शन करने के लिए आये और पाली में साधुओं के चतुर्मास की प्रार्थना करने लगे। चतुर्मास के लिए साधुओं और साधियों में किया गया वह भेद जयाचार्य को उचित नहीं लगा। उन्होंने प्रकारान्तर से उन लोगों को समझाया भी, पर वे उनके संकेत को स्पष्ट नहीं समझ पाए, अतः बार-बार उसी बात पर जोर देते रहे। जयाचार्य ने इस भेद-वृत्ति को मिटाने के लिए उन्हें सन्तों का तो क्या, सतियों का भी चतुर्मास नहीं दिया। श्रावक-वर्ग वहां कुछ दिन सेवा में रह कर वापस पाली आ गया और आशा लगाये रहा कि किसी-न-किसी का चतुर्मास तो करायेंगे ही। पाली जैसे प्रमुख क्षेत्र के खाली रहने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

जयाचार्य ने सं. 1912 का अपना चतुर्मास उदयपुर करने की घोषणा की तथा अन्य सब सिंघाड़ों के लिए भी चतुर्मास-क्षेत्र निश्चित कर दिये। उनमें पाली का नाम नहीं था। आषाढ़-पूर्णिमा समीप आ गई और पाली के लिए किसी सिंघाड़ की घोषणा नहीं हुई, अतः श्रावक बड़े चिन्तित हुए कि यह कार्य कैसे और क्यों हुआ? अब इतना समय भी अवशिष्ट नहीं था कि उदयपुर में जयाचार्य के दर्शन करके चतुर्मास प्राप्त किया जा सके। उन्होंने मिलकर एक युक्ति सोची और पाली से लगभग पांच कोस (16 कि.मी.) पर स्थित ‘खैरवा’ ग्राम के श्रावकों के नाम एक पत्र लिखकर ‘सेवग’ के हाथों आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को वहां भेजा। उसमें समाचार थे कि जयाचार्य ने खैरवा चतुर्मास करने वाली साध्वीश्री छोटी चतुर्ऊजी को पाली चतुर्मास करने की आज्ञा प्रदान की है, अतः उन्हें पाली आकर पाक्षिक प्रतिक्रमण करने की प्रार्थना करें।

इस समाचार से किसी को कोई आशंका नहीं हुई, क्योंकि उस समय पाली इतना प्रमुख क्षेत्र था कि उसका खाली रहना ही आश्चर्यजनक हो सकता था। खैरवा-निवासियों को इस प्रकार चतुर्मास छिन जाने से दुःख तो हुआ, किन्तु पालीवासियों के सम्मुख वे कर भी क्या सकते थे। साधियों ने आषाढ़ पूर्णिमा को प्रातः विहार किया और उसी दिन पाली पहुंच गई। श्रावक अपनी चाल में सफल हो गये। सायंकाल में चातुर्मास्य पाक्षिक प्रतिक्रमण सम्पन्न हो जाने के पश्चात् वहां श्रावक-वर्ग ने 'खमत-खामणा' करते हुए साधियों के सामने सारी घटना निवेदित कर दी। उन्होंने बतलाया कि जयाचार्य की यहां चतुर्मास करने सम्बन्धी कोई आज्ञा नहीं थी, किन्तु क्षेत्र खाली देखकर हमसे रहा नहीं गया, अतः हमने वह जाली पत्र बनाकर खैरवा के श्रावकों को भेज दिया था। जान-बूझकर किये गये इस अविनय के लिए हम सब आपके सामने क्षमाप्रार्थी हैं।

साधियों ने उक्त बात सुनी तो वे बहुत खिन्न हुईं। अपने ही श्रावकों द्वारा आचार्यश्री की आज्ञा के नाम पर उनके साथ बहुत बड़ा छल किया गया था। उन्होंने श्रावकों को फटकारते हुए कहा—‘तुम लोगों ने यह बहुत ही अनुचित कार्य किया है। चतुर्मास प्रारम्भ हो जाने के कारण अब हम विहार करके अन्यत्र तो नहीं जा सकतीं, परन्तु आज से न तो हम यहां व्याख्यान देंगी और न तुम्हरे घरों में गोचरी के लिए ही जायेंगी।’ साधियों के उक्त निर्णय से श्रावक बड़ी दुविधा में फंस गये। चतुर्मास हो जाने पर भी वे उसके लाभ से वंचित हो गये। सबने मिलकर साधियों के सम्मुख बहुत अनुनय-विनय किया, परन्तु उन्होंने कोई निवेदन स्वीकार नहीं किया। वे दूसरे घरों से आहार-पानी लातीं और दिनभर अपने स्वाध्याय-ध्यान में लगी रहतीं।

उस स्थिति में श्राविकाओं ने मिलकर साधियों पर बहुत दबाव डाला। उन्होंने कहा—‘जो-कुछ भी किया है, श्रावकों ने किया है। हम बहिनों का इसमें कोई दोष नहीं है। व्याख्यान और गोचरी बंद करके आप हम निर्देशों को दण्ड क्यों दे रही हैं? आपको दण्ड ही देना है तो श्रावकों को दीजिए। उन्हें व्याख्यान मत सुनाइये, उनके हाथ से आहार-पानी मत लीजिए, परन्तु इस प्रकार मोठों के साथ घुणों को पीस डालना तो न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।’ श्राविकाओं के विनयभरे निवेदन तथा उपालभ्य से भी साधियों ने अपने निर्णय में कोई परिवर्तन नहीं किया।

श्रावकों ने अतीव अनुताप के साथ अनुभव किया कि हाथ जलाकर भी वे 'होले' नहीं खा सके। समस्या का कोई समाधान दृष्टिगत नहीं हुआ तब उन लोगों ने उदयपुर जाकर जयाचार्य के दर्शन करने की बात सोची। उनकी समझ में आ गया था कि अपने दोष की स्वीकृति ही अब इस समस्या को हल कर सकती है। कुछ प्रमुख श्रावकों ने तब उदयपुर जाकर दर्शन किये। प्रातःकालीन व्याख्यान में खड़े होकर उन्होंने जाली पत्र से लेकर साधियों के पाली आगमन तथा व्याख्यान और गोचरी बन्द कर देने तक की सारी घटना यथावत् निवेदित कर दी। अनुतापभरे स्वर में उन्होंने कहा—‘प्रभो! हम आपकी आज्ञा के चोर हैं, अतः आपकी जो इच्छा हो वह दण्ड हमें दें।’

जयाचार्य उनके उस कार्य से बड़े खिन्न हुए। उन्होंने पाली के श्रावकों से इस प्रकार आज्ञातिक्रमण की आशा नहीं की थी। उन्होंने भरी सभा में उन्हें काफी उपालंभ दिया, पर वे तो उस सबके लिए तैयार होकर आए थे, अतः बड़ी नम्रता के साथ यही एक बात दुहराते रहे कि हम दोषी हैं, अतः आप जितना भी उपालंभ या दंड दें, उस सबके अधिकारी हैं। आप हमें दण्ड दीजिए, परन्तु साथ ही पाली में विराजित साध्वियों को व्याख्यान देने तथा हमारे घरों की गोचरी करने की आज्ञा दीजिए। इसके बिना हम पाली जाकर मुंह दिखाने योग्य भी नहीं हो पायेंगे।

जयाचार्य कई दिनों तक उन्हें परखते रहे, पर उनकी नम्रता घटने के स्थान पर बढ़ती ही गई। आखिर उन्हें उनकी उस नम्रता पर पिघलना ही पड़ा। वे पिघले और ऐसे पिघले कि उपालम्भ लेने के लिए आये हुए पालीवासियों का सीना क्षणभर में ही गजभर का हो गया। उन्होंने प्रातःकालीन व्याख्यान में उनकी नम्रता की प्रशंसा की और तत्रस्थ साध्वियों को व्याख्यान देने तथा गोचरी करने की आज्ञा प्रदान कर दी। पालीवासी उस कृपा के लिए कृतज्ञता व्यक्त करें उससे पूर्व ही उन्होंने फरमाया—‘लो सुनो! आगामी वर्ष (सं. 1913) का मैं अपना चतुर्मास पाली में करने का विचार रखता हूँ।’ उस अयाचित कृपा से पालीवासी गद्गद हो गये। दण्ड लेने के लिए आये हुओं की झोली उन्होंने वरदान से भर दी।

‘धीर्णगों’ के महाराज

जयाचार्य लाडनू में विराजमान थे। वहां के सभी सरावगी उस समय तेरापंथी थे। उनमें से एक वृद्धा श्राविका पूनीबाई ने एक दिन जयाचार्य से प्रार्थना की कि इस समय मेरे घर पर भोज के पश्चात् बच्ची हुई मिठाई का काफी योग है, अतः मुझे पात्रदान का कुछ विशेष लाभ प्रदान करने की कृपा करें। जयाचार्य ने वृद्धा की उत्कट भावना देखकर एक प्रकार से आश्वासन देते हुए फरमाया—‘ठीक है, अवसर आने पर ब्रत निपजाने का विचार है।’

दूसरे दिन प्रातःकाल जयाचार्य जब शौच के लिए बाहर पधारे, तब वहां उन्हें बहुत अच्छे शकुन हुए। वे बड़े शकुनज्ञ थे, अतः अच्छा अवसर देखकर वहीं से सुजानगढ़ के लिए प्रस्थान कर गये। एक-दो संतों को साथ रखकर शेष सभी को भंडोपकरण ले आने के लिए वापस भेज दिया। वृद्धा श्राविका को दिया गया आश्वासन उस समय उनकी स्मृति से सर्वथा ओझल हो गया। साधुओं को भंडोपकरण एकत्रित कर ‘झोलके’ में घालते तथा पोथियों के ‘नांगले’ कसते देखकर जब श्रावकों ने उनसे पूछा तब पता चला कि जयाचार्य तो नगर के बाहर से ही विहार कर गये।

जयाचार्य द्वारा इस प्रकार अचानक विहार कर देने से सभी लोगों के मन खिन्न हुए, परन्तु पूनीबाई के मन पर तो उस घटना ने एक आघात का कार्य किया। उसकी आंखें डबडबा गईं। अपने आराध्य के द्वारा की गई वह उपेक्षा उसके लिए असह्य हो गई। वह तत्काल साधुओं के स्थान पर आई। वहां पहुंची तब तक प्रायः संत विहार कर चुके थे।

438 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
केवल एक मुनि मोतीजी वहां बैठे थे। वे भी झोलका और नांगला उठाकर चलने को उद्यत थे। पूनीबाई ने अपने मानसिक क्षोभ को रोकने का भरसक प्रयास किया, किन्तु वह रोक नहीं पाई। उसने उपालम्भ भरे स्वर में कहा—‘सब कोई जयाचार्य को ‘गरीब-निवाज’ कहते हैं, पर वे तो ‘धींगा-निवाज’ हैं। बड़े आदमी जो प्रार्थना करते हैं, वह तत्काल पूरी कर दी जाती है, परन्तु मेरे जैसे गरीब की प्रार्थना उनके ध्यान में ही नहीं आती।’ पूनीबाई और भी न जाने क्या-क्या कह गई। याचना की पूर्ति के आश्वासन पर भी निराशा मिलने से उसकी भक्ति का वेग उपालम्भ के रूप में फूट निकला था।

मुनि मोतीजी विहार करके सुजानगढ़ पहुंचे। जयाचार्य को वंदन करते समय उन्होंने पूनीबाई द्वारा प्रदत्त विशेषण का प्रयोग करते हुए कहा—‘खमाघणी धींगा-निवाज।’ जयाचार्य चमके। उन्होंने मुनि मोतीजी से पूछा—‘आज यह क्या नई बात उठा लाये।’

मुनि मोतीजी ने कहा—‘नई बात कुछ भी नहीं है। पूनीबाई ने आपको यही विशेषण दिया है।’ उन्होंने फिर उसके मानसिक क्षोभ की पूरी घटना कह सुनाई। वृद्धा की प्रार्थना का स्मरण होते ही स्वयं जयाचार्य के मन पर भी अपनी विस्मृति के प्रति ग्लानि के भाव उभर आये। वे तत्काल रजोहरण ग्रहण कर खड़े हो गये और संतों से बोले—‘पूनीबाई की प्रार्थना ध्यान से उत्तर गई थी, पर अब पुनः जाकर उसका व्रत निपजाना आवश्यक है।’

युवाचार्य मघवा पास में ही खड़े थे। उन्होंने जयाचार्य को विराजने की प्रार्थना करते हुए कहा—‘आप यहीं विराजें। उसका व्रत निपजाने के लिए लाडनूं जाने की मुझे आज्ञा दें।’

जयाचार्य ने तब युवाचार्य को भेजकर वृद्धा की भावना पूर्ण की। उनकी उस दयालुता ने पूनीबाई के हृदय को भक्ति-रस से आप्लावित कर दिया। जयाचार्य के लिए प्रयुक्त किये गये अपने शब्दों का तो उसे पश्चात्ताप हुआ ही, पर साथ ही युवाचार्य मघवा को वहां आने का कष्ट उठाना पड़ा, इस पर भी वह लज्जित थी। इतने पर भी मन में तो वह परम सन्तुष्ट ही हुई।

आठ आने की समझ

सं. 1922 (चै. 23) के ग्रीष्म काल में तपस्वी मुनि उदयराजजी ने लाडनूं में आजीवन अनशन ग्रहण किया। जयाचार्य उस समय बीदासर में विराजमान थे। तपस्वी अपने अन्तिम समय में आचार्यश्री के दर्शनों की अभिलाषा रखते थे। जयाचार्य ने उसकी पूर्ति के लिए लाडनूं पधारने की तिथि घोषित कर दी। बीदासर के भाइयों ने वे समाचार लाडनूं के श्रावकों तक पहुंचा दिये। आचार्यश्री गुनोड़ा से वहां पधारने वाले थे। लोग सामने गये। लाडनूं से गुनोड़ा को अनेक मार्ग जाते थे। यह किसी को पता नहीं था कि जयाचार्य किस मार्ग से पधारेंगे। जिसके अनुमान में जो मार्ग ठीक जचा, वह उसी से सामने चला गया।

जयाचार्य जिस मार्ग से पधारे उसी पर सामने जाने वाले लोग दर्शन तथा सेवा का लाभ उठा सके। शेष तो बहुत देर तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् निराश होकर ही वापस

लौटे। उनमें से अनेक व्यक्ति सामने जाने की दूरी तथा प्रतीक्षा करने का समय बतला-बतला कर अपनी राम-कहानी सुनाने लगे। सबकी बातें प्रायः एक जैसी ही थीं, फिर भी सुनानेवालों की उत्सुकता एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर ही दिखाई दे रही थी।

जयाचार्य ने सबकी बातें सुन लेने के पश्चात् फरमाया—‘क्या तुम लोगों में आठ आने की भी समझ नहीं थी? यहां से बीदासर तक कासिद या ऊंट-सवार भेजने में आठ आने से अधिक व्यय नहीं होता होगा, फिर भी यदि कोई उचित साधनों का उपयोग न करके इधर-उधर भटकता रहे तो उसका कोई क्या करे?’

जयाचार्य की उस सामयिक झिल्डकी पर अवश्य ही वहां के प्रमुखों ने लज्जा का अनुभव किया होगा, क्योंकि वे प्रमुख कहलाकर भी समाज के व्यक्तियों के लिए एक साधारण-सी सुविधा भी नहीं कर पाये। वस्तुतः उस ‘आठ आने की समझ’ के अभाव में ही उस दिन सैकड़ों व्यक्तियों के समय और श्रम से कोई सुफल-निष्पत्ति नहीं हो पाई।

आगरा में भी श्रावक

जयाचार्य अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के नाम बहुधा लम्बे समय के पश्चात् भी याद रख लिया करते थे। उनके उस सामर्थ्य ने अनेक बार सम्बन्धित व्यक्तियों को प्रभावित किया था। सं. 1885 में अपनी अग्रणी अवस्था में मुनि जय ने जयपुर में चतुर्मास किया। उस समय वहां बहुत जनोपकार हुआ। वहां के बावन व्यक्तियों ने गुरु-धारणा की। उनमें मालीरामजी लूनिया भी एक थे। वे जयपुर-भर में बड़े प्रतिष्ठित और प्रभावशाली व्यक्ति थे। जयपुर-नरेश सवाई रामसिंहजी द्वितीय की भी उन पर बहुत कृपा थी। परन्तु कुछ समय पश्चात् किन्हीं कारणों से जयपुर-नरेश के साथ उनका मनमुटाव हो गया, अतः वे आगरा में जा बसे।

बहुत वर्षों के पश्चात् जबकि जयाचार्य जयपुर में विराज रहे थे, तब उदयपुर के सुप्रसिद्ध श्रावक मोखजी खमेसरा वहां आये। वे उदयपुर-महाराणा के बड़े विश्वसनीय व्यक्ति थे। राजमाता तीर्थयात्रा करना चाहती थीं, अतः महाराणा ने मोखजी के संरक्षण में ही उनको तीर्थयात्रा पर भेजा था। राजमाता का वह तीर्थयात्री-दल जब जयपुर पहुंचा तो मोखजी को जयाचार्य के दर्शनों का लाभ अनायास ही प्राप्त हो गया। सेवा करते समय बातचीत के सिलसिले में मोखजी ने कहा कि हम लोग यहां से आगरा जायेंगे।

जयाचार्य ने तब उनको बतलाया—‘आगरा में मालीरामजी लूनिया रहते हैं, वे अपने श्रद्धालु श्रावक हैं।’ इसके साथ ही उन्होंने उनके समझने आदि का पूरा विवरण भी सुना दिया।

मोखजी ने यह बात सुनी तो सही, परन्तु उन्हें न तो आगरा में ठहरना था और न ही कोई काम ही था कि जान-पहचान के आदमी की आवश्यकता पड़े, फिर भी एक सावधान व्यक्ति होने के कारण उन्होंने विशेष ध्यान दिया और उस नाम तथा घटना को अपने स्मृति-कोष में सुरक्षित रख लिया।

वहां से वे लोग विभिन्न तीर्थों में घूमे। जब वापस लौटने लगे तब मार्ग में ही राजमाता रुग्ण हो गई। वे काफी बृद्धा थीं, इसीलिए रोग का साधारण आक्रमण भी उनके लिए भारी पड़ा। वे दिवंगत हो गईं। यथोचित रूप से दाह-संस्कार कर देने के पश्चात् उन लोगों ने उदयपुर की ओर प्रयाण कर दिया।

आगरा तथा उसके आसपास के नगरों में उन दिनों सरकारी आतंक छाया हुआ था। अंग्रेज-विरोधी राजपूत-सरदार डूंगजी को उनके भतीजे जुहारजी ने आगरा की जेल से रात को किले पर सीढ़ी लगाकर भगा लिया था। अंग्रेज-सरकार बड़ी सतर्कता से उनकी खोज कर रही थी। उन्हीं दिनों मोखजी का दल उसी मार्ग से गुजरा। उनके साथ शस्त्र-सज्ज अनेक व्यक्ति थे, अतः डूंगजी-जुहारजी के दल से सम्बन्धित होने के संदेह में वे सब पकड़ लिये गये। उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए जो-कुछ कहा उसे मनगढ़त समझा गया। उस अचिंतित विपत्ति से मोखजी बड़ी दुविधा में फंस गये। पराया राज्य, अनजाना क्षेत्र और अपरिचित लोग, सभी-कुछ तो प्रतिकूल था। अनुकूलता का कोई आसार तक नहीं था। बहुत कहने-सुनने पर अधिकारी व्यक्ति केवल इतने के लिए तैयार हुए कि यहां कोई तुम्हें जानता हो तो हम जमानत पर छोड़ सकते हैं।

मोखजी को उस समय जयाचार्य की कही हुई बात याद आई। उन्होंने पुलिस अधिकारी से कहा कि यहां मालीरामजी लूनिया मेरे सहधर्मी हैं। यदि आप मुझे उनके पास ले चलें तो मैं अपनी सत्यता का प्रमाण दिला सकता हूँ।

मालीरामजी आगरा में आकर भी बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति बन गये थे। पुलिस अधिकारी ने जब उनका नाम सुना तो वह उनके पास भेजने को सहमत हो गया। दूसरे दिन प्रातः वे वहां भेजे गये। सेठजी उस समय पूजा में बैठे हुए थे, अतः उन्हें कुछ देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। पूजा समाप्त होने पर जब उनको मिलने के लिए अन्दर बुलाया गया, तब वहां के रंग-ढंग देखकर मोखजी को निराशा ही हुई। उन्होंने सोचा जयाचार्य तो इन्हें तेरापंथी बता रहे थे, पर ये तो मूर्तिपूजक हैं। फिर भी जब अन्दर आ ही गये तब तो बात कर लेना ही उचित समझा।

पारस्परिक अभिवादन के पश्चात् सेठजी ने उनका परिचय तथा वहां आने का कराण पूछा। मोखजी ने अपना परिचय देते हुए तीर्थयात्रा से अपने पकड़े जाने तक की सारी रामकथा कह सुनाई। उन्होंने यह भी बतलाया कि जब हम जयपुर गये थे, तब वहां जयाचार्य ने आपके विषय में परिचय दिया था।

मालीरामजी ने जयाचार्य का नाम सुना तो कुछ स्मरण करने जैसा प्रयास करते हुए बोले—‘कौन जयाचार्य? मेरा तो उनसे कोई परिचय नहीं है।’

मोखजी ने उक्त बात सुनी तो असमंजस में पड़ गये। फिर भी उन्होंने साहस नहीं छोड़ा। उन्होंने जयाचार्य का पूरा परिचय देते हुए कहा—‘आप सं. 1885 में उनके सम्पर्क में आये थे। उस समय उनका नाम मुनि जीतमलजी था। अब वे तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य हैं और जयाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं।’

लूनियाजी ने तब अनेक प्रश्न पूछ डाले। वे किसके शिष्य हैं? कब दीक्षित हुए थे? उनके परिवार के और कौन-कौन दीक्षित हैं?

मोखजी ने उन सब प्रश्नों के उत्तर तो दिए, पर उन्हें लगा कि वे किसी दूसरे ही मालीरामजी से मिल रहे हैं।

मालीरामजी अपने प्रश्नों के ठीक उत्तर पाकर पूर्णतः आश्वस्त हो गये कि वे किसी अविश्वसनीय व्यक्ति से नहीं मिल रहे हैं। उन्होंने मोखजी को अपनी बांहों में लेते हुए कहा—‘बहुत वर्षों के पश्चात् आज ही तुम एक साधार्मिक भाई मिले हो। तुमने मुझे जयाचार्य का स्मरण दिलाकर कृतार्थ कर दिया। उन्होंने तो मुझे याद रखा पर मैं ऐसा अविनीत शिष्य निकला कि यहां दूर आकर उनके उपदेशों को भुलाकर अपने ही गोरख-धन्धे में फंस गया।’ उन्होंने मोखजी का बहुत आदर-सत्कार किया और अपने यहां भोजन करवाया। उसके पश्चात् वे अधिकारियों से मिले और उन्हें अपना ही व्यक्ति बतलाकर वहां से मुक्त करवाया। जयाचार्य द्वारा साधारण रूप में कही गई बात मोखजी के लिए वरदान बन गई।

प्रतिबोध-दान

जयाचार्य की प्रतिबोधक शक्ति अनन्य थी। अप्रतिबुद्ध व्यक्ति उनके सम्पर्क में आकर प्रतिबुद्ध हो जाते और अस्थिर स्थिर। सं. 1885 के जयपुर चतुर्मास में अग्रणी जय के पास समझे 52 व्यक्तियों में एक रामचन्द्रजी कोठारी थे। वे एक सुदृढ़ धार्मिक व्यक्ति थे, परन्तु कालान्तर में शंकाशील बन गये और साधु-साध्वियों को वंदन करना छोड़ दिया। सं. 1907 के शेषकाल में युवाचार्य जय का जयपुर पदार्पण हुआ। वे रामचन्द्रजी कोठारी से मिले और वंदन-व्यवहार छोड़ देने का कारण पूछा। कोठारीजी ने कहा—‘अनेक साधु सदोष आचरण को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उन्हें वंदन कैसे किया जा सकता है?’

युवाचार्य ने कहा—‘भगवती सूत्र में पुलाक-निर्ग्रन्थ के पांच भेद बतलाये हैं। उनमें एक दर्शन-पुलाक है। आवेशवश यदि कोई साधु सदोष कार्य को निर्दोष घोषित करता है तो उसका यह तात्पर्य नहीं कि वह वैसा मानता भी है। आवेशवश की गई घोषणा से वह अपने सम्यक्त्व को निस्सार अवश्य बनाता है, परन्तु सम्यक्त्वहीन नहीं हो जाता। सम्यक्त्वहीन होने पर उसे निर्ग्रन्थ के भेदों में कैसे गिना जा सकता है? आवेशवश किये गये दोष का प्रायशिच्चत कर लेने पर वह निर्दोष हो जाता है।’

कोठारीजी ने युवाचार्य के उस तर्कपूर्ण कथन के हार्द को समझा और बोले—‘युवाचार्यश्री! आप ठीक फरमा रहे हैं। मैं आपके कथन को समझ गया हूँ। कठिनाई यह है कि मुनि तो आग्रहवश कही गई बात का प्रायशिच्चत करके निर्दोष हो जाते हैं, परन्तु उनके मन का दूसरों को क्या पता लगे? वे तो अश्रद्धाशील बनकर उलझ जाते हैं। सबको तो आप जैसे प्रतिबोधक नहीं मिल पाते। अब मेरे मन में कोई उलझन नहीं है। मैं आज

442 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
से वंदन-व्यवहार पुनः प्रारंभ करता हूँ।’ इस प्रकार युवाचार्यश्री के एक प्रतिबोध-दान ने कोठारीजी को धर्म-मार्ग में पुनः सुस्थिर कर दिया।

व्यसन-मुक्ति

जयपुर के पनराजजी लूणिया श्रद्धाशील श्रावक थे। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न थे। मित्रों की संगति से जुआरी बन गये। उनकी उस वृत्ति से पारिवारिक जन अत्यन्त खिन्न रहने लगे। उनकी पत्नी तथा पुत्र सरदारमलजी ने मिलकर एक योजना बनाई। उसी के अन्तर्गत पूरे परिवार ने पाली में जयाचार्य के दर्शन किये। सरदारमलजी ने एकान्त में आचार्यश्री को सारी स्थिति से अवगत कराते हुए प्रार्थना की कि आप ही उन्हें व्यसन-मुक्त कर सकते हैं, अन्य कोई उपाय नहीं है।

जयाचार्य ने पनराजजी को जुआ खेलने के त्याग की प्रेरणा दी। वे त्याग करना नहीं चाहते थे, पर लज्जावश इनकार भी नहीं कर सके। चुप रहे। जयाचार्य ने फिर भी उन्हें त्याग करवा दिया और फरमाया—‘मैंने यह त्याग अपनी ओर से इस विश्वास पर करवाया है कि तुम मेरे कथन को सादर शिरोधार्य करोगे।’

पनराजजी अपनी मानसिक असमंजसता की स्थिति में कुछ भी बोल नहीं पाये। गुरु-चरणों में वंदन किया और वहां से चल पड़े। जयपुर पहुंचे तो उनके सम्मुख समस्या थी कि मित्रों से क्या कहें? उन्होंने मित्रों के आगमन के समय श्मशान में जाकर सामायिक करना प्रारंभ कर दिया। कई दिनों तक घर पर नहीं मिलने के कारण मित्रों ने अपनी बैठक कहीं अन्यत्र जमा ली और वे उस कुसंगति से सहज ही छूट गये।

एक दिन पनराजजी श्मशान-भूमि में सामायिक-साधना में लीन थे। उनका एक मित्र आया और उनकी अंगुली से हीरे की अंगूठी निकाल कर ले गया।¹ जाते समय उसने धर्म की सौंगन्ध दिलाकर किसी तीसरे व्यक्ति को बतलाने का निषेध कर दिया।

पनराजजी सामायिक पूर्ण कर घर आये। उनकी अंगुली में अंगूठी नहीं देखी तो घरवालों को सन्देह हुआ कि जुए में हार आये हैं। अंगूठी बीस हजार रुपयों की थी। स्थिति जानने के लिए पत्नी ने पूछा तो वे मौन रहे। सन्देह तब विश्वास में परिणत हो गया।

जयाचार्य तक शिकायत पहुंची। उन्होंने पनराजजी को उपालभ्य देते हुए फरमाया—‘मैंने समझा था कि तू संकल्प को निभायेगा, परन्तु मैं भूल पर था।’

पनराजजी ने कहा—‘गुरुदेव! मेरा संकल्प यथावत् है। उसमें कोई त्रुटि नहीं हुई है। परन्तु अंगूठी के विषय में ‘अभी मैं कुछ भी बतलाने की स्थिति में नहीं हूँ।’

जयाचार्य ने उनके कथन को व्यर्थ समझा और कठोर उपालभ्य दिया। उन्होंने नम्रतापूर्वक उसे सहन किया और चुपचाप घर आ गये।

1. यह भी कहा जाता है कि अंगूठी नहीं, कंठाभरण ‘बलेवड़ा’ निकाला गया था।

कालान्तर में उनके मित्र ने अंगूठी लौटाते हुए कहा—‘आर्थिक विवशता से घिर कर मैंने तुम्हारी अंगूठी ली थी। इसे गिरवी रखकर मैंने अपना काम निकाला। अब मैंने पैसे कमा लिए हैं, अतः इसे छुड़ा लाया हूं। इस घटना के विषय में पूर्ण मौन रह कर तुमने मेरी लाज रख ली। वस्तुतः तुम मेरे सच्चे मित्र हो।’

परिजनों के सम्मुख अब उनके मौन का रहस्य खुला। अंगूठी वापस आ जाने से वे सब प्रसन्न थे। जयाचार्य को सारी स्थिति ज्ञात हुई तब वे भी अपने श्रावक की संकल्प-दृढ़ता तथा गम्भीरता से बहुत प्रभावित एवं प्रसन्न हुए। पनराजजी भी बहुत प्रसन्न थे कि व्यसन-मुक्त बनाकर जयाचार्य ने उनको पतन से बचा लिया।

होली के छींटे

जयाचार्य लाडनू में विराज रहे थे। होली के दिन थे। चारों ओर होली खेलने का वातावरण था। छोटे-बड़े, धनी-निधन, ग्राम्य-नागर आदि भेद स्वतः ही गौण हो गये थे। प्रायः सभी की आकृतियां और परिधान विभिन्न रंगों के बेतरतीब छपाकों से कर्बुर बने हुए थे। फिर भी अवसर मिलते ही एक-दूसरे पर रंग का पानी डाला जा रहा था। कुछ ऐसे भी थे जो मर्यादातिक्रम करके गंदा पानी तथा कीचड़ भी डाल रहे थे।

सायंकाल के समय शौच से निवृत्त होकर जयाचार्य वापस आ रहे थे। मार्ग में ओसवाल समाज के अनेक युवक परस्पर रंग डालने में व्यस्त थे। जयाचार्य के पदार्पण का पता लगते ही सब सावधान हों, उसी बीच किसी ने अपने साथी पर गंदा पानी फेंक दिया। साथी तो उससे सराबोर हुआ ही, पर कुछ छींटे जयाचार्य के वस्त्रों पर भी गिरे। उपस्थित सभी व्यक्तियों को उसका अनुताप हुआ। आचार्यश्री ने कुछ नहीं कहा और वे आगे बढ़ गये। युवक भी उनके पीछे-पीछे ही प्रवास-स्थल पर आये। अज्ञानवश हुए प्रमाद के लिए क्षमा-याचना करते हुए उन्होंने प्रायश्चित्त की मांग की।

जयाचार्य ने फरमाया—‘यदि तुम अपने प्रमाद का प्रायश्चित्त करना चाहते हो तो संकल्प ग्रहण कर लो कि भविष्य में होली के अवसर पर गन्दे पदार्थों का प्रयोग नहीं करोगे।’ उपस्थित सभी व्यक्तियों ने वह संकल्प ग्रहण किया। इस प्रकार होली के छींटों ने युवकों के संस्कारों में परिष्कार लाने का मार्ग प्रशस्त किया।

स्थान तो नहीं ला सकते

जयाचार्य का चतुर्मास बीदासर में था। चित्तौड़ के ताराचन्दजी ढीलीवाल वहां सेवा करने के लिए आये। वे एक सम्पन्न व्यक्ति थे और सुख-सुविधा से रहना पसन्द करते थे। जयाचार्य के प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा थी। प्रायः प्रतिवर्ष चतुर्मास-काल में वे आते और महीने-दो महीने तक सेवा में रहकर धार्मिक लाभ लेते। सुविधा के लिए अपने पशुओं को भी वे प्रायः अपने साथ ले आया करते थे। बीदासर में भी वे अपने पशुओं को साथ लेकर आये। उनके ताम-झाम को देखकर बीदासर-वासी रुष्ट हुए। उन्हें उसमें अपना अपमान भासित हुआ कि क्या बीदासर में इन्हें दूध मिलने की भी सम्भावना नहीं

444 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
थी जो पशुओं को साथ लाये हैं? ठहरने के लिए स्थान की पूछताछ करते समय किसी ने व्यंग्य भी कस दिया कि स्थान भी साथ ले आते तो अच्छा रहता।

ठहरने के लिए उन्हें कई स्थान दिखलाये गये, परन्तु कहीं पशुओं के ठहरने की उपयुक्त व्यवस्था नहीं थी तो कहीं स्वयं के। वे काफी खिन्न हुए। उपर्युक्त व्यंग्य ने तो उनको तिलमिला दिया। उन्हें लगा कि जानबूझ कर उपयुक्त स्थान नहीं दिया जा रहा है। वे जयाचार्य के पास आये और कहने लगे—‘कृपा करके मंगलपाठ सुना दीजिए।’

जयाचार्य ने साश्चर्य पूछा—‘क्या इस बार केवल दर्शन करने के लिए ही आये हो?’

ढीलीवालजी बोले—‘नहीं गुरुदेव! आया तो कई महीनों की सेवा के लिए ही था, परन्तु लगता है, अन्तरायकर्म का उदय है।’

जयाचार्य—‘अचानक ही कौनसी बाधा उपस्थित हो गई?’

ढीलीवालजी—‘उपयुक्त स्थान नहीं मिल पाया। लोग कहते हैं कि गायें साथ लाये हो तो स्थान भी ले आते। इसलिए अभी तो जा रहा हूँ। अगले वर्ष आऊंगा तब तम्बू आदि के रूप में घर भी साथ लाऊंगा।’

जयाचार्य ने स्थानीय श्रावकों को उपालभ्य देते हुए फरमाया—‘सेवा में आने वाले व्यक्ति अन्य आवश्यक सामान तो साथ ला सकते हैं, परन्तु स्थान तो नहीं ला सकते। वह तो स्थानीय व्यक्तियों का ही कर्तव्य माना जाता है कि अपने साधर्मिकों के लिए स्थान की व्यवस्था करें।’ उन्होंने उन सबको ढीलीवालजी द्वारा प्रतिवर्ष की जाने वाली लाभी सेवाओं से परिचित कराया। कर्तव्य-बोध पाकर वे साधर्मिकता के प्रति जागरूक बने। स्थान की उपयुक्त व्यवस्था होते फिर देर नहीं लगी।

कपड़ा और गुरु-धारणा

सं. 1928 में जयाचार्य का चतुर्मास जयपुर में था। वहां के सेठ अनंतरामजी दीवान बहुत प्रसिद्ध तथा धनाढ़ी व्यक्तियों में थे। ओसवाल जाति में गोत्र से वे बैद मुंहता थे। जयपुर-नरेश रामसिंहजी के राज्यकाल में कुछ वर्षों तक वे दीवान भी रहे थे। तभी से उनके नाम के आगे गोत्र के स्थान पर लोग दीवान लगाने लगे। कार्य-विशेष के आधार पर लगा विशेषण उपनाम बनकर उनका ज्ञापक बन गया। जयाचार्य के उक्त चतुर्मास के समय दीवानजी के पुत्र बखतावरमलजी थे। अपने पिता के समान वे भी एक प्रभावशाली व्यक्ति थे। लोग उन्हें आदरवश सेठजी ही कहा करते थे। संयोगवश उस वर्ष वर्षाकाल में उनके सबसे बड़े पुत्र की जलाशय में डूब जाने के कारण अचानक मृत्यु हो गई। सेठजी उससे बड़े दुःखी तथा चिन्तित रहने लगे। ऐसे अवसर पर मनुष्य का झुकाव धर्म की ओर सहज हो ही जाया करता है। उन्होंने जयाचार्य की प्रशंसा तो पहले से ही बहुत सुन रखी थी, पर उनसे सम्पर्क स्थापित करके सत्संगति का लाभ उठाने की भावना उनके मन में उसी अवसर पर उत्पन्न हुई। उन्होंने दर्शन देने की प्रार्थना करने के लिए जयाचार्य के पास अपना व्यक्ति भेजा और कहलवाया कि हमारे शोक-संतप्त परिवार के लिए आपका उपदेश बड़ा सहारा होगा, अतः एक बार अवश्य दर्शन देकर कृतार्थ करें।

जयाचार्य वहां पधारे और उन्हें सत्संग का लाभ प्रदान किया। सारे परिवार को उनके उपदेश से बड़ी सांत्वना मिली। आचार्यश्री छह बार वहां पधारे। शोक-सागर में ढूबे सेठजी के मन को उन्होंने अध्यात्म के तट पर ला खड़ा किया। वे पक्के भक्त बन गये। उन्होंने प्रार्थना की—‘एक मास तक आप यहाँ विराजें।’

आचार्यश्री ने कहा—‘अब तो चतुर्मास सम्पन्न होने वाला है। नगर में कहीं भी एक मास ठहरने का कल्प नहीं रह गया है।’

सेठजी ने तब प्रार्थना की—‘एक मास घाट पर मेरे बाग में रहें और एक मास सरदारमलजी लूणिया के बाग में। उसके पश्चात् नगर में पधारें तब माघ मास में मेरी हवेली में विराजने की कृपा करें।’

आचार्यश्री ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। वे एक महीने घाट पर उनके उद्यान में तथा एक महीने लूणियांजी के उद्यान में विराजे। उसके पश्चात् माघ मास में पुनः नगर में पधारे और सेठजी की नई हवेली में पधारे। साध्वियां उनकी पुरानी हवेली में ठहरीं।

कुछ दिन विराजने के पश्चात् जयाचार्य ने लाला भैरुलालजी की हवेली में पधारने का विचार किया। पुस्तके आदि कुछ सामान वहां भेज भी दिया। सेठजी को पता चला तो वे आग्रहपूर्वक कहने लगे—‘एक महीने से पहले तो आपको किसी भी स्थिति में जाने नहीं दूंगा।’ जयाचार्य का इतना ठहरने का विचार नहीं था। वहां से स्थंडिल-भूमि और गोचरी के घर काफी दूर पड़ते थे। बहुत आग्रह करने पर भी जब जयाचार्य नहीं पिघले, तब सेठजी ने अपनी पगड़ी उतार कर पैरों में रख दी और स्वयं पैर पकड़कर कहने लगे कि आप कैसे चले जाएंगे? मैं द्वार पर लेट जाऊंगा। आप मेरी छाती पर पैर रखकर ही जा सकेंगे। जयाचार्य ने उनके अत्यन्त आग्रह को देखकर यह गाथा फरमाई :

श्रावक घणाइज देखिया ए, ओ हठ नै ओ झोड़।

कठई दीठो नहीं ए, दीठो इणहिज ठोड़॥¹

आखिर सेठजी के अति आग्रह ने जयाचार्य को वहीं रुकने के लिए बाध्य कर दिया। मर्यादा-महोत्सव तो वहां मनाया ही गया, सारा माघ का महीना भी वहीं बिताया। फाल्गुन कृष्णा एकम को विहार होने लगा तब अपने लड़कों तथा बहुओं आदि को लेकर सेठजी जयाचार्य के पास आये और सबको गुरु-धारणा करवा दी।

उस अवसर पर किसी मुनि ने कहा—‘तुमने स्वयं तो अभी तक गुरु-धारणा की ही नहीं है।’

सेठजी ने कहा—‘मेरे तो गुरु के भी गुरु ये ही हैं, अब मैं और क्या गुरु-धारणा करूँ?’

मुनि ने कहा—‘यह तो ठीक है, पर चांदी चाहे कितनी भी अच्छी क्यों न हो, छाप लगने से पहले रुपया नहीं बन सकती।’

1. आषाढ़भूत रो बखाण, 3114।

सेठजी ने जयाचार्य से कहा—‘मुनिश्री छाप लगवाने के लिए कह रहे हैं। आप मजे से लगा दीजिए। किन्तु उससे पूर्व मेरी एक शर्त पूरी करनी होगी। मेरे पास बहुत कपड़ा पड़ा है, उसमें से प्रत्येक साधु-साध्वी के लिए तीन-तीन उत्तरीय लेने होंगे।’

जयाचार्य ने सेठजी को समझाया कि इतने कपड़े की तो आवश्यकता ही नहीं है, पर तुम्हारी भावना की पूर्ति के लिए थोड़ा लिया जा सकता है। आखिर अत्यन्त आग्रह और आवश्यकता का सामंजस्य बिठाते हुए आचार्यश्री ने उनके वहां से कुछ कपड़ा लिया। सेठजी ने भी तब खड़े होकर बड़ी भाव-विभोरता के साथ गुरु-धारणा की।

भण्डारीजी को पुरस्कार

सं. 1920 में जयाचार्य ने चूरू में मुनिपतिजी को अपनी माता की आज्ञा से दीक्षा प्रदान की। मुनिपतिजी के पिता जयपुर-निवासी थानजी चौपड़ा के गोद गये थे, परन्तु अनबन हो जाने पर वे पृथक् रहने लगे, फिर दिवंगत हो गये। वर्षों तक दादा ने पौत्र तथा पुत्रवधू की कोई सहायता नहीं की। दीक्षा के पश्चात् कुछ लोगों ने उनको उकसा दिया। उन्होंने जोधपुर में महाराजा तखतसिंहजी के पास शिकायत की कि मेरी आज्ञा के बिना जयाचार्य ने मेरे पोते को दीक्षित कर लिया है, अतः मुझे न्याय मिलना चाहिए। इस समय वे लाडनू में हैं। नरेश ने तत्काल आदेश दे दिया कि दस घुड़सवार भेजे जायें और शिष्य तथा गुरु को पकड़कर मेरे सामने लाया जाये। राजाज्ञा को लेकर घुड़सवार लाडनू की ओर चल दिये। जोधपुर से वह लगभग दो सौ किलोमीटर दूर है।

बहादुरमलजी भण्डारी जोधपुर के प्रमुख श्रावक थे। वे उच्च राज्याधिकारी भी थे। नरेश की उन पर बहुत कृपा थी। उन्हें जब पता चला कि जयाचार्य को पकड़ने के लिए दस घुड़सवार भेजे गये हैं, तो वे रम्भाहत हो गये। सर्वप्रथम उन्होंने तीव्रगामी ऊंट पर आदमी भेजकर लाडनू में समाचार करवाये और फिर नरेश से मिलने चले गये। रात्रि का समय था। नरेश शयनागार में जा चुके थे, फिर भी बहादुरमलजी राजमहल में पहुंचे और नाजरजी के माध्यम से नरेश से प्रार्थना करवाई कि वे आवश्यक कार्य से इसी समय मिलना चाहते हैं। नरेश ने एक बार तो कहलवाया कि प्रातः: मिल लेना, परन्तु भण्डारीजी ने कहलवा दिया कि प्रातः: मेरा शव ही मिलेगा, मैं नहीं। नरेश ने तब स्थिति की गम्भीरता समझी और बाहर आकर उनसे मिले।

भण्डारीजी ने घुड़सवार भेजने तथा जयाचार्य को पकड़ने के आदेश पर सीधी बातचीत करते हुए कहा—‘आपको किसी ने असत्य सूचना दी है। जयाचार्य मेरे गुरु हैं। मैं विश्वास दिला सकता हूं कि वे बिना आज्ञा किसी को दीक्षा नहीं देते। आप नरेश हैं। शिकायत आने पर आपको जांच करा लेनी चाहिए थी। सीधा पकड़ने का आदेश देकर तो आपने अन्याय कर दिया है। लाखों मनुष्य उनके भक्त हैं। अवश्य ही वे उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करेंगे। आवश्यक होने पर प्राण निछावर करने में भी नहीं हिचकिचायेंगे। उस जनमेदिनी के सम्मुख आपके दस घुड़सवार क्या कहीं टिक पायेंगे? असफलता तो इसमें मिलेगी ही, किन्तु अनावश्यक ही एक पूरा समाज राज्य विरोधी बन जाएगा।’

नरेश चिन्तित हुए और पूछने लगे कि अब इस विषय में क्या करना चाहिए? भण्डारीजी ने कहा—‘पूर्व आदेश-पत्र को रद्द करते हुए आप दूसरा आदेश-पत्र लिख दीजिए और किसनमल के नेतृत्व में कुछ घुड़सवारों को भेजिए कि वे पहले गये घुड़सवारों को मार्ग से ही लौटा लाएं।’ नरेश ने भण्डारीजी के कथनानुसार सारे कार्य कर दिये। भण्डारीजी ने तब अपने बड़े पुत्र किसनमलजी को वह आदेश-पत्र दिया और सारी बात समझाकर घुड़सवारों के दूसरे दल का नेतृत्व करने के लिए भेज दिया।

नरेश के प्रथम आदेश के समाचार भण्डारीजी द्वारा भेजे गये ऊंट-सवार से लाडनूं पहुंच चुके थे। वहां के श्रावक-समाज में एक अपूर्व हलचल मच गई। सुरक्षा की व्यवस्था के लिए विचार-विमर्श हुआ। दूलीचंदजी दूगढ़ ने उस व्यवस्था का भार अपने पर लिया। जयाचार्य को सुरक्षा की दृष्टि से वे अपनी हवेली में ले गये। आचार्यश्री अनाकुल और अविचल थे। स्थिति का सामना करने के उनके अपने सात्त्विक उपाय थे। श्रावकों को भी उन्होंने विक्षुब्ध न होने को कहा, परन्तु स्थितियों के दबाव का सामना वे भिन्न प्रकार से करने में अभ्यस्त थे। उन्होंने अपने प्रकार की पूरी तैयारी कर ली। कुछ मोहिल राजपूतों का भी उन्होंने सहयोग लिया। सबका निश्चय था कि हमारे शरीर में प्राण रहेंगे तब तक जयाचार्य का कोई बाल भी बांका नहीं कर सकेगा।

किसनमलजी आदि घुड़सवार घुड़सवारों की प्रथम टोली तक शीघ्र ही पहुंच गये। उन्होंने आदेश-पत्र दिखलाकर उन सबको वहीं से वापस लौटा दिया। दूसरी टोली किसनमलजी के नेतृत्व में लाडनूं पहुंची। लोगों ने प्रतिरोध की तैयारी की परन्तु भण्डारी किसनमलजी को देखकर सभी आश्वस्त हो गये। उन्होंने जयाचार्य के दर्शन किये और सारी घटनावली से उन्हें अवगत किया। बाहर एकत्रित हुई जनता को भी सारी स्थिति बतलाई। संकट के बादल छठ जाने से सभी ने सुख की सांस ली।

कुछ दिनों पश्चात् बहादुरमलजी भण्डारी ने लाडनूं में जयाचार्य के दर्शन किये। आचार्यश्री ने उनकी सामयिक सेवा के लिए उन्हें पुरस्कृत करना चाहा। भण्डारीजी ने कहा—‘गुरुदेव! यह तो मेरा अपना कार्य था, इसके लिए पुरस्कार की कोई बात नहीं है।’ जयाचार्य ने फिर भी उन्हें कुछ मांगने के लिए कहा तो उन्होंने आगामी चतुर्मास की मांग की। जयाचार्य ने उसे तत्काल स्वीकार कर लिया और फिर सं. 1921 का चतुर्मास जोधपुर में किया।

दूसरा पुरस्कार

सं. 1924 की घटना है। जयाचार्य लाडनूं में विराजमान थे। वहां सरावगी जाति की एक कन्या भूरां दीक्षित होना चाहती थी। माता-पिता ने अनुमति दे दी। उसकी सगाई पहले कर दी गई थी। भावी ससुराल वालों ने उस दीक्षा का विरोध किया। वे राज्याधिकारियों तक मामला ले गये। देशी रियासतों में उस समय ब्रिटिश शासन की ओर से एक ‘रेजिडेंट’ रहा करते थे। उन तक भी वह बात पहुंचाई गई। बहादुरमलजी भण्डारी ने ‘रेजिडेंट’ को वास्तविकता से परिचित कराया। उन्होंने कहा—‘व्यक्ति को दीक्षा के लिए

विवश नहीं किया जा सकता, यह जितना उपयुक्त है उतना ही यह भी तो है कि उसे विवाह के लिए भी विवश नहीं किया जा सकता। दोनों में से अपने लिए चुनाव करने का अधिकार अन्ततः व्यक्ति को ही होना चाहिए।' भण्डारीजी का तर्क सभी को उपयुक्त लगा। भण्डारीजी के प्रयत्न से राज्य सरकार ने तब उस स्थिति की जांच के लिए एक पर्यवेक्षक दल लाडनूँ भेजा। कन्या से बातचीत करने के सिलसिले में दल के मुखिया ने पूछा—‘साध्वी बनने के लिए तुम्हारे पर कौन दबाव दे रहा है?’

कन्या—‘दबाव किसी का नहीं है। मैं अपनी इच्छा से ही बनना चाहती हूँ।’

मुखिया—‘ऐसी इच्छा क्यों हुई तुम्हारी? क्या किसी कष्ट में हो तुम?’

कन्या—‘नहीं, मुझे कोई कष्ट नहीं है। अन्तरात्मा की प्रेरणा ने ही मुझे इस मार्ग की ओर प्रेरित किया है।’

मुखिया—‘क्या तुम अपने विचार बदल नहीं सकती? हमारा सुझाव है कि तुम्हें साध्वी बनने का विचार छोड़कर विवाह कर लेना चाहिए।’

कन्या—‘मैं अपना विचार बदल सकती हूँ और आपका सुझाव मान सकती हूँ, परन्तु एक शर्त है कि आप यह दायित्व ले लें कि मैं अपने जीवनकाल में विधवा नहीं होऊंगी।’

मुखिया—‘यह दायित्व कोई कैसे ले सकता है?’

कन्या—‘इसीलिए तो मैं अपना विचार नहीं बदल रही हूँ कि कोई भी किसी दूसरे का दायित्व लेने में समर्थ नहीं है।’

कन्या के निर्भीक और तर्कसंगत उत्तरों से पर्यवेक्षक दल बहुत प्रभावित हुआ। उसने सरकार को जो रिपोर्ट दी उसमें उस दीक्षा को सर्वथा आपत्तिरहित बतलाया।

जयाचार्य ने तब फाल्युन कृष्णा 6 को भूरांजी को दीक्षा प्रदान कर दी और लाडनूँ से विहार कर बीदासर पधार गये। वहां किसनमलजी भण्डारी ने दर्शन किये। आचार्यश्री ने उनके पिता बहादुरमलजी के उक्त दीक्षा-विषयक प्रयत्नों की प्रशंसा की। इस बार भी उन्हें पुरस्कृत करना चाहा।

किसनमलजी ने कहा—‘शासन का कार्य हमारा अपना कार्य है। फिर भी आप पिताजी को पुरस्कृत करना चाहते हैं तो सं. 1925 का आगामी चतुर्मासिक प्रवास जोधपुर में करने की कृपा करें।’

जयाचार्य ने उनकी प्रार्थना को तत्काल स्वीकार कर लिया और वह चतुर्मास जोधपुर में बिताया।

चुंबकीय आकर्षण

आनन्द भाई सूरत (गुजरात) के निवासी थे। मुम्बई में जवाहरात का कार्य करते थे। वहां उनका सम्पर्क जयपुर-निवासी लक्ष्मणदासजी खारड़ से हुआ। वे भी जवाहरात

के कार्य से मुम्बई आया करते थे। सम्पर्क मित्रता में परिणत हुआ। वे दोनों एक ही स्थान पर सामायिक करने लगे। वह स्थान था—‘मुंबई साबरकांठा हिन्दू लॉज’ नामक मकान का छह रुपये मासिक किराये पर लिया हुआ एक कमरा। अन्य भी अनेक व्यक्ति वहां सामायिक आदि धार्मिक अनुष्ठान किया करते थे। उनमें परस्पर धार्मिक चर्चाएं चलती रहती थीं। खारड़जी एक तत्त्वज्ञ श्रावक थे। स्वामीजी की अनेक ढालें उनको कंठस्थ थीं। थोकड़ों आदि का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। तेरापंथ, स्वामी भीखणजी तथा जयाचार्य आदि के विषय में वे जब बतलाने लगते तो सभी लोग बड़ी उत्सुकता तथा तन्मयता से उनकी बातें सुनते। उनमें से कुछ व्यक्तियों के मन में जयाचार्य के दर्शनों की भावना उत्पन्न हुई। जयाचार्य उन दिनों थली में विहार कर रहे थे, अतः लक्ष्मणदासजी ने उनको लाडनूं तक के मार्ग की एक स्थूल रूपरेखा लिखवा दी।

सं. 1920 के शीतकाल में आनन्द भाई, नगीनदास भाई, प्रेमचन्द भाई और शोभाचंद भाई—इन चार व्यक्तियों ने जयाचार्य के दर्शनार्थ थली की ओर जाने का निश्चय किया। उसी वर्ष मुम्बई से अहमदाबाद तक रेल यातायात प्रारम्भ हुआ था। वहां तक का मार्ग उन्होंने रेल से पार किया। उस समय की रेल को आज शायद ‘छकड़ा गाड़ी’ ही कहा जायेगा। तीन सौ मील (480 कि.मी.) में उन्हें तीन दिन लगाने पड़े। आगे चार सौ मील (640 कि.मी.) का मार्ग ऊंटों पर पार करके वे लोग कई सप्ताहों में लाडनूं पहुंचे। जयाचार्य उन दिनों वहां विराज रहे थे। प्रथम दर्शन पाकर ही वे सब धन्य हो गये।

वे सभी जौहरी थे। रत्न परीक्षा की ही तरह धर्म-परीक्षा में भी उन्होंने अत्यन्त गहराई से निरीक्षण-परीक्षण किया। आठ दिनों तक निरन्तर जयाचार्य के पास धार्मिक जिज्ञासाओं का समाधान पाने के पश्चात् वे पूर्ण आश्वस्त हो गये कि उनकी प्रलंब यात्रा का श्रम पूर्णतः सफल हुआ है। धर्म के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेने के पश्चात् उन चारों ने एक साथ सम्यक्त्व-दीक्षा स्वीकार कर ली। उसके पश्चात् बारह ब्रतों के विषय में भी पूरी जानकारी प्राप्त की और फिर यथाविधि प्रत्याख्यान ग्रहण करके पूर्ण श्रावक बन गये। आनंद भाई ने अपने ब्रतों का विवरण लिखते समय प्रारम्भ में लिखा है—‘हुं आनन्दचंद शवाईचंद आज रोजे शहेर लाडनु मध श्री पूजजी महाराज जीतमल स्वामीजी पास नीचे लखेला आगार सिवाए पचखान करूं छऊं। सं. 1920 ना फागण बद 7 वार बुधे।¹ छ छंडी नो आगारा।’

वे लोग लाडनूं में 10 दिन रहे। जयाचार्य के चुंबकीय आकर्षण ने उनको ऐसा खींचा कि वे सदा के लिए उनके भक्त बन गये। सात सौ मील (1120 कि.मी.) का लम्बा मार्ग पार करके जब वे वापस मुम्बई पहुंचे तो वहां भी उन्होंने अपने-अपने परिवारों में धर्म के बीज बोये।

1. गुजराती क्रम में विक्रम संवत् का प्रत्येक मास शुक्ल-पक्ष से प्रारम्भ होता है। उस मास का कृष्ण पक्ष उसके बाद आता है। इस हिसाब से उपर्युक्त फाल्गुन कृष्णा 7 राजस्थानी क्रम से चैत्र कृष्णा 7 होती है।

जयाचार्य के सम्पर्क में बहुत-से व्यक्ति आये और वे अत्यन्त प्रभावित हुए। अनन्तर सम्पर्क में आने वालों का तो कहना ही क्या, उनका परंपर सम्पर्क भी बहुत प्रभावक हुआ करता था। भारत के सुप्रसिद्ध तत्त्वचिंतक और अध्यात्मयोगी श्रीमद् राजचन्द्र को बोधि-बीज प्राप्त होने में जयाचार्य का परंपर सम्पर्क ही कारणभूत बना, ऐसा कहा जा सकता है।

सायला-निवासी सौभाग्यभाई के पिता लल्लूभाई एक बार आर्थिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर मारवाड़ की ओर आये। पहले उनका व्यापार लींबड़ी में था, परन्तु राज्यकर्ताओं के साथ खटपट हो जाने के कारण उन्हें वह स्थान छोड़कर सायला में निवास करना पड़ा। पुराना जमा हुआ व्यापार छूट गया और नया जम नहीं पाया, अतः धीरे-धीरे आर्थिक स्थिति निर्बल हो गई। उसे सुधारने तथा नये व्यापार-सम्बन्ध खोजने के लिए उन्होंने मारवाड़ की यात्रा की। वहां उन्हें व्यापार-क्षेत्र में नया अवसर कितना प्राप्त हुआ, कहा नहीं जा सकता, परन्तु धार्मिक क्षेत्र में अवश्य एक नया अवसर प्राप्त हुआ। वहां उन्होंने अनेक स्थानों पर तेरापंथ तथा जयाचार्य के विषय में बहुत-सी बातें सुनीं। उनसे जो जिज्ञासा उत्पन्न हुई, वही उन्हें जयाचार्य तक खींच लाई।

लल्लूभाई एक अच्छे धार्मिक रुचि वाले व्यक्ति थे। जयाचार्य के सम्पर्क से उनकी उस रुचि को तो तृप्ति मिली ही, उनकी जिज्ञासाओं को भी समाधान मिला। वे सम्यग्-दर्शन से लाभान्वित होकर वापस सौराष्ट्र गये। वहां उन्होंने अपने पुत्र सौभाग्यभाई को वह तत्त्व समझाया और सत् श्रद्धा का बीज वपन किया। कालांतर में सौभाग्यभाई के सम्पर्क से श्रीमद् राजचन्द्र को वही तत्त्व उपलब्ध हुआ। उपर्युक्त बात 'जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय नो इतिहास'¹ नामक पुस्तक से भी प्रमाणित होती है। वहां लिखा गया है :

'समग्र जैन समाज मां श्रीमद् राजचंद्रजी नुं नाम सुप्रसिद्ध छे। एमणे आत्मज्ञान प्राप्त करवा माटे अथाग प्रयत्न कर्यो हतो। तेओ एक ज्ञानी पुरुष हता। जैन-श्वेताम्बर तेरापंथी चोथी पाटे थएला महापंडित जैनाचार्य श्री जीतमलजी स्वामी पासे थी सायला वाला श्री सौभाग्यभाई ना पिताश्री ने मलेलुं मोक्षमार्ग नुं 'बीजज्ञान' श्री सौभाग्यभाई मारफते श्रीमद् राजचंद्रजी ने मलेलुं। त्यार थी एमनो उदय थयो, एवुं श्रीमद् ना परम भक्तराज श्री धारसीभाई कुशलचंदं संघवीजी² मोरवी-निवासी नुं कहेवुं हतुं।'

आगे मत जाओ

वृद्धावस्था में शारीरिक अस्वस्थता के कारण जयाचार्य ने अपना विहार-क्षेत्र सीमित कर दिया। सं. 1929 से 36 तक वे मुख्यतः बीदासर और लाडनूं को केन्द्र बनाकर ही विचरते रहे। उस स्थिति में लगभग 40 किलोमीटर की सीमा में अवस्थित

1. लेखक : मूर्तिपूजक तपागच्छीय श्रावक गोकुलदास नानजी भाई गांधी।

2. ये राजकोट में न्यायाधीश थे।

पांच क्षेत्रों में प्रायः प्रतिवर्ष अनेक बार पदार्पण हो जाया करता था। उस क्रम में उन्होंने सं. 1932 का चतुर्मास लाडनूँ में किया और फिर मर्यादा-महोत्सव बीदासर को प्रदान किया। उसके पश्चात् मार्गवर्ती क्षेत्रों में विराजते हुए वे पुनः लाडनूँ पधार गये। अधिकांश ग्रीष्मकाल वहीं व्यतीत हुआ। जब सं. 1933 का आगामी चतुर्मास समीप आने को हुआ, तब वहां से विहार करके वे बीदासर जाने का विचार करने लगे।

स्थानीय श्रावकों को जब उक्त चिन्तन की भनक मिली तो उन्होंने अत्यंत आग्रहभरी प्रार्थना की कि आगामी चतुर्मास लाडनूँ को ही प्रदान किया जाना चाहिए।

दूलीचंदजी दूगड़ उस समय लाडनूँ के प्रभावशाली व्यक्तियों में से गिने जाते थे। सं. 1920 में जोधपुर-नरेश के एक अचिन्तित आदेश से धर्मसंघ के लिए विकट परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी।¹ उस अवसर पर अपनी विशेष सेवा देकर दूलीचंदजी ने जयाचार्य के हृदय में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। उन्होंने भी प्रार्थना की कि अब तिहतर वर्ष की अवस्था में विहार कर अन्यत्र पधारने से तो अधिक अच्छा रहेगा कि आप यहीं विराजें। अधिक विराजने की इच्छा न हो तो कम से कम इस चतुर्मास का लाभ तो हमें प्रदान करें। उसके पश्चात् अन्यत्र पधारने की इच्छा हो तो समाधिपूर्वक पधार जाना।

जयाचार्य ने सबकी प्रार्थना सुनकर भी विहार करने का अपना विचार बदला नहीं। उन्होंने सुजानगढ़ की ओर विहार करने की तिथि घोषित की और फिर नियत तिथि को वहां से विहार कर दिया। वे गांव से कुछ ही दूर पहुंच पाये थे कि मार्ग से थोड़ी दूर खेजड़ी पर चढ़े हुए एक कृषक-बालक ने जोर-जोर से पुकारना प्रारम्भ किया—‘अरे! साधुओ! आगे मत जाओ! आगे मत जाओ!!’

शकुनज्ञ जयाचार्य कुछ देर के लिए वहीं रुके और फिर आगे बढ़ने लगे। बालक ने भी फिर उसी बुलन्दी के साथ अपनी बात को दोहराना प्रारम्भ कर दिया। जयाचार्य फिर रुके और पास में खड़े श्रावक दूलीचंदजी दूगड़ से कहने लगे—‘दूलीचंद! अब क्या करना चाहिए? शकुन तो अच्छे नहीं हो रहे हैं।’

दूलीचंदजी ने कुछ चिन्ता-सी व्यक्त करते हुए कहा—‘बात तो ऐसी ही है गुरुदेव! अब आगे पधारने में तो आपके भी और हम लोगों के भी मन में एक प्रकार का वहम रहेगा। मेरी दृष्टि से तो वापस पधार जाना ही अधिक उचित रहेगा। आपने विहार करने के लिए ही तो कहा था, वह हो गया। अब शकुन अच्छे न हो सकें तो इसका आप क्या करें? यह तो निरूपाय बात ही है।’

जयाचार्य ने तब वापस जाना ही उचित समझा। वे वहीं से पुनः लाडनूँ पधार गये। श्रावक-वर्ग बड़ा प्रसन्न हुआ कि आचार्यश्री का द्वितीय चतुर्मास भी यहीं पर होगा। इस प्रसन्नता को व्यक्त करते हुए लोग दर्शन करके जब चले गये, तब एकान्त देखकर

1. एतद् विषयक विशेष जानकारी के लिए देखें—तेरापंथ का इतिहास, खण्ड 5, पृ. 721

452 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
दूलीचंदजी ने विनयपूर्वक नमस्कार करके जयाचार्य को निवेदन किया—‘प्रभो! अविनय के लिए क्षमा करें, अपशकुन करने वाले उस बालक को मैंने ही सिखा-पढ़ाकर वहां भेजा था। आपको रोकने का अन्य कोई उपाय न देखकर ही मैंने ऐसा किया था। अब आप जो चाहें दण्ड दे दीजिए।’

जयाचार्य ने अपशकुन का रहस्य समझा तो आश्चर्य-भरी दृष्टि से दूलीचंदजी की ओर देखकर मुस्करा दिए। उन्होंने फरमाया—‘इसका दण्ड अब यही है कि फिर कभी ऐसा मत करना।’

भक्त-वत्सल

जयाचार्य भक्तों के प्रति अत्यंत दयालु थे। उनके हृदय में वात्सल्य का सागर हिलोरे मारा करता था। भक्तों की छोटी-बड़ी कैसी भी प्रार्थना को वे अपनी सीमा में बहुधा पूर्ण करने का प्रयास करते थे। भगवान् भक्तों के अधीन होते हैं—यह कथन केवल भक्तों की महत्ता का ही द्योतक नहीं है, इससे भगवान् की महत्ता भी अभिव्यक्त होती है। बात उस समय की है जब जयाचार्य वृद्धावस्था के कारण सीमित विहार करने लगे थे। उन्होंने उस समय सं. 1932 और 33 के दो संलग्न चतुर्मास लाडनूं में किये। सं. 1934 का चतुर्मास वे पार्श्ववर्ती क्षेत्र सुजानगढ़ को देना चाहते थे। परन्तु अनन्य भक्त उत्तमचंदजी बैंगानी की प्रार्थना पर वह तीसरा चतुर्मास भी उन्हें लाडनूं को ही देना पड़ा।

उत्तमचंदजी बैंगानी बीदासर के थे। थली में तेरापंथ को लाने वाले प्रथम चार श्रावकों में वे एक थे। जयाचार्य के प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा थी। किन्हीं कारणों से बीदासर-ठाकुर के साथ उनकी अनबन हो गई। कालान्तर में वह इतनी गहरा गई कि उनका वहां रहना खतरों से भर गया। उस स्थिति में बीदासर को छोड़कर वे लाडनूं आकर बस गये। जयाचार्य उस समय लाडनूं में विराजमान थे। बैंगानीजी के विक्षुब्ध मानस को आचार्यश्री की सेवा में बड़ा संबल मिला।

सं. 1934 के चतुर्मास का प्रारम्भ काल समीप आया तब आचार्यश्री विहार की तैयारी करने लगे। उत्तमचंदजी ने यह सब देखा तो मन पर उदासीनता छा गई। अत्यन्त भाव-विह्वल होकर जयाचार्य से प्रार्थना करते हुए उन्होंने कहा—‘परिस्थितियों ने मुझे जन्मभूमि से निर्वासित कर दिया, पुत्र की असामयिक मृत्यु ने असहाय बना दिया, ठाकुर रक्षक से भक्षक बन गया—इन सभी विपदाओं का मारा मैं भागकर आपकी शरण में आया हूं। यही तो एक स्थान है जिसका भरोसा किया जा सकता है। परन्तु जब आप भी इस प्रकार किनारा करके जा रहे हैं, तब बतलाइए अब किसका भरोसा करूं? कौन देगा मुझे आश्रय?’

अपने भक्त के ये भावभरे शब्द जयाचार्य को अन्दर तक झकझोर गये। एक क्षण के लिए उन्होंने कुछ सोचा और फिर वात्सल्य-भरे नयनों से उत्तमचंदजी की ओर देखते हुए सं. 1934 का तीसरा चतुर्मास भी लाडनूं में ही करने का निर्णय घोषित कर दिया।

पवन की लहर

उदयपुर के महाराणा-परिवार से आचार्य भारमलजी के समय से तेरापंथ का सम्पर्क हुआ। पहले-पहल महाराणा भीमसिंहजी (राज्यकाल वि. सं. 1834 से 1885) से यह क्रम चालू हुआ, जो कि प्रायः बराबर ही चलता रहा। तेरापंथी साधुओं से महाराणा भीमसिंहजी का प्रथम सम्पर्क सं. 1876 में मुनि हेमराजजी से तथा द्वितीय सम्पर्क सं. 1882 में मुनि जीतमलजी (जयाचार्य) से हुआ। वे उसी वर्ष अग्रणी रूप में अपना प्रथम चतुर्मास करने के लिए उदयपुर गये थे। महाराणा सत्संग तथा जिज्ञासा-शमन के लिए वहां अनेक बार आया करते थे।

महाराणा भीमसिंहजी जुलूस के रूप में सवारी लेकर नगर में घूमने के बड़े शौकीन थे, अतः आए दिन उनकी शोभा-यात्रा निकला करती थी। वे जब राजकीय साज-सज्जा सहित बाजार में से गुजरते, तब अनेक बार मार्ग में सन्तों का स्थान भी आ जाता। वे तब सन्तों को नमस्कार करते हुए प्रायः कहा करते—‘भले पधारे, भले पधारे।’ एक बार वे स्यात् किसी राजकीय चिंता से घिरे हुए थे, अतः शान्ति के लिए काफी देर तक मुनि जीतमलजी के पास बैठकर धर्म-चर्चा करते रहे। सन्तों की आध्यात्मिक सम्पत्ति की सराहना करते हुए उन्होंने उस दिन अपनी भौतिक-सम्पत्ति को ‘पवन की लहर’ बतलाते हुए उसके प्रति अपनी उदासीन-भावना व्यक्त की। मुनिश्री ने तब उन्हें समयानुकूल आध्यात्मिक उपदेश के द्वारा तृप्ति प्रदान की। महाराणा का तभी से मुनिश्री के प्रति सहज श्रद्धाभाव हो गया।

दर्शन के लिए

महाराणा भीमसिंहजी का धर्मानुराग इतना तीव्र हुआ कि जब वे किसी पाश्वर्वतीं मार्ग से भी गुजरते तो सन्तों के दर्शन के लिए उधर आ जाया करते। एक बार वे बहुत दिनों के पश्चात् सवारी लेकर बाजार से निकले। मार्ग सूर्योपोल का निश्चित था। वह सन्तों के प्रवास-स्थान से थोड़ा दूर था। यात्रा-दल जब सूर्योपोल के पास पहुंच गया, तब उसे वहीं ठहराकर महाराणा स्वयं घोड़े पर चढ़ कर थोड़े-से मनुष्यों को साथ लेकर मुनि जीतमलजी के पास आये और बन्दन करके वापस चले गये। युवराज जवानसिंहजी पहले तो इस सम्पर्क तथा बातचीत में कम ही रुचि रखा करते थे, पर दूसरी-तीसरी बार के संपर्क में वे भी रुचिपूर्वक भाग लेने लगे।

जब आयें तभी आज्ञा है

आचार्य-अवस्था में जयाचार्य ने सं. 1912 का चतुर्मास उदयपुर में किया। उस समय महाराणा सरूपसिंहजी वहां के शासक थे। जयाचार्य के प्रति उनके मन में गहरी श्रद्धा थी। श्रावक मोखजी खेमेसरा के संसर्ग से उनका धर्मानुराग और भी उद्दीप्त हो गया। उनके माध्यम से अनेक बार वे जयाचार्य को प्रश्न पूछते रहते। उनके उत्तर उन्हें अत्यन्त समाधान-कारक प्रतीत होते।

चतुर्मास सम्पन्न होने को आया। जयाचार्य विहार की तैयारी करने लगे। उन्होंने मोखजी से कहा—कल विहार हो रहा है। मार्ग में हस्ति-युद्ध देखने के लिए बना हुआ महाराणा का दीवानखाना है। एक रात्रि के लिए हम वहाँ ठहरना चाहते हैं। तुम महाराणा की इच्छा जान लेना। मोखजी ने जयाचार्य की भावना महाराणा के सम्मुख रखी। महाराणा ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा—‘एक रात्रि के लिए क्या पूछ रहे हो? एक मास भी रहना चाहें तो आनंद से रहें। केवल अभी के लिए ही नहीं कह रहा हूँ, वे जब भी आयें और वहाँ रहना चाहें तो सदैव मेरी आज्ञा है।’ मोखजी ने महाराणा की भावना जयाचार्य तक पहुंचा दी। दूसरे दिन विहार कर आचार्यश्री दीवानखाने पधार गये और एक रात्रि का प्रवास वहाँ किया।

मेरा प्रणाम कहना

मोखजी जब दीवानखाने के विषय में पूछने के लिए गये थे तब महाराणा ने उनसे कहा था—‘कल प्रातः शीघ्र ही आकर मेरे से मिल लेना।’ तदनुसार दूसरे दिन सूर्योदय होने के साथ ही मोखजी राजमहल में पहुंच गये। महाराणा ने कहा—‘तुम आचार्यश्री के पास जाओ और मेरी ओर से चार बातें निवेदित करो :

1. आपके चरणों में मेरा दंडवत् प्रणाम है।
2. उदयपुर में पुनः पधारने की शीघ्र ही कृपा करना।
3. हम लोगों पर कृपाभाव बनाये रखना।
4. आपकी कृपा से ही हम सब का भला है।

मोखजी ने महाराणा से विदा ली और जयाचार्य के पास पहुंचे। महाराणा द्वारा कहलाई गई चारों बातें उन्होंने वहाँ निवेदित कीं। जयाचार्य ने महाराणा के धर्मानुराग की प्रशंसा की। उपस्थित साधु-साधिक्यों तथा श्रावक-श्राविकाओं का हृदय उन बातों को सुन कर उल्लसित हो गया।

उदयपुर ने कौन-सी चोरी की है?

जयाचार्य उदयपुर चतुर्मास के पश्चात् विहार करते हुए पहूना, पुर, मोखण्डा आदि अनेक क्षेत्रों में घूमे। कुछ ही दिनों पश्चात् नाथद्वारा होते हुए वे गोगूँदा पधार गये। उस समय मोखजी उदयपुर से दर्शन करने के निमित्त गोगूँदा आये। महाराणा ने उनके साथ कहलवाया—‘आप गोगूँदा तक पधार गये हैं तो फिर उदयपुर ने कौन-सी चोरी की है? यहाँ भी पधारने की अवश्य कृपा करें।’

जयाचार्य ने महाराणा की प्रार्थना को बड़े ध्यान से सुना और मुस्कराकर रह गये। इतना शीघ्र फिर उदयपुर जाना, उनके मन को भाया नहीं। वे वहाँ से विहार करते हुए मारवाड़ की ओर पधार गये।

जयपुर-नरेश सवाई रामसिंहजी सभी धर्मों के प्रति आदर रखने वाले व्यक्ति थे। अनेक विषयों का वे तलस्पर्शी ज्ञान रखते थे। विद्वज्जनों के प्रति उनके मन में सदैव आदर-भाव रहता था। उनकी जिज्ञासावृत्ति बहुत तीव्र थी। जहां भी उनके शमन की सम्भावना होती, वे वहां अपने संपर्कसूत्र अवश्य जोड़ लेते। जयाचार्य की विद्वत्ता तथा समाधान प्रदान करने की क्षमता बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। सवाई रामसिंहजी के कानों तक भी वह प्रसिद्धि पहुंची। वे उनके दर्शनों के लिए लालायित हो उठे।

नरेश प्रजा के सुख-दुःखों की अवगति के लिए अनेक बार रात्रिकाल में वेष बदलकर घूमा करते थे। उसी अवसर पर कभी-कभी जयाचार्य के पास भी आने लगे। अन्य सब लोग अपने-अपने घर चले जाते तब प्रच्छन्न रूप से ही वे आते और घटा-अधघटा तत्त्वचर्चा करके प्रच्छन्न रूप से ही वापस चले जाते। उस समय उनके साथ केवल ठाकुर नारायणसिंहजी रहा करते थे। वे उनके अत्यन्त कृपापत्र तथा विश्वस्त व्यक्ति थे। एक बार रात्रि के समय नरेश आये। जूते खोलकर अन्दर जाने लगे तब किसी प्रसंग पर नारायणसिंहजी ने उन्हें ‘अनन्दाता’ कह कर सम्बोधित किया। लाला भैरूलालजी सिंधड़ का नौकर उस समय वहीं था। उक्त शब्द सुनकर उसे नरेश के आगमन का सन्देह हुआ। उसने लालाजी को बताया। जयाचार्य उन्हीं की हवेली में विराज रहे थे। लालाजी उपहार की परम्परा के अनुसार थाल में एक दुशाला तथा कुछ मुहरें लेकर आ गये। द्वार पर खड़े होकर वे नरेश के प्रत्यावर्तन की प्रतीक्षा करने लगे।

नरेश रामसिंहजी कुछ समय तक जयाचार्य के पास ठहरे। जब वापस लौटने लगे तब द्वार पर लाला भैरूलालजी ने उनका अभिवादन किया और उपहार देने को उद्यत हुए। नरेश ने उसे अस्वीकार करते हुए कहा—‘यह उपहार ग्रहण करने का स्थान नहीं है। यह तो सन्तों का दरबार है। यहां हम गुरु-दर्शन को आये हैं। दिन में आने में कई प्रकार की कठिनाइयां रहती हैं, अतः रात्रिकाल के एकान्त में आ जाते हैं। आज आप लोगों को हमारे आगमन का पता लग गया है तो इसे आप तक ही सीमित रखियेगा, अन्य कोई न जानने पाये।’ उक्त निर्देश देकर नरेश वहां से आगे बढ़ गये।

जयाचार्य से नरेश का सम्पर्क सम्भव है सं. 1928 में हुआ हो। उस समय वे जयपुर में लगभग साढ़े नौ महीने रहे थे। सं. 1937 में भी वह सम्पर्क सम्भव है, परन्तु नरेश के जीवन का वह अन्तिम वर्ष था। सैंतालीस वर्ष की अवस्था में वे उस वर्ष दिवंगत हो गये थे।

बाल्टेन से तत्त्व-चर्चा

सं. 1928 का चतुर्मास जयपुर में बिताने के पश्चात् जयाचार्य एक महीने घाट में तथा एक महीने लूणियांजी के बाग में रहे। माघ-मास का प्रारम्भ होते ही वे नगर में सेठ अनन्तरामजी के वहां पधार रहे थे। श्रावक-श्राविकाओं का समूह उनके साथ चल रहा था। बाजार में पादरी बाल्टेन ने जब यह दृश्य देखा तो जयाचार्य के पास आकर नमस्कार

456 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
करते हुए कहा—‘आप कहां ठहरेंगे? मैं आपके पास आकर एक बार तत्त्व-चर्चा करना चाहूँगा।’

जयाचार्य ने उनको सेठ अनन्तरामजी दीवान के स्थान का पता बतलाया। कुछ दिनों पश्चात् वे वहां आये और काफी देर तक तत्त्व-चर्चा करते रहे। जयाचार्य के उस सानिध्य में उनकी अनेक जिज्ञासाएं शांत हुईं। वे अत्यन्त आह्वादित होकर गये।

चित्तौड़ का चतुर्मास

चित्तौड़ में उस समय श्रद्धा के दो ही घर थे। एक ताराचन्दजी ढीलीवाल का तथा दूसरा कानमलजी पारख का। शेष जैन-घर इतर सम्प्रदायों के थे। वे तेरापंथ से काफी द्वेष किया करते थे। संवत् 1909 के शेषकाल में जयाचार्य ने सतियों से पूछा—‘चित्तौड़ में चतुर्मास करने के लिए कौन-कौन तैयार हैं?’ सब में एक प्रकार का सन्नाटा छा गया। चित्तौड़ की स्थिति किसी से अज्ञात नहीं थी। साध्वियों के किसी छोटे से छोटे सिंघाड़े के लिए भी चार महीने तक लगातार वहां निवास कर पाना सहज नहीं था। कोई वहां की तैयारी करे तो किस आधार पर करे?

जयाचार्य ने कुछ क्षण ठहर कर अपने प्रश्न को दुहराया और जिज्ञासाभरी दृष्टि से इधर-उधर देखा तो साध्वी दीपांजी ने खड़े होकर प्रार्थना की—‘गुरुदेव! मुझे आज्ञा दीजिए, मैं वहां चतुर्मास करने के लिए तैयार हूँ।’

उपस्थित साध्वियां तो उनके साहस पर चकित थीं ही, स्वयं जयाचार्य ने भी उनको सावधान कर देना आवश्यक समझा। उन्होंने फरमाया—‘वहां श्रद्धा के केवल दो ही घर हैं और तुम्हारे सिंघाड़े में तुम सत्रह साध्वियां हो। ऐसी स्थिति में अन्य सब विषयों को छोड़कर केवल आहार-पानी की व्यवस्था के विषय में ही यदि सोचें तो वहां की स्थिति अनुकूल नहीं जान पड़ती, फिर तुम इतनी साध्वियों के साथ चतुर्मास कैसे कर सकोगी?’

दीपांजी ने नम्रता से झुककर कहा—‘आपने प्रथम बार फरमाया था तभी मैंने अपने साथ की साध्वियों से परामर्श कर लिया था। मेरे साथ की चार साध्वियां चातुर्मासिक तप और चार साध्वियां द्वैमासिक तप करने को तैयार हैं। चार साध्वियों में से दो एक दिन और दो दूसरे दिन—यों टेढ़े रूप से एकांतर तप कर लेंगी। अवशिष्ट पांच साध्वियों को हमीरगढ़ चतुर्मास करवा दिया जाएगा। इस प्रकार भाद्रपद तक तो केवल दो साध्वियों के लिए ही प्रतिदिन आहार की आवश्यकता होगी। आपकी कृपा से इतने के लिए वहां कोई कमी रहने की संभावना नहीं है, क्योंकि दोनों ही घर काफी बड़े परिवार वाले तथा सम्पन्न हैं। दो महीनों के पश्चात् जब दो साध्वियों के द्वैमासिक तप का पारणा हो जाएगा, तब तक वर्षा समाप्त होने से बाहर के मार्ग भी खुल जाएंगे, अतः आस-पास के दूसरे ग्रामों की गोचरी भी कर सकेंगी।’

जयाचार्य ने दीपांजी के उस साहस का मानसिक सन्तोष के साथ स्वागत किया और यह अनुभव किया कि ऐसे साहसी व्यक्ति ही तेरापंथ को आगे बढ़ाने में अपने

सर्वस्व की आहुति प्रदान कर सकते हैं। उन्होंने दीपांजी को सं. 1910 का चतुर्मास चित्तौड़ करने की स्वीकृति दे दी। दीपांजी आदि 11 साध्वियों ने तब वह चतुर्मास चित्तौड़ में किया, तथा अपने साथ की जेतांजी आदि 6 साध्वियों को उन्होंने चतुर्मास के लिए हमीरगढ़ भेज दिया।¹

साध्वी दीपांजी ने चतुर्मास से पूर्व जयाचार्य के सम्मुख तपस्या की जो साहसी योजना प्रस्तुत की थी, उतनी उन्हें करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उसका संभावित कारण यही हो सकता है कि तेरापंथ के प्रति विद्वेषधाव का क्रमिक ह्रास होने लगा था, अतः अन्य जैन घरों में भी आहार-पानी की सुलभता हो गई थी। उक्त दोनों स्थानों में साध्वियों की बड़ी तपस्याएं इस प्रकार हुई थीं—1 दो मासी (63 दिन), 4 मास खमण, 2 पखवाड़े तथा 1 दस दिन का थोकड़ा। एकान्तर तथा छोटे थोकड़ों का विवरण उपलब्ध नहीं है²।

सात पारण

सं. 1912 के उदयपुर चतुर्मास के पश्चात् जयाचार्य थोड़े-से समय के लिए मेवाड़ में विचरे और फिर मारवाड़ में पधार गये। शीतकाल के उस थोड़े-से समय में उन्होंने चार ग्रामों में सात साधु-साध्वियों को अपने हाथ से लम्बी तपस्याओं के पारण कराये। वे सब तपस्याएं आछ के आगार पर थीं और पंचमासी, छहमासी तथा उससे भी ऊपर की थीं। सातों तपस्वी व्यक्तियों की तपस्या और पारण-स्थान का क्रमिक विवरण इस प्रकार है :

नाम	तपस्या	पारण-स्थान
1. साध्वीश्री रंभाजी	6 महीने	पहूना
2. साध्वीश्री हस्तूजी	6 महीने 13 दिन	पुर
3. साध्वीश्री ज्ञानांजी	6 महीने	पुर
4. साध्वीश्री जेतांजी	5 महीने 2 दिन ³	पुर
5. मुनिश्री मोटजी	6 महीने	मोखणुंदा
6. मुनिश्री खूमजी	6 महीने 13 दिन	मोखणुंदा
7. मुनिश्री अनूपजी	7 महीने 8 दिन	नाथद्वारा

1. आर्या-दर्शन, 219।

‘दीपांजी ग्यारै ठाणां सूं चित्तौड़ में चोमासं।
हमीरगढ़ जेतां घट् ठाणै, वरणविवै तप रासं॥’

2. आर्या-दर्शन, 2110, 11।

‘गेनांजी इकतीस किया, सुंदरजी पनरै जाणी।
नाथांजी री माता जेतां, ट्रेसठ किया पिछाणी॥
हस्तू तीस रामूजी पनरै, सेऊ दस सुखदाई॥
मूलां तीस मलूकांजी पिण, तीस दिवस शिवसाई॥’

3. (क) जयसुजस, 43। 22 में मधवागणी ने जेतांजी की तपस्या को छहमाही बतलाया है :

‘बलि ग्यानांजी जेतां बिहुं करी, षटमासी गुण खाणी।’

कितनी दूरी चाहिए?

जयाचार्य प्रत्येक क्षेत्र में नये-नये प्रयोग करते रहते थे। मर्यादा-निर्माण में भी उन्होंने अनेक नये प्रयोग किये। सर्वाधिकार सम्पन्न आचार्य होते हुए भी वे दूसरों के चिंतन को भी महत्व देते थे। अपने करणीय को अन्य व्यक्तियों के मन्तव्यों से तोलकर देखना उन्हें पसन्द था।

अकेले साधु को अकेली स्त्री से तथा अकेली साध्वी को अकेले पुरुष से बात नहीं करनी चाहिए। तीसरा व्यक्ति पास में हो तो बात की जा सकती है। यह शास्त्रीय मर्यादा है। परन्तु तीसरे व्यक्ति की अधिकतम दूरी कितनी होनी चाहिए, इसका आगमों में कोई उल्लेख नहीं है। सं. 1911 में जयाचार्य जब रत्लाम में थे तब इस विषय में एक समान परम्परा स्थापित करने के लिए उन्होंने पांच संतों को बुलाकर पूछा—‘तीसरे व्यक्ति की अधिकतम दूरी कितनी होनी चाहिए? इस विषय में तुम लोगों का क्या दृष्टिकोण है?’

पांचों सन्तों ने अपने-अपने स्वतंत्र चिंतन के आधार पर दूरी की सीमा बतलाई। उनमें से दो ने सात हाथ, दो ने नौ हाथ और एक ने पांच हाथ की अधिकतम सीमा बतलाई।

जयाचार्य ने उन सब हाथों को मिलाकर पांच भागों में विभक्त कर दिया। इस प्रकार दूरी की आनुपातिक सीमा सात हाथ से कुछ अधिक हुई। उसी को आधार मानकर उन्होंने मर्यादा बनाई कि तीसरा व्यक्ति अधिकतम सात हाथ की दूरी पर होना चाहिए। उससे अधिक दूर हो तो बात नहीं करनी चाहिए। उन्होंने उसके साथ एक यह स्पष्टीकरण भी जोड़ दिया कि तीसरा व्यक्ति यदि अंधा, बधिर, मूक तथा अल्पायु (नौ वर्ष से कम आयु वाला) हो तो उसे उक्त कल्प में नहीं गिनना चाहिए।

कितने दिन

सं. 1912 के आषाढ़ मास की घटना है। जयाचार्य उदयपुर से बाहर ‘रेजिडेंट’ की कोठी पर एकरात्रिक प्रवास कर रहे थे। वहां संध्या-समय गंभीरमलजी सिंघी आचार्यश्री के पास ही सामायिक-साधना में प्रवृत्त थे। प्रतिक्रमण के पश्चात् जयाचार्य ने पांच साधुओं को बुलाया और फरमाया—‘किसी गृहस्थ के घर में घी खरीदने के लिए न दिनों की कोई निश्चित व्यवस्था है और न मात्रा की। कल्पना करो, वह गृहस्थ एक दिन घी खरीद कर लाया। साधु उसके घर गोचरी के लिए गये। उसने आग्रहपूर्वक सारा

(ख) आर्या-दर्शन 4। 14 में जयाचार्य ने उसे 152 दिनों का तप कहा है :

‘लघु जेतांजी इक सो बावन, नाथांजी री माता।’

जयाचार्य का उक्त पद्य तपस्यापूर्ति के लगभग सवा दो वर्ष पश्चात् ही सं. 1914 (चैत्रादि 1915) चैत्र पूर्णिमा की रचना है, जबकि जय-सुजस मधवागणी द्वारा सं. 1943 श्रावण-पूर्णिमा को सम्पन्न की गई रचना है। जयाचार्य का कथन निकट काल का है, अतः अधिक संगत प्रतीत होता है।

घी साधु को दान में दे दिया। ऐसी स्थिति में ऋषिराय के द्वारा की गई एक मर्यादा है कि दानदाता को उस दिन फिर घी नहीं खरीदना चाहिए। इस विषय पर पुनः चिन्तन अपेक्षित लगता है, अतः तुम लोग दिनों की संख्या के बारे में अपना-अपना स्वतंत्र चिंतन प्रस्तुत करो।'

थोड़ी देर के पश्चात् उनमें से एक साधु आया और बंदन करके कहने लगा—‘मेरे विचार से पांच दिनों का अन्तर होना चाहिए।’ इसी प्रकार क्रमशः दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवें साधु ने भी आकर पांच दिनों का अन्तर रखने की बात कही। गंभीरमलजी सिंधी बोले—‘मैंने भी पांच दिनों का ही चिंतन किया था।’ जयाचार्य ने कहा—‘मेरा चिंतन भी यही था।’ सभी का एक जैसा मन्तव्य प्रस्तुत हुआ, अतः आचार्यश्री ने कम से कम पांच दिनों का अन्तर रखने की सीमा निर्धारित कर दी। साथ ही उन्होंने यह भी कहा—‘मैंने यह व्यवस्था की है, कालांतर में किसी आचार्य का अभिमत दूसरा हो तो वे इसमें परिवर्तन कर सकते हैं।’

प्रभावी अनुशासन

जयाचार्य का अनुशासन बहुत प्रभावी था। इस विषय में उन्होंने डोर को कभी भी ढीला नहीं छोड़ा। उनका मन्तव्य था कि किसी एक के अनुशासन-भंग की उपेक्षा की जाएगी तो निश्चित ही अन्य व्यक्ति भी उसका अनुकरण करने लगेंगे। इसलिए अनुशासन की अवहेलना उनकी दृष्टि में बहुत बड़ा दोष था। इस प्रकार के छोटे-से-छोटे प्रसंग पर भी वे पूर्ण सावधानी रखते और तत्काल उसका निराकरण करते।

जीवन के अन्तिम वर्ष की घटना है। जयाचार्य जयपुर में थे। वे अपना अधिकतम समय स्वाध्याय और ध्यान में लगाया करते थे। संघ की व्यवस्थाओं के संचालन का भार प्रायः युवाचार्य मधवा पर ही निहित था। एक दिन सायंकालीन प्रतिक्रमण के समय जयाचार्य ध्यानस्थ थे। पास में युवाचार्य विराजमान थे। मुनि जुहारजी शौच के लिए बाहर गये हुए थे। वे लौटकर आए तब कुछ-कुछ अन्धेरा हो चुका था। युवाचार्य मधवा ने उनसे कहा—‘इतनी देरी कैसे कर दी? सुर्यास्त होने से पूर्व ही वापस आ जाना चाहिए था। देखते नहीं, कितना अंधेरा हो गया है? इस दोष के लिए पांच ‘परिष्ठापन’¹ का प्रायश्चित्त स्वीकार करो।’

मुनि जुहारजी ने अप्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—‘शारीरिक आवश्यकता किसी के रोके थोड़े ही रुकती है? उसमें विलम्ब हो गया है उसका मैं क्या कर सकता हूँ? बात-बात में प्रायश्चित्त की यह क्या बला है? मैं इसे नहीं मानता।’

युवाचार्यश्री मौन रह गये। मुनि जुहारजी तुनतुनाते हुए अन्दर चले गये। जयाचार्य ने ध्यान सम्पन्न करते ही उन्हें बुलाया और फरमाया—‘शारीरिक आवश्यकतावश विलम्ब

1. यह प्रायश्चित्त पहले ‘मंडलिया’ नाम से प्रचलित था। जयाचार्य ने उसे ‘परठना’ (परिष्ठापन) नाम प्रदान किया। आचार्यश्री तुलसी ने उसी को अब ‘कल्याणक’ नाम प्रदान किया है।

तो हो सकता है, परन्तु क्या उसका प्रायश्चित्त करना आवश्यक नहीं होता? प्रायश्चित्त को अस्वीकार करके तुमने अनुशासन को भंग किया है, अतः तुम्हारा संघ से सम्बन्ध-विच्छेद किया जाता है।' किसी ने कल्पना भी नहीं की होगी कि अनुशासन-भंग का दुष्परिणाम इस स्थिति तक पहुंच जाएगा।

जयाचार्य ने युवाचार्यश्री से कहा—‘याद रखो, एक के भी अनुशासन-भंग को चूपचाप सह लेने का अर्थ होता है दूसरों को उसी मार्ग पर चलने का निमंत्रण देना।’

श्रुत के अनन्य उपासक

चिन्तन-सातत्य

जयाचार्य का प्रायः समग्र जीवन श्रुत की उपासना में ही बीता। उनकी श्रुतोपासना बाल्यावस्था से प्रारम्भ हुई, वह अन्त तक क्रमशः वेगवती होती हुई ही चलती रही। जैनागमों का उन्होंने पूर्णरूप से मंथन किया था, फिर भी उनको उतने से संतुष्टि नहीं थी। आगे से आगे आगम-विषयक नवीन चिन्तन चलता ही रहता था। उनके चिन्तन-सातत्य ने जैन-शासन को अनेक प्रकार से उपकृत किया।

नया रत्न मिला है

जैनागमों में उत्तराध्ययन सूत्र अपनी विशेषताओं के कारण अपेक्षाकृत अधिक पढ़ा जाता है। अनेक साधु उसे कंठस्थ भी करते हैं। जयाचार्य ने अपनी बाल्यावस्था में ही उसे कंठस्थ कर लिया था। सैकड़ों बार उसका स्वाध्याय भी वे कर चुके थे। व्याख्यान में विश्लेषण करके भी अनेक बार उसका पारायण किया जा चुका था। राजस्थानी भाषा में उन्होंने उसकी 'जोड़' (पद्य-टीका) भी निर्मित की थी। तात्पर्य यह है कि उत्तराध्ययन के प्रत्येक वर्णन से उनका अत्यन्त निकट का सम्बन्ध हो चुका था। यह कथन भी कोई अत्युक्ति नहीं होगा कि उत्तराध्ययन के ज्ञान को सफलतापूर्वक वे आत्मसात् कर चुके थे। इतने पर भी जब वे रात्रि में उसका स्वाध्याय करते तब अनेक बार युवाचार्य मधवा को कहा करते—‘मधजी! आज तो उत्तराध्ययन में एक नया रत्न मिला है।’ एक सूत्र का इतना अवगाहन कर लेने पर भी उसमें से नये-नये विचार-रत्नों को प्राप्त करने की बात जहां उस सूत्र के अनन्त गाम्भीर्य को प्रकट करती है, वहां वह विचारक के चिन्तन-विषयक नये-नये उन्मेषों को भी स्पष्ट करती है।

संस्कृत व्याकरण

आगम-ज्ञान की उपासना जयाचार्य का प्रारम्भ से ही प्रिय विषय रहा था। अन्य विषयों में भी अवसर मिलते ही वे निष्णातता प्राप्त करने में जुट जाते थे। शीघ्रता और सूक्ष्मता से ग्रहण करने वाली उनकी बुद्धि ने इस कार्य में उनको सदैव सफलता प्रदान की।

462 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
संस्कृत भाषा का अध्ययन उन्होंने इसी कारण से बहुत थोड़े समय में ही कर लिया। उक्त अध्ययन के लिए ऋषिराय ने उनको प्रेरणा दी थी।¹

सं. 1881 में मुनि जय का चतुर्मास मुनि हेमराजजी के साथ जयपुर में था। वहां अग्रवाल जाति का एक बालक गट्टूलाल हटवा² व्याकरण पढ़ा करता था। वह रात्रि के समय प्रतिदिन साधुओं के पास भी आया करता था। मुनि जय के प्रति उसके मन में सहज ही एक विशेष आकर्षण हो गया, अतः वह प्रायः उनके पास बैठने लगा।

मुनि जय उस समय लगभग इक्कीस वर्ष की अवस्था के एक युवक साधु थे। आगम-ज्ञान की गहराइयों में गोता लगाते हुए उन्होंने अनेक बार आगमों की संस्कृत टीकाओं को पढ़कर अधिक सामर्थ्य अर्जन करने की बात सोची थी, पर उन्हें अवैतनिक रूप से पढ़ने वाला कोई पाण्डित उपलब्ध नहीं हुआ। वेतन लेकर पढ़ने वाले से पढ़ने की परिपाठी मान्य नहीं थी। उस वर्ष जब उन्हें पता चला कि यह छात्र संस्कृत पढ़ता है तो उन्होंने उसे अपना पढ़ा हुआ पाठ प्रतिदिन सुना देने के लिए कहा। बालक ने उनकी बात को स्वीकार कर लिया। सेवा का वह अवसर प्राप्त कर उसने अपने-आपको सौभाग्यशाली समझा। उसके पश्चात् वह प्रतिदिन सेवा में उपस्थित होता और दिन में जो-कुछ पढ़ा करता, वह रात्रि के समय मुनि जय को सुना दिया करता। वे दूसरे दिन उन सुने हुए व्याकरण-सूत्रों को तो वृत्ति सहित कंठस्थ कर लिया करते और उनकी साधनिका को राजस्थानी भाषा में पद्य-बद्ध करके लिख लिया करते। यह था उनका संस्कृत-व्याकरण पढ़ने का इतिहास।

व्याकरण चाहे किसी भी भाषा का हो, वह प्रायः कठिन और नीरस ही होता है। उसमें भी फिर संस्कृत-व्याकरण का तो कहना ही क्या, वह तो प्रायः ‘करेला और नीम चढ़ा’ माना जाता है। उसमें अन्य व्याकरणों के समान शब्द के आगे कर्ता तथा कर्म आदि कारकों के लिए अमुक विभक्तियाँ लगाई जाती हैं, इतना कह देने मात्र से काम नहीं चलता। वहां तो प्रत्येक विभक्ति से शब्द में जो अन्तर आता है, उसका पूरा-पूरा लेखा-जोखा रखना पड़ता है। एक-एक मात्रा के परिवर्तन को व्याकरण-सूत्रों की साक्षियों से सिद्ध करना होता है।

इस कठिनाई के बावजूद यदि पढ़ाने वाला व्यक्ति विद्वान् हो तो वह अनेक प्रकार से कठिन स्थलों को सरल बना कर समझा सकता है, परन्तु मुनि जय को जो अध्यापक प्राप्त हुआ, वह तो स्वयं ही एक छात्र था। जितना पढ़ता, उसमें से जितना याद रख

1. ऋषिराय पंचदालियो, 3111 :

‘व्याकरण पढावा रो उपदेश, ऋषिराय दियो सुविशेष।

तिण सू व्याकरण नो सुविचारी, जय उद्यम कीधो उदारी॥’

2. जय-सुजस, 815 में इन्हें प्रारम्भ में ही श्रावक कहा गया है। जैसे :

‘सीखतो व्याकरण एक श्रावक, सूत्र अर्थ साधनिका सार।’

परन्तु जयपुर-निवासी श्रावक महताबचन्द्रजी खारड द्वारा संकलित ‘जयपुर-विवरण’ में लिखा है कि मुनिश्री के उस संपर्क से प्रभावित गट्टूलालजी कालान्तर में श्रावक बन गए। इतना ही नहीं, उनका पूरा परिवार भी तेरापंथी बन गया।

सकता और उसमें से भी जितना व्यक्त कर सकता, उतना ही वह बतला सकता था। बहुत बार तो मुनि जय की शंकाओं को सुलझाने के स्थान पर वह स्वयं ही उलझ जाया करता था। परन्तु मुनि जय ऐसे ग्राहक थे कि उससे भी इतना प्राप्त कर लेते, जितना उसके पास देने को होता ही नहीं। उनकी बुद्धि पानी में पड़े तैल-बिन्दु के समान प्रसरणशील थी। थोड़ा-सा संकेत पाते ही वह विषय को स्वयं पकड़ लिया करती थी और उस पर छा जाया करती थी। तैल-बिन्दु तो पानी पर केवल छा कर ही रह जाता है, पर उनकी बुद्धि उस विषय की गहराइयों तक भी सरलता से पहुंच जाती थी।

एकान्त साधना

जयाचार्य का प्रायः समस्त जीवन श्रुत-साधना में ही व्यतीत हुआ। परन्तु उनके जीवन के पिछले वर्ष तो अत्यन्त उत्कटता के साथ स्वाध्याय में लगे। संघ की देख-रेख का भार कुछ तो उन्होंने सं. 1920 में ही मुनि मधवा को युवाचार्य-पद देकर संभला दिया था, पर शेष वर्षों में तो वे बहुलतया उससे मुक्त हो गये थे। उन वर्षों में वे प्रायः अधिकांश समय एकान्त में अपनी साधना में निरत रह कर ही व्यतीत किया करते थे।

स्वाध्याय-निरत

जयाचार्य की साधना जहां आगम-अनुशीलन और साहित्य-सर्जन से समृद्ध हुई, वहां निरन्तर स्वाध्याय के द्वारा वह ऊर्जस्विनी बनी। जैनागमों में स्वाध्याय के पांच भेद किये गये हैं : वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। ये पांचों जयाचार्य के जीवन के अभिन्न अंग बन चुके थे। उनके प्रतिदिन के जीवन-व्यवहार में इन सबका उपयोग अपरिहार्य था। फिर भी यहां केवल ‘परिवर्तना’ के अर्थ में ही ‘स्वाध्याय’ शब्द का प्रयोग किया गया है। मुखस्थ ज्ञान की अविस्मृति के लिए उसे बार-बार दुहराने को परिवर्तना कहा जाता है। प्रचलित भाषा में उसे ‘चितारना’ कहते हैं।

जयाचार्य अपने बाल्यकाल से ही स्वाध्याय में रुचि रखने लगे थे। प्राप्त ज्ञान की सुरक्षा के लिए उससे बढ़कर और कोई उत्तम उपाय नहीं हो सकता। प्रत्येक शैक्ष के लिए यह प्रवृत्ति बहुत ही लाभदायक होती है। यद्यपि सीखा हुआ ज्ञान धीरे-धीरे उनके इतना आत्मसात् हो गया था कि उसे दुहराने की आवश्यकता ही नहीं रही थी, फिर भी साधना-मार्ग में स्वाध्याय का अपना एक पृथक् महत्व भी होता है, अतः वे उसे दुहराते रहते थे। उस दुहराने में अनेक बार उन्हें नये विचार और नये अर्थ भी प्राप्त हो जाया करते थे। ‘जपतो नास्ति पातकम्’ इतना कथन ही पर्याप्त नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि स्वाध्याय तो निर्जरा का हेतु बनकर पातक-विनाशी भी बनता है। शैक्ष अवस्था में प्रारम्भ किया गया स्वाध्याय का क्रम आजीवन उन्होंने उत्तरोत्तर वृद्धिंगत रूप में चालू रखा।

रुई के फाहे

जयाचार्य जब स्वाध्याय में बैठते तब अपनी एकाग्रता को किसी बाह्य वातावरण से भंग न होने देने के लिए प्रायः ध्यानस्थ हो जाया करते थे। बाह्य शब्दों से बचने के

464 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
लिए कभी-कभी वे कानों में रुई के फाहे भी लगा लिया करते थे। स्वाध्याय का वह सतत चालू प्रवाह जहाँ उनकी ज्ञानोपासना का एक आधारभूत अंग था, वहाँ मनःशुद्धि और फलतः आत्म-शुद्धि का एक महत्वपूर्ण साधन था।

स्वाध्याय के कुछ आंकड़े

जयाचार्य ने अपने जीवन में कितना स्वाध्याय किया, यह कह पाना तो कठिन है; पर अन्तिम वर्षों में किये गये आगम-स्वाध्याय के कुछ आंकड़े उपलब्ध हैं।¹ वस्तुतः वे जयाचार्य की स्वाध्यायशीलता की ओर ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रहते। सं. 1930 से 37 तक के आंकड़े इस प्रकार हैं :

संवत्	गाथा-संख्या
1930 (आश्विन शुक्ला 11 से आषाढ़ी पूर्णिमा तक)	466900
1931	576758
1932	811600
1933	1320400
1934	1494250
1935	1361650
1936	1437950
1937	1121000 ²
1938 (श्रावण शुक्ला 1 तक अर्थात् सोलह दिनों में)	16700

उपर्युक्त स्वाध्याय का क्रम बीदासर से चालू हुआ और प्रायः शेष तक उसी प्रकार से चलता रहा। जयाचार्य शेषकाल के वैशाख महीने में बीदासर पधारे। वहाँ शारीरिक अस्वस्थता के कारण उन्हें अधिक समय तक रुकना पड़ा। यहाँ तक कि सं. 1930 का चतुर्मास भी वहीं करना पड़ा। उस अस्वस्थता में अन्न की अरुचि और अशक्ति का प्राबल्य रहा। जब रोग मिटा, अन्न चलने लगा और शक्ति पुनः लौटी, तभी से उन्होंने अपने स्वाध्याय का उक्त विशिष्ट क्रम चालू कर दिया। उपर्युक्त तालिका विक्रम संवत् के श्रावणादि क्रम के आधार से संकलित है। इसलिए सं. 1930 में आश्विन शुक्ला 11 से आषाढ़ी पूर्णिमा तक 9 महीने, 4 दिन के स्वाध्याय के ही आंकड़े दिये गये हैं।

- जय-सुजस की ढाल 56 से 61 तक में यथा-प्रकरण एक-एक वर्ष के आगम-स्वाध्याय के पृथक्-पृथक् आंकड़े दिये गये हैं। अग्रोक्त तालिका उन्हीं के अनुसार है।
- उक्त आंकड़े सं. 1937 के समग्र वर्ष के हैं। इस वर्ष के अन्तिम तीन मास के आंकड़े पृथक् भी (ज. सु. ढाल 60 में) दिये गये हैं। वे इस प्रकार हैं :
 - वैशाख में 107215
 - ज्येष्ठ में 90650
 - आषाढ़ में 75725

आगे के प्रत्येक वर्ष में श्रावण कृष्णा 1 से प्रारम्भ कर आषाढ़ी पूर्णिमा तक पूरे वर्ष के आंकड़े प्रदत्त हैं। इस प्रकार उपर्युक्त तालिका में सात वर्ष नौ महीने और इक्कीस दिनों के स्वाध्याय का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है। उक्त समय की यहां प्रदत्त समग्र स्वाध्याय-संख्या 8607208 पद्य प्रमाण होती है। इसके विपरीत जय-सुजस में समग्र संख्या 8667450 दी गई है,¹ जो कि पूर्वोक्त संख्या से 60242 अधिक है। उक्त संख्या-भेद के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि या तो प्रतिवर्ष की स्वाध्याय संख्या में कहीं कुछ चिंतनीय है या फिर समग्र संख्या के आंकड़े चिंतनीय हैं। एक संभावना यह भी की जा सकती है कि आषाढ़ मास में जयाचार्य के गले की गांठ फूट गई तब अस्वाध्यायी के कारण आगम-स्वाध्याय का अवसर बहुत कम हो गया। श्रावण मास के पूर्वोक्त 16 दिनों में तब जयाचार्य ने 16700 पद्यों का आगम-स्वाध्याय तथा 60242 पद्यों का आगमेतर-स्वाध्याय किया। प्रतिवर्ष के आंकड़ों में केवल आगम-स्वाध्याय का ही उल्लेख किया गया है, किन्तु स्वाध्याय की समग्र संख्या में आगमेतर-स्वाध्याय को भी सम्मिलित कर लिया गया है।

1. जय-सुजस, 61। कलश 1 :

‘उगणीस सय तीसै तणा, आसोज सित ग्यारस थकी।
अड़तीस ना श्रावण शुक्ल वर, प्रतिपदा दिन लग जिकी।
गाह लक्ख छ्यांसी नै वर, सहस्र सतसठ मान ही।
बलि साढ चिहुं सै आसरै, जयाचार्य गुणी शुभ ध्यान ही।’

रहस्यों के आयाम

ओर या छोर

महापुरुषों का जीवन बहु-आयामी होता है। उनमें कुछ आयाम उन्हें खुली पुस्तक के समान सहज गम्य बनाते हैं तो कुछ अन्तर्जगत् की दुरुह घाटियों तक फैले होने के कारण अगम्य बना देते हैं। सहज गम्य को हर कोई देख-परख सकता है, परन्तु अगम्य को देखने और परखने के लिए अन्तर अनुभूति की आंख चाहिए। जिनके पास वह नहीं होती, वे अन्तर्जगत् की उस विशेषता को अंधविश्वास या भ्रम की संज्ञा देकर अपनी अनभिज्ञता को संतुष्ट करते हैं।

जयाचार्य के जीवन का अध्ययन करने वालों के समुख रहस्यों के कुछ ऐसे परदे आते हैं जिन्हें उठाकर अंदर झांक पाना सहज नहीं है। झांक लेने पर भी दृश्य का विश्लेषण कर पाना असम्भव नहीं तो दुस्सम्भव अवश्य है। उनका अन्तर्जगत् ज्ञेय-अज्ञेय के विचित्र ताने-बाने से बुना हुआ था, इसीलिए उसके रहस्यों के आयामों का ओर दिखाई देता है तो छोर नहीं, तथा छोर दिखाई देता है तो ओर नहीं।

स्वामीजी से प्रश्न

निद्रावस्था में हर कोई स्वप्न देखता है। जयाचार्य ने भी देखे। अनेक स्वप्नों को उन्होंने याद रखा और दूसरे ही दिन उन्हें भाषा का परिधान देकर कागज की धरती पर उतारा। अवश्य ही उन्होंने उन सबके गूढ़ार्थ को पकड़ा होगा, परन्तु आज तो वे उनकी रहस्यात्मकता को ही उजागर करते हैं। वे उनके चेतन मन के द्वन्द्वों के अवचेतन द्वारा प्रदत्त समाधान भी हो सकते हैं, तथा दिव्य आत्माओं द्वारा प्रदत्त संकेत भी।

सं. 1904 मार्गशीर्ष शुक्ला 5 को दूदू गांव में पश्चिम रात्रि के समय जयाचार्य ने एक स्वप्न देखा। उन्हें स्वामी भीखणजी सामने खड़े दिखाई दिए। उनसे जयाचार्य ने पूछा—‘इस समय संघ में सम्यक्त्व, देशब्रत और चरित्र है या नहीं?’

स्वामीजी ने कहा—‘तीनों ही हैं, परन्तु यत्र-तत्र विराधना भी होती है। प्रायश्चित्त कर लेने पर शुद्धि होती रहती है।’

जयाचार्य—‘आगामी पीढ़ी के साथु ‘श्रद्धा और आचार की जोड़’ तथा ‘भ्रमविध्वंसन’ आदि ग्रन्थों को पढ़कर क्या ऐसा सोचेंगे कि हमारे पूर्वज महान् हुए हैं?’

स्वामीजी—‘सचमुच वे ऐसा सोचेंगे।’

जयाचार्य—‘भावी आचार्यों के विषय में कुछ बतलाइये।’

स्वामीजी—‘तेरहवां आचार्य प्रभावशाली होगा।’

जयाचार्य—‘क्या पूर्वज आचार्यों जैसा ही ?’

स्वामीजी—‘नहीं, वह तो अत्यंत प्रभावशाली होगा।’

इस स्वप्न के पश्चात् जयाचार्य जाग उठे। उन्होंने साधुओं को अपना स्वप्न सुनाया। दूसरे दिन उसे यथावत् लिख लिया।¹

स्वप्न-श्रुत दोहा

सं. 1908 आश्विन शुक्ला 13 की रात्रि में जयाचार्य ने स्वप्न देखा। उसमें एक दोहा सुना :

देखो रे भारी करि, पंचम आरा मांय।
वर्ष पचीसां आसरै, कुमिय न राखी कांय॥

पास में बैठी सरदारसती से उन्होंने इसका आशय पूछा। उन्होंने कहा—‘मैं तो समझ नहीं पाई। स्वामीजी वहां खड़े हैं, आप उनसे ही पूछ लीजिए।’ और फिर जयाचार्य की आंख खुल गई।

दिव्य आत्माओं से संपर्क

जयाचार्य के जीवन की अनेक घटनाएं ऐसी हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि उनका अनेक दिव्य आत्माओं से संपर्क था। एक स्वप्न-विवरण के अन्त में वे लिखते हैं कि मैंने वही बात लिखी है जो ब्रह्मेन्द्र ने लिखाई है। जयाचार्य ने स्वामी भीखण्डी की स्तुति में लिखी अनेक गीतिकाओं में उन्हें ब्रह्मेन्द्र कहा है। सम्भव है, स्वप्न के माध्यम से स्वामीजी का उनसे संपर्क रहा हो। आचार्य भारमलजी के लिए अच्युत-बारहवें देवलोक के देव होने का तथा मुनि खेतसीजी के लिए सहस्रार-अष्टम देवलोक के देव होने का उल्लेख भी जयाचार्य की गीतिकाओं में उपलब्ध है।² इनके साथ भी जयाचार्य के संपर्क की संभावना की जा सकती है। गीतिकाओं में किए गए नामोल्लेखों के आधार का उन्होंने कहीं कोई स्पष्टीकरण नहीं किया है। सम्भव है, उनके अपने ही रहस्यमय सम्पर्क-सूत्र आधार रहे हों।

उक्त महापुरुषों के अतिरिक्त भी अनेक दिव्य-आत्माओं से उनका संपर्क रहा प्रतीत होता है। उन्होंने दवदंती, जयवंती तथा इन्द्राणी आदि देवियों का नामोल्लेख करते

1. प्र. प. सं., पत्र 33।

2. सं. 1898 चैत्र कृष्णा 12 के दिन विरचित गीतिका का पद्य इस प्रकार है :

‘ब्रह्मेश अच्युत सुखकारण, निर्मल चरण धर्यो री।’

इसी प्रकार सं. 1902 पौष शुक्ला 5 को विरचित एक अन्य गीतिका का पद्य इस प्रकार है :

‘धारण ब्रह्म सहस्रार अच्युत, सुखकारण तारण हारी।’

468 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
हुए कहा है—‘ये सम्यक्त्वी हैं, साधु-साधिक्यों के लिए हितेशी हैं, तथा समय-समय पर सहायता करने वाली हैं।’¹

पीरजी और जयाचार्य

जयाचार्य के साथ दिव्य-आत्माओं के संपर्क की अनेक घटनाएं अनुश्रुति के रूप में भी प्रचलित हैं। उनमें से लाडनूँ के पीरजी की घटना तो प्रायः आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है। राजलदेसर का बैद परिवार एक बार बीकानेर-नरेश के उत्पीड़न से भयाक्रान्त होकर लाडनूँ चला गया। वहां अपने निवास के लिए दो हवेलियां भी बनवा लीं, जोकि लच्छीरामजी और जेसराजजी-इन दो भाइयों की थीं। कुछ समय पश्चात् बीकानेर नरेश ने उनको मना लिया और वे पुनः राजलदेसर चले गये। लाडनूँ में बनवाई हवेलियां खाली रहने लगीं। बैदों ने जयाचार्य के वहां विराजने के लिए प्रार्थना की। स्थान की विपुलता और साताकारिता को ध्यान में रखकर मुनिवृन्द के साथ जयाचार्य वहां पधार गए।

कहा जाता है, प्रथम रात्रि के समय ही स्वप्न में पीरजी दिखाई दिए और उन्होंने जयाचार्य से कहा—‘तुम लोग यहां क्यों आए हो? यह मेरा स्थान है। मैं तुम्हें यहां नहीं रहने दूंगा।’

जयाचार्य ने फरमाया—‘हमारे रहने से तुम्हें असुविधा होती है तो हम कल प्रातः यह स्थान छोड़ देंगे।’ अपने कथन के अनुसार ही दूसरे दिन प्रातः जयाचार्य ने वह स्थान छोड़ दिया। उसी पट्टी में ओसवाल पंचायत के नोहरे में पधार गए। वहां रहते तीन दिन हो गये। तीसरी रात्रि में पीरजी पुनः स्वप्न में जयाचार्य को दिखाई दिये। वे कहने लगे—‘आप सन्त लोग हैं। आपके लिए मुझे स्थान का निषेध नहीं करना चाहिए था। मैंने भूल कर दी। अब आप मुझे क्षमा करें और पुनः वहां पधारें। जब तक आप वहां नहीं पधार जाएंगे, मेरे मन को संतोष नहीं होगा।’

जयाचार्य ने कहा—‘वहां जाने पर साधुओं को किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं होगा?’

पीरजी ने कहा—‘नहीं, किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। सन्तों से आप इतना अवश्य फरमा देना कि वे कब्र की चबूतरी के आसपास किसी प्रकार की मलिनता न करें।’

दूसरे ही दिन प्रातः जयाचार्य बैदों की हवेली में पधार गए। थोड़े-से दिनों में दो बार स्थान-परिवर्तन करने की घटना लोगों को विचित्र तो अवश्य लगी, परन्तु उस समय उसके रहस्य तक तो कोई विरला ही पहुंच पाया। तब से अब तक वह स्थान प्रायः निरन्तर ही साधु-साधिक्यों के उपभोग में आता रहा है।

1. विघ्नहरण की ढाल, 22-23।

‘दवदंति सुरी दीपती, जयवंती जसधारी हो।

इन्द्राणि सुरी आदि दे, साझकरण सुखकारी हो, पुन्यवंती प्यारी हो॥

गुणठाण चोथै गुणी, समय सत्यां हितकारी हो।

‘असिआउसा’ नै सदा, प्रणमै बारंबारी हो, तास विचारणा भारी हो॥’

विचित्र पगचम्पी

एक अन्य घटना इस प्रकार प्रचलित है—एक बार जयाचार्य आदि सभी सत्ता सो रहे थे। केवल एक मुनि जीवराजजी ‘छोटे’ बैठे थे। वे जयाचार्य की पगचम्पी कर रहे थे। थोड़ी देर पश्चात् जयाचार्य को नींद आ गई तब वे भी बिछौना करके सो गए। जयाचार्य को फिर भी बहुत देर तक पगचम्पी का आभास होता रहा। उन्होंने आंख मूँदे ही कहा—‘जीवराज! अब सो जा, बहुत देर हो गई।’ थोड़ी देर के लिए पगचम्पी बन्द हो गई। परन्तु ज्यों ही जयाचार्य को नींद आई, पुनः कार्य प्रारम्भ हो गया। जयाचार्य ने पुनः टोकते हुए कहा—‘जीवराज! मैंने कहा था न, अब सो जा।’ उक्त कथन के साथ ही पगचम्पी बन्द हो गई, परन्तु जयाचार्य की आंख लगते ही पुनः प्रारम्भ हो गई।

इस बार सावधान होते ही जयाचार्य के मन में चिन्तन हुआ, बात क्या है? जीवराज को तो थोड़ा-सा इशारा कर देना ही पर्याप्त होता है। आज मैंने दो बार स्पष्ट निषेध कर दिया, फिर भी यह नहीं मान रहा है। उन्होंने स्थिति को देखने के लिए ज्यों ही अपने मुख पर से कपड़ा हटाया त्यों ही देखा कि एक दिव्य प्रकाश कमरे से बाहर जा रहा है। मुनि जीवराजजी वहीं पास में निश्चिन्ता से सो रहे थे। जयाचार्य को तब समझते देर नहीं लगी कि यह विचित्र पगचम्पी किसी साधु के द्वारा नहीं, किन्तु अज्ञात किसी देवात्मा द्वारा की जा रही थी।

चमत्कारी गीतिकाएं

जयाचार्य द्वारा विरचित अनेक भक्ति गीतिकाएं भी उनकी रहस्यात्मकता में वृद्धि करने वाली हैं। उनमें प्रयुक्त शब्दों के संकेत किसी अज्ञात अर्थ की गवेषणा की ओर प्रेरित करते हैं। ऐसी अनेक गीतिकाओं में तीन विशेष प्रसिद्ध हैं :

1. विघ्नहरण की ढाल।
2. मुणिंद मोरा की ढाल।
3. सुख-मंदिर की ढाल।

सहस्रों लोग आज भी प्रभात-काल में उनकी परिवर्तना करते हैं।

साधारण दृष्टि में तो वे सभी गीतिकाएं स्वामी भीखण्जी तथा संघ के विशिष्ट तपस्वी साधु-साध्वियों की स्तवना मात्र हैं परन्तु अनुश्रुतियों से पता चलता है कि वे सब अपने निर्माण-काल से ही चमत्कारी गीतिकाएं रही हैं। जयाचार्य ने स्वयं भक्ति-विभोर होकर जब-जब उनके माध्यम से स्वामीजी तथा अन्य दिवंगत तपस्वी साधु-साध्वियों का स्मरण किया, तब-तब समुपस्थित विघ्नों का सहज ही शमन हुआ और विपदाओं की कड़ियां विघटित होकर सुख का विस्तार हुआ। आज भी उनके स्मरण द्वारा घटित होने वाले चमत्कारों की कहानियां समय-समय पर सुनने को मिलती रहती हैं।

विघ्नहरण की ढाल

सं. 1913 (सन् 1857) का समय था। भारतीय सैनिकों तथा अनेक राजाओं और नवाबों ने अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। वस्तुतः वह स्वतंत्रता-संग्राम था। परन्तु अंग्रेजों

470 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
ने उसे मात्र गदर या विद्रोह की संज्ञा प्रदान की। भारतीय उसमें हार गए। सैनिक टुकड़ियां
इत्स्ततः बिखर गईं। कई टुकड़ियां मारवाड़ की ओर भी आईं। अपनी आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिए उन्होंने मार्ग के अनेक गांवों को लूटा। लोगों में सर्वत्र भय व्याप्त हो गया।

जयाचार्य उस समय कंटालिया में थे। सैनिक उसी ओर आगे बढ़े जा रहे थे।
लूट तथा मृत्यु के भय से लोग गांव छोड़कर भाग गए। जयाचार्य को भी अन्यत्र पधार
जाने की प्रार्थना की गई, परन्तु उन्होंने वहाँ रहने का निश्चय किया। अन्यत्र जाना व्यर्थ
था, क्योंकि आस-पास के प्रायः सभी गांवों में लूट की आशंका थी। उस अप्रत्याशित
विपदा से बचने के लिए जयाचार्य ने अध्यात्म का सहारा लिया। कुछ ही समय पूर्व सं.
1913 में वसंतपंचमी के दिन सिरियारी में उन्होंने पांच ऋषियों का एक स्तवन बनाया
था। उसका सामूहिक गान प्रारम्भ किया गया। उससे तल्लीनता बढ़ी और भय का भाव
समाप्त हुआ। कुछ समय पश्चात् समाचार प्राप्त हुए कि सैनिक गांव से बाहर-बाहर ही
आगे बढ़ गए। आस-पास के अनेक गांव लूटे गये, परन्तु संपन्न होते हुए भी कंटालिया
बिल्कुल सुरक्षित रह गया। सभी लोगों ने उसे एक चमत्कार माना।

विघ्न टल जाने के बाद जयाचार्य ने उस ढाल का नाम ‘पंच ऋषि स्तवन’¹ के
स्थान पर ‘विघ्नहरण की ढाल’ कर दिया। पहले उस ढाल के तीस पद्य थे। अंतिम पद्य
इस प्रकार था :

उगणीसै तेरै समै, बस्त पंचमी सोमवारी हो,
पंच ऋषि नो परवडो, स्तवन रच्यो तंत सारी हो,
प्रसिद्ध शहर सिरियारी हो,
गणपति जय जसकारी हो।

माघ शुक्ला 14 के दिन सैनिकों द्वारा संभावित वह विघ्न टल गया, अतः
जयाचार्य ने उसी दिन उस गीतिका में एक पद्य और बढ़ाया तथा उपर्युक्त नामकरण कर
दिया। बढ़ाया गया वह पद्य इस प्रकार है :

विघ्नहरण नी थापना, भिक्षु-नगर मझारी हो,
महासुदि चवदस पुख दिने, कीधी हर्ष अपारी हो,
तास सीख वच धारी हो,
तीरथ चार मझारी हो,
ठाणा एकाणूं तिवारी हो॥।

‘मुणिंद मोरा’ की ढाल

जयाचार्य ने सं. 1914 का चतुर्मास बीदासर ओसवाल पंचायत नोहरे में किया।
कार्तिक मास में वे बैंगानियों की पुरानी पोल में गंभीरमलजी बैंगानी की हवेली में विराज

1. उस ढाल में मुनि अमीचंदजी, मुनि भीमराजजी, मुनि रामसुखजी, मुनि शिवजी और मुनि कोदरजी—इन पांच तपस्वी मुनियों की स्तुति है। इसमें ‘अभिराशिकों’ बीज मंत्र है। वह इन्हीं पांच मुनियों के नामों से
प्रथमाक्षर लेकर निर्मित हुआ है।

रहे थे। चतुर्मास समाप्त होने में थोड़े ही दिन अवशिष्ट थे कि एक दिन पश्चिम रात्रि के समय वहाँ भयंकर उपद्रव हो गया। सहसा ही मकान में अंगारों की वर्षा होने लगी। जला तो कुछ भी नहीं, परन्तु उस समय जयाचार्य के सिवा सभी संत मूर्छित हो गए। उस विषम स्थिति में अध्यात्म के अतिरिक्त अन्य क्या सहारा हो सकता था? जयाचार्य ने आत्म-साहस के साथ उसी का अनुसरण किया। उन्होंने स्वामी भीखणजी एवं संघ के कतिपय विशिष्ट संत-सतियों का स्मरण करते हुए तत्काल एक गीतिका का निर्माण प्रारम्भ किया। उसमें संघ के भक्त अन्य देव-देवियों का भी नामोल्लेख है। कहा जाता है कि उक्त गीतिका की सम्पन्नता के साथ ही अंगार-वर्षा का उपद्रव तो शांत हो गया, परन्तु संतों की मूर्छा नहीं टूटी। प्रतिलेखन का समय हो चुका था। किसी के द्वारा सरदारसती को पता लगा तो वे सूर्योदय के साथ ही वहाँ पहुंच गईं।

जयाचार्य ने कहा—संतों को स्थान परिवर्तन करवाना अत्यंत आवश्यक है। साधियों ने तब एक-एक करके सभी संतों को ‘जांझा झोली’ द्वारा हुलासमलजी बैंगानी की हवेली के पीछे वाली शाल (पड़वे) में पहुंचा दिया। वहाँ पहुंचने के कुछ समय पश्चात् सभी मुनि सचेत हो गए। वह समय सं. 1914 कार्तिक शुक्ला 10 की रात्रि का था।¹ वह चमत्कारी गीतिका ‘मुणिंदा मोरा’ नाम से प्रख्यात है। यह नामकरण गीतिका के प्रथम शब्दों के आधार पर हुआ है।

सेवग का पराभव

कहा जाता है अंगार-वर्षा के उक्त उपद्रव के मूल में श्रावकों द्वारा एक सेवग का किया गया अपमान था। बीलाड़ा (मारवाड़) का एक सेवग याचना के लिए बीदासर आया। उसका वह आगमन विशेष फलदायी नहीं हुआ। उसने तब व्याख्यान में खड़े होकर पुकार की, परन्तु जयाचार्य अपने कल्प की सीमा में रहते हुए मौन रहे। उन्होंने श्रावकों को कोई प्रेरणा नहीं दी। उससे सेवग के मन को बहुत ठेस लगी। वह क्रुद्ध होकर वहीं अंट-संट बोलने लगा। उसके व्यवहार से श्रावक क्रुद्ध हो गये, अतः उसे धक्के देकर बाहर निकाल दिया। सेवग बदला लेने की धमकियां देता हुआ चला गया। उसने मंत्र-प्रयोग से देवी की आराधना की। उसी के द्वारा उसने बीदासर में जयाचार्य के लिए उक्त उपद्रव खड़ा कर दिया, परन्तु जयाचार्य की अध्यात्म-शक्ति के सम्मुख उसकी मंत्र-शक्ति या देव-शक्ति परास्त हो गई। अपने पराभव से सेवग जल-भुन गया, परन्तु कुछ कर नहीं पाया। वह वापस अपने गांव लौट गया।

उक्त घटना के पश्चात् सेवग अत्यन्त आवेगी बन गया। छोटी-छोटी बातों पर हर किसी से झगड़ लेता और फिर मंत्र-शक्ति के द्वारा अपने विरोधियों को पीड़ित करता। पूरा गांव तब उससे घृणा करने लगा। सर्वत्र अनादर पाकर उसने पूरे बीलाड़ा से बदला

1. एक अनुश्रुति यह भी है कि कार्तिक शुक्ला 10 का समय गीतिका निर्माण का ही है। उपद्रव उसके पश्चात् चतुर्मास के शेष 5 दिनों में से किसी एक में हुआ। उस समय उक्त गीतिका का स्मरण किया गया।

472 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
लेने का निश्चय किया। प्रद्वेषणविधि से उसने देवी का जप प्रारम्भ किया। देवी उपस्थित हुई तो उसकी स्तुति में पद्य बोलते हुए उसने अपने अभीष्ट की याचना की। उन पद्यों में अन्तिम कड़ी यह थी—‘बीलाड़ा ने बाल भवानी, सेवग रो घर राख।’ अर्थात्—‘हे भवानी! एक मेरा सेवग का घर छोड़कर शेष सारे बीलाड़ा को जला डाल।’

देवी सेवग की क्रूर और तुच्छ याचनाओं से तंग आई हुई थी। उसने उसके शब्दों का दूसरा अर्थ लगाया और कामना पूर्ण कर दी। फलतः बीलाड़ा बच गया और सेवग का घर जलकर राख हो गया। अपनी याचना से बिल्कुल विपरीत कार्य देखा तो उसने ‘जोत’ लेकर देवी का पुनः आह्वान किया। देवी आई तो उसने उलटा फल देने का कारण पूछा। देवी ने कहा—‘तूने ही तो कहा था कि बीलाड़े की रक्षा कर और सेवग के घर को राख बना दे।’¹ मैंने वैसा कर दिया। अब उपालम्भ किस बात का है?’ देवी ने उसे लताड़ते हुए कहा—‘तू मेरे से सन्तजनों तथा सज्जनों की अवज्ञा करवाता है, अतः अब कभी मेरा आह्वान मत करना।’ इतना कह कर देवी अन्तर्धान हो गई। सेवग देवी की लताड़ तथा अपनी असफलता से क्षुब्ध होकर पागल हो गया। अन्त में मति-ध्रम की अवस्था में भटकते हुए ही उसकी मृत्यु हुई।

एक अन्य अनुश्रुति

अंगार-वर्षा के विषय में एक अन्य अनुश्रुति भी मिलती है। वह इस प्रकार है— जयाचार्य पूर्व रात्रि में सभी संतों के सो जाने के पश्चात् भी लंबे समय तक जप एवं स्वाध्याय करते रहते तथा पश्चिम रात्रि में भी शीघ्र उठकर उस कार्य में लग जाते। उसी स्थान का अधिष्ठाता एक विद्वेषी देवता उस स्थिति से बड़ा कुपित हुआ। हर समय गुनमुन-गुनमुन की ध्वनि उसे असह्य लगने लगी। उसे बंद कराने तथा मुनिजनों को भयग्रस्त कर वहां से हटा देने के लिए उसने आवेशवश अंगारों की वर्षा प्रारम्भ कर दी। संत मूर्च्छित हो गए। जयाचार्य ने तब उपर्सग-शमन हेतु गीतिका का निर्माण किया। आराध्य की स्तुति में एकाग्र हुए आचार्यश्री की उस भावधारा ने देवशक्ति को परास्त कर दिया।

‘सुख-मन्दिर’ की ढाल

वृद्धावस्था में जयाचार्य को एक बार मूत्रावरोध हो गया। अनेक उपचार किये गए, परन्तु किसी से कोई लाभ नहीं हुआ। कष्ट बढ़ता हुआ असह्यता की कोटि में चला गया। औषधादि उपचारों का शरण सर्वथा विफल हो जाता है, तब भी धर्म का शरण तो सदैव जागरूक रहता ही है। जयाचार्य ने स्वामीजी का स्मरण किया। भक्ति-भावना की गहराइयों में डुबकी लगाते हुए उन्होंने ‘भिक्षु म्हरै प्रगट्या जी भरत खेतर में’ इस गीतिका का निर्माण किया। निर्माणकाल की तल्लीनता में वे अपना कष्ट भूल ही गये। भक्ति ने अपना चमत्कार दिखाया। गीतिका की पूर्ति के साथ ही वे कष्ट-मुक्त हो गए। कहा जाता है कि

1. राजस्थानी भाषा के ‘बाल’ धातु का अर्थ जलाना, मोड़ना, वापस करना और उबारना या रक्षा करना होता है। इसी प्रकार ‘राख’ का अर्थ भी रक्षा करना, रखना या जलाकर राख बना देना होता है। देवी ने अपनी इच्छानुसार अर्थ ग्रहण किया।

गीतिका का नाम तभी से 'सुख-मन्दिर' प्रचलित हो गया। यह नामकरण प्रस्तुत गीतिका के अन्तिम शब्दों को आधार मानकर हुआ है। अंतिम शब्द हैं—'जयजश सुख-मन्दिर में'। जयाचार्य ने 'सुख-मन्दिर' शब्द का प्रयोग किया, उसमें भी एक कारण बतलाया जाता है। वह इस प्रकार है—आचार्यश्री उस समय पंचायती नोहरे में बैठे हुए थे। वहां पोल में घुसते ही 'रिगतमल भैरूं' का छोटा-सा मंदिर है और उसके सामने एक 'नाड़ा' बनाया हुआ है। वह 'पितर' बने सुखमलजी बैंगानी का है। उक्त स्थान को सुखमंदिर कहा जाता है। जयाचार्य ने उसी स्थान पर बैठकर उक्त गीतिका का निर्माण किया था। गीतिका का निर्माण बीदासर में सं. 1929 (चैत्रादि 1930) वैशाख शुक्ला 6 को किया गया, अतः कहा जा सकता है कि उक्त वेदना तथा उसकी मुक्ति का स्थान और समय भी वही था।

एक बार कर्ण-पीड़ा के अवसर पर भी जयाचार्य ने इसी गीतिका के स्मरण का प्रयोग किया था। उस समय भी औषधोपचार की पूर्ण विफलता पर उक्त आभ्यन्तर उपचार किया गया और वह सर्वथा सफल रहा।

रहस्यमय संकेत

जयाचार्य की अन्य गीतिकाओं में भी विष्णों एवं उपद्रवों के शमन होने के अनेक रहस्यमय संकेत उपलब्ध होते हैं, परन्तु उनके संदर्भ विस्मृति के महारण्य में विलुप्त हो चुके हैं। संदर्भों के अभाव में कोरे संकेत 'कणहीन तुष' के समान उपेक्षणीय बन कर रह गये हैं। इतना होने पर भी जिज्ञासा को तो वे उत्प्रेरित करते ही हैं। सं. 1899 के भाद्रपद कृष्ण 4 को रचित गीतिका में जयाचार्य कहते हैं :

मणिधारी आप उजागर, सुखकारी गुण रा सागर।
म्हे हूंस करी गुण रटिया, तुम नामे उपद्रव मिटिया॥¹

इसी प्रकार सं. 1907 चैत्र कृष्ण 14 को जोबनेर में रचित गीतिका से ज्ञात होता है कि वहां भी उन्हें किसी उपद्रव से गुजरना पड़ा था और स्वामीजी के नाम का आधार लेकर ही वे उससे पार हुए थे। उनका कथन है—

हो जी हूं तो जोबनेर में पायो परमांनद जो।
रटियां रे स्वामी सहु उपद्रव मिट गयो रे लो॥²

एक ही दिन के अनन्तर उन्हें फिर किसी दुःख एवं द्वंद्व का सामना करना पड़ा। लगता है, ध्यान की गहराइयों में उतरते समय उनके मार्ग में बार-बार उपसर्ग एवं बाधाएं उत्पन्न होती रही हैं, परन्तु अपने परम इष्ट स्वामीजी का नाम उन्हें उनसे उबारता रहा है। वे कहते हैं—

उगणीसै सातै समै रे मुनि, जोबनेर जयानन्द।
चैतसुदी एकम दिने रे मुनि, दूर थया दुखधंद॥³

1. कीर्तिगाथा (भिक्षु गुण वर्णन) ढा. 619,10।

2. वही, ढा. 17।10।

3. वही, ढा. 18।7।

महान् साहित्य-स्रष्टा

द्वितीय और अद्वितीय

जयाचार्य एक महान् साहित्यकार थे। सरस्वती उनकी जिह्वा पर थी। कलम उठाई और लिख दिया, अथवा बोल दिया और लिख लिया गया, वही साहित्य बन गया। वे एक महान् लेखक तथा प्रभावशाली कवि थे। गद्य और पद्य-साहित्य की इन दोनों ही पद्धतियों में उनकी कलम समान रूप से चली। उनके साहित्य की भाषा राजस्थानी है। उसमें अभिव्यक्ति की अद्भुत क्षमता है। जैनागमों की मूल भाषा प्राकृत है। उसे यदि हिमालय कहा जाए तो वहां से उद्भूत भाषा की गंगा का प्रवाह अपभ्रंश की घाटियों में घुमाव लेता हुआ राजस्थान की भूमि तक पहुंचा है। इसीलिए राजस्थानी के सहस्रों-सहस्रों शब्दों का मूल उसमें खोजा जा सकता है।

तेरापंथ के साहित्य-सेवी आचार्यों में स्वामीजी के पश्चात् द्वितीय नाम जयाचार्य का ही आता है। राजस्थानी भाषा के लेखकों में तो वे अद्वितीय ही थे। उस भाषा में किसी एक ही व्यक्ति ने तीन लाख पद्य-प्रमाण साहित्य लिखा हो—ऐसा सुनने तथा पढ़ने में कहीं नहीं आया।

अध्यात्म से अनुप्राणित साहित्य-साधना के द्वारा जयाचार्य ने जो आत्मानंद प्राप्त किया, उसे अपने तक ही सीमित न रखकर उन्होंने खुले हाथों से सारे विश्व को वितरित किया। उसी उपक्रम में साहित्य उनका एक सशक्त माध्यम बना। जो भावोर्मियां बोलकर दूसरों तक पहुंचाई जाती हैं, वे वर्तमान काल में कुछ समय तक ही प्रभावक रहती हैं, परन्तु जो साहित्य के माध्यम से पहुंचाई जाती हैं वे भविष्य के प्रलम्ब विस्तार तक प्रभावक बनी रहती हैं। यही कारण है कि जयाचार्य का साहित्य आज भी सहस्रों-सहस्रों व्यक्तियों को आध्यात्मिक तथा तात्त्विक तृप्ति प्रदान करता है।

बाल साहित्यकार

जयाचार्य की साहित्यिक प्रतिभा उनके बाल्यकाल में ही प्रस्फुटित हो चुकी थी। जिस अवस्था में बालक अपने-आपको पूर्ण रूप से संभाल भी नहीं पाता, उस अवस्था में उन्होंने ग्रंथ-रचना प्रारम्भ कर दी। वे नौ वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए और उसके दो वर्ष पश्चात् ही उनके मस्तिष्क में कविता की धारा फूटकर निकलने के लिए सुगबुगाने लगी।

मात्र ग्यारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'सन्त-गुणमाला' नामक एक बृहत् गीतिका की रचना करके अपनी असाधारणता का सबको परिचय करा दिया। उस बाल्यावस्था में काव्य शक्ति का जो जागरण उनमें हुआ, वह अवस्था के साथ-साथ निरंतर वृद्धिंगत होता रहा।

प्रारम्भ में विद्याराधना और साहित्य-साधना यद्यपि साथ-साथ चलती रही, फिर भी उनमें विद्याराधना मुख्य और साहित्य-साधना गौण थी। विद्याराधना नैरन्तरिक कार्य था, जब कि साहित्य-साधना कदाचित्। ऐसा होना आवश्यक भी था, अन्यथा उनके ज्ञान को अपेक्षित गंभीरता और विशालता नहीं मिल पाती। फिर उथली ज्ञानवत्ता की भूमि पर सबल साहित्यिकता का निर्माण भी नहीं हो पाता। उनके प्रारंभिक साहित्य का वह मंद प्रवाह कुछ काल के पश्चात् ही वेगवती धारा बनकर बहने लगा। कहना चाहिए कि फिर साहित्य-सर्जन उनका सहज स्वभाव बन गया। वे उसे आजीवन नित्यकर्म की तरह अनिवार्य रूप में करते रहे।

एक दिशा-निर्देशक व्यंग्य

बाल्यकाल से ही जयाचार्य की उद्घाटन भावना रही कि वे साधु-चर्चा में उपयोगी प्रत्येक कार्य में नैपुण्य प्राप्त करें। इसीलिए अध्ययन, स्वाध्याय और साहित्य-रचना के साथ-साथ वे अन्य अनेक कार्यों में भी रुचि लेते थे। सं. 1878 में मुनि हेमराजजी के साथ उन्होंने आमेट में चतुर्मास किया। वहां उन्होंने एक पात्र का रंग-रोगन स्वयं अपने हाथ से किया। चतुर्मास के पश्चात् मुनि हेमराजजी ने आचार्य भारमलजी के दर्शन किये। वहां मुनि जय ने वह पात्र आचार्यश्री को दिखलाया। आचार्यश्री ने उनके कार्य-चातुर्य को प्रशंसात्मक दृष्टि से देखा। वहीं पास में साध्वी दीपांजी बैठी थीं। वे उस समय की एक प्रभावशाली और प्रमुख साध्वी थीं। मुनि जय ने उनको भी वह पात्र दिखलाया। साध्वीश्री ने उनके उस कार्य की प्रशंसा तो की, परन्तु साथ ही एक व्यंग्य भी कस दिया। उन्होंने कहा—'पात्र तो आपने बढ़िया रंगा है, परन्तु यह कार्य तो हमारी साधारण साध्वी भी कर लेती है। इसमें आपकी क्या विशेषता हुई? आपके अध्ययन की सार्थकता तो हम तब मानते जब आप सूत्र-सिद्धांत के किसी रहस्य का उद्घाटन करते, अथवा कोई नई रचना करके लाते।'

साध्वीश्री का व्यंग्य-बाण ठीक निशाने पर लगा। मुनि जय पर उसका ऐसा प्रभाव हुआ कि मानो उसी दिन से उनकी कर्तृत्व-शक्ति को एक निर्णीत दिशा-निर्देश मिल गया। उसके पश्चात् उन्होंने आगमों के गम्भीर अवगाहन के साथ-साथ उनकी 'जोड़' (राजस्थानी भाषा में पद्य-टीकाएं) लिखकर समग्र जैन-शासन को उपकृत किया। लगता है, साध्वीश्री दीपांजी के उस प्रेरक व्यंग्य की सात्त्विक प्रतिक्रिया ने उनकी प्रतिभा के सर्वतोमुखी द्वार खोल दिये। उसी दिन उनके भावी जीवन की दिशा का निर्धारण हो गया। वहां से विहार कर जब वे पुर की ओर आ गये तब सप्ताह¹ भर काल में उन्होंने 'पन्नवणा' आगम के दस पदों (प्रकरणों) की जोड़ लिख दी।

1. पौष शुक्ला 10 से माघ कृष्णा 1 तक।

तेरापंथ के ज्ञानेश्वर

महाराष्ट्र के ख्यातनामा संत ज्ञानेश्वर ने सोलह वर्ष की लघुवय में गीता की ज्ञानेश्वरी टीका लिखी। उसी प्रकार तेरापंथ के मनीषी संत जय ने अपनी अठारह वर्ष की लघु अवस्था में ‘पन्नवणा’ आगम की ‘जोड़’ लिखी। वह अत्यन्त गम्भीर अर्थ वाला आगम है। इनी लघुवय में उसकी पद्य-टीका रचकर उन्होंने अपने गहन आगम-ज्ञान और अद्भुत बौद्धिक सामर्थ्य का एक अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया। कहा जा सकता है कि वे तेरापंथ के ज्ञानेश्वर थे।

पृष्ठ-बल

जयाचार्य की साहित्य-साधना निरन्तरतोया नदी के समान निरन्तर प्रवहमान रही। उनके साहित्य-सर्जन के पीछे उनकी अगाध ज्ञानोपासना की शक्ति थी। वे नये-नये ग्रन्थों का पारायण करते रहते। अनेक ग्रन्थ उनके कंठस्थ थे। कंठस्थ ग्रन्थों का पारायण भी निरन्तर चलता रहता। उनकी स्मृति और मेधा बहुत प्रख्यात थी। उनके कंठस्थ ग्रन्थों की तालिका इस प्रकार है¹:

आगम सूत्र

1. आवश्यक
2. दशवैकालिक
3. उत्तराध्ययन
4. आचारांग (द्वितीय श्रुतस्कंध)
5. प्रज्ञापना (दशम पद तक)
6. आगमों के मुक्त पाठ (सहस्रों-सहस्रों पद्य-प्रमाण)।

व्याकरण और कोश

1. सारस्वत का पूर्वार्ध
2. चन्द्रिका का उत्तरार्ध
3. भट्टी व्याकरण
4. मही शब्दकोश

जैन परम्परा के सुप्रसिद्ध बत्तीस आगमों का उन्होंने अनेक बार पारायण किया। निर्युक्ति, भाष्य तथा टीका आदि आगम के व्याख्या-ग्रन्थों का भरपूर दोहन किया। उन्होंने प्रकरण, प्रकीर्णक आदि ग्रन्थ भी पढ़े। इनके साथ ही आचार्यश्री भिक्षु की कृतियों का भी सांगोपांग अवगाहन किया। इनके अतिरिक्त अनेक काव्य, छंदशास्त्र, अलंकारशास्त्र आदि का अभ्यास किया। योगशास्त्र आदि के माध्यम से योगविद्या में निपुणता प्राप्त की। सभा-प्रकाश, व्याख्यान, कथा-साहित्य आदि सामयिक ग्रन्थों का भी पारायण किया। कहा जा

1. ज. सु. 67127 से 29।

सकता है कि आगमों के अतिरिक्त भी लाखों पद्य-प्रमाण साहित्य का उन्होंने अध्ययन किया। लाखों पद्य-प्रमाण ग्रन्थों की उन्होंने प्रतिलिपि भी की।¹ इन सब प्रकारों से अर्जित ज्ञान का पृष्ठ-बल उनकी रचना-प्रक्रिया को सहज समुपलब्ध हुआ।

विविध धाराओं में

जयाचार्य की लेखनी विविध धाराओं में बही। उन्होंने जहां अनेक आगमों की पद्य-टीकाएं लिखीं, वहां संस्मरणों, जीवन-चरित्रों, आख्यानों तथा स्तुति-काव्यों की भी बहुलता से रचना की। अपनी कृतियों में उन्होंने अनेक नई शैलियों का प्रयोग किया। उसके उदाहरण हैं—‘भिक्षु-दृष्टांत, प्रश्नोत्तर-तत्त्वबोध और सिद्धान्तसार’ आदि ग्रन्थ। उन्होंने संघ की छोटी से छोटी प्रवृत्ति को भी अपने चिंतन तथा लेखन का विषय बनाया। अतीत की घटनाओं को संकलित कर उन्हें स्वयं लिपिबद्ध किया। आगे के लिए भी संकलित तथा लिपिबद्ध करते रहने की पद्धति विकसित की। इस प्रकार वे परम्परा और इतिहास के महान् संरक्षक तथा महान् साहित्य-संस्कृत के रूप में सदैव स्मरण किये जाते रहेंगे।

रचना-प्रक्रिया

अनेक बाधाओं के होते हुए भी जयाचार्य ने विपुल साहित्य की रचना की। उसके परिमाण और वैविध्य को देखकर आश्चर्य-चकित हो जाना पड़ता है। वे एक बड़े धर्मसंघ के अधिनायक थे, अतः तत् संबंधी अनेक उत्तरदायित्व उन्हें वहन करने होते थे। प्रतिदिन एक या एकाधिक बार व्याख्यान देना होता था। जैन साधुचर्यों के अनुसार वर्षाकाल के अतिरिक्त उन्हें ग्रामानुग्राम विहरण करना होता था। कृत्रिम प्रकाश का उपयोग वर्जित था, अतः रात्रिकालीन एकान्त एवं नीरवता का सहज-लब्ध समय भी रचना के लिए अनुपयोगी हो जाता था। परन्तु जयाचार्य की चाह ने उसमें एक नई राह निकाल ली। जब कभी रात्रिकाल में कोई रचना करनी होती तब पांच मुनियों को अपने पास बिठा लेते और क्रमशः एक-एक पद्य बनाकर उसे कंठस्थ करा देते। इस प्रकार एक चक्र में पांच पद्य बन जाते। उसके पश्चात् दूसरा चक्र प्रारंभ हो जाता। पांच चक्रों में पच्चीस पद्य बन जाते। दिन के समय वे सुव्यवस्थित लिख लिये जाते।

खेजड़ी की छाया

जयाचार्य सहज कवि थे। प्रेरणा के लिए उन्हें बहुत व्याकुल होने की आवश्यकता कभी नहीं रही। प्रत्येक स्थिति या घटना में से वे प्रेरक तत्त्व को सहज ही निचोड़ लिया करते थे। अग्रणी अवस्था में एक बार वे विहार करते हुए जा रहे थे। गरमी के दिन थे। मरुस्थल में ऊपर से सूर्य तपता है तो नीचे से बालू रेत। देव-दर्शन के समान ही वहां छाया के दर्शन भी बहुत दुर्लभ होते हैं। धूप से उत्पन्न तथा चलने से श्रान्त पथिक को उस बियाबान में विश्राम के लिए कहीं ‘खेजड़ी’ ही मिल जाए तो भले ही, अन्य किसी

1. ज. सु. 671 30 से 32।

478 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
वृक्ष की तो संभावना ही नहीं रहती। मुनि जीत को भी एक छायादार खेजड़ी दिखाई दी। उन्होंने कुछ क्षणों के लिए वहां विश्राम किया। उस समय की अनुभूति को उन्होंने तत्काल इस प्रकार अभिव्यक्ति प्रदान की :

छोटी सी इक खेजड़ी, गहरी ठंडी छांय।
जीत आदि मुनि संचर्या, विश्रामो तिहां पाय॥

कुत्तों की लड़ाई

जयाचार्य सुजानगढ़ में हजारीमलजी नाहटा की हवेली में विराजमान थे। वे अपने कार्य में व्यस्त थे। उस गली में सामने दो कुत्तों में परस्पर लड़ाई छिड़ गई। वे जोर-जोर से भौंकते हुए एक-दूसरे पर आक्रमण कर रहे थे। उन्होंने इतना हो-हल्ला मचाया कि हर किसी का ध्यान उच्चट कर उधर जाने लगा। गली का शांत वातावरण उस द्वंद्व युद्ध से बिलकुल अशांत हो गया। जयाचार्य ने उस स्थिति को शिक्षा का माध्यम बनाते हुए तत्काल एक 'सोरठा' बनाया और उसमें शिष्य-वर्ग को सम्बोधित करते हुए कहा :

नहीं ज्ञान अरु ध्यान, काम-काज पिण को नहीं।
ते कूकर सम जाण, फिरै चरै कलहो करै॥

टेढ़ी-मेढ़ी गमन-पद्धति

जयाचार्य कभी-कभी विनोद की भावना से प्रेरित होकर भी पद्य-निर्माण किया करते थे। मुनि मोतीजी तेरापंथ के एक यशस्वी मुनि थे। उन्होंने सं. 1913 में जयाचार्य के पास पाली में दीक्षा स्वीकार की। वे बाल्यावस्था में मुनि थे, अतः जयाचार्य के आगे-आगे चला करते थे। चलते समय सामने युग-मात्र भूमि को देखते हुए चलने की विधि है। बाल्यावस्था की चपलता के कारण वे यथाविधि नहीं चल रहे थे। टेढ़ी-मेढ़ी चलते हुए वे कभी मार्ग के वाम पार्श्व में चलने लगते तो कभी दक्षिण पार्श्व में। जयाचार्य ने उनकी टेढ़ी-मेढ़ी गमन-पद्धति की ओर लक्ष्य किया तो विनोदयुक्त कविता की भाषा में कह उठे :

मोतीड़ो संगीलो साधु, चालै आंटो आंटो।
ईर्या समिति पूरी नहीं सोधै, नहीं बतावै कांटो।
ओ मोतीड़ो साधो, म्हानै पाली मांहें लाधो।
ओ लक्खासर रो डागो, म्हानै पाली मांहें लाधो।

संत-संबोध

सं. 1922 का चतुर्मास पाली में संपन्न कर जयाचार्य ने थली की ओर जाने का निश्चय किया। लाडनू में उनके संसारपक्षीय बड़े भाई मुनि सरूपचंदजी प्रवास कर रहे थे। वृद्धावस्था के कारण उनकी शक्ति बहुत न्यून हो गई थी। जयाचार्य उनसे मिलना चाहते थे। लाडनू की ओर प्रस्थान करने से पूर्व वे पार्श्वकर्ती क्षेत्र सिरियारी, कंटालिया और बगड़ी पथारे। उक्त तीनों क्षेत्र स्वामी भीखण्डजी के जीवन से विशेष संबद्ध रहे

हैं। कंटालिया उनकी जन्मभूमि, बगड़ी अभिनिष्क्रमणभूमि और सिरियारी निर्वाणभूमि है। प्रत्येक तेरापंथी के लिए ये तीनों पवित्र भूमियां हैं, तीर्थ भूमियां हैं। जयाचार्य इन तीनों क्षेत्रों का स्पर्श करने के पश्चात् आगे बढ़ते हुए रामपुर पहुंचे। वहां रात्रि-प्रवास के समय उनके पास आठ साधु थे। उनके नाम ये हैं—1. मुनि मधराजजी, 2. मुनि कर्मचन्दजी, 3. मुनि अनोपचन्दजी, 4. मुनि मोतीजी, 5. अज्ञातनामा, 6. मुनि रत्नजी, 7. मुनि मुनिपतिजी, 8. मुनि बींजराजजी।

जयाचार्य ने प्रत्येक साधु को व्यक्तिशः संबोध देने हेतु उनके नामयुक्त एक-एक 'सोरठा' रचकर सुनाया। वे बोध-दायक सोरठे इस प्रकार हैं :

वर उपयोग सुवृद्ध, चित में अति राखो चटक।

शासन बूझ समृद्ध, रत्न जल्म मधराज! इम॥1॥

वारू समय विनोद, कीधो चित अति हितकारी।

मन में परम प्रमोद, सखरो राखे कर्मसी॥2॥

दिन-दिन विनय-दिनेश, अन्तर उजुवालो अधिक।

बाधै सुजश विशेष, ताजक सीख तलेसरा॥3॥

सुविनीतां रो संग, परम प्रीत गणपति थकी।

अलगो तज खल अंग, महिमा बाधै मोतिया॥4॥

मत दे निद्रा मान, ज्ञान ध्यान उद्यम गुणी।

सखर संग सुविधान, निरखी रहिजे निमल चित्त॥5॥

चारित्त सूं चित्त चंग, नरक निगोद पड़े नहीं।

अमल चित्त उचरंग, हृदय सीख धर रत्नसी॥6॥

चरचा सूं धर चूंप, प्रकृति वस कर ग्रेम सूं।

आदर विनय अनूप, मान बधै इम मुनिया॥7॥

सखरी मुनिवर सेव, पुद्गल प्यासा परहरी।

भण नव तत्त्व सुभेव, वर समकित धर बींजिया॥8॥¹

आत्म-प्रबोध

जयाचार्य उत्कृष्ट कोटि के आत्म-गवेषी व्यक्ति थे। आत्म-साधना ही उनका मूल लक्ष्य था। आचार्य होने के नाते यद्यपि वे शिक्षा-वर्ग को बोध देना ही अपना कर्तव्य मानते थे, परन्तु केवल परोपदेशी बनने में उनका कोई विश्वास नहीं था। आत्म-प्रबोध के विषय में उनकी पूर्ण जागरूकता रहा करती थी। आत्म-निरीक्षण के क्षणों में जब वे आत्म-संबोधन करने लगे तो सहज सरल भाषा में कर्तव्य-बोधात्मक जिन सोरठों का निर्माण हुआ उनमें से उदाहरण-स्वरूप कुछ यहां प्रस्तुत हैं :

1. जय सुजश, ढाल 50, पृ. 107।

जीता! जनम सुधार, तप जप कर तन ताइये।
खिण में है तन छार, दिन थोड़ां में देखजे॥1॥

जीता! निज दुख जोय, कुण-कुण कष्ट ज भोगव्या।
अब दिल में अवलोय, ज्यूं सुख लहिये सासता॥2॥

वेरी मान बिखेर, जय! नरमाई गुण नीपजै।
हिवड़े पर-गुण हेर, निज-अवगुण सुण निंद मा॥7॥

जय! निज आदि सुजोय, विधि पणै तूं दुख लह्यो।
अल्प कठिन अवलोय, कोपै तूं किण कारणै?॥8॥

जय! खिम्या वर टोप, वचन समिति वछतर प्रवर।
अधिक गुणागर ओप, आतम गढ़ आराधिये॥9॥

भू सम जय! गंभीर, निष्ठकंप मंदर-गिरी।
हेर निजगुण हीर, ध्यान सुधारस ध्याय नै॥10॥

चतुराई चितचिंत, सुध निज कारज साधिये।
मत कर बीजो मिंत, आत्ममिंत जय! अचल कर॥13॥¹

साहित्य-परिशीलन

आगम-व्याख्याकार

जयाचार्य एक कुशल आगम-व्याख्याकार थे। उन्होंने अपने जीवन का बहुलांश आगम-मंथन में लगाया। राजस्थानी भाषा में आगमों की पद्य-टीकाएं (जोड़) बना कर तो उन्होंने एक नया कीर्तिमान ही स्थापित कर दिया। उन्होंने 7 आगमों पर पद्य-टीकाएं लिखीं। प्राचीन आचार्यों ने आगम-रहस्यों को विस्तारपूर्वक समझाने के लिए प्राकृत एवं संस्कृत में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि तथा टीका आदि नानारूपों में व्याख्याएं लिखीं। उनमें आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय), आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, आचार्य जिनदास महत्तर, आचार्य हरिभद्र, शीलांकाचार्य, आचार्य अभयदेव एवं आचार्य मल्लधारी हेमचन्द्र आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय माने जाते हैं। आगम-व्याख्याकारों की उसी महत्वपूर्ण शृंखला की एक समर्थ कड़ी जयाचार्य हैं।

आगम अपने रचना-काल की जनभाषा प्राकृत में ही लिखे गये थे, परन्तु भाषा कभी एक रूप में ठहरती नहीं। वह तो पानी के प्रवाह की तरह निरंतर आगे से आगे बढ़ती रहती है और अनेक घुमाव लेती हुई रूपांतरित होती रहती है। इसके विपरीत ग्रंथ अपने निर्माण-काल में प्रयुक्त भाषा की सीमा में ही बंधकर रह जाते हैं। इसी नियम के अनुसार प्राकृत भाषा तो नये-नये मोड़ लेती हुई उत्तर भारत की अनेक प्रांतीय भाषाओं में परिणत हो गई, जबकि आगम अपने रचना-काल की जनभाषा प्राकृत में ही रहे। फलतः वे आज के परिप्रेक्ष्य में अगम नहीं तो दुर्गम अवश्य हो गये। जयाचार्य ने उन्हें सुगम बनाने का

1. आराधना (अध्यात्म पदावली-आत्म-संबोध) पृ. 107।

महनीय उपक्रम किया। उनका मुख्य विहार-क्षेत्र वर्तमान का राजस्थान ही था, जो कि उस समय के अनेक देशी राज्यों में विभक्त था। उन्होंने वहां बोली जाने वाली राजस्थानी भाषा में पद्य टीकाएं लिखीं। उन टीकाओं को उन्होंने 'जोड़' नाम से पुकारा।

भगवती की जोड़

वर्तमान में उपलब्ध जैनागमों में भगवती सबसे बड़ा आगम है। जयाचार्य के पद्य-साहित्य में 'भगवती की जोड़' सबसे बड़ी कृति है। भगवती-सूत्र का ग्रन्थमान 16 हजार है। उस पर नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि द्वारा संस्कृत भाषा में वृत्ति लिखी गई। उसका ग्रन्थमान 18 हजार है। जयाचार्य ने उसकी जो 'भगवती की जोड़' नामक पद्यात्मक व्याख्या लिखी, उसका ग्रन्थमान 60 हजार के लगभग है। राजस्थानी भाषा का इसे बृहत्तम ग्रंथ कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी। इस रचना के द्वारा जयाचार्य ने उक्त आगम के मूल प्रतिपाद्य को अधिक सुबोध बनाया है। अपने महार्णवभूत ग्रन्थ का प्रारंभ उन्होंने इष्ट-स्मृति के द्वारा आद्यमंगल करते हुए इस प्रकार किया है :

ओं पंच परमेष्ठि नमि, भिक्षु भारीमाल।
नृपति-इन्दु प्रणामी रचूं, 'भगवड जोड़' विशाल॥¹

आगे उन्होंने भगवती का दूसरा नाम विवाह पण्णति बतलाते हुए वृत्तिकार के अनुसार ही उसकी जयकारक हाथी से तुलना की है। इतना ही नहीं, हाथी के सूंड से लेकर पूँछ तक के एक-एक अवयव, उसकी साज-सज्जा, परिकर तथा विशेषताओं तक से भगवती के अंगों की तुलना की है। उसके कुछ पद्य यहां उद्धृत किये जाते हैं :

पंचम अंग भगवती पवरं, द्वितीय नाम आख्यो तसु अवरं।
सरस 'विवाह पण्णति' सारं, जय कुंजर गज जिम जयकारं॥
ललित मनोहर जे पद केरी, पद्मति रचना पंक्ति सुहेरी।
पंडित-जन मन-रंजन प्यारो, प्राज्ञ रिङ्गावणहर प्रचारो॥
अव्यय फुन उपसर्ग निपातं, ए त्रिहुनोज स्वरूप सुजातं।
प्रादिक उपसर्ग चादि निपातं, प्रादिक चादिक अव्यय ख्यातं॥
हस्ती पक्षे एम सुलहिये, उपसर्ग तेह उपद्रव कहिये।
तेह निपात हुए पिण वारू, अव्यय अक्षय रूप सुचारू॥
प्रारंभ वचन तणी रचना जे, वर महाशुंडादंड विराजे।
निगमन वचन जिको संहरिये, तेह अतुच्छ पुच्छ उच्चरिये॥²

जयाचार्य जहां वृत्तिकार के कथन से सहमत नहीं हो पाये, वहां उन्होंने अपना स्पष्ट अभिमत दिया और अनेक शास्त्रीय तर्कों द्वारा उसे पुष्ट किया है। सूत्र के प्रारंभ में

1. भगवती-जोड़, ढा. 1, दो. 1।

2. भगवती-जोड़, ढा. 114-7, 19।

नमस्कार श्रृंखला में द्वितीय पाठ है—नमो बंभीए लिवीए। वृत्तिकार इसका अर्थ करते हैं—‘ब्राह्मी लिपि को नमस्कार’। जयाचार्य ने इसे अमान्य करते हुए अर्थ किया है—‘भगवान् ऋषभ को नमस्कार’। उनका तर्क है कि अक्षरात्मक ब्राह्मी लिपि द्रव्य-लिपि है, वह अचेतन है। इसलिए नमस्कार के योग्य नहीं है। उनके विचारानुसार यहां नयदृष्टि से ब्राह्मी लिपि के प्रवर्तक को ही ब्राह्मी लिपि कहा गया है, अतः भगवान् ऋषभ को नमस्कार किया गया है। अपने कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने आगमिक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं कि जैसे अनुयोगद्वार में प्रस्थक के कर्ता को प्रस्थक कहा जाने का उल्लेख है, वैसे ही यहां लिपि के विषय में है। द्रव्य-लिपि नमस्कार योग्य नहीं है, इस विषय में उन्होंने समवायांग में प्रदत्त भावी तथा वर्तमान चौबीसी का उदाहरण प्रस्तुत किया है। भावी जिन द्रव्यजिन हैं, अतः उनके लिए आगम में कहीं ‘वंदे’ नहीं कहा, परन्तु वर्तमान जिन भावजिन होते हैं अतः उनके लिए स्थान-स्थान पर ‘वंदे’ कहा गया है। आवश्यक सूत्र के लोगस्स पाठ में भी भाव-जिन को ‘वंदे’ कहकर नमस्कार किया गया है। इसी आशय के साथ वे टब्बा (स्तबक) निर्माता आचार्य धर्मसिंह का उल्लेख भी करते हैं कि उन्होंने भी उक्त नमस्कार को भगवान् ऋषभ का ही माना है। वे लिखते हैं :

नमो बंभीए लिवीए, लिपिकर्ता नाभेय।
 चरण सहित धुर जिन लिपिक, अर्थ धर्मसी एह॥
 पाथा ना कर्ता भणी, पाथो कहिये ताहि।
 एवंभूत नय ने मते, अनुयोगद्वार रै मांहि॥
 अथवा लिपि ते भाव लिपि, जे मुनि नै आधार।
 नमस्कार छै तेह नै, एहवूं दीसै सार॥
 तीर्थ नाम जिम सूत्र नों, ते संघ नै आधार।
 तिण सूं संघ नै तीर्थ कह्यूं, तिम भावे लिपिसार॥
 वृत्तिकार द्रव्य लिपि कही, ते लिपि छै गुण-शून्य।
 नमस्कार तेहनै करे, ते तो बात जबून्य॥
 द्रव्य निक्षेपो गुण-रहित, वंदन योग्य न ताम।
 समवायांगे देख लो द्रव्य, भाव जिन नाम॥
 भरत एरवत क्षेत्र नां, अनागत जिनराय।
 चउबीसी नां नाम पिण, वंदे पाठ न ताय॥
 बली एरवत क्षेत्र नीं, चउबीसी वर्तमान।
 ठांम-ठांम वंदे कह्यो, ए गुण-सहित सुजान॥
 वर्तमान चउबीसीए, भरत क्षेत्र नीं ताहि।
 ठांम-ठांम वंदे कह्यो, जोवो लोगस्स मांहि॥
 ते माटै द्रव्य लिपि भणी, द्रव्य सूत्र नै सोय।
 नमस्कार किम कीजिये, हियै विमासी जोय॥

वृत्तिकार द्रव्य लिपि भणी, थाप्यो छै नमस्कार।
सूत्र थकी मिलतो नथी, तेह अर्थ अवधार॥¹

जयाचार्य का लेखन मूल आगमों को आधार मानकर चला है। उन्होंने आगम की भावना का कहीं अनुवाद किया है, कहीं उपबृंहण। उसके विरुद्ध कहीं एक कदम भी रखने का औचित्य उन्हें नहीं लगा। नामूलं लिख्यते किंचित् मल्लिनाथ का यह प्रतिज्ञा-वाक्य मानो उनके मार्ग का दीपक बन गया। यही कारण है कि उनकी हर कृति आगम-पुरुष के चरणों में समर्पित पुष्ट-माला के समान मनोहर एवं दिगंतव्यापी यशः सुरभि की अक्षय धारा बन गई। टीका, भाष्य तथा चूर्णि आदि के अनेक कथन उनको आगम-विरुद्ध लगे, अतः उन्होंने उनकी इसी जोड़ में मूल आगमों के उदाहरणों द्वारा स्थान-स्थान पर गहरी समीक्षा की है। उन्होंने उन असंगत कथनों को बड़ी कोमलता के साथ अमान्य किया है।
वे कहते हैं :

वृत्ति विषै सूतर थकी, अणमिलती जे होय।
किम मानीजै तेहनै, हिये विमासी जोय॥²

जयाचार्य ने भगवती के मूल पाठ का अविकल अनुवाद करने के साथ अभयदेव-सूरि कृत वृत्ति के मुख्य-मुख्य अंशों का अनुवादन किया है। उससे तत्त्व को समझने में सरलता तो होती ही है, साथ में सूत्र और टीका के मणि-कांचनवत् गुफन से चिंतन को उत्प्रेरणा भी मिलती है। भगवती सूत्र के प्रथम प्रश्न की उद्भावना करते हुए गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—से नूणं भंते! चलमाणे चलिए?³ ‘भगवन्! स्थिति क्षय होने पर जो कर्म-पुद्गल उदय में आने को अभिमुख होते हैं, क्या उन्हें उस चलन-काल में ‘चलित’ कहा जा सकता है?’ भगवान् ने कहा—‘हां गौतम! ऐसा कहा जा सकता है।’ जयाचार्य ने इस प्रसंग को बड़ी सहज भाषा में पट-निर्माण के दृष्टान्त से समझाया है कि जैसे पट के ताने में जब प्रथम तंतु का बाने के रूप में प्रवेश होता है तब आंशिक रूप में पट का निर्माण भी हो जाता है। कर्म के पक्ष में भी यही बात है। कर्मों का चलन-काल असंख्य समय का होता है, परन्तु उसका प्रारम्भ प्रथम समय से हो जाता है, अतः उसी समय उसे चलित कहा जा सकता है। यदि प्रथम समय में चलित न माना जाए तो सभी समयों में उसका अचलन ही रहेगा। यदि एक अन्तिम समय में ही चलित कहा जाए तो पूर्व के सभी समय निष्फल मानने होंगे। जो प्रथम समय में चला, वही उत्तर समय में नहीं चलता। प्रथम समय में चलित हुए कर्म-पुद्गल उदय-आवलिका के सब समयों में उत्तरोत्तर चलित होते हुए ही क्षय होते हैं। जयाचार्य ने उक्त प्रसंग को अपनी भाषा में इस प्रकार संदब्ध किया है :

1. भगवती-जोड़, श. 1, त. 1. ढा. 1/169-179।

2. वही, श. 1, उ. 7, ढा. 22।45।

3. अंगसृताणि (खंड 2) भगवई, त. 1|11|

ते पहिले समये, चलवा लागो जेह।
 तसु चल्यूं कहीजै, नय वचने करि एह॥
 पट उत्पत्ति काले, प्रथम तंतु प्रवेश।
 पट उपनो कहीजै, ए छै पट नों देश॥
 इम पहिले समये, चल्यूं कर्म नूं अंग।
 तसु चल्यूं न कहै तो, सर्व अचलन प्रसंग॥
 इक अंत समय में, चल्यूं कहीजै सोय।
 तो अपर समय ते, निष्फल तसुं मत जोय॥
 जे पहिले समये, चलवा लागो तेह।
 जे चल्यूं कहीजै, उत्तर समय न चलेह॥
 धुर समय चल्यूं कहाँ, उदय आवलिका मांय।
 सर्व समये चल्यूं क्षय, ए धुर प्रश्न कहाय॥¹

भगवती-जोड़ की रचना के प्रारंभ-काल को सूचित करने वाला एक अज्ञात-कर्तुक सोरठा उपलब्ध है। उसके अनुसार उक्त कृति सं. 1919 आश्विनी कृष्णा 9 गुरुवार को प्रारंभ की गई थी। वह इस प्रकार है :

उगणीसै उगणीस विद नवमी आसू गुरु।
 भगवइ-जोड़ जगीस जय गणपति कीधी सुरू॥

प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण 5 वर्षों में सम्पन्न हुआ। इसे जयाचार्य की कार्यशीलता का एक उदाहरण कहा जा सकता है। राजस्थानी गीतों की लयों में संदृढ़ इस ग्रन्थ में 501 गीतिकाएं हैं। तत्त्वज्ञान को लोकगीतों की धुनों में बांध देना कठिन कार्य होता है, परन्तु जयाचार्य ने अपने लिए सदैव कठिन कार्य का ही चुनाव किया। वे उसमें पूर्ण सफल भी हुए। इसमें गोशालक संबंधी 15वां शतक दोहामय ही है। उस शतक के सर्व दोहे 1197 हैं। निर्माण-काल में तो आचार्यश्री ने इस शतक को छोड़ ही दिया था। संतों ने प्रार्थना की कि इतने बड़े ग्रन्थ में यह अपूर्णता नहीं रहनी चाहिए। उन्होंने तब उसे दोहामय ही बना दिया, ढालें नहीं बनाई। कारण यह था कि स्वामीजी द्वारा गोशालक का आख्यान बनाया हुआ है। उनके बनाये आख्यान पर अपनी ओर से दूसरा बनाना उन्हें उचित नहीं लगा। स्वामीजी के आख्यान में 14 ढालें हैं। वही संख्या 'जोड़' में गिन ली गई। स्वामीजी के प्रति उनकी अनन्य भक्ति का यह एक महत्वपूर्ण निर्दर्शन है।

भगवती-जोड़ की संपन्नता पर जयाचार्य ने प्रशस्ति के दोहे लिखे हैं। उनमें जो आत्म-निवेदन प्रस्तुत हुआ है, वह उनकी सत्य-शोधकता एवं विनम्र अनाग्रहशीलता का एक शाश्वत स्वर है। वे कहते हैं-'मैंने अनेक ग्रंथों को देखकर यह रचना की है।

1. भगवती-जोड़, श. 1, उ. 1, ढा. 3/65-701

मूल आगम से मेल खानेवाला अर्थ ही मैंने मान्य किया है। व्याख्या में आवश्यकतावश क्वचित् संकोच व विस्तार भी किया है। मेरी समझ से मैंने सर्वत्र सिद्धान्तानुमोदित अर्थ ही किया है, फिर भी कोई आगम-विरुद्ध बात आई हो तो उस विषय में ज्ञानी जो कहे, वही मेरे लिए प्रमाण है। कोई प्रबल पंडित हो, उसे मेरी रचना में यदि कुछ आगम-विरुद्ध लगे तो वह उसे सुधार दे।

‘उपयोग के बिना अथवा अज्ञानवश कोई विरुद्ध वचन लिखा गया हो तो उसके लिए मेरा कोई आग्रह नहीं है। छद्मस्थतावश की गई भूल के लिए मैं मिच्छामि दुक्कड़ कह कर प्रायश्चित्त करता हूँ।’

प्रशस्ति के दोहों में से कुछ यहां दिये जा रहे हैं :

ए जोड़ भगवती नीं रची, सूत्र वृत्ति संपेख।
टबो धर्मसी यंत्र फुन, अवलोकी सुविसेख॥
अर्थ कियो फुन शब्द नो, ते पिण मिलतो जाण।
विस्तार्यो किहां अल्प नो, किहां संकोची वाण॥
इत्यादिक इण जोड़ में, दाख्यो मिलतो जाण।
अणमिलतो जु आयो हुवै, ज्ञानी वदै ते प्रमाण॥
वलि कोई पंडित प्रबल हुवै, आगम देख उदार।
जे विरुद्ध वचन है सूत्र थी, ते काढी दीजो बार॥
विण उपयोगे विरुद्ध वचन, जे आयो हुवै अजाण।
अहो त्रिलोकीनाथजी, तसु म्हारै नहीं ताण॥
म्हैं तो म्हारी बुद्धि थकी, आख्यो छै शुद्ध जाण।
श्रद्धा न्याय सिद्धांत ना, दाख्या शुद्ध पिछाण॥
पिण छद्मस्थ पणा थकी, कहिए बारंबार।
प्रभु सिकारै अर्थ प्रति, तेहिज छै तंतसार॥
अणमिलतो आयो हुवै, मिश्र आयो है कोय।
शंका सहित आयो हुवै, तो ‘मिच्छामि दुक्कड़’ मोय॥¹

प्रश्नोत्तर-तत्त्वबोध

‘प्रश्नोत्तर-तत्त्वबोध’ एक गहन-गंभीर तात्त्विक चर्चा से भरा हुआ ग्रंथ है। जैन समाज में दो प्रकार की मान्यताएं प्रचलित हैं। कुछ लोग मूर्ति-पूजा को मान्य करते हैं, कुछ नहीं। तेरापंथ मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं रखता। उसके मतानुसार मूर्ति उद्बोध का निमित्त तो बन सकती है, परन्तु उससे वह कोई पूजनीय नहीं बन जाती। इस मान्यता का आगमिक आधार क्या और कितना है—इसी का उत्तर इस पूरे ग्रंथ की आत्मा में समाया हुआ है।

1. भगवती-जोड़, प्रशस्ति दोहा 1,3, 8-13।

इस ग्रन्थ के निर्माण में हेतु बने अजीमगंज (मुर्शिदाबाद) के मूर्तिपूजक श्रावक कालूरामजी श्रीमाल। उसमें भी एक घटना का योगदान विशेष रूप से रहा। लाडनूँ के तेरापंथी श्रावक तनसुखदासजी गोलछा वहां मुनीमी किया करते थे। वे प्रतिदिन मंदिर में सामायिक किया करते थे। एक दिन सामायिक में वे जयाचार्य निर्मित ‘हिंसा धरम काँई थापो’—यह गीतिका ‘चितार’ रहे थे। उसमें मूर्ति-पूजा के विरोध में अनेक साक्ष्य दिये गये हैं। कालूरामजी ने सुना तो सबको असत्य एवं मनगढ़ंत बतलाया।

तनसुखदासजी ने कहा—‘यह गीतिका किसी साधारण व्यक्ति की बनाई हुई नहीं है। इसके निर्माता श्री जयाचार्य महान् आगमवेत्ता हैं। उनके द्वारा प्रदत्त प्रमाणों की परीक्षा किये बिना ही असत्य या मनगढ़ंत कह देना उचित नहीं। सत्यान्वेषी बनकर पहले इन्हें आगमों की कसौटी पर कस कर देखिए, फिर कुछ कहने की बात सोचिए।’

गोलछाजी का कथन कालूरामजी को लग गया। उन्होंने गीतिका की प्रतिलिपि करवाई, शास्त्र मंगवाए और फिर यति गोपीचन्दजी को प्रमाणों की परीक्षा करने का कार्य सौंपा। उन्होंने यथाशीघ्र कार्य सम्पन्न कर निष्कर्ष बतलाते हुए कहा—‘गीतिका में उल्लिखित सभी प्रमाण आगमों में उपलब्ध हैं।’

कालूरामजी जयाचार्य के आगमज्ञान से अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने लाडनूँ जाकर जयाचार्य के प्रत्यक्ष दर्शन करने का निश्चय किया, परन्तु स्थितिवशात् नहीं जा सके। अपनी जिज्ञासाओं का विस्तार से समाधान पाने हेतु उन्होंने तब यति गोपीचन्दजी से सं. 1933 आश्विन शुक्ल पक्ष में एक पद्यात्मक प्रश्न-पत्रिका लिखवाई और उसे लाडनूँ श्रावक-संघ के नाम से भेजकर जयाचार्य से उत्तर देने की प्रार्थना की। जयाचार्य उस समय 73 वर्ष के हो चुके थे। संघ की देख-रेख का दायित्व मुख्यतः युवाचार्य मधवा पर था। वे स्वयं साहित्य-निर्माण से भी प्रायः विरत होकर स्वाध्याय, जप और ध्यान में ही अपना समय लगाया करते थे।

अजीमगंज से जब उक्त प्रश्न-पत्रिका जयाचार्य के सम्मुख आई तब मानों उनका विश्रान्त साहित्यकार पुनः अंगड़ाई लेकर खड़ा हो गया। लगभग साढ़े चार महीनों में ही उन्होंने उसमें उठाये गये प्रश्नों का विस्तृत उत्तर लिख डाला। प्रश्न 53 पद्यों में थे तो उत्तर 1702 पद्यों में। सं. 1933 फाल्गुन कृष्णा 12 को बीदासर में इस ग्रन्थ की संपन्नता हुई। पहले इसे 25 अधिकारों (अध्यायों) के 1660 पद्यों में संपन्न कर दिया था, परन्तु बाद में 42 पद्यों के 2 छोटे अधिकार और जोड़कर 27 अधिकार कर दिये गये। आश्चर्य तो यह है कि उन्होंने अपने स्वाध्याय और ध्यान के क्रम को यथावत् चालू रखते हुए यह कार्य किया था।

प्रश्न-पत्रिका में से एक-एक प्रश्न को जयाचार्य ने अपने शब्दों में उठाया और फिर उसका उत्तर दिया है। उनके अतिरिक्त अनेक उद्भाव्य प्रश्नों के उत्तर भी उन्होंने दिये हैं। उनका प्रत्येक उत्तर आगमिक तथा व्यावहारिक तर्कों का आधार लिए हुए है। प्रथम अधिकार में उन्होंने प्रश्न की उद्भावना की है कि कोई कहता है—विजय, सूर्योभ आदि

देवों ने जिन-प्रतिमाओं की पूजा की है—ऐसा आगम में वर्णन है, तब उसे अमान्य कैसे किया जा सकता है? उन्होंने उक्त प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है—विजयदेव का जीव अनंत बार उसी प्रकार से जिन-प्रतिमा की पूजा कर चुका है। विजय के स्थान पर उत्पन्न अन्य देवों ने भी वैसा ही किया है, परन्तु उस क्रिया से कोई भी भव-पार नहीं हो पाया। भगवान् महावीर को मारणांतिक उपर्सर्ग करने वाले संगमदेव ने भी पदासीन होते समय प्रतिमा-पूजा की थी। वैसे ही सूर्योध ने भी की थी। ये ही नहीं, अन्य भी सम्यक्त्वी तथा मिथ्यात्वी देव प्रतिमा-पूजा करते हैं। वे पुतलियों तथा पुस्तकों आदि अन्य वस्तुओं की भी पूजा करते हैं। वह सब देवलोक की परम्परा एवं मर्यादा के आधार पर करते हैं, धर्म-कार्य के रूप में नहीं। वे पद्य इस प्रकार हैं :

प्रतिमा पूजी विजय-सुर-जीव अनंती वार।
 विजय पणि सहु ऊपनां, पाम्या नहीं भव-पार॥
 शक्र सामानिक संगमो, देवलोक-स्थिति हेत।
 पूजै जिन प्रतिमादि ते, राज बेसतां तेथ॥
 तिमहिज सूरियाभादि सुर, राज बेसतां तेह।
 प्रतिमा पूतलियादि प्रति, बहु बाना पूजेह॥
 सूरियाभे सुरलोक नीं, स्थिति ना वश थी जाण।
 पूजा जिन-प्रतिमा तणी, कीधी कही पिछाण॥
 समदृष्टि पूजै तिमज, मिथ्याती पूजंत।
 देवलोक नीं स्थिति वशात् (पिण) धर्म कार्य नहि हुंत॥¹

मूर्तिपूजक लोग मूर्ति की पूजा करने में ही नहीं, उसके सम्मुख नृत्य करने में भी धर्म मानते हैं। जयाचार्य ने उसके उत्तर में कहा है कि सूत्र में सूर्योधदेव का वर्णन है, वहां बतलाया गया है कि जब उसने भगवान् महावीर को वंदन किया तब उन्होंने उस कार्य की प्रशंसा में छह बातें कहीं और उस कार्य को करणीय एवं अभ्यनुज्ञात बतलाया, परन्तु उसके पश्चात् जब उसने यह पूछा कि भगवन्! मैं भक्तिपूर्वक गौतम आदि मुनियों को अपनी देवर्द्धि दिखलाने के लिए नाटक करना चाहता हूँ। तब भगवान् ने उसके कथन को कोई आदर नहीं दिया। उसकी आज्ञा देना तो दूर उन्होंने उसे मन में भी अच्छा नहीं समझा।² जयाचार्य कहते हैं कि जब स्वयं भगवान् महावीर अपने सामने किये जाने वाले नाटक की न आज्ञा देते हैं और न ही उसकी अनुमोदना करते हैं, तब उनकी मूर्ति के सम्मुख किये जाने वाले नृत्य में धर्म कहां से हो जाएगा? एतद्-विषयक पद्य इस प्रकार हैं :

सूर्योधे जिन वंदिया, प्रभु षट् वच आमृतात्।
 एह पुराण आचार तुज, जीत आचार सुजात॥

1. प्रश्नोत्तर-तत्त्वबोध, अधिकार 1, पद्य 2-5, 81

2. रायपसेणइयं, सूत्र 59, 63, 64।

एह तुमारो कार्य छै, वलि तुझ करवा जोग।
 ए तुझ नै आचीर्ण छै, है मुझ आण अरोग॥
 नाटक नी पूछा करी, (तिहां) आदर न दियो स्वाम।
 मन में भलो न जाणियो, प्रगट पाठ में ताम॥
 वली मौन राखी प्रभु, देखो पाठ प्रसिद्ध।
 जे भाव निश्चेपे आगले, नाटक आण न दिद्ध॥
 बलि मन भलो न जाणियो, ए पिण पाठ मझार।
 आज्ञा बिण नहि धर्म पुण्य, देखो आंख उघाड़॥
 तो तास थापना आगलै, आज्ञा किम दे वीर।
 एह न्याय छै पाधरो, धरो धर चित धीर॥¹

मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के संत मुख-वस्त्रिका हाथ में रखते हैं, जबकि स्थानकवासी और तेरापंथी संत उसे मुख पर बांधते हैं। जयाचार्य के सम्मुख प्रश्न उठाया गया कि मुख-वस्त्रिका को मुख पर बांधे रखना आगम-सम्मत नहीं है। जयाचार्य ने उत्तर देते हुए कहा कि मूल बात वायुकायिक जीवों की यतना करना है। तीक्ष्ण उपयोग वाले व्यक्ति यदि मुख-वस्त्रिका को हाथ में रखते हैं तो कोई दोष की बात नहीं है, वैसे ही असावधानी के क्षण में दोष न लगे—इस दृष्टि से बांध लेते हैं तो भी दोष नहीं है। हमारे मन में एतद्विषयक कोई पूर्वाग्रह नहीं है। पद्य इस प्रकार है :

कर राखै मुखवस्त्रिका, जसुं तीखो उपयोग।
 ते पिण नहिं अटकाव तसु, नहिं मुझ खंच प्रयोग॥
 तीखो नहिं उपयोग तसुं, जत्ना-काज सुजोय।
 मुख बांधै मुखवस्त्रिका, तो पिण दोष न होय॥²

प्रश्न आगे बढ़ा कि डोरे से मुख-वस्त्रिका को बांधना विहित कहां है? जयाचार्य ने बराबर उत्तर दिया कि आप लोग कान के छेद को बढ़ाते हैं और फिर व्याख्यान के समय मुख-वस्त्रिका के छोर उसमें अटकाते हैं—यह भी तो आगम में नहीं आया है। (उस समय मूर्तिपूजक संतों में उक्त पद्धति चालू थी, अब नहीं है।) आप कहेंगे कि यह तो यतना के लिए किया जाता है तो डोरे के पक्ष में भी यही न्याय लगाइये। इस विषय के पद्य अग्रोक्त हैं :

‘जद कहै’ डोरो किहां कह्यो, तसु कहिये इम वाय।
 कान विषे घालै तिको, किसा सूत्र रै मांय?
 मुख बांधै डोरे करी, तसु करै निंदा तात।
 कान बिंधावै प्रगट ए, किसा सूत्र नी बात?

1. प्रश्नोत्तर-तत्त्वबोध, अधिकार 1, पद्य 9-14।

2. वही, अधिकार 16, पद्य 19, 20।

(कहे) वचन-शुद्धि यतना अरथ, घालां कर्ण मझार।
 (तो) डोरो पिण यतना अरथ, न्याय सरीखो धार॥¹

भ्रम-विध्वंसन

प्रश्नोत्तर-तत्त्वबोध में तेरापंथ एवं मूर्तिपूजक समाज के सैद्धांतिक मतभेदों का विश्लेषण है, उसी प्रकार तेरापंथ एवं स्थानकवासी समाज के सैद्धांतिक मतभेदों का विश्लेषण करने वाला ग्रन्थ है—भ्रम-विध्वंसन। वह शास्त्रार्थों का युग था। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ शास्त्रार्थ की सामग्री से ही भरे हुए हैं। इसलिए साधु-साध्वीगण तथा श्रावक-श्राविकागण भी इन्हें कण्ठस्थ कर लेते थे। इन्हें कण्ठस्थ कर लेने का अर्थ होता—शास्त्रार्थ में अजेय बन जाना।

जयाचार्य जयपुर में विराज रहे थे। वहां कच्छ प्रदेश से वेला के श्रावक दर्शन करने के लिए आये। उनमें मूलचन्द्रजी कोलंबी मुख्य श्रावक थे। उन्होंने संतों के पास भ्रम-विध्वंसन देखा। उसे पढ़ा तो वे मन्त्रमुद्ध हो गये। उनकी इच्छा हुई कि इसको यथाशीघ्र जनता के हाथों में पहुंचाना चाहिए। सहज रूप से प्रति मिलने की संभावना नहीं थी, अतः उन्होंने उसे चुरा लिया और मुम्बई जाकर मुद्रित करवा डाला। ‘उतावला सो बावला’ कहावत चरितार्थ हो गई। वे जो प्रति ले गये थे वह प्रारम्भिक प्रति थी, अतः काट-छांट से भरी थी। प्राकृत और राजस्थानी भाषा नहीं जानने के कारण मुम्बई के प्रेस में प्रूफ-संशोधन भी सम्यक् नहीं हो पाया। फलतः प्रकाशित होकर भी वह पुस्तक विशेष उपयोगी नहीं हो पाई। कालान्तर में उसे अन्य प्रति से मिलाकर संशोधित किया गया और फिर सं. 1980 में पुनः प्रकाशित किया गया। इसका ग्रन्थमान लगभग 10 सहस्र पद्य-प्रमाण है। यह गद्य-ग्रन्थ है।

सन्देह-विषौषधि, जिनाज्ञा-मुखमंडन, कुमति-विहंडन, प्रश्नोत्तर-सार्धशतक और चर्चा-रत्नमाला आदि सभी गद्य-ग्रन्थ उत्कृष्ट कोटि की तत्त्व-चर्चा से भरे हुए हैं।

झीणीचर्चा, झीणोज्ञान, बृहत् प्रश्नोत्तर-तत्त्वबोध, भिक्षु-कृत हुंडी की जोड़ आदि तत्त्व-चर्चात्मक पद्य-ग्रन्थ हैं। इन सबका हार्द समझने के लिए स्वयं पाठक की गहरी तत्त्वज्ञता अपेक्षित है।

जीवन-वृत्त

किसी भी व्यक्ति की आकृति को कागज पर उतार लेना बहुत कठिन होता है, परन्तु किसी की जीवनी को कागज पर उतार पाना तो कठिनतर होता है। चित्र एक क्षेत्र एवं एक काल की अभिव्यक्ति देनेवाला होता है, जबकि जीवनी-लेखन असीम क्षेत्र और काल को अभिव्यक्ति देने वाला कार्य है। जयाचार्य जीवन-वृत्तों के कुशल शिल्पकार थे। उन्होंने अपने आचार्यों, साधर्मिकों तथा शिष्यों तक के जीवन-वृत्त लिखे। उनके द्वारा लिखित

1. प्रश्नोत्तर-तत्त्वबोध, अधिकार 16, पद्य 29, 30, 34।

जीवन-वृत्तों की संख्या 18 है। उनमें सबसे बड़ा 'भिक्खू-जस-सायण' है। स्वामीजी के संबंध में विस्तीर्ण जानकारी देने वाला यह प्रथम ग्रंथ है। जयाचार्य ने स्वामीजी के जीवन को बड़े कलात्मक ढंग से गुफित किया है। स्वामीजी और शिष्य भारमलजी की जोड़ी का सुमधुर शब्दों में उन्होंने जो शब्द-चित्र उकेरा है, वह इस प्रकार है :

गजब गुणज्ञान करी गाजै रे, गजब गुणज्ञान करी गाजै।
 गुरु भिक्खू पे अजब छटा हद, भारीमल छाजै॥
 सरल भद्र भल श्रमण सिरोमणि, ऋष रुड़ा राजै।
 चरण करण धर समर्थ्यां चित सूं भरम करम भाजै॥
 खांत दांत चित शान्त खरा लज, उभय थकी लाजै।
 परम विनीत प्रीत हद पूरण, सिव-रमणी साजै॥
 जोड़ी गोयम वीर जिसी, वर शिष्य वारू बाजै।
 कार्य भलायां बे कर जोड़ी, करत मुगति काजै॥
 परम पीत पूज सूं जल-पय सी, पद भवदधि पाजै।
 कठिन वचन गुरु सीख कहै तो, समचित मुनि साजै॥¹

जयाचार्य के मन में स्वामीजी के प्रति अगाध श्रद्धा थी। वे उनके नाम को मंत्राक्षर के समान मानकर स्मरण करते रहते थे। उनके प्रति अपने समर्पण को उन्होंने अनेक उपमाओं के द्वारा अभिव्यक्ति दी है। पाठक को भी भाव-विभार कर देने वाली उनकी वह ललित पदावली इस प्रकार है :

राम नाम ज्यूं रटै स्वाम नैं, मुझ मन अधिक निहोर।
 हंसा मान-सरोवर हरणै, चित जिम चन्द चकोर॥
 चात्रक मोर पपड़या घन चित, कुरजी ध्यान गगन।
 राग-विलासी राग आलाए, मुझ भिक्खू में मन॥
 पतिवरता समरै जिम पित नैं, गोप्यां रै मन कान।
 तंबोली रा पान तणी पर, धरूं स्वाम नो ध्यान॥
 आसा पूरण आप तणां गुण, कह्या कठा लग जाय।
 सागर-जल गागर किम मावै, किम आकाश मिणाय?
 नाम आपरो घट-भिंतर मुझ, जपूं आपरो जाप।
 तुम नामे दुख-दोहग दूरा, कटै पाप-संताप॥
 मंत्राक्षर जिम समरण मोटो, परख्यो म्हे तन-मन॥
 इहभव परभव में हितकारी, भिक्खू तणो भजन॥²

1. भि. ज. र., 1111-41

2. वही, 63। 34-37, 40, 42।

जयाचार्य मुनि हेमराजजी के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु थे। अनेक वर्षों तक वे उनके साथ रहे थे। अध्ययन उन्हीं के पास किया था। वे उन्हें अपना विद्यागुरु तथा जीवन-निर्माता माना करते थे। उनके जीवन-वृत्त में वे उनका वर्णन इस प्रकार करते हैं :

‘अन्तेवासी ओपता, हस्तमुखी हद हेम।
सेवा करै स्वामी तणी, पूरो गुर सूं प्रेम॥
भीखू गुर पासे भला, च्यार चोमासा कीध।
सुगुरु सीख सूरापणै, पीयूष रस सम पीध॥
तन नी चंचलता तजै, रजै उत्तम गुणठाण।
लजै दोष थी शान्त चित, भजै अमर निरवाण॥
अमल चरण वर करणधर, निमल सील निकलंक।
विमल ध्यान लहलीन चित्त, कमल जेम निरपंक॥’¹

मुनि हेमराजजी के जीवन की अनेक घटनाओं में क्षेत्र, मास, तिथि, नक्षत्र तथा योग की विचित्र समानता रही। वे सिरियारी में जन्मे, वहाँ दीक्षित हुए, वहाँ नेत्रों की शाल्यक्रिया हुई और वहाँ उनका स्वर्गवास हुआ। इसी प्रकार अन्य समानताएं भी मिलीं। जयाचार्य उन स्थितियों का समायोजन करते हुए कहते हैं :

सरियारी में जनमियां, सरियारी ब्रतधार।
सरियारी नेत्रज खुल्या, सरियारी संथार॥²
महा महीने हेम जनमिया, महा महीने ब्रतधार।
सुकल पख नो जनम थो, सुदि पख दिख्या धार॥
जनम थयो तिथि त्रयोदशी, तेरस दिख्या तास।
पुष्य नखत्र में जनमियां, पुष्य में दिख्या-प्रकास॥
जोग आयुष्मन जनम में, दिख्या आयुष्मन देख।
भाग बली हेम महामुनि, मिलियो योग विसेख॥³

मुनि खेतसीजी बड़े विनीत शिष्य थे। उन्होंने तन-मन से स्वामीजी की सेवा की थी। इसीलिए उनकी दीक्षा का वर्णन करते हुए जयाचार्य कहते हैं कि उन्होंने दीक्षा ग्रहण की तब लोगों ने कहा कि स्वामीजी के भाग्य बड़े प्रबल हैं। खेतसीजी जैसा शिष्य उन्हें मिला है। सदगुरु का संयोग तो सौभाग्य की बात होती है, परन्तु सुशिष्य का संयोग भी उससे कम सौभाग्य की बात नहीं है। खीर का भोजन पुष्टिकारक एवं स्वादिष्ट होता है पर खांड का संयोग उसकी पोषकता तथा स्वाद को बहुत बढ़ा देता है। जयाचार्य के शब्द इस प्रकार हैं :

1. हेमनवरसो, 4। दो. 1-4।

2. वही, 1। दो. 8।

3. वही, 3। 31-33।

धर्म उद्योत हुवो घणो, जिन-मारग जयकार।
 शिष सुविनीत मिल्यां थकां, सुगुरु लहै सुखसार॥
 जश कीरत जग में घणी, लोक करै गुण-ग्रांम।
 शिष मिल्या सतजुगी सारिसा, भागबली भिक्खु स्वाम॥
 प्रबल पुण्य गुण पोरसा, खेतसीजी बड़भाग।
 गुरु मिल्या भिक्खु सारिखा, फैल्यो जस सोभाग॥
 जोड़ी तो जुगती मिली, गुरु-चेला महीमंड।
 जगमांहें पिण इम कहै, खीर मांहें जिम खंड॥¹

सतयुगी मुनि खेतसीजी के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे इन्द्रियों को वश में करने वाले सन्त थे। गुरु-वाणी का रंग उनमें रम गया था। क्षमता और समता उनमें बेजोड़ थी। वे नम्र और निर्मल थे। कषाय से दूर रहने का उन्हें अभ्यास था। धर्म-मार्ग पर बढ़े अटल जमे हुए थे। अतः सभी को प्रिय लगते थे। प्रकृति से सौम्य, विनयशील और उत्तम गुणवाले होने के कारण वे सतयुगी नाम से ख्यात हो गए। उक्त वर्णन जयाचार्य ने इस प्रकार किया है :

दमता इन्द्री पंच दिल, रमता गुरुवच रंग।
 खमता गुण कर खेतसी, समता सखर सचंग॥
 नमता गुण सूं निरमला, वमता च्यार कषाय।
 जमता जिनमत सतजुगी, गमता सहु गण मांय॥
 प्रकृति विनयगुण कर प्रवर, सतजुग सरिसा संत।
 सतजुगी नाम सुहांमणो, मोटा मुनि महंत॥²

मुनि सतीदासजी का जीवन-चरित्र 'शांति-विलास' नाम से बनाया गया। जयाचार्य उन्हें शांत मुनि नाम से भी पुकारते थे। यह नाम उन्हें उनकी शांत प्रकृति के कारण प्राप्त था। उनके विशिष्ट गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है :

सुख-दायक लायक सखर, वायक अमृत वान।
 दायक शिव-संपति दमी, सतीदास सुखदान॥
 सुखदाई संतां भणी, समणी नैं सुखदाय।
 श्रावक नैं बलि श्राविका, सहु नै घणूं सुहाय॥
 शांति प्रकृति सुंदर सरस, मुद्रा शान्ति सुमोद।
 शांति रसे मुनि सोभतो, पेखत लहै प्रमोद॥
 उपशम रस रो आगरू, हस्तमुखी हद नैण।
 प्रबल पुण्य नो पोरसो, वारू अमृत वेण॥

1. सतजुगी चरित, 319-121।

2. वही, 5। दो. 2-4।

जसधारी भारी सुजस, इकतारी अणगार।
 जयकारी मुनिजन तणो, अवतरियो इण आर॥
 शांति-करण अघ-हरण नै, शरण तरण सुखसाज।
 शिव वधू वरण सुधरण सम, सतीदास ऋषिराज॥¹

जयाचार्य फरमाते हैं कि उनके कण्ठ बहुत मधुर थे। उनके बोलने तथा कार्य करने की पद्धति में भी बड़ी सरसता थी। व्याख्यान देने की कला भी बेजोड़ थी। उनके जैसा सुन्दर स्वभाव सहस्रों व्यक्तियों में खोजने पर भी प्रायः नहीं मिलता। वे एक सुन्दर आकृतिवाले मूर्तिमान शांत रस थे। इतना ही नहीं, जयाचार्य उन्हें अपना परम मित्र घोषित करते हुए फरमाते हैं कि वे समय-समय पर मेरी स्मृति में आते ही रहते हैं। इन सभी भावनाओं को उन्होंने अग्रोक्त पद्यों में अभिव्यक्ति दी है :

सरस कण्ठ वाणी सरस, सरस कला सुविहांण।
 हेम समीपे शांत ऋष, बांचै सरस बखाण॥²
 सुन्दर स्वभाव थां सारिखो, मनुष हजारां रै मांय।
 बहुल पणै नहि देखियो, तुझ गुण अनघ अथाय॥
 सखर मुद्रा थांरी सोभती, पवर प्रशांत आकार।
 प्रशांत रस प्रभुजी कहो, देखलो अनुयोगदुवार॥³
 परम मित्र मुद्रा शान्ति मनोहर, सुविनीतां सिरताज।
 याद आवै निश दिन अधिकेरो, जाण रह्या जिनराज॥⁴

आख्यान

जयाचार्य एक महान् प्रज्ञा-पुरुष थे। उनकी प्रज्ञा का प्रकाश जीवन के हर क्षेत्र में प्रदीप दिखाइ देता है। उन्हें सूक्ष्म तत्त्वों के विश्लेषण में जो क्षमता प्राप्त थी, वही स्थूल व्यवहारों के विश्लेषण में भी थी। वे आगमिक भाषा में बोलते थे, वहां कहानी की भाषा का प्रयोग भी धड़ल्ले से करते थे। वे विद्वानों के लिए भगवती जैसे गहन आगम पर भाष्य (जोड़) लिखते थे तो साधारण जनता को उपदिष्ट करने के लिए आख्यानों की रचना भी करते थे। रागिनियों के तो वे भांडागार थे। एक-दो बार सुन लेने मात्र से ही राग उनके कंठों में बैठ जाती थी। स्त्रियां रात्रि-जागरण करतीं तब रागों को सुनने के लिए जयाचार्य भी एक प्रकार का रात्रि-जागरण कर लिया करते थे। गीत चाहे विवाह के गाये जाते हों या तपस्या के, प्रायः उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर ही लिया करते थे। डोमों एवं भाटों तक से वे रागों के विषय में पूछताछ करते रहते थे।

1. शांति-विलास, 11 दो. 1-6।

2. वही, 9। दो. 6।

3. वही, 9। 20, 21।

4. वही, 13। 52।

आगमों की जोड़ों में संदृश्य आख्यानों के अतिरिक्त जयाचार्य द्वारा रचित 20 अन्य आख्यान भी उपलब्ध हैं। रससिक्त भाषा और सरस कथानक का मणि-कांचन योग जयाचार्य की आख्यानात्मक रचनाओं में सर्वत्र उपलब्ध है। यहां कुछ आख्यानों का विहंगावलोकन प्रस्तुत है। 'सुरसुंदर-दवदंती' के आख्यान में दोहद-पूर्ति के लिए देव द्वारा की गई वर्षा का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

वैक्रिय सुरवर कीध, पचरंग बादल हो नभ रळियामणो।
घोट घटा घन गाज, बीजल चमकै हो मेह बरसै घणो॥
प्रगटी पावस ऋतु, मोर नाचता हो शब्द करै घणा।
हंस सारस चक्रवाक, विविध पंख्यां नां हो शब्द सुहामना॥
विविध रंग इन्द्रगोप, गंध ध्वनि मूकै हो तरु फलिया फूलिया।
हरित द्रोव कंचूक, पृथ्वी रूपी स्त्री हो जाणक पहरिया॥¹

जयाचार्य ने यहां मेघ और उसके साथ उत्पन्न होने वाली स्थितियों का सुंदर चित्र खींचा है। घटा का गाजना, बिजली का चमकना, मोरों का नाचना तथा हंस आदि विभिन्न पंखियों का मधुर शब्दों द्वारा जन-मन को प्रीणित करना आदि सभी कार्य स्वाभाविक होते हुए भी जयाचार्य के शब्द-शिल्प का एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अच्छी वर्षा का सूचक मखमली इन्द्रगोप, फूले-फले वृक्षों की सुगंध एवं मर्मर ध्वनि तथा हरित दूर्वा की कंचुकी पहने पृथ्वी-ये सभी वातावरण में एक स्निग्धता भरते प्रतीत होते हैं।

लोकिक लोकोत्तर, कामवशे तजै लाज।
विषया वश मानव, न गिणै काज अकाज॥
गुरु मात-पिता नी, मूल न आणै शंक।
कंद्रप-वश निरलज, कुल नै लगावै कलंक॥
जन मदन तणै वश, भ्रष्ट हुवै व्रत भांग।
विषयावश विकला, आणै नवनवा सांग॥
सहु अर्धम नो मूल, अब्रह्म मोटो पाश।
दुर्गति नो दाता, विविध दुखां नी राश॥
जग में अपकीरति, कामांध नी करै लोय।
धिग तिण रो जीव्यो, मृतक सरीखो जोय॥
कार्तिक में कुतिया, भूख नींद तजै प्यास।
कामांध पुरुष नै, कार्तिक बारै मास॥
रवि पिण हुवै शीतल, आवत कन्या रास।
नित्य त्रिय संग राता, प्यां री के ही आस?²

1. सुरसुंदर-दवदंती 2|10-12।

2. वही, 15। 8-14।

यहां कामांध व्यक्तियों की मनोदशा का बड़ा भावपूर्ण चित्रण किया गया है। कहा गया है कि वे न लज्जा की रक्षा कर पाते हैं और न संकोच की। अपकीर्ति के पात्र बन कर वे जीवित ही मृतवत् हो जाते हैं। कामांधों की कुत्तों से तुलना करते हुए जयाचार्य कहते हैं, कुत्ते तो केवल कार्तिक मास में ही अंधे होते हैं, परन्तु कामी मनुष्यों के तो बारहों मास कार्तिक ही रहता है। कन्या राशिगत सूर्य भी तेजोहीन हो जाता है, तब स्त्री के वशवर्ती मनुष्य की तो बात ही क्या कही जाए?

बाहरी संसार का राज्य पा लेना उतना कठिन नहीं, जितना कि अन्तरंग राज्य को पा लेना होता है। अंतरंग राज्य का विश्लेषण जयाचार्य ने इस प्रकार किया है :

बाह्य राज छांडी करी ए, अन्तरंग राज्य धर्मधार।
विरति वर भारज्या ए, संवेग पुत्र श्रीकार॥
मंत्री विवेक गुण आगलो ए, विनय तुरंग असवार॥
पट हस्ती आर्जवपणो ए, शीलांग रथ सुखकार॥
शम दम आदि संवेग भला ए, समकित सुध संतोष।
सिंहासन शोभतो ए, छत्र जशस्त्रप निर्दोष॥
धर्म नै शुक्ल चामर भलए, एह अभ्यंतर राज।
तप जप करै आकरो ए, पंडित प्रवर गुण ज्याज॥¹

यहां बतलाया गया है कि धर्म ही अन्तरंग राज्य है। विरति राजा की पटरानी है। इसी प्रकार संवेग को राजा का पुत्र, विवेक को मंत्री, विनय को प्रमुख घोड़ा, आर्जव को पट्टहस्ती और सभी अवयवों से पूर्ण शील को रथ बतलाया गया है। शम, दम, संवेग और सम्यक्त्व आदि (उसकी सेना है)। संतोष सिंहासन है। सुयश का छत्र धारण किया जाता है। धर्म और शुक्ल—ये दोनों ध्यान दोनों ओर डुलाए जाने वाले चामर हैं। इस आभ्यंतर राज्य में तप और जप का तेजी से विस्तार किया जाता है। जयाचार्य ने रूपकों की पूरी श्रृंखला से अन्तरंग राज्य का पूरा परिचय करा दिया है। इस साम्राज्य पर अधिकार कर पाना सहज नहीं है। आत्मजयी ही इसका अधिकारी हो सकता है। भगवान् पाश्वनाथ अपने एक पूर्व भव में बज्रनाभ नामक राजा थे। उन्होंने अपने भौतिक राज्य का परित्याग कर इस आध्यात्मिक राज्य पर अधिकार प्राप्त किया था।

कृपण व्यक्ति घर में करोड़ों की संपत्ति होने पर भी व्यय नहीं कर सकता। उसकी विचित्र चित्तवृत्ति और प्रकृति का वर्णन करते हुए जयाचार्य कहते हैं :

भूखो सूको अन्न जे, जीमै निरस आहार।
पेहरण जूना लूगड़ा, ते पिण अधिक असार॥
अणलीप्पा ढूंढां मझै, रहै दालिद्र सहीत।
आय सकै ना पाहुणो, एहवी छै तस रीत॥

1. पाश्वनाथ चरित्र, 618-111

रात दिवस दोडै घणो, धन मेलण रै हेत।
 कवड़ी-कवड़ी कारणै, झगड़ो करण सचेत॥
 नवो धान ल्यावै नहीं, खरचै नहीं बहु दाम।
 लोभे बूढो डोकरो, लियै नहीं प्रभु नाम॥
 बहिन-बेटी तेडै नहीं, फुन नहीं गिणै मुसाल।
 व्याव विरध जाणै नहीं, चित लालच असराल॥
 खरचै खातो न बधावतो, न गिणै तीज तिंवार।
 खरचै जो बेटा बहू, तो दुख लहै अपार॥¹

जयाचार्य ने यहां कृपण की प्रकृति को बड़ी सूक्ष्मता से अभिव्यक्ति दी है। रोटी, कपड़ा और मकान—ये तीन वस्तुएं जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं गिनी जाती हैं, परन्तु कृपण इन तीनों के लिए कम से कम व्यय करना चाहता है। धुना धान, फटे कपड़े और फूटा मकान ही उसे पसंद हैं। वह किसी अतिथि का आगमन सहन नहीं कर पाता, बहिन-बेटी को नहीं बुलाता, विवाह, मोसाल आदि उसके लिए खतरा होते हैं, तीज-त्योहार को वह व्यर्थ मानता है। पैसा-पैसा बचाकर एकत्रित किये धन को यदि पुत्र और पुत्रवधू व्यय करने लगें तो मन ही मन कुढ़ने लगता है।

आराधना

आराधना नामक जयाचार्य की यह कृति भाव-विशुद्धि के लिए अत्यन्त उपयोगी है। जीवन की लम्बी यात्रा में अनेक बार प्रमाद की स्थिति आती है, स्खलनाएं होती हैं तथा मोहग्रस्तता भी होती है। ये सब संयम की विराधना के हेतु बनते हैं। विराधक बनना तो जीवन को पतन के गर्त में ढकेलना है। इसलिए प्रत्येक साधक चाहेगा कि वह अपनी विराधनाओं के धब्बों को धोकर जीवन की चादर को साफ और शुद्ध कर ले। मृत्यु की आसन्नता इस भावना को अधिक संबल प्रदान करती है। साधक में संयम के प्रति जागरूकता बढ़े तथा भावों में उत्तरोत्तर विशुद्धि का संचार हो, इसी दृष्टि से जयाचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण किया। प्रियमाण व्यक्ति को मृत्यु के समय इससे मार्गदर्शन मिलता है। इसके 10 द्वार हैं। प्रत्येक द्वार को उत्तरोत्तर विशुद्धि का प्रवेशद्वार कहा जा सकता है। स्मणता आदि कठिन परिस्थितियों में तथा मरणासन्नता में इसका एक-एक पद्ध कट्टों को झेलने तथा मृत्यु-काल में सहज बने रहने की क्षमता प्रदान करता है। इसके मार्मिक पद्धों में से कुछ यहां परिचयार्थ उद्भूत किये जाते हैं :

पुण्य-पाप पूर्व कृत, सुख दुख नां कारण रे।
 पिण अन्य जन नहीं, इम करै विचारण रे॥
 सूको तृण पूलो, जिम अग्नि विषेहो रे।
 शीघ्र भसम हुवै, तिम कर्म दहेहो रे॥

1. धनजी को बखाण 8। दो. 2-8।

जिम तप्त तवे जल-बिंदू बिललावै रे।
 तिम दुख समचिते, सद्यां अघ क्षय थावै रे॥
 अति रोग पीड़ाणा, जग दुख बहु पावै रे।
 ते संभरी सहै, वेदन सम भावै रै॥
 शूलीं फांसीं फुन, भालां स्यूं भेदै रे।
 बहुजन जग विषै, अति वेदन वेदै रे॥
 ते तो जीव अज्ञानी, हूं ज्ञान सहीतो रे।
 समभावे सहूं, वेदन धर प्रीतो रे॥¹

भक्ति-काव्य

कहा जाता है कि जो तत्त्ववेत्ता होता है वह भक्त नहीं हो सकता और जो भक्त होता है वह तत्त्ववेत्ता नहीं हो सकता। परन्तु जयाचार्य में दोनों विशेषताओं का मणि कांचन संयोग था। उन्होंने तत्त्व-सागर की अनन्त गहराइयों में निर्भीक डुबकियां लगाई और बहुमूल्य रत्न निकाले। इसी प्रकार वे भक्ति सागर की अतल गहराइयों तक पहुंचने में भी बड़े निपुण रहे। बड़ी चौबीसी, छोटी चौबीसी आदि उनकी भक्ति-संभृत स्तुतियां बड़ी ही भाव-प्रवण कृतियां हैं। उनसे जहां समर्पण-भाव की उद्भावना होती है, वहां अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों का भी उद्घाटन होता है। भक्ति स्वयं अध्यात्म-चेतना का एक जाज्वल्यमान स्फुलिंग है। जयाचार्य द्वारा निर्मित चौबीसी की गीतिकाएं सहस्रों भक्तजनों के कंठस्थ हैं। प्रातःकाल गांवों-गांवों में लोग भक्ति, अध्यात्म और तत्त्व की त्रिधातु से बनी इन गीतिकाओं का लयलीन होकर गान करते हैं। इससे उन्हें अनुकूलता-प्रतिकूलता, जीवन-मृत्यु तथा सुख-दुःख में समता की क्षमता प्राप्त होती है। चौबीसी में प्रथम तीर्थकर भगवान् ऋषभ की स्तुति इसी प्रकार की भावनाओं की उत्प्रेक है। उसके कुछ पद्य इस प्रकार हैं :

अनुकूल प्रतिकूल सम सही, तप विविध तपदा।
 चेतन तन भिन लेखवी, ध्यान शुक्ल ध्यावदा॥
 पुद्गल-सुख अरि पेखिया, दुख-हेतु भयाला।
 विरक्त चित्त विघट्यो इसो, जाण्या प्रत्यक्ष जाला॥
 संवेग-सरवर झूलता, उपशम-रस-लीना।
 निंदा-स्तुति सुख-दुःख में, समभाव सुचीना॥
 वासी चंदन समर्पण, थिर चित जिन ध्याया।
 इम तन-सार तजी करी, प्रभु केवल पाया॥²

अग्रोक्त गीतिका में एकनिष्ठा और प्रभु-मिलन की अदम्य आकांक्षा व्यक्त करते हुए विभिन्न उपमाओं के माध्यम से जयाचार्य कहते हैं :

1. आराधना, 8।1, 7, 8, 16-18।

2. चौबीसी, 1।2-5।

चिहुं गति चाक तणी पर भटक्यो, प्रभु शरणै सुख पाया।
 निशदिन जाप जपूं जपमाला, तुम मिलवा उम्हाया॥
 मानसरोवर हंस तणै मन, ताल कलामत ताया।
 राग रसीलो राग जगावै, म्हैं तुमने इम ध्याया॥
 पतिन्रता मन पति समरती, कतवारी तार बणाया।
 दीनदयाल कृपाल तणा गुण, हंस धरी इम गाया॥¹

स्वामी भीखणजी के प्रति जयाचार्य की उदाम भक्ति-भावना भी उनकी अनेक कृतियों में अभिव्यक्त हुई है। वे उन्हें स्वप्न में देखते हैं, प्रश्नों का उत्तर पाते हैं और प्रत्यक्ष दर्शन की कामना को सफल करना चाहते हैं। वे लिखते हैं :

होजी म्हारै भिक्षु ऋषि स्यूं लागी पूरण प्रीत जो।
 जीवडो रे ललचाणो स्वामीजी सूं ओलगै रे लो॥
 हो जी म्हारै स्वामी सरीखो कुण छै दुनिया मांहि जो।
 देखण रो मुज मनडो अधिको ऊमगै रे लो॥
 हो जी मोनै विविध प्रश्न रा उत्तर अधिक अनोप जो।
 देवै रे अति हर्ष धरी नै अतिभला रे लो॥
 हो जी हूं तो सुपनै सूरत पेख्यां परमानन्द जो।
 आवै रे अति हर्ष वैण सुणियां थकां रे लो॥
 हो जी मन उल्लसै प्रत्यक्ष कद पेखूं दीदार जो।
 मनरा रे मनोरथ सफला कद हुवै रे लो॥²

उपदेश और शिक्षा

जयाचार्य के उपदेश भी बड़े मार्मिक एवं प्रेरणादायी हैं। जनता से लेकर साधु-साधियों एवं आचार्यों तक के लिए उन्होंने मुक्त रूप से कर्तव्य-बोध दिया है। विराग-प्रेरक उनके कुछ पद्य यहां उद्धृत किये जाते हैं :

तीन अरि लारै लग्या, रोग जरा मरण जाण।
 इण न्हासण रै अवसरे, क्यूं सूतो मूढ़ अयाण?
 बदल जेम चंद-सूर छै, दिवस-रात्रि घड़माल।
 जल आयु ओछो करै, ए काल रेंट विकराल॥
 काल सर्प खाधां थकां, नहिं चतुराई जाण।
 नहीं कला नहीं औषधी, तिण सूं धर राखै प्राण॥³

1. बड़ी चौबीसी, 9|18-01

2. कीर्तिगाथा, 17|1-3, 7, 8। पृष्ठ 14, 15।

3. उपदेश री चौपई 115-7।

विनीत और अविनीत में बहुत बड़ा अंतर होता है। विनीत शिष्य-शिष्याएं आचार्य के लिए आधारभूत बनते हैं। अविनीत शिष्य-शिष्याएं किसी काम के नहीं होते। उपमाओं के द्वारा उन्होंने विनीत-अविनीत का भेद इस प्रकार स्पष्ट किया है :

काच भाजन अविनीतड़ो, कहो चोटां खमै केम?
सहै चोटां तो विनीत ही, कै हीरा कै हेम॥
अविनीत गोलो मैण नो, तप्त गलै तत्काल।।
सुविनीत गोलो गार नो, ज्यूं धमै ज्यूं लाल॥।।
अविनीत वृक्ष एंडियो, अस्थिर ते करै कोप।।
सुविनीत कल्पतरु समो, विनय नो वगतर टोप॥¹

सं. 1920 के चूरू-चतुर्मास में मुनि मधवा को युवाचार्य पद प्रदान किया। उन्हें तब जयाचार्य ने अग्रोक्त शिक्षा प्रदान की :

कोइक तो है तन नो रोगी कोइ मन-रोगी धारी।
नीत हुवै चारित्र पालण री स्हाज दिये हितकारी॥।।
चरण पालन री नीत हुवै नहीं तसु काढै गणबारी।।
तिणरी काण मूल मत राखै डर भय दूर निवारी॥।।
पद युवराज शिष्य मघराज, भणी ए शिक्षा सारी।।
वले अनागत गणपति है तसु, एहिज सीख उदारी॥²

ध्यान-साधना

जयाचार्य गहरे ध्यानाभ्यासी थे। वे ध्यान के सिद्धांतपक्ष और क्रियापक्ष-दोनों से सुपरिचित थे। इस विषय में उनकी दो कृतियां हैं—बड़ो ध्यान और छोटो ध्यान। ये दोनों कृतियां कलेवर की दृष्टि से छोटी होते हुए भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनमें ध्यान की कुछ पद्धतियों का संक्षिप्त निर्देश है। जैन साधना-पद्धति का मूल तत्त्व है—त्रिगुप्ति-साधना। योग की भाषा में कहें तो आसन, मौन और एकाग्रता का अभ्यास। ‘बड़ो ध्यान’ इसी से ही प्रारम्भ होता है। इसमें ध्यान के मुख्यतः चार अभ्यास बतलाये हैं :

1. श्वास के प्रवेश और निर्गमन पर सोहं का ध्यान।
2. तीर्थकरों का उनके रंगों के साथ ध्यान।
3. सिद्ध ध्यान—इसमें राग-द्वेष आदि से भिन्नता की तथा ज्ञानादि गुणों के आनंद की अनुभूति की जाती है।
4. कर्म-विपाक का ध्यान—इसमें कर्मों के स्वरूप पर एकाग्र चिंतन किया जाता है।

इसी प्रकार ‘छोटो ध्यान’ में नमस्कार महामंत्र के पांचों पदों का ध्यान करने की पद्धति बतलाई गई है।

1. शिक्षा री चौपई, 1517-9।
2. गणपति सिखावण, 1175, 76, 85।

संस्मरण-साहित्य

तेरापंथ में संस्मरणात्मक साहित्य का प्रारम्भ जयाचार्य से ही हुआ। सं. 1903 में मुनि हेमराजजी का चतुर्मास नाथद्वारा में था। युवाचार्य जय भी वहीं थे। उन्होंने मुनि हेमराजजी से सुन-सुनकर स्वामी भीखणजी से सम्बन्धित संस्मरण लिखे। उनका नाम दिया 'भिक्खु-दृष्टांत'। उक्त कृति के पश्चात् भी वे संस्मरणात्मक साहित्य लिखते रहे थे। उस विधा की चार कृतियाँ हैं :

1. भिक्खु-दृष्टांत—इसमें 312 संस्मरण संकलित हैं।
2. हेम-दृष्टांत—इसमें मुनि हेमराजजी तथा अन्य मुनियों से संबद्ध 37 संस्मरण हैं।
3. श्रावक-दृष्टांत—इसमें श्रावकों से संबद्ध 25 संस्मरण हैं।
4. दृष्टांत—इसमें स्फुट 32 संस्मरण हैं।

ये सभी संस्मरण-ग्रंथ गद्य में हैं। ये जयाचार्य की प्रांजल राजस्थानी भाषा के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। 'राजस्थानी सबद-कोस' के निर्माता सीतारामजी लालस ने स्वामीजी तथा जयाचार्य के ग्रन्थों से सैकड़ों शब्दों का संग्रह किया है।

उपदेशरत्न-कथाकोश

जयाचार्य का यह सर्वाधिक विशाल ग्रंथ है। इसमें लोक-कथाओं, पौराणिक कथाओं एवं ऐतिहासिक कथाओं का महत्वपूर्ण संग्रह है। साथ ही इसमें दोहे, सोरठे, कवित्त तथा संस्कृत श्लोक भी बड़ी मात्रा में संकलित हैं। यह भगवती की जोड़ से भी बृहत्काय है। जोड़ का ग्रंथमान 60906 श्लोक-प्रमाण है, परंतु इसका ग्रंथमान 66566 श्लोक-प्रमाण है।

अनुवाद

जयाचार्य स्वतन्त्र ग्रन्थों के विशिष्ट लेखक होने के साथ-साथ एक कुशल अनुवादक भी थे। उन्होंने अनेक जैन आगमों का पद्यानुवाद किया, वहां भरत-बाहुबली महाकाव्य का तथा नयचक्र जैसे दार्शनिक ग्रंथ का भी अनुवाद किया। यहां तक कि संस्कृत-व्याकरण के भी दोहे बनाये। एक भाषा के पद्य को पूरे भाव सहित किसी भी दूसरी भाषा के पद्य में कठिनता से ही अनूदित किया जा सकता है, परन्तु जयाचार्य नपेतु ले राजस्थानी भाषा के शब्दों में पूरा भावचित्र उतार लेने में सफल हुए हैं। यहां परिचय के लिए कुछ आगम-पद्य तथा उनका राजस्थानी अनुवाद प्रस्तुत है :

- निंदं च न बहु मन्नेज्जा,
संप्हासं विवज्जए।
मिहो कहाहिं न रमे,
सज्जायमि रओ सया॥¹

निद्रा भणी बहुमान न देवै,
हास्य विषय नहीं माता।
रमै नहीं मांहों मांही कथा कर मुनि,
रहै सज्जाय में राता॥

1. दसवेआलियं, 8।4।1।

- अद्वाणं जो महंतं तु,
सपाहेओ पवज्जई।
गच्छंतो सो सुही होई,
छुहा-तण्हा-विवज्जिओ॥¹
- उवलेहो होइ भोगेसु,
अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे,
अभोगी विष्मुच्चई॥²

जयाचार्य द्वारा रचित छोटी चौबीसी में आचार्य हेमचन्द्र रचित 'वीतराग-महादेव स्तोत्र' के कुछ पद्यों का अनुवाद है। वे पद्य तथा अनुवाद अग्रोक्त हैं :

- शब्दरूपरसस्पर्श—
गन्धाख्याः पंच गोचराः।
भजन्ति प्रातिकूल्यं न,
त्वदग्रे तार्किका इव॥³
- जल-स्थल-समुद्रभूताः,
संत्यज्य सुमनःसजः।
तव निःश्वाससौरभ्य-
मनुयान्ति मधुव्रताः॥⁴
- पञ्चेन्द्रियाणां दौःशील्यं
क्व भवेद् भवदन्तिके।
एकेन्द्रियोपि यन् मुञ्च-
त्यनिलः प्रतिकूलताम्॥⁵
- तवेन्दुधामधबला,
चकास्ति चमरावली।
हंसालिरिव वक्त्राब्ज-
परिचर्या-परायणा॥⁶

मोटी तो अटवी लीधी मानवी,
पिण बहु संबल सहीत।
जातो थको तो तेह सुखी हुवै,
भूख तृष्णादि रहीत॥

अघ उपलेप लगै भोगी रै,
अभोगी तो नाहिं लिपायो।
भोगी संसार में भ्रमण करै छै,
भोग तज्यां थी मुकायो॥

शब्द रूप गंध फरस,
प्रतिकूल न हुवै तुम आगै।
पंचदर्शन थां स्यूं पग नहीं मांडै,
तिम अशुभ शब्दादिक भागै॥⁷

सुरकृत जल थल पुष्प-पुंज वर,
ते छांडी चित्त दीनो।
तुझ निश्वास सुगंध मुख-परिमल,
मन भ्रमर महा लीनो॥⁸

पंचेंद्री सुर नर तिरि तुम स्यूं,
किम होवै दुखदायो।
एकेंद्री अनिल तजै प्रतिकूल पणो,
बाजै गमतो वायो॥⁹

तुझ मुख कमल पासे चमरावलि,
चंद्र कांतिवत् सोहै।
हंस श्रेणी जाणै पंकज सेवै,
देखत जन मन मोहै॥¹⁰

1. उत्तरञ्ज्ञयणाणि, 19।20।

2. वही, 25।39।

3. वीतराग महादेव स्तोत्र, 4।8।

4-6. वही, 217, 4।12, 5।4।

7-9. छोटी चौबीसी, 20।3-5

10. वही, 23।2

- मृगेन्द्रासनमारुद्धे,
त्वयि तन्वति देशनाम्।
श्रोतुं मृगाः समायान्ति,
मृगेन्द्रमिव सेवितुम्॥¹
- भासां चयैः परिवृतो,
ज्योत्स्नाभिरिव चन्द्रमाः।
चकोराणामिव दृशां,
ददासि परस्मां मुदम्॥²

भगवद्गीता के भी कुछ पद्य जयाचार्य द्वारा अनूदित उपलब्ध होते हैं। यदि पूरी गीता का अनुवाद होता तो वह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि होती। मात्र सात श्लोकों का अनुवाद प्राप्त हुआ है, वह श्लोकों सहित यहां दिया जाता है :

फटिक सिंहासन सिंह आकारे,
बैठ देशना देवै।
वन-मृग आवै वाणि सुणवा,
जाण-क सिंह नै सेवै॥³

चंद्र समो तुझ मुख महाशीतल,
नयन चकोर लुभावै।
इंद्र नरेंद्र सुरासुर रमणी,
निरखत तृप्ति न पावै॥⁴

ज्ञान श्रेय अभ्यासी थी,
ध्यान ज्ञान थी शिष्ट।
ध्यान थकी तज कर्म फल,
तेह थी शांति विशिष्ट॥

सर्व भूत पर द्रेष तजी,
सर्व मित्र सम जान।
ममत-भाव अहंकार तज,
सुख-दुख भाव समान॥

पर नै दुखदायी नहीं,
पर थी आप न दुःख।
तजै हर्ष उद्गेग भय,
ते मुझ भक्त प्रतक्षब।

निर्वाणा शुचि दक्ष मन
उदासीन नहीं धंध।
आरंभ त्यागी सर्वथा,
ते मुझ भक्त सुनंद।

सुख-दुख हरख न सोग ए,
चिंता कांक्षा नाहिं।
पुण्य-पाप बेहूं तजै,
ते मुझ भक्त ओछाहि॥

1,2. वीतराग महादेव स्तोत्र, 515,61

3,4. छोटी चौबीसी, 2313,4।

- समः शत्रौ च मित्रे च,
तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु,
समः संग-विवर्जितः॥
 - तुल्य-निन्दा-स्तुतिमौनी,
सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिर-मतिः,
भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥¹
- शत्रुमित्र नै सम गिणै,
तिमज मान अपमान।
शीत-उष्ण सम दुःख-सुख,
वर्जत संग सुजान॥
- निंदा स्तुति मैं तुल्य मन,
मौन धार संतुष्ट।
घर त्यागी अरु स्थिर मति,
सो मे भक्त पियष्ट॥²

वर्गीकरण

जयाचार्य के उपलब्ध गद्य और पद्य साहित्य का ग्रंथमान लगभग 3 लाख श्लोक-प्रमाण है। यह जय-शताब्दी के अवसर पर की गई पुनः गणना का परिणाम है। उससे पूर्व साढ़े तीन लाख ग्रंथमान की अनुश्रुति प्रचलित थी।

मध्यागणी ने जय-सुजस (ठाल 66) में जयाचार्य के ग्रन्थों की जो तालिका दी, उसमें 73 ग्रन्थों की सूचना मिलती है। वहां के कथन से यह भी ज्ञात होता है कि उनके अतिरिक्त भी ग्रन्थ हैं। पूरे ग्रन्थों की खोज करने पर जो उपलब्ध हुए, उन्हें मिलाकर ग्रन्थ-संख्या 114 होती है। जयाचार्य द्वारा समय-समय पर विभिन्न घटनाओं, शिक्षाओं तथा आत्म-संवेदनाओं के आधार पर लिखे गये एकल पत्र भी काफी उपलब्ध हैं। उनका पृथक् संग्रह कर लिया जाए तो यह संख्या 115 तक पहुंच जाती है।

जयाचार्य के ग्रन्थों का विषयानुसार वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

1. आगम-भाष्य

- | | |
|---------------------------------|-------------------------------------|
| 1. भगवती री जोड़ | 2. उत्तराध्ययन री जोड़ ³ |
| 3. आचारांग (प्रथम) री जोड़ | 4. आचारांग (द्वितीय) रो टब्बो |
| 5. ज्ञाता री जोड़ ⁴ | 6. निशीथ री जोड़ |
| 7. अनुयोगद्वार री जोड़ (अपूर्ण) | 8. पन्नवणा री जोड़ (10 पद तक) |
| 9. विपाक री जोड़ (अपूर्ण) | 10. चौरासी आगमाधिकार |
| 11. निशीथ री हुंडी | 12. बृहत्कल्प री हुंडी |
| 13. व्यवहार री हुंडी | 14. भगवती री संक्षिप्त हुंडी |

1. गीता, 12। 12, 13, 15-19।

2. तेरापंथ मर्यादा और व्यवस्था, पृष्ठ 157।

3. 28वें अध्ययन तक की जोड़ अविकल है, 29वें की अपूर्ण है, शेष 7 अध्ययनों की नहीं है।

4. अग्रोक्त 12 अध्ययनों की जोड़ है—1-4, 6, 7, 10-12, 15, 17, 18। शेष 7 अध्ययनों के आख्यान स्वामीजी द्वारा रचित थे, उन्हीं को इसका अंग मान लिया गया।

2. तत्त्व दर्शन

- | | |
|---------------------------------|-----------------------------------|
| 1. झीणी चर्चा ¹ | 2. झीणो ज्ञान |
| 3. झीणी चर्चा रा बोल | 4. भिक्खु पृच्छा |
| 5. परचूनी बोल | 6. संजया री जोड़ |
| 7. नियंठा री जोड़ | 8. महाब्रत-अणुब्रत ना भांगा |
| 9. बारह ब्रतांरो लेखो | 10. थोकड़ा |
| 11. चर्चा रत्नमाला (अपूर्ण) | 12. भिक्षुकृत हुंडी री जोड़ |
| 13. श्रद्धारी चौपई | 14. अकल्पती व्यावच री चौपई |
| 15. जिनआज्ञारी चौपई | 16. टालोकर श्रद्धा ओलखावण री चौपई |
| 17. भ्रम-विध्वंसन | 18. प्रश्नोत्तर-तत्त्वबोध |
| 19. बृहत् प्रश्नोत्तर-तत्त्वबोध | 20. जिनाज्ञा मुखमंडन |
| 21. कुमति विहंडन | 22. संदेह विषौषधि |
| 23. प्रश्नोत्तर सार्धशतक | 24. लघु सिद्धान्तसार ² |
| 25. दीर्घ सिद्धान्तसार | |

3. आख्यान

- | | | |
|-------------------------|-------------------------------|--------------------|
| 1. ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती | 2. खंधक संन्यासी ³ | 3. जमाली |
| 4. महाबल चरित्र | 5. पार्श्वनाथ चरित्र | 6. मंगल कलश |
| 7. रत्नचूड़ | 8. महीपाल चरित्र | 9. सुरसुंदर-दवदंती |
| 10. मोहजीत राजा | 11. दीपजश-रसायण | 12. जयजशकरण-रसायण |
| 13. गुणसुंदर-शीलमंजरी | 14. सीतेन्द्र | 15. धनजी |
| 16. यशोभद्र | 17. भरत-बाहुबली (अपूर्ण) | 18. व्याघ्रक्षत्री |

4. जीवनियां

- | | | |
|----------------------------------|-----------------------|----------------|
| 1. भिक्षुजश-रसायण | 2. लघु भिक्षुजश-रसायण | 3. ऋषिराय सुजस |
| 4. ऋषिराय-पंचदालियो ⁴ | 5. सतजुगी-चरित | 6. हेम-नवरसो |
| 7. हेम-चोढालियो | 8. सरूप-नवरसो | 9. सरूप-विलास |

-
1. ज.सु. 66129 में जिसे 'चर्चा री जोड़ री चौपई' कहा है, उसी का प्रसिद्ध नाम 'झीणी चर्चा' है। ज.सु. में इसकी 21 ढालें बतलाई हैं, परन्तु 22 ढालें हैं।
2. 'लघु सिद्धान्तसार' में स्वामीजी की विभिन्न 7 कृतियों में संकेत रूप में प्रदत्त आगम-साक्षियों के पूरे पाठ, उनके अर्थ और विवेचन दिये गये हैं। इसी प्रकार 'दीर्घ सिद्धान्तसार' में 16 कृतियों में प्रदत्त साक्षियों के पूरे पाठ, उनके अर्थ और विवेचन दिये गये हैं।
3. खंधक संन्यासी, जमाली और महाबल चरित्र-ये तीनों भगवती के आख्यान हैं, अतः 'भगवती की जोड़' में हैं, परन्तु उपर्युक्त तीनों रचनाएं उनसे पूर्णतः भिन्न हैं।
4. ज. सु. 66। 22 में उसे 'ऋषिराय का चोढालिया' कहा है, परन्तु पांच ढालें हैं, अतः यह 'पंचदालिया' है। देखें- 'तेरापंथ के तीन आचार्य' पृष्ठ 141।

10. भीम-विलास
 12. शिवजी रो चोढ़ालियो
 14. शांति-विलास
 16. हरख-चोढ़ालियो
 18. सरदार-सुजस
 11. मोतीजी रो पंचढालियो
 13. कर्मचंद-गीतिका
 15. उदयचंदजी रो चोढ़ालियो¹
 17. हस्तू-कस्तू रो पंचढालियो

5. स्तुति-काव्य

1. संत-गुणमाला (क)²
 2. संत-गुणमाला (ख)³
 3. शासन-विलास
 4. छोटी चौबीसी
 5. बड़ी चौबीसी
 6. भिक्षु गणी-गुणवर्णन
 7. भारीमालगणी-गुणवर्णन
 8. रायचंदगणी-गुणवर्णन
 9. संत-गुणवर्णन
 10. सती-गुणवर्णन
 11. जिनशासन-महिमा
 12. आर्या-दर्शन री चौपई
 13. चरमोत्सव री ढाल

6. संस्मरण

1. भिक्खु-दृष्टांत 2. हेम-दृष्टांत 3. श्रावक-दृष्टांत 4. दृष्टांत

7. विधान-मर्यादा

- | | |
|----------------------------------|----------------------------------|
| 1. लिखतां री जोड़ | 2. बड़ी मर्यादा |
| 3. छोटी मर्यादा | 4. गणपति-सिखावण |
| 5. शिक्षा री चौपैर्ड | 6. मर्यादा-मोच्छव री ढालां |
| 7. परंपरा री जोड़ | 8. टालोकरां री ढाल |
| 9. टहुको | 10. परंपरा रा बोल (सेज्यातर आदि) |
| 11. परंपरा रा बोल (गोचरी संबंधी) | 12. गणविशुद्धीकरण हाजरी |
| 13. लघु रास | |

8. साधना

1. आराधना 2. छोटो ध्यान 3. बड़ो ध्यान

9. न्याय

- ## 1. नय चक्र री जोड़

10. व्याकरण

1. पंचसंधि री जोड़ 2. आख्यात री जोड़ 3. साधनिका

11. उपदेश

1. उपदेश री चौपई 2. उपदेश रत्न-कथाकोश

1. ज. सु. 66। 21 में उसे 'उदयराजजी रो पंचढालियो' कहा है, पर ढालें चार ही हैं, अतः यह 'चोढालिया' है। देखें—'अमरगाथा' पृष्ठ 187।
2. 'संत-गुणमाला' (क) में उस समय के विद्यमान संतों का संक्षिप्त वर्णन है।
3. 'संत-गुणमाला' (ख) में उस समय तक दिवंगत संत-सतियों का संक्षिप्त वर्णन है।

संध्याकाल

तन का वार्धक्य

जयाचार्य का जीवन एक सफल आचार्य का जीवन था। उन्होंने जिस कार्य की ओर ध्यान दिया, उसी को सर्वांगरूप से उन्नति के शिखर पर चढ़ा दिया। यद्यपि उनके शरीर की ऊँचाई कम थी, पर मन की ऊँचाई इतनी अधिक थी कि वैसे व्यक्ति संसार में विरल ही मिल पाते हैं। उनका शरीर दुबला-पतला था, पर उनकी आत्मा की विशालता अपरिमेय थी। एक महान् सन्त होने के कारण जहां उनका मन स्वस्थ और समाधियुक्त था, वहां उनका तन भी प्रायः रोगमुक्त था। जीवन के संध्याकाल में कभी-कभी कुछ गड़बड़ अवश्य हो जाया करती थी, फिर भी उनके तन का वार्धक्य उनके मन पर कभी नहीं छा सका।

मोतिया और शल्य-चिकित्सा

वृद्धावस्था के प्रारंभिक वर्षों में जयाचार्य के नेत्रों में कुछ गड़बड़ हुई, परंतु वह साधारण आयुर्वेदिक उपचार से शीघ्र ही उपशांत हो गई। वह उपचार सं. 1912 में खैरवा में किया गया था।¹ उसके पश्चात् बहुत वर्षों तक उनकी आंखें ठीक चलती रहीं। फिर भी अवस्था के साथ-साथ वे कमजोर होती गई और उनमें मोतिया उतर आया। उसके पक जाने पर सं. 1929 में मुनि कालूजी द्वारा स्थानीय वैद्य की देखरेख में उसकी शल्य-चिकित्सा की गई। वह पूर्ण रूप से सफल रही।²

सीमित विहार

शल्य-चिकित्सा के पश्चात् जयाचार्य का विहार-क्षेत्र प्रायः सीमित हो गया। जब वे सं. 1929 (चैत्रादि 1930) के वैशाख में बीदासर पधारे तब ज्वर का प्रकोप हो गया। पहले से ही निर्बल उनका शरीर अधिक निर्बल हो गया। उन्हें अपना विहार स्थिगित कर देना पड़ा। अन्न की अरुचि और अशक्ति के कारण उनका वह चतुर्मास तथा मर्यादा-महोत्सव वहीं हुआ, जबकि वे सं. 1929 का चतुर्मास और मर्यादा-महोत्सव वहां कर

1. म. सु. 6, दो. 4।

2. मुनि कालूजी की ख्यात में शल्य-चिकित्सा की पूर्ण सफलता का उल्लेख है। उसके विपरीत एक अनुश्रुति है कि आकाश में बादल छाये होने के कारण आवास स्थान में पूरा प्रकाश नहीं था, अतः शल्य-क्रिया खुले आकाश में की गई। ज्योही आंख में अस्त्र डाला गया, बूँदें गिरने लगीं, जयाचार्य तत्काल उठकर भीतर चले गये। फिर वहीं शल्य-क्रिया की गई। उस व्यवधान के कारण दृष्टि में कुछ कमी रह गई।

चुके थे। सं. 1931 में सुजानगढ़ चतुर्मास करके सं. 32, 33 और 34 के चतुर्मास उन्होंने लाडनू में ही किये। उसके पश्चात् सं. 35 और 36 के चतुर्मास पुनः बीदासर में किये। यद्यपि इन चतुर्मासों के पश्चात् मर्यादा-महोत्सव के लिए वे अनेक बार अन्यत्र भी पधारे, पर अधिक दूर का विहार नहीं कर पाये। इस प्रकार सं. 1929 से 1936 तक के आठ चतुर्मासों में चार बीदासर, तीन लाडनू और एक सुजानगढ़ में हुआ। मर्यादा-महोत्सवों में से केवल दो (सं. 1934 और 36) लाडनू में और अवशिष्ट छह बीदासर में हुए। उन आठ वर्षों में उनका विहार लाडनू और बीदासर को ही केन्द्र मानकर होता रहा। वे परस्पर बत्तीस किलोमीटर की दूरी पर अवस्थित हैं।

जयपुर की ओर

सं. 1936 का मर्यादा-महोत्सव लाडनू में करने के पश्चात् जयाचार्य सुजानगढ़ पधारे। वहां जयपुर से आकर लाला भैरूलालजी ने दर्शन किये। वे जयाचार्य के परम भक्त श्रावक थे। उन्होंने जयपुर पदार्पण के लिए प्रार्थना की। आचार्यश्री उनकी बात को सदैव बहुमान देते थे। जयपुर के प्रति भी उनके मन में बाल्यावस्था से ही एक अतिरिक्त भाव था। वृद्धावस्था तथा निर्बलता के कारण मार्ग की प्रलंबता अवश्य विचारणीय थी, परन्तु अपनी सीमा के अन्तर्गत उसका समाधान निकाल लेना कोई कठिन कार्य नहीं था। उन्होंने सारी स्थितियों पर दृष्टिपात किया और फिर जयपुर की ओर विहार करने का निर्णय घोषित कर दिया।

सुखपाल-यात्रा

जयाचार्य के लिए पाद-विहार द्वारा जयपुर पहुंचना सम्भव नहीं था, अतः 'सुखपाल' के द्वारा यात्रा करने का निश्चय किया। मुनिजनों ने बांस और कम्बल के प्रयोग से 'सुखपाल' का इस प्रकार निर्माण किया कि उसमें बैठने वाले को किसी प्रकार की कठिनाई न हो। जयाचार्य ठिगने और दुबले थे, अतः मूलतः ही उनमें भार कम था, वृद्धावस्था और रुणता के कारण उस समय वह और भी कम हो गया था।

'सुखपाल' को उठाने का कार्य चार सबल और युवक मुनियों ने किया। उनके नाम ये हैं :

- | | |
|--------------------|-------------------|
| 1. मुनि मयाचन्दजी, | 2. मुनि रामसुखजी, |
| 3. मुनि ईसरजी, | 4. मुनि छबीलजी। |

चारों मुनियों ने उस श्रम-साध्य कार्य को अत्यन्त श्रद्धा-भाव के साथ किया। श्रम-निवारणार्थ उन चारों को संविभाग से पूर्व अतिरिक्त भोजन 'पक्का पेटिया' दिया जाता। सुखपाल-यात्रा के समय लगने वाले हिचकोलों से जयाचार्य का वृद्ध शरीर काफी क्लान्त हो जाया करता। रात्रिकाल में दोनों पाश्वों में बैठकर चार साधु उन्हें दबाया करते। कहा जाता है कि धंटा भर तक उनके पूरे शरीर को आटे की तरह गूंध दिया जाता, तब कहीं उन्हें विश्रान्ति मिलती। उस सेवा में लगे चारों मुनियों को भी संविभाग से पूर्व अतिरिक्त भोजन दिया जाता, वह 'पेटिया' कहलाता। 'पेटिया' में केवल भोजन दिया जाता और 'पक्का पेटिया' में घृत दूध आदि 'विगय' भी।

चैत्र शुक्ला अष्टमी को आचार्यश्री ने जयपुर में प्रवेश किया। लाला भैरूलालजी की हवेली में प्रवास किया। फिर पार्श्वर्वती स्थानों में विहार करते हुए सं. 1937 का चतुर्मास तथा मर्यादा-महोत्सव जयपुर में ही किया।

सुसमाचार

माघ मास में थली से अनेक प्रेरणाप्रद समाचार आये। संघ-मुक्त मुनि चतुर्भुजजी तथा छोगजी आदि का प्रभाव थली में, विशेषकर सरदारशहर में छिन्न-भिन्न होने लगा था। थली के अनेक श्रावकों ने पत्रों द्वारा ये सुसमाचार जयपुर के श्रावकों के पास भेजे और प्रार्थना करवाई कि इस अवसर पर आचार्यश्री का थली में पदार्पण अत्यन्त उपकार का हेतु बन सकता है। मुनि कालजी ने भी वहां की सारी स्थिति सामने रखते हुए कहा—‘लोगों ने टालोकरों को बहुत अच्छी तरह से पहचान लिया है। उनकी दुर्बलता सबके सामने प्रकट हो चुकी है, अतः सहज ही जनता का झुकाव तेरापंथ की ओर बढ़ा जा रहा है।’

उक्त समाचारों को सुनकर जयाचार्य मानो अपनी वृद्धावस्था तथा रुग्णता को भूल ही गये। ‘अक्षय-तृतीया’ के दिन थली की ओर विहार करने का विचार करने लगे। उनकी उस इच्छा का जब श्रावक-वर्ग को पता लगा तो उसने बहुत आग्रहपूर्वक वहाँ विराजने की प्रार्थना की। प्रभुदानजी व्यास ने कहा—‘मैं रावलजी के वहाँ गया था। उन्होंने भी कहलवाया है कि आपको यहाँ रहना चाहिए और आगामी चतुर्मास यहाँ करना चाहिए।’ जयाचार्य ने उन सबकी भावना को ध्यान में रखकर विहार स्थगित कर दिया।

विहार-स्थगन का वह निर्णय वस्तुतः ठीक ही हुआ, क्योंकि ग्रीष्म ऋतु का समय राजस्थान में लम्बे विहार के लिए प्रायः प्रतिकूल ही साबित होता है। जयाचार्य ने जब विहार का विचार किया था, तब ग्रीष्म ऋतु द्वार पर ही खड़ी थी। धीरे-धीरे उसकी भयंकरता बढ़ने वाली ही थी। विहार होता तो ग्रीष्म का मध्य भाग चलने में ही व्यतीत होने की संभावना थी।

गले में गांठ

विहार-स्थगन के पश्चात् जयाचार्य वहाँ के क्षेत्रों में विचरते रहे। ज्येष्ठ मास में उनके गले में एक गांठ उभर आई। उससे शरीर में वेदना रहने लगी। यदि वे वैशाख में थली की ओर विहार कर गये होते तो मार्ग में बड़ी असुविधा का सामना करना पड़ता। वह गांठ ज्यों-ज्यों बढ़ती गई, त्यों-त्यों वेदना और जलन भी बढ़ती गई। आषाढ़ में जब वह पक कर फूटी, तब सबको आशा बंधी कि अब फिर से उनका स्वास्थ्य सुधर जाएगा, परन्तु ऐसा नहीं हो सका। धीरे-धीरे उनका स्वास्थ्य गिरता चला गया। ‘अस्वाध्यायी’ के कारण उनके स्वाध्याय-क्रम में भी काफी बाधा आने लगी।

अन्तिम चतुर्मास

सं. 1938 का चतुर्मास जयपुर में ही हुआ। वह उनका अन्तिम चतुर्मास था। उस समय उनकी सेवा में युवाचार्य आदि सत्रह अन्य साधु और गुलाबसती आदि पैतीस साध्वियां थीं। जयाचार्य की अस्वस्थता के कारण उस चतुर्मास में व्याख्यान प्रायः

युवाचार्य मघवा ही दिया करते थे। संघ के आवश्यक कार्यों की देख-रेख भी वे ही किया करते थे। जयाचार्य अपना अधिकांश समय शारीरिक कार्यों के अतिरिक्त प्रायः स्वाध्याय, ध्यान और विश्राम में ही लगाया करते थे।

रोग-वृद्धि

श्रावण मास के प्रारम्भिक दिनों से ही जयाचार्य के शरीर पर विभिन्न रोगों का भी आक्रमण होने लगा। उन्हें दस्त लगने लगे और अन्न के प्रति अरुचि बढ़ने लगी। बार-बार मलोत्सर्ग की आवश्यकता किसी युवक की भी शक्ति को तोड़ देती है, जयाचार्य तो फिर वृद्धि थे। क्रमशः उनकी शारीरिक शक्ति क्षीण होती चली गई। आहार की अरुचि हो जाने के कारण बहुधा लंघन-सा होने लगा। कभी अन्न लेते तो दो-चार कौर की मात्रा में और दूध लेते तो दो-चार घूंट की मात्रा में। कभी वह भी नहीं लिया जाता।

आचार्यश्री के अस्वास्थ्य तथा आहार की अरुचि के समाचार स्थान-स्थान पर पहुंचे। श्रावकों का मन चिन्तातुर हुआ। वे दर्शनार्थ जयपुर पहुंचने लगे। चूरू से सागरमलजी कोठारी और वृद्धिचंदजी सुराणा आये। जोधपुर से डाकगाड़ी में बहादुरमलजी भण्डारी आदि आए। जयाचार्य ने रुणावस्था में भी उनसे धर्मचर्चा की। रोग एक ही गति पर चल रहा था। कई दिनों तक पर्युपासना में रहकर, धार्मिक सम्बल प्राप्त कर वे लोग अपने-अपने घर चले गये।

श्रावण के शुक्ल पक्ष में उनके गले की गांठ का मुंह चौड़ा करने की आवश्यकता प्रतीत हुई ताकि विकार शीघ्र बाहर निकल सके। जब शल्य-क्रिया द्वारा वैसा किया गया तो काफी मवाद बाहर निकला। एक बार के लिए उन्हें कुछ शांति अवश्य मिली, पर तभी श्रावण शुक्ला चतुर्दशी के दिन ज्वर ने उनको आ घेरा।

लालाजी का देहान्त

लाला भैरूलालजी जयाचार्य के बड़े भक्त श्रावक थे। उनकी प्रार्थना पर ही उन्होंने जयपुर पदार्पण का निर्णय किया। चतुर्मास उन्हीं के मकान में था। लालाजी रात-दिन सेवारत रहा करते थे। जयाचार्य की रुणावस्था के विषय में वे बड़ी चिंता किया करते थे। श्रावण-पूर्णिमा के प्रातः अचानक ही वे स्वयं रुण हो गये। रोग ने इतना तीव्र आक्रमण किया कि उनके बचने की आशा क्षीण होने लगी। जयाचार्य अपनी ज्वरावस्था में मध्याह्नकाल में उन्हें दर्शन देने के लिए पधारे। वैराग्य से आप्लावित वाणी के द्वारा उनकी भावना को प्रबल बनाया। उसी दिन सायंकाल में उन्हें दूसरी बार दर्शन देने फिर पधारे। मंगल-पाठ सुनाया। चार शरणों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया। जयाचार्य के मंगलमय शब्दों ने लालाजी के परिणामों को उच्चतर बनाने में भारी सम्बल प्रदान किया। उसी रात्रि में उनका स्वर्गवास हो गया।

गमन और पुनरागमन

लालाजी के परिवार की नगर के प्रमुख परिवारों में गणना होती थी। स्वयं लालाजी जयपुर के प्रभावशाली एवं प्रतिष्ठित जौहरी थे। उनकी मृत्यु पर संवेदना प्रकट करने

वालों का आवागमन काफी बड़ी मात्रा में होने वाला था। इसीलिए अवसरज्ज जयाचार्य ने सूर्योदय होते ही स्थान बदल लिया। वहां से थोड़ी ही दूर पर सरदारमलजी लूणिया का मकान था, वे वहां पधार गये। वह स्वल्प-सा गमन भी उन्हें गहरी थकान का अनुभव करा गया। भाद्रपद कृष्ण एकम के दिन वहां पधारे और छठ के दिन सायंकाल में पुनः लालाजी के मकान में पधार गये। कहा जाता है कि लालाजी ने प्रार्थना करवाई थी कि वापस हमारे मकान में पधारने की कृपा करें ताकि उन्हें दर्शन-सेवा का लाभ मिल सके।

स्वाध्याय-श्रवण

जयाचार्य का शरीर धीरे-धीरे अशक्त होता जा रहा था। अन्न प्रायः छूटता जा रहा था। कभी थोड़ा-सा ले लिया करते और त्याग कर दिया करते। कभी औषधि और जल के अतिरिक्त त्याग कर दिया करते। उन दिनों स्वाध्याय तथा ध्यान ही उनका एकमात्र सम्बल बना हुआ था। जब भी अवसर होता, वे शिष्यों के द्वारा ढालें सुना करते। जो उन्हें सुनाया जाता, उसे पूरी सावधानी से सुनते। उनके स्वाध्याय-प्रेमी मन को उससे तृप्ति का अनुभव होता।

पद्य छोड़ दिये हैं क्या?

रुग्णावस्था में भी जयाचार्य की मनःस्थिति अत्यन्त स्थिर और सचेत थी। कहीं कोई सुनाते समय त्रुटि करता तो उसी समय उसे टोक देते। भाद्रपद कृष्ण पंचमी के दिन युवाचार्य मधवा ने प्रार्थना की—‘गुरुदेव! यदि आपकी इच्छा हो तो मैं आपकी ही कृति ‘आराधना’ की दसों गीतिकाएं आपको सुनाऊं।’ जयाचार्य ने कहा—‘हां, तुम सुनाओ।’ युवाचार्यश्री ने उस दिन प्रथम गीतिका सुनाई। उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—इन पांच आचारों की विराधना पर आचार्यश्री ने स्वयं स्पष्ट उच्चारण के साथ ‘मिच्छा मि दुक्कड़’ ग्रहण किया। वह गीतिका काफी लम्बी है, अतः युवाचार्यश्री ने बीच में कुछ पद्य छोड़ दिये। जयाचार्य ने तत्काल उस स्खलना को पकड़ते हुए फरमाया—‘यहां कुछ पद्य छूट गये हैं क्या?’ युवाचार्यश्री ने कहा—‘हां, दो-तीन पद्य मैंने छोड़ दिये थे।’ जयाचार्य ने कहा—‘एक भी पद्य छोड़ो मत, सारे सुनाओ।’ युवाचार्यश्री ने तब उन छोड़े हुए पद्यों को भी सुनाया। इस प्रकार अपनी सावधानी के बल पर आचार्यश्री ने अपनी आराधना को किंचित् भी अपूर्ण नहीं रहने दिया।

आत्मालोचन

शारीरिक क्षीणता का अनुभव करते हुए जयाचार्य ने अपनी आत्मा को निःशल्य बनाने के उपायों पर विशेष रूप से ध्यान दिया। छठ के दिन उन्होंने आराधना की सात गीतिकाएं सुनीं। उन्हीं के आधार पर उन्होंने महाब्रतों का पुनः आरोपण किया। प्राणी मात्र से क्षमा-याचना की। जीवनभर में भूल से भी किसी के प्रति उभरे कलुष भावों तथा प्रयुक्त कटु वचनों की विशुद्धि के लिए संघ के साधु-साधियों, संपर्क में आए इतर सम्प्रदायों के साधु-साधियों, संघ से पृथक् हुए साधु-साधियों तथा श्रावक-श्राविकाओं से उन्होंने नामोल्लेख पूर्वक सरल हृदय से क्षमायाचना की। इस प्रकार उन्होंने स्वयं को निःशल्य एवं निर्भार बना लिया।

ध्यानलीन

सप्तमी के दिन लालाजी के मकान पर वैद्य दुर्गाप्रसादजी नाड़ी देखने के लिए आये। जयाचार्य की आंखें उस समय मूँदी हुई थीं। एक मुनि ने पास में आकर निवेदन किया—‘वैद्यजी आये हैं।’ आचार्यश्री ने न आंखें खोलीं और न कोई उत्तर दिया। साधुओं ने सोचा—आचार्यश्री को या तो नींद आई हुई है, या फिर मूर्छा (मींट) है। थोड़ी देर पश्चात् आचार्यश्री ने आंखें खोलीं और कहा—‘मैं ध्यानस्थ था इसलिए नहीं बोला।’

शरीर की प्रतिदिन बढ़ती निर्बलता में भी सावधानीपूर्वक जीवन के अवशिष्ट प्रत्येक क्षण को वे सफल बना लेना चाहते थे। वे ध्यान और स्वाध्याय को ही अपना अन्तिम सम्बल मानकर चल रहे थे। उसी दिन उन्होंने आराधना की अवशिष्ट अन्तिम दोनों गीतिकाएं भी सुनीं।

शिक्षा-दान

अपनी रुग्णावस्था के दिनों में जयाचार्य ने साधु-साध्वियों के लिए अनेक शिक्षाएं प्रदान कीं। वे अधिक समय तक बोलने का प्रयत्न नहीं कर सकते थे, फिर भी जो-कुछ कहना चाहते थे उसे थोड़ा-थोड़ा करके कहा करते थे। शिष्य-वर्ग के लिए उस समय का उनका वह थोड़ा-सा कथन भी बहुत मूल्यवान् था। संघ की एकता, आचार्य और शिष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध, मर्यादा-पालन में जागरूकता आदि विषयों पर उन्होंने अपनी शिक्षाओं में विशेष रूप से बल प्रदान किया।

निर्बल तन, सबल मन

जयाचार्य के शरीर में क्रमशः क्षीणता बढ़ती जा रही थी। बीच-बीच में मूर्छा (मींट) की स्थिति भी आती रहती थी। अन्न की मात्रा बहुत दिनों से स्वल्प और स्वल्पतर होती जा रही थी। भाद्रपद कृष्णा अष्टमी को उन्होंने थोड़ी घाट और थोड़ा दूध लिया। औषध भी ली। नवमी के दिन औषध तथा जल लिया और दशमी को दो मुहूर्त दिन चढ़ने तक चारों आहारों का परित्याग कर दिया। समय की वह सीमा पूरी होने पर साधु-साध्वियों ने कुछ आहार ग्रहण करने का अनुरोध किया। जयाचार्य की इच्छा तो नहीं थी, परन्तु सभी की भावना का आदर करते हुए उन्होंने सवा तोला दूध और उतनी ही बाजरे की घाट ग्रहण की।

मानसिक शक्ति पूर्ववत् प्रबल थी, परन्तु शारीरिक शक्ति का हास उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। आन्तरिक जागरूकता परिपूर्ण थी, परन्तु शरीर की निर्बलता के कारण उपरितन जागरूकता में कमी होती गई। भोजन के पश्चात् प्रहर, दो प्रहर के लिए आहार-परित्याग कर देने का क्रम बहुत लम्बे समय से चल रहा था। अब प्रायः भोजन से विरक्ति ही हो गई। कवल, दो कवल भोजन को भी शरीर जब यथावत् स्वीकार नहीं कर पाता, तब अनावश्यक ही उसे पोष देते रहने का कोई अर्थ नहीं रह गया। क्रमशः बोलने की शक्ति में भी क्षीणता आती गई। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि आचार्यश्री का बाह्य परिवेश सिकुड़ता और क्षीण होता गया जबकि आन्तरिक परिवेश विस्तीर्ण एवं समृद्ध। उनके तन की निर्बलता जितनी स्पष्ट थी उतनी ही मन की सबलता भी।

सागर अनशन

जयाचार्य की शारीरिक क्षीणता इतनी बढ़ गई कि वे स्वयं उठने-बैठने में भी समर्थ नहीं रहे। शिष्य-वर्ग तब विशेष सावधानी से उनकी सेवा में उपस्थित रहने लगा। दशमी की संध्या के समय आचार्यश्री के शरीर की स्थिति अधिक खराब हो गई। आवश्यकता होने पर उन्हें सहारा देकर बैठाया गया। युवाचार्य मध्यवा तथा अन्य अनेक मुनि वहाँ उपस्थित थे। युवाचार्यश्री ने प्रार्थना की—‘गुरुदेव! यदि आप चाहें तो औषध और जल की छूट रखकर आपको सागर अनशन करवा दिया जाए?’ जयाचार्य की बोलने की शक्ति नहीं थी, हुंकार देकर उन्होंने स्वीकृति प्रदान की। युवाचार्यश्री ने अपनी बात को दुहराते हुए पूछा, ताकि उनके सुनने तथा स्वीकृति देने में पूरी सावधानी होने का पता लग जाए। आचार्यश्री ने दूसरी बार भी उसी प्रकार से हुंकार देकर स्वीकृति प्रदान की।

युवाचार्यश्री ने तब उच्च स्वर से बोलते हुए कहा—‘जब तक ऐसी रुग्णावस्था रहेगी तब तक आपको औषध तथा जल के अतिरिक्त शेष सभी प्रकार के आहार का त्याग है।’

एकादशी के दिन शरीर मूल स्थिति पर ही चलता रहा। युवाचार्यश्री तथा अन्य साधु सेवा में बैठे थे। वे आन्तरिक जागरूकता बनाये रखने के लिए बार-बार अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म के शरण की ओर ध्यान आकृष्ट करते, नमस्कार-महामंत्र सुनाते, वेदना में सहिष्णुता बनाये रखने के लिए गजसुकमाल, स्कंदक, मेतार्य आदि मुनियों की स्मृति कराते, परीषहों के सम्मुख भगवान् महावीर की अडिग मनोवृत्ति के उदाहरण प्रस्तुत करते।

साध्वीप्रमुखा गुलाबांजी ने भी समता और समाधि की भावना को प्रबल बनाने में महनीय सहयोग प्रदान किया। आचार्यश्री के परिपाश्व का समग्र वातावरण मंगल भावना की सुगन्ध से भरा हुआ था।

जन-आगमन

अनशन की बात ज्योही नगर में फैली त्यों ही दर्शनार्थियों का तांता लग गया। बाहर के यात्रियों का आगमन तो श्रावण से ही प्रारम्भ था। थली, मारवाड़ और मेवाड़ के सैकड़ों व्यक्तियों ने दर्शन-लाभ प्राप्त किया था, परन्तु उस अवसर पर दर्शनार्थियों का वह प्रवाह और अधिक तेज हो गया। जैन तथा अजैन—सभी लोग आते और अपनी दर्शन-पिपासा को शांत करते। वहाँ के वातावरण को शांत रखने के लिए एक साथ अधिक व्यक्तियों को एकत्रित नहीं होने दिया जाता था। जनता एक प्रकार से उनके अन्तिम दर्शनों के लिए उमड़ रही थी। कोई कह रहा था—‘आप जैन धर्म के सूर्य हैं।’ कोई कहता—‘ऐसे प्रभावक आचार्य शताब्दियों के पश्चात् ही हो पाते हैं।’ कोई उन्हें योगीराज कह रहा था तो कोई ज्योतिर्धर, ईश्वर-स्वरूप एवं अवतार। लोगों की आन्तरिक श्रद्धा के स्वर विभिन्न रूपों में प्रस्फुटित हो रहे थे।

पूर्ण अनशन

राजगढ़-निवासी श्रावक भीमराजजी पारख उन दिनों सेवा के निमित्त वहाँ आये हुए थे। वे नाड़ी के अच्छे जानकार थे। द्वादशी के दिन मध्याह्न में जब उन्होंने जयाचार्य की

नाड़ी देखी तो युवाचार्य मघवा से प्रार्थना की—‘अब आजीवन अनशन कराने का उचित अवसर आ गया है। नाड़ी का बल बहुत क्षीण हो चुका है, अतः यह शरीर अब अधिक नहीं टिक पायेगा।’ युवाचार्यश्री तथा प्रमुख साधुओं और गृहस्थों ने भी शरीर की स्थिति को देखते हुए संथारे की बात को समयानुकूल ही माना।

आचार्यश्री संतों का सहयोग लेकर विराजमान हुए, उस समय युवाचार्यश्री ने प्रार्थना की—‘गुरुदेव! शरीर की स्थिति उत्तरोत्तर विषम होती जा रही है। यदि आप उचित समझें तो आपको आजीवन तिविहार अनशन करा दिया जाए।’ उस समय उनमें बोलने की शक्ति तो थी नहीं, पर कहीं गई बात पर साधारणतया पूरा ध्यान दे सकने की स्थिति भी नहीं थी। इसलिए दो-तीन बार जोर से दुहराने पर ही वे उस कथन को पकड़ पाये। तत्काल स्वीकृति-सूचक सिर हिलाते हुए उन्होंने अनशन की भावना व्यक्त की। युवाचार्यश्री ने तब ग्यारह बजकर पच्चीस मिनट पर उन्हें तिविहार अनशन करा दिया।

उसी दिन सायंकाल के समय लगभग सवा घंटा दिन अवशिष्ट था, उनके शरीर की स्थिति अधिक खराब हो गई। युवाचार्यश्री ने तब चारों आहारों का प्रत्याख्यान करा दिया। अन्तिम क्षण तक पूर्ण आन्तरिक जागरूकता बनी रहे, इसलिए युवाचार्यश्री आदि सभी व्यक्ति तदनुकूल नियोजन में सावधान थे। नमस्कार महामंत्र और चतुःशरण सुनाये जा रहे थे। समग्र वातावरण समाधि को सहयोग देने वाला और मंगल-भावना से सुवासित था।

देह-परित्याग

पूर्ण अनशन करा देने के थोड़े समय पश्चात् ही आचार्यश्री को अचानक दो-तीन हिंचकियां आईं। उन्होंने सहसा अपनी आंखें खोलीं और उसी अवस्था में देह-परित्याग कर दिया। इस प्रकार सं. 1938 भाद्रपद कृष्ण द्वादशी के सायंकाल में तेरापंथ के एक तेजस्वी और युग-प्रवर्तक आचार्य का देहावसान हो गया। भारतीय संत-परंपरा के उस तेजोमय नक्षत्र के प्रकाश-पुंज से विश्व सहसा ही वंचित हो गया।

युवाचार्यश्री तथा मुनिजन लगभग आधे घंटे तक दिवंगत आत्मा के शरीर के समीप शांतभाव से बैठे रहे। उस अवधि में प्राण-स्पन्दन का कोई लक्षण दिखाई नहीं दिया तब प्राण-मुक्त शरीर का विसर्जन कर दिया। श्रावकगण ने शरीर को अपने अधिकार में ले लिया।

युवाचार्यश्री तथा समग्र संघ ने दिवंगत आत्मा के प्रति कल्याण-भावना के लिए चार ‘लोगस्स’ का ध्यान दिया।

दाह-संस्कार

जयाचार्य दिवंगत हुए उस समय दिन प्रायः समाप्ति की ओर ही जा रहा था। श्रावकगण द्वारा त्रयोदशी के दिन दाह-संस्कार की क्रिया सम्पन्न करने का निश्चय किया गया। रात को घनघोर वर्षा हुई। प्रातःकाल के समय भी आकाश में काले बादल छाए हुए थे। बूँदा-बांदी चालू थी। लोग चिन्तातुर थे कि वर्षा कहीं कार्यक्रम में विघ्न उपस्थित न

514 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
कर दे। परन्तु जब शरीर का प्रक्षालन आदि प्रारंभ किया गया तब से वर्षा बन्द हो गई।
शीघ्र ही आकाश निरप्र हो गया और धूप निकल आई।

जयपुर राज्य में उस समय राज-परिवार के अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति के शव को बैठे निकालने की राजाज्ञा नहीं थी। अजमेरी दरवाजे से भी किसी शव को नहीं ले जाया जा सकता था। श्रावकवर्ग ने दोनों कार्यों के लिए राज्य से विशेष आज्ञा प्राप्त की। वैकुंठी का निर्माण भाद्रपद कृष्णा द्वितीया को ही प्रारंभ कर दिया गया था। उसकी गुमटियों पर इक्यावन कलश लगे थे। राज्य की ओर से शव-यात्रा के समय हाथी, घोड़े, सिपाही और नगाड़े-निसाण आदि का लवाजमा प्रदान किया गया था। इस कार्य को सम्पन्न करवाने में जोधपुर-निवासी श्रावक बहादुरमलजी भण्डारी का श्रम प्रमुख था। वे स्वयं उच्च राज्याधिकारी थे। उन्होंने बहुत पहले से ही जयपुर के अधिकारियों से स्वयं पत्र-व्यवहार प्रारंभ कर दिया था। मारवाड़ के अन्य अनेक प्रभावशाली अधिकारियों से भी उन्होंने पत्र दिलवाये। उनमें पोकरण-ठाकुर साहब के कामदार तथा कुचामन-ठाकुर साहब राव बहादुर केसरसिंहजी प्रमुख थे। उनके पत्र जयपुर में ठाकुर गोविन्दजी तथा रावल साहब के नाम भिजवाये गये थे। उनके अतिरिक्त लाला भैरूलालजी की पत्नी का श्रम भी उल्लेखनीय था। लालाजी का देहांत हुए बारह दिन ही हुए थे, फिर भी चालू शोक-परंपरा को तोड़कर वे राजमाता से मिलीं और कार्य को तत्काल सम्पन्न करवाने के लिए उनका सहयोग प्राप्त किया।

स्थानीय रूप में उक्त कार्य की देख-भाल भूरामजी पटोलिया कर रहे थे। वे जयाचार्य के अत्यन्त भक्त श्रावकों में से थे। वे अपने समय के अनेक भाषाविद् विद्वान् होने के साथ-साथ उच्च राज्याधिकारी भी थे। लवाजमे से संबंधित सभी आज्ञापत्र उन्होंने के नाम से प्राप्त हुए। उन्होंने उसी समय उन सबका 'स्याहा' बनवा लिया। उससे वे सब राजाज्ञाएं पुनरावर्तनीय कोटि की हो गई।¹

जुलूस में हजारों-हजारों व्यक्ति सम्मिलित थे। जैन-अजैन सभी के लिए जयाचार्य श्रद्धा-भाजन थे। कहा जाता है कि वैसा जुलूस या तो एक वर्ष पूर्व जयपुर-नरेश सर्वाई रामसिंहजी की शव यात्रा का निकला था या फिर उस समय जयाचार्य का।² जुलूस जौहरी बाजार से त्रिपोलिया, किशनपोल और अजमेरी दरवाजे होकर नवनिर्मित रामनिवास बाग के पार्श्ववर्ती सरदारमलजी लूणिया के बाग में पहुंचा। वहां दाह-संस्कार की क्रिया सम्पन्न की गई।

-
1. राजाज्ञा की उक्त पुनरावर्तनीयता के आधार पर ही सं. 1970 में मुनि फूसराजजी तथा सं. 1996 में मुनि पूनमचंदजी के दिवंगत होने पर लवाजमा प्राप्त करने की सुविधा काम में ली गई थी।
 2. वैकुंठी और जुलूस का पूरा विवरण उसी समय जयपुर से अपने परिजनों को भेजे गये एक पत्र में उदयपुर-निवासी किशोरीदासजी धूपिया द्वारा लिखा गया था। वह ऐतिहासिक पत्र 'किशोरीदासजी धूपिया का पत्र' शीर्षक से परिशिष्ट में देखें।

चमत्कारी स्मारक

चन्दन का वृक्ष

जयाचार्य के स्मृति-स्वरूप दाह-संस्कार के स्थान पर उसी समय एक चबूतरा बना दिया गया। उस पर चरण-चिह्नों की एक चौकी लगा दी गई। वह स्मारक अपने प्रारम्भ-काल से ही चमत्कारों का स्थान रहा है। लोगों ने प्रथम चमत्कार तो यह देखा कि चबूतरे के निकट एक चंदन का वृक्ष स्वतः ही उग आया। वह लगभग तीस वर्षों तक वृद्धिंगत होता रहा। उसके पश्चात् वह अपने आप ही सूख गया तब काट लिया गया। कहा जाता है कि उद्यान के स्वामी सरदारमलजी लूणिया का दाह-संस्कार उसी वृक्ष के चन्दन से किया गया था। उस वृक्ष का अवशिष्ट एक 'बोटा' आज भी उनके पारिवारिकों के पास स्मृतिस्वरूप विद्यमान है।

प्रत्यक्ष-दर्शन

जयाचार्य के दिवंगत होने के लगभग 55 वर्ष पश्चात् की घटना है। जानकार लोगों का कहना है, उन दिनों लूणियाजी के बाग के मकान में तत्कालीन जयपुर-राज्य के हिसाब-महकमा के एक अफसर विष्णुदयालजी कायस्थ किरायेदार थे। उनके बालक उद्यान में धमा-चौकड़ी मचाते रहते थे। एक बार वे समाधि के चबूतरे पर गन्दगी फैला आए। उसी दिन वे सब एक साथ ही रुण हो गये। अनेक दिनों तक चिकित्सा करवाने पर भी वे निरोग नहीं हुए। सभी बालकों की एक साथ रुणता के कारण विष्णुदयालजी बहुत चिंतित रहने लगे।

एक दिन रात्रि के समय चबूतरे के पास उन्हें जयाचार्य के साक्षात् दर्शन हुए। आश्चर्यचकित वे दूसरे ही दिन उद्यान के स्वामी लूणियाजी के पास गये और सारा वृत्तांत उन्हें सुनाया। लूणियाजी ने तब उन्हें जयाचार्य के विषय में पूरा परिचय कराया। उसी दिन से वे उनके प्रति श्रद्धालु बन गये। तभी से उनके बालक स्वस्थ होने लगे। स्वप्न में उन्हें बालकों द्वारा चबूतरे को गन्दा न होने देने का संकेत भी मिला। फिर तो वे जितने दिन बाग में रहे, चबूतरे की सफाई और रख-रखाव का विशेष ध्यान रखते रहे।

कहा जाता है कि उद्यान के माली ने रात्रि के समय चबूतरे के पास अनेक बार किसी श्वेतवस्त्र-धारी दिव्य पुरुष को देखा था। समय-समय पर अन्य भी अनेक

516 तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक ■ पंचम परिच्छेद
व्यक्तियों ने वहां किसी विचित्र प्रकाश-पुंज के दर्शन किये हैं। जयाचार्य को दिवंगत हुए एक शताब्दी से भी अधिक समय व्यतीत हो चुका है, फिर भी उनके समाधिस्थल का आकर्षण पूर्ववत् बना हुआ है। न केवल जैन व्यक्ति ही, अजैन भी उसके प्रति श्रद्धा रखते हैं। तेरापंथ भावस्मृति में ही विश्वास करता है, परन्तु अन्य लोग वहां धूप-दीप और पुष्पार्पण भी करते हैं।

उद्यान का अधिग्रहण

जयाचार्य दिवंगत हुए उस समय रामनिवास बाग के निर्माण को पांच-सात वर्ष ही हुए थे। सरदारमलजी लूणिया का बाग, जिसमें जयाचार्य का स्मारक बना हुआ है, उससे बिलकुल सटा हुआ ही था।

कालान्तर में तत्कालीन जयपुर राज्य के दीवान जब मिर्जा इस्माइल थे तब नगर को अधिक सुन्दर बनाने की योजना बनी। अनेक नई सड़कें निकाली गईं। बीच में पड़ने वाले मकानों को तो तोड़ा ही गया, अनेक प्राचीन स्मारकों को भी भूमिसात् कर दिया गया। उस समय रामनिवास बाग का भी विस्तार किया गया। उसमें बने संग्रहालय (म्यूजियम) भवन के पीछे तथा पार्श्व में भी सड़कें निकालने का निश्चय किया गया तब लूणियाजी के बाग का अधिग्रहण कर, उसे रामनिवास बाग में आत्मसात् कर लिया गया। जयाचार्य का स्मारक तब से रामनिवास बाग का अंग हो गया।

धरती बदल गई

संग्रहालय-भवन के दक्षिण पार्श्व में म्यूजियम मार्ग नाम से एक सड़क बनाकर मोती ढूंगरी रोड में मिलाई जानी थी। वह चांकी गई तब जयाचार्य के चबूतरे को तोड़ना आवश्यक हो गया। भूमि के माप में चबूतरे का तृतीयांश सड़क में पड़ता था, अतः उसे चिह्नित कर दिया और तद्विषयक सूचना निकाल दी गई।

जयपुर के श्रावक-समाज के लिए यह कार्य अत्यन्त अप्रिय था। अपनी ऐतिहासिक सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए वे प्रयत्नशील बने। अभियन्ता से लेकर दीवान तक मिले, परन्तु परिणाम में 'वही ढाक के तीन पात' रहे। निर्णीत योजना में स्वल्प-से परिवर्तन के लिए भी कोई तैयार नहीं हुआ। जयपुर से बाहर भी तेरापंथ समाज में वह स्थिति सर्वत्र चर्चा का विषय बनी। आचार्यश्री तुलसी उस समय गंगाशहर में सं. 2000 का चातुर्मासिक प्रवास कर रहे थे। वहां भी काफी विचार-विमर्श हुआ। सुप्रसिद्ध सेठ ईसरचंदजी चोपड़ा ने तब एक बार पुनः जयपुर में प्रयास करने का निश्चय किया। उन्होंने अपने भतीजे तिलोकचंदजी चोपड़ा आदि कई व्यक्तियों को जयपुर भेजा। ईसरचन्दजी का प्रभाव बीकानेर राज्य में भरपूर था। नरेश गंगासिंहजी उन्हें बहुत आदर दिया करते थे। उन्होंने तिलोकचंदजी चोपड़ा आदि के जयपुर पहुंचने का संवाद बीकानेर राज्य की ओर से जयपुर राज्य को भिजवाया। स्वभावतः ही तब उन्हें सरकारी अतिथि माना गया और सरकारी अतिथिगृह में ही ठहराया गया।

वे लोग पहले सहायक अभियन्ता और फिर मुख्य अभियन्ता से मिले, परन्तु कहीं से भी कार्य बनने योग्य कोई मार्ग नहीं निकल पाया। अन्ततः वे दीवान मिर्जा इस्माइल से मिले। उन्होंने वहां अपनी आवश्यकता और स्थिति बतलाई तो मिर्जा ने भी अपनी विवशता व्यक्त करते हुए कहा—‘एक के लिए छूट देने का अर्थ होगा सौ-सौ को छूट मांगने के लिए निमंत्रण देना। आप जो मांग कर रहे हैं, अन्य स्मारकों वाले भी वही मांग करने लगेंगे। इसलिए इस विषय में मैं कोई सिर-दर्द मोल लेना नहीं चाहता।’ घंटेभर की अनिर्णायिक बातचीत के पश्चात् अचानक तिलोकचन्द्रजी के मस्तिष्क में एक विचार कौंधा। उन्होंने कहा—‘आप एक बार चलकर मौका तो देख लीजिए, स्यात् कोई मार्ग निकल आये।’ मिर्जा ने उनके मनस्तोष के लिए उस सुझाव को स्वीकार कर लिया और आवश्यक स्थानों पर सूचनाएं भेज दीं।

दूसरे दिन प्रातः से ही भूमि की माप-जोख करने वालों की भागदौड़ प्रारम्भ हो गई। फीतों से भूमि माप कर उस पर पुनः आवश्यक चिह्न लगाये गये। नक्शों में निर्दिष्ट सभी-कुछ पूर्ववत् मिलता जा रहा था, परन्तु अभियन्ता तब चकित हो गये जब जयाचार्य के चबूतरे के पास की भूमि को मापा गया। नक्शे में चबूतरे का तृतीयांश सड़क की सीमा में दिखाया गया था जबकि अब प्रत्यक्ष माप में वह सड़क से लगभग चार फुट दूर आ रहा था। कई बार मापा गया, नक्शे मिलाये गये, परन्तु अन्य सब ठीक होने पर भी वह पूर्ववत् ठीक नहीं बैठ रहा था। मुख्य अभियन्ता को सूचना भेजी गई तो वे भी आगे आये। एक बार फिर माप-जोख हुई। चूने की सफेद लाइनों से रामनिवास बाग का वह भाग भर दिया गया, परन्तु गलती कहां हो रही थी, उसका फिर भी कोई पता नहीं चल पाया।

थोड़ी देर पश्चात् ही मिर्जासाहब और तिलोकचन्द्रजी आदि भी वहां पहुंच गए। वे ज्योंही गाड़ी से उतरे मुख्य अभियन्ता हाथ में नक्शे लिए हुए आये और कहने लगे—‘साहब! धरती ही पलट गई लगती है। चबूतरा सड़क में न आकर चार फूट दूर आ रहा है।’ मिर्जासाहब ने अपने सामने फिर जांच करवाई। चबूतरा सड़क से दूर ही सिद्ध हुआ।

तिलोकचन्द्रजी ने अवसर का लाभ उठाते हुए कहा—‘साहब! यही तो चमत्कार है। यह चबूतरा जिनकी स्मृति में बना है, वे एक बहुत बड़े संत थे। जयपुर नरेश रामसिंहजी भी उनकी उपासना में आया करते थे। उनकी शव-यात्रा में सरकारी लवाजमा आया था। बैकुंठी में बिठा कर ले जाने तथा अजमेरी दरवाजे से ले जाने की भी विशेष राजाज्ञा प्राप्त हुई थी। उस समय उनके लाखों भक्त उनके चरणों में झुकते थे तो आज भी हम लाखों भक्त उनके नाम का स्मरण करते हैं। उनका चमत्कार आज आप प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं कि मापी-जोखी धरती में भी अन्तर आ गया।’

मिर्जासाहब ने कहा—‘यह तो अजीब बात है मिस्टर चोपड़ा! हमारे अभियन्ता भी इसका रहस्य नहीं समझ पा रहे हैं।’ मिर्जासाहब ने तब जूते उतार, हाथ जोड़े और चबूतरे के सम्मुख झुककर नमस्कार किया। तिलोकचन्द्रजी की ओर उन्मुख होते हुए उन्होंने कहा—‘मिस्टर चोपड़ा! एक काम करें, हम एक नक्शा बनाकर देंगे, आप लोग उसी के

कालान्तर में नक्शा बनकर आया। उस समय उस पर 30 हजार रुपये व्यय होने का अनुमान था। ईसरचन्द्रजी चोपड़ा ने चाहा कि यह कार्य उन्हें करने दिया जाए। परन्तु जयपुर के तेरापंथी समाज ने उस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। वे उसे स्थानीय व्यय से ही बनाना चाहते थे। कई वर्षों तक वह कार्य वहीं रुका पड़ा रहा। संवत् 2006 में चबूतरे पर संगमरमर की छत्री का निर्माण हुआ। संवत् 2025 में उसका नवीनीकरण किया गया। तब चबूतरे के चारों ओर संगमरमर के आठ शिलापट्ट लगाये गये। उन पर जयाचार्य की जीवनी तथा शिक्षाओं से सम्बद्ध सामग्री उत्कीर्ण है। सुरक्षा के लिए छत्री के चारों ओर लोहे की छड़ों का घेरा बना हुआ है।

ज्ञातव्य विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

1. जन्म	संवत् 1860 आश्विन शुक्ला चतुर्दशी
2. दीक्षा	संवत् 1869 माघ कृष्णा सप्तमी
3. अग्रणी	संवत् 1881 पौष शुक्ला तृतीया
4. युवाचार्य-पद	संवत् 1894 आषाढ़ (श्रावणादि 1893)
5. आचार्य-पद	संवत् 1908 माघ पूर्णिमा
6. स्वर्गवास	संवत् 1938 भाद्रपद कृष्णा द्वादशी

महत्त्वपूर्ण स्थान

1. जन्म-स्थान	रोयट
2. दीक्षा-स्थान	जयपुर
3. अग्रणी-स्थान	पाली
4. युवाचार्य-पद-स्थान	नाथद्वारा
5. आचार्य-पद-स्थान	बीदासर
6. स्वर्गवास-स्थान	जयपुर

आयुष्य विवरण

1. गृहस्थ	9 वर्ष
2. साधारण साधु	12 वर्ष
3. अग्रणी	12 वर्ष
4. युवाचार्य	15 वर्ष
5. आचार्य	30 वर्ष
6. सर्व आयु	78 वर्ष

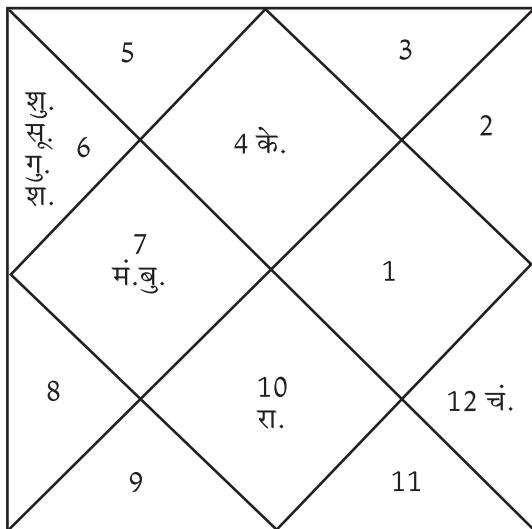
जन्म-कुंडली

जयाचार्य की जन्म-कुंडली का विवरण स्वयं जयाचार्य की कृति 'सरूप नवरसो' में इस प्रकार उल्लिखित है :

अष्टादश साठै समय, सुदि आसोज सुलेह
चतुर्दशी निशि जीतनूं जन्म कर्क लग्नेह

तन भवने केतु रह्यो, नवमे शशि लग्नेश
 तीजे रवि शनि भृगु गुरु-शशि वर दृष्टि अशेष
 चतुर्थे मंगल बुद्ध फुन, राहू सप्तम गेह
 नेष्ठ थकी ए कुंडली, देखी तिमज कहेह¹

इसके अनुसार उनकी जन्म-कुंडली की ग्रह स्थिति का अंकन इस प्रकार होता है :



विहार क्षेत्र

जयाचार्य के विहार-क्षेत्र में राजस्थान के तत्कालीन राज्य थली, मारवाड़, मेवाड़, ढूंढाड़ और हाड़ोती आदि तो थे ही, उनके अतिरिक्त मालव, गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ, हरियाणा और दिल्ली को भी उन्होंने अपना विहार-क्षेत्र बनाया।

चातुर्मासिक प्रवास

जयाचार्य ने प्रथम बारह चतुर्मास साधारण साधु की अवस्था में मुनि हेमराजजी के साथ किये। उसके पश्चात् तेरह चतुर्मास अग्रणी अवस्था में किये। उनमें से एक चतुर्मास सं. 1884 का पेटलावद ऋषिराय की सेवा में और शेष बारह स्वतंत्र किये। तत्पश्चात् चौदह चतुर्मास युवाचार्य-अवस्था में किये। उनमें से सं. 1899 का ऋषिराय के साथ बीदासर में, सं. 1903 का मुनि हेमराजजी के साथ नाथद्वारा में और सं. 1907 तथा 8 के दो चतुर्मास मुनि सरूपचंदंजी के साथ क्रमशः बीकानेर और बीदासर में किये। शेष दस चतुर्मास स्वतंत्र किये। आचार्य-अवस्था में उन्होंने तीस चतुर्मास किये। इस प्रकार उन्होंने सब उनहतर चतुर्मास तेरहस ग्रामों में सम्पन्न किये। उनका पृथक्-पृथक् विवरण निम्न प्रकार से है :

1. सरूप नवरसो 1। दोहा 4-6।

मुनि हेमराजजी के साथ के बारह चतुर्मास

स्थान	चतुर्मास संख्या	संवत्
इन्द्रगढ़ (हाड़ोती में)	1	1870
पाली	3	1871, 75, 80
कंटालिया	1	1872
सिरियारी	1	1873
गोगूदा	1	1874
देवगढ़	1	1876
उदयपुर	1	1877
आमेट	1	1878
पींपाड़	1	1879
जयपुर	1	1881

अग्रणी-अवस्था के तेरह चतुर्मास

उदयपुर	1	1882
नाथद्वारा	1	1883
पेटलावद	1	1884 (ऋषिराय के साथ)
जयपुर	1	1885
जोधपुर	1	1886
चूरू	1	1887
बीकानेर	2	1888,93
दिल्ली	1	1889
बालोतरा	1	1890
फलोदी	1	1891
लाडनूं	1	1892
पाली	1	1894

युवाचार्य-अवस्था के चौदह चतुर्मास

लाडनूं	2	1895,1900
चूरू	1	1896
उदयपुर	2	1897,1905
जयपुर	3	1898,1901,4
बीदासर	2	1899 (ऋषिराय के साथ), 1908
किशनगढ़	1	1902
नाथद्वारा	1	1903 (मुनि हेमराजजी के साथ)
बीकानेर	2	1906,7

आचार्य-अवस्था के तीस चतुर्मास

स्थान	चतुर्मास संख्या	संवत्
जयपुर	4	1909, 28, 37, 38
नाथद्वारा	1	1910
रतलाम	1	1911
उदयपुर	1	1912
पाली	2	1913, 22
बीदासर	8	1914, 17, 23, 26 29, 30, 35, 36
लाडनूँ	6	1915, 18, 27, 32, 33, 34
सुजानगढ़	4	1916, 19, 24, 31
चूरू	1	1920
जोधपुर	2	1921, 25

सत्रह मर्यादा-महोत्सव

मर्यादा-महोत्सव की स्थापना जयाचार्य ने सं. 1921 में की। तब से यह प्रतिवर्ष मनाया जाने लगा। जयाचार्य ने अपने समय में छह स्थानों पर सत्रह मर्यादा-महोत्सव मनाये। उनकी तालिका इस प्रकार है :

स्थान	महोत्सव संख्या	संवत्
बालोतरा	1	1921
कंटालिया	1	1922
बीदासर	9	1923, 26, 27, 29, 30, 31, 32, 33, 35
सुजानगढ़	1	1924
लाडनूँ	3	1925, 34, 36
जयपुर	2	1928, 37

शिष्य-सम्पदा

जयाचार्य पदासीन हुए उस समय धर्मसंघ में 67 साधु (भा. 15+रा. 52=67) तथा 143 साध्वियां (भा. 11+रा. 132=143) विद्यमान थीं।

जयाचार्य के शासन-काल में 329 दीक्षाएं हुईं। उनमें 105 साधु और 224 साध्वियां थीं।

उनके शासन-काल में 68 साधु (भा. 15+रा. 30+ज. 23=68) तथा 151 साध्वियां (भा. 10+रा. 98+ज. 43=151) दिवंगत हुईं।

उनके युग में 33 साधु (रा. 10+ज. 23=33) तथा 11 साध्वियां (रा. 2+ज. 9=11) गण से पृथक् हुईं।

जयाचार्य दिवंगत हुए उस समय 71 साधु (रा. 12+ज. 59=71) तथा 205 साध्वियां (भा. 1+रा. 32+ज. 172=205) धर्मसंघ में विद्यमान थीं।

परिशिष्ट 1

किशोरीदासजी धूपिया का पत्र

जोग लिखी सवाई जैपुर से ताराचंद ढीलीवाल चित्तौड़ वाला तथा किसोरीदास धूपिया श्री उदयपुर वाला का धर्म स्नेह बंचस्यो। इठै का समाचार श्री पूज्य भगवान रा तेज प्रताप स्यूं भलेरा छै राज का सदा भला चाहिजै। उपरंच श्री श्री 1008 श्री मघराजजी महाराज ठाणा सतरा सूं महासत्यांजी महाराज श्री 108 श्री गुलाबकुंवरजी महाराज ठाणा 35 जूमलें ठाणा 52 सूं विराजे छै। गाढ़ी सुखसाता छै। दिशावरां का जात्री आवै छै। दर्शण कर महासुख पावे छै। चोथा आरा की रचना श्री जिनराज जों छटा छवि छाय रही छै। और अठे श्री पूज्यजी महाराज श्री 1008 श्री जीतमलजी महाराज रा शरीर में कारण छो सो भादवा बदी 10 सें सागारी संथारो करायो। और बुधवार सूं दोपहर तिविहार संथारो किधो और दिन घड़ी दोय रहतां जावजीव चोविहार संथारो हुयो। सो दिन बदतां सकल कारज सिद्ध कर सेज्या संथारो शरीर छोड़ घणा सुख देवलोक में जाय विराजमान हुवा।

खेद भादवा बदी 2 उपजी, जीं दिन थी विमाणा बणावा लागा। और शहर में हजारां मनुष्य दिन प्रति श्री जी का दर्शण करबा लागा सर्व जात का। महोत्सव के वास्ते लवाजमा के ताँई पोहकरन के ठाकुरां का कामदार को वा कुचामन का ठाकुर राव बहादुर केसरीसिंहजी का कागद ठाकुर साहब गोविन्दसिंहजी वा रावलजी साहब का नाम का भण्डारीजी बहादुरमलजी लिखाकर भेजा। तिस पर से लवाजमां का हुकम हुवा। बेठा निकालना और अजमेरी दरवाजे की परवानगी हो गई, सो विमान बारा तिबारां को, जीं उपर बीच में तो गुमठ, चोतरफो तोरण। जीं पर सोने रुपे रा वा गंगा-जमुनी कलस 51, कुल तुरा पत्ताका, गुमठ उपर सोनेरो तुरों, जीं उपर कलस, जीं उपर रुपेरो तुरों। तिबारां में सिंहासन के सोनेरी जरी।

बाहरली तरफ सोनेरी जरी से मंडयो हुवो। और छतबन्धी हरया पारचा स्यूं गुमठ हरी साटण। सुनहरी गोटा की लहर्यां और लप्पो गोटो चाहे जठे बारां ही तिबारां के छजा के सिंहासन के फिरनी। विमान की बाहरली तरफ किरण रुपहरी, सनमुख तिबारां के छाजा सांचा मोतियां की लड्यां, और छत-बंधी सिंहासन पर मोतियां की लड़। चंदवे गंगा जमुनी बादलां की फूंटद्यां। सूरजमुखी चार चांदी की। वार्यां के साइवान के, चांदी की सूर्जमुखी दो, और सोनेरी गोटे का डंडिया लगी हुई। साचा मोत्यां रो तिलक। सोने री जड़ाड मुख-वस्त्रिका।

लवाजमां माहे हाथी दोय एक पर तो निशान, दूसरो होदे को, जी में सोने-रुपे रा फूल। कलदार रुपइया उण होदा में सूं उछाल करता हुता। छड्यां-दोय, घोटा दोय चांदी का, घोड़ा 13 कोतल, नगारा निशाण का घोड़ा, चिराग 20, तिलंगान की पलटण का पहरा-4, कोटवाली का जवान 10, ढलेत दोय, साठमार सात, हलकारा 5, पूलीस का जवान 5, बाजा 5 प्रकार नां मुँडै आगै नृत्य करता, दोय तरफ चमर करता, जय-जय शब्द करता, सिरे बाजार तिरपोलिया के आगे होकर विमान में बैठा हुवा हजारां मिनखां रा ठाट स्यूं अजमेरी दरवाजे होयकर सरदारमलजी लूणिया रा बाग में, चंदन अगर तगर केसर कस्तूरी कपूर घृत में काया को संस्कार

कियो। रूपइया हजारां ही विमान के सिर लागा और हजारां इ उछाल में लागा। सागी जिनराज के देव-मनुष्य उच्छव करै उणी चाल की छवी स्थूं ओच्छव हुवो। सो स्वमती अन्यमती सब इचरज पाया। जिन शासन को उद्योत घणो अधिको दिख्यो। लोक गुण-ग्राम करता बोल्या—इसो ओच्छव आगे हुवो नहीं। एसा जोगीश्वर हजारां कोसां में देख्या नहीं, सुण्या नहीं। इसो हगामो तो हजारां कोसां में देख्यो सुण्यो नहीं। ऐ तो अमर है। हजारां मिनखाँ रै दैखवा वास्तै किधो है। जीसा पुरुष जीं काम उठ्या बो कारज सिद्ध कर पण्डित-मरण आराधक पद पाय देवलोक में जाय विराजमान हुवा। और ई भरत क्षेत्र में सूरज समान था। अवतारी पुरुष श्रुतकेवली पूज्य भगवान् जिस्या जिन शासन का पातशाह जिसा हा।

हिवै पूज्य भगवान् महाराजाधिराज श्री 1008 श्री मघराजजी महाराज च्यार तीर्थ के माथे नाथ ज्यों का त्यों बण रह्या है। अहो च्यार तीर्थ का भाग सो एसा चेलां-गुरां का सकल कारज सिद्ध कीधा। और च्यार तीर्थ की आसा पूर्ण में कल्पवृक्ष चिंतामणि कामधेनू समान।

महागुरुणीजी श्री 108 श्री गुलाबकंवरजी सूरतरु समान। यों जिन शासन में अधिक-अधिक गुण आगला संत सत्यां। एसा ही शुभ नीति श्रावक-श्राविका। इन शासन की कोटी जिह्वा कर वर्णन में पार आवें नहिं।

श्रावक ताराचन्दजी ढीलीवाल रुपिया 500/- पानां में मांड्या। रु. 525/- मेल्या। और सिवाय शाल जोड़ा देय, एक सफेद श्री जी नैं धारण करायो। दूसरो सूख नीचे बिछायो। कीमत रु. अढाई सो-तीन सो। चद्वर रुपहरी आसावरी। जातरी सत्ताईस गावां का हजारां कोशा का आया। ज्यांरी भूरामलजी पटोलिया सिरदारमलजी लूणिया आदि देई श्रावक जिन शासन के उद्योत में अन्तरंग प्रीत स्थूं महनत करी। मिति भादवा बदी 13 सं. 1938 शुभम्।

भादवा सुदि 2 को शुक्रवार श्री हजूर साहब साढे ग्यारह बजे पाट विराज्या। च्यार तीर्थ का थाट, 27 गावां का जातरी हजार-हजार कोशां का हाजर। रु. पनरै से आसरे खरचाना, दूसाला पागां थान रुपिया प्रदेशां सु दीयां। फेर धर्म सभा की। दीक्षा देण हवेली कै पास ठंडेरा का कूवां हैं जठे श्री महादेवजी का मंदिर जहां वट वृक्ष के हेठे दीक्षा उचराइ हरियाना देश का भाया हरदयालजी अग्रवाल हा जाने दीक्षा पचकाई। पाछा हवेली में पधार्या। धर्म देसना दीधी। सागी जिनराज के देव मनुष्य ओच्छव करै वैसी छटा देख स्वमती अन्यमती चकित पाया।

श्री जी गोचरी उठ्या। पहिलां हमारे डेरे पधार्या। यूं ही प्रकार स्थूं श्री महासतियांजी पिण पगल्या कीधा। सन्त सत्यां कै वृन्द स्थूं। श्री हजूर अमृत स्थूं वृष्टि करके बारा ही व्रत सागै निंपना। जीं रो आनन्द अंग में नहिं समायो। कीर्ति श्री मघराजजी की। मिति भादवा सुदि 2, सं. 1938। वैद्यराज किसोरीदास धूपिया उदयपुर वाला।

परिशिष्ट 2

व्यक्ति नामानुक्रम

- | | |
|---|--|
| अखैरामजी (मुनि) 144, 175, 176,
208, 209 | इन्द्रभूति 4
ईंसरचन्दजी चोपडा 516, 518 |
| अजबांजी (साध्वी) 209 | ईंसरजी (मुनि) 314, 316, 352, 353,
507 |
| अजबूजी (साध्वी) 92, 102, 281, 322,
325-327 | उगराजी (स्था. आ.) 263 |
| अजित 2 | उग्रचन्दजी भण्डारी 341 |
| अणदोजी पटवा 114 | उत्तमचंदजी बैंगानी 314, 452 |
| अनन्तरामजी दीवान 455, 456 | उत्तमोजी ईरानी 141 |
| अनूपजी (मुनि) 457 | उदयचन्दजी (मुनि) 355 |
| अनोपचन्दजी (मुनि) 479 | उदयभानजी (स्था. मु.) 60 |
| अभयदेव सूरि 8, 480, 481, 483 | उदयराजजी (तपस्वी) 438 |
| अभयसिंहजी (जोधपुर नरेश) 30 | उदयरामजी (मुनि) 213, 352 |
| अभिमन्यु 105 | उदेचन्दजी (तपस्वी) 343 |
| अमरसिंहजी (स्था. आ.) 150, 169,
183, 263 | उरजोजी (स्था. मु.) 149 |
| अमीचन्दजी (मुनि) 310, 408 | ऋषभदासजी तलेसरा 365, 384 |
| अमीरखां पिंडारी 214 | ऋषभदासजी मोदी 363, 364 |
| अमृतचन्द्र (आचार्य) 14 | ऋषभनाथ 1, 2 |
| अमृतांजी (साध्वी) 395 | ऋषिरामजी (टा.) 208 |
| अरिष्टनेमि 2 | ओटोजी 209 |
| अश्वसेन 3 | औरंगजेब 16 |
| आईदानजी 322-324 | कंकूजी (साध्वी) 395 |
| आचार्य क्षितिमोहनसेन 13 | कचरोजी (स्था. मु.) 122, 123 |
| आचार्यश्री तुलसी 27, 227, 516 | कफूजी (मुनि) 31, 174, 175, 412, 413 |
| आनन्द 4, 216 | कर्मचन्दजी (मुनि) 316, 337, 338, 356,
479 |
| आनन्द भाई 448, 449 | कल्लूजी (साध्वी) 265, 322-327, 425 |
| आनन्दिल (आचार्य) 8 | कस्तूरजी (मुनि) 412, 414, 416 |
| आर्यरक्षित (आचार्य) 6 | कस्तूरांजी (साध्वी) 396 |
| आर्यवज्र (आचार्य) 8 | कानमलजी पारख 456 |
| आसकरणजी क्षत्रिय (टा.) 417 | कामदेव 4 |
| आसोजी 159 | कालक (आचार्य) 6, 7, 8 |

- कालकसूरि 7
 कालजी (मुनि) 397, 418, 419, 420,
 421, 423, 506, 508
 कालूरामजी (आचार्य) 27
 कालूरामजी श्रीमाल 486
 किसनचन्दजी ओसवाल 345, 346, 428
 किसनमलजी भण्डारी 447, 448
 किसनोजी 68, 235, 237, 239-244
 कीकी 102, 103
 कुन्दकुन्द (आचार्य) 14
 कुशलचंद संघवी 450
 कुशलोजी (स्था. मु.) 169, 170, 181,
 182
 कुशलांजी (साध्वी) 92, 287, 288,
 289, 291
 कुसालजी (मुनि) 223
 कूणिक 4
 कृपारामजी 43
 कृष्णचन्दजी माहेश्वरी 345, 346
 केसरजी (साध्वी) 396
 केसरजी भंडारी 269, 270, 273, 275,
 283, 284, 339
 केसरीसिंहजी (ठाकुर) 305, 514, 523
 केसूरामजी 136
 केसोजी 81
 कोदरजी (मुनि) 301, 338, 345, 347
 खंतिविजयजी 108, 109
 खूमजी (मुनि) 457
 खेतसीजी लूणावत 184
 खेतसीजी (मुनि) 151, 152, 175, 210,
 213, 215, 218-220, 222, 254,
 259, 264, 265, 280, 282, 287,
 291, 293-297, 333, 467, 491, 492
 खेमांजी (साध्वी) 396
 गंगारामजी काश्मीरी 346
 गंगारामजी (टा.) 417
 गंभीरमलजी बैंगनी 470
 गंभीरमलजी सिंधी 458, 459
 गंगासिंहजी (बीकानेर नरेश) 516
 गजसुकुमाल 512
 गट्टलाल हटवा 462
 गुणसुन्दर (आचार्य) 6, 7
 गुणोजी 31
 गुणोशाह 31
 गुमानजी (स्था. मु.) 130
 गुलहजारी (तपस्वी) 345
 गुलाबजी (मुनि) 65, 66, 81, 308,
 352-356
 गुलाबसती 508
 गुलाबसिंहजी (कुंवर) 227
 गुलोजी गाधिया 42, 153
 गुलोजी लूनिया 223
 गूजरमलजी 136
 गूजरीबाई 257, 258
 गेरुलालजी व्यास 67, 69, 315
 गैबीरामजी चारण 171
 गैलोजी 31
 गोमांजी (साध्वी) 396
 गोपीचन्दजी (यति) 486
 गोरखांजी (साध्वी) 396
 गोरुमलजी लूनिया 341
 गोविन्द (आचार्य) 8
 गोविन्दसिंहजी (ठाकुर) 514, 523
 गोशालक 9, 10, 83, 484
 गोसाईंजी 98, 99, 100
 गौतम 217, 253, 483, 487
 घोर आंगिरस 2
 चंदनांजी (साध्वी) 396
 चंपांजी (साध्वी) 396
 चतरुर्जी (साध्वी) 306, 363, 435
 चतरोजी पोरवाल 44, 47, 116, 174
 चतुर्भुजजी ओसवाल 345
 चतुर्भुजजी (टा.) 412-422, 508
 चन्दनबाला 4

- चन्दनमलजी धाड़ीवाल 341
 चन्दूजी (आर्या) 209
 चन्द्रभाणजी (टा.) 114-119, 176, 250,
 341, 344, 418
 चांदकंवरजी (साध्वी) 396
 चांदंजी (साध्वी) 396
 चेटक 4
 चैनकरणजी सिंधी 213
 चोथमलजी बोहरा 137
 चोथमलजी सकलेचा 150
 छत्रसिंहजी 213
 छबीलजी (मुनि) 507
 छाजूजी खाभिया 179
 छोगजी (टा.) 360, 396, 410-413,
 415-417, 419-422, 508
 जगमालजी 31
 जग्गूजी गांधी 184, 185
 जड़ावांजी (साध्वी) 396
 जम्बू 5-9, 64
 जमालि 4, 9, 10, 83
 जयचन्द्रजी 162
 जयचन्द्रजी विराणी 187
 जयमलजी (स्था. आ.) 55-57, 62-66,
 68, 88, 107, 150, 151, 244
 जयवंती 467
 जवानसिंहजी (युवराज) 338, 453
 जवेरचन्द्रजी 45, 47
 जसराजजी 140
 जसराजजी मारु 306
 जसाशाह 30
 जिनऋषि 166
 जिनचंद्रसूरि 264
 जिनदास महत्तर 480
 जिनपति (आचार्य) 12
 जिनपाल 166
 जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण 7, 480
- } जिनवल्लभ (आचार्य) 12
 जीतमलजी (जयाचार्य) 27, 83, 89, 100,
 224, 228, 257, 267, 274, 276,
 292, 295, 302, 303, 306, 308,
 310, 311, 314, 315, 321, 323,
 327-353, 408, 425, 427, 433,
 434, 440, 450, 453
 जीवणजी (मुनि) 180, 181
 जीवराजजी (मुनि) 337, 352, 354, 403,
 469
 जीवूजी (साध्वी) 395
 जीवोजी (मुनि) 213, 260, 280, 347,
 412, 413
 जुहारजी (मुनि) 440, 459
 जूझारसिंहजी (ठाकुर) 167
 जेठमलजी गधैया 420
 जेठमलजी (हाकिम) 96
 जेठांजी (महासती) 396
 जेठांजी (टा.) 417
 जेतांजी (साध्वी) 457
 जेसराजजी वैद 468
 जैतरूपजी आंचलिया 419
 जैतसिंहजी 60, 62
 जैवतरामजी 31
 जोतरामजी (टा.) 417, 421
 जोरजी (टा.) 417
 झब्बबाई 315
 झूमांजी (साध्वी) 223
 ज्ञानांजी (साध्वी) 457
 ज्ञानी जैलसिंह 227
 टीकमजी (स्था. मु.) 122
 टीकमजी डोसी 211, 315
 टोकरजी (मुनि) 46, 58, 65, 66, 74,
 82, 215, 253, 254
 टोडरमलजी (स्था. आ.) 151
 डालचन्द्रजी (डालगणि) 27

- डाहांजी (साध्वी) 223
 डूँगजी 440
 डूँगरनाथजी (स्था. आ.) 187
 डूँगरसिंहजी (गोलेछा) 432
 ढंडण (मुनि) 178
 तख्तसिंहजी (जोधपुर नरेश) 446
 तनसुखदासजी (गोलेछा) 486
 तारणस्वामी 14
 ताराचंदजी 265
 ताराचन्दजी ढीलीवाल 443, 456, 524
 ताराचन्दजी संघवी 184
 तिलोकजी (स्था. मु.) 169
 तिलोकचंदजी चोपड़ा 516-518
 तिलोकचंदजी (टा.) 114-119, 250,
 313, 341
 तेजपालजी गोलेछा 432
 त्रिशला 4
 थानजी चोपड़ा 446
 थिरपालजी (मुनि) 56, 65, 66, 73, 82,
 88, 192
 दवदंती 467
 दाऊजी तलेसरा 99, 100
 दाखूलालजी 31
 दीपचंदजी मुणोत 169
 दीपजी (मुनि) 260, 301
 दीपांजी (दीपांबाई) 32, 38-40
 दीपांजी (महासती) 307, 394, 456,
 457, 475
 दुर्गादासजी (मुनि) 113
 दुर्गप्रसादजी वैद्य 511
 दुर्बलिका पुष्यमित्र 6
 दूलीचंदजी दूगड़ 447, 451, 452
 दूष्यगणी 6, 8
 देवकी 182
 देवकीनन्दन बोहरा 230
 देवद्विंगणी 8, 12
 देववाचक (देवद्विंगणी क्षमाश्रमण) 6
- द्रोणाचार्य 242
 दौलतसिंहजी कूंपावत 213
 धनजी (मुनि) 338
 धनराजजी नागोरी 112
 धन्नाशाह 30
 धन्नोजी 13
 धर्म (आचार्य) 7, 8
 धर्मदासजी (स्था. आ.) 12, 13, 183
 धर्मसिंह (धर्मसी) 482
 धर्मसूरि 6
 धर्मनन्द कौशाम्बी 3
 धारणी 235
 धारसीभाई 450
 धीरोजी पोकरणा 151
 नगजी 166, 182
 नगजी (मुनि) 185
 नगीनदास भाई 449
 नथमलजी बैद 343
 नन्दनमणियारा 182
 नन्दरामजी (यति) 339
 नन्दिलसूरि (आचार्य) 6
 नन्दूजी (आर्या) 209
 नन्दूजी (बड़े) 395
 नन्दूजी (छोटे) 395
 नवलमलजी बोहरा 304, 305
 नवलांजी (छोटे) 394, 396
 नवलांजी (बड़े) 396
 नाकरजी 31
 नागहस्ती (आचार्य) 6, 8
 नागहस्तीसूरि (आचार्य) 6
 नागार्जुन (आचार्य) 8
 नागार्जुनसूरि 6, 7
 नाथरामजी प्रेमी 14
 नाथोजी 31
 नानकजी (स्था. आ.) 263
 नानजी 287
 नारायणसिंहजी (ठाकुर) 455

निहालजी (मुनि) 263
 पंचाणदासजी बैंगानी 314
 पंचायणजी (राठोर) 62
 पद्मसिंहजी ढूँडा 265, 324
 पद्मसिंह 364
 पनराजजी लूणिया 442, 443
 पन्नाजी (साध्वी) 395
 पहाड़सिंहजी 62
 पांचोजी 31
 पार्श्वनाथ 3, 151, 495
 पिरथोजी खाटेड़ 49
 पीथलजी (मुनि) 300, 301
 पीरजी 468
 पूजोजी 338
 पुरुषोत्तमदासजी पारख 315, 316
 पुष्यमित्र (आचार्य) 7, 8
 पूज्यपाद देवनन्दी 14, 71
 पूनीबाई 437, 438
 पृथ्वीराजजी बैंगानी 314
 पेमजी 65, 66, 82
 पेमोजी 31, 36
 प्रतापजी 192
 प्रद्योत 4
 प्रभव (आचार्य) 5-8
 प्रभुदानजी व्यास 508
 प्रेमचन्द भाई 449
 फकीरचन्दजी राखेचा 357
 फतहमलजी सिंधी 69
 फतेचन्दजी (मुनि) 56, 65, 66, 73, 82,
 88, 192, 344, 418, 419
 फत्तूजी (साध्वी) 144, 208
 फोजमलजी (टा.) 416, 417, 421
 फोजमलजी तलेसरा 365
 बखतरामजी (मुनि) 65, 66, 81
 बखतसिंहजी (ठाकुर) 30
 बख्तूजी (साध्वी) 223
 बगतोशाह 31

बच्छराजजी ओसवाल 44, 47
 बज्रनाभ 495
 बनारसीदासजी 14
 बरजूजी (साध्वी) 287, 289, 395,
 417, 421
 बलिसह (आचार्य) 5, 8
 बल्लूजी 31, 32, 34, 38
 बस्तीमलजी छाजेड़ 226
 बहादुरमलजी भण्डारी 446-448, 509,
 514, 523
 बहादुरसिंहजी पटोलिया 325
 बहुल (आचार्य) 5
 बादर साह 103
 बाल्टेन पादरी 455
 बींजराजजी (मुनि) 479
 बुद्ध 2, 3, 87
 बेचरदासजी 9
 बोहतजी (स्था. मु.) 150
 ब्रह्म. दीपकसिंह (आचार्य) 8
 ब्रह्मदेव 87, 88
 ब्रह्मेन्द्र 467
 भगजी (मुनि) 213, 281
 भद्रगुप्त (आचार्य) 8
 भद्रगुप्तसूरि 6
 भद्रबाहु (आचार्य) 5-8, 11
 भद्रबाहु (द्वितीय) 480
 भरत 64
 भर्तृहरि 86
 भवानजी (मुनि) 338
 भारमलजी (द्वितीय) 65, 66, 81
 भारमलजी (आचार्य) 27, 46, 58, 65,
 66, 68, 74, 76-78, 82, 111, 115,
 116, 118, 125, 149, 156, 157,
 206, 213, 215-217, 219, 221,
 222, 235-243, 245-265, 267-275,
 277-286, 290-298, 319, 324-329,
 331-333, 364, 366, 405, 410,

- 453, 467, 475, 490
 भीमजी (मुनि) 265, 300, 301, 338
 भीमराजजी (मुनि) 323, 327, 328, 329, 425
 भीखण्जी आ. भिक्षु (स्वामीजी) 13, 15, 19, 25-27, 56-59, 62, 225, 228-231, 236-239, 256, 257, 287-289, 313, 321, 322, 341, 371, 385, 391, 401, 402, 406, 418, 449, 466, 467, 469, 471, 478, 498, 500
 भीमसिंहजी (महाराणा) 257, 267, 268, 284, 338, 453
 भीमराजजी पारख 512
 भूतदिन (आ) 6, 8
 भूरांजी (साध्वी) 448
 भूरामजी पटोलिया 514
 भृगु पुरोहित 83
 भैरजी गांधी 367
 भैरुदानजी ढड्ढा 358
 भैरुलालजी सिंधड़ 364, 445, 455, 507-509, 514
 भैरोजी 81
 भोपजी (मुनि) 417, 418
 भोपजी सिंधी 353
 मंगु (आचार्य) 7, 8
 मंगुसूरि (आचार्य) 6
 मगनांजी (साध्वी) 394
 मधराजजी (मधवागणी) 27, 397, 400, 410, 412, 415, 423, 430, 438, 459, 461, 479, 503, 509, 512
 मट्टूजी (साध्वी) 92
 मदनचन्दजी राखेचा 357
 मनजी पोरवाल 97, 98
 मन्नालालजी बरडिया 226
 मयाचन्दजी (मुनि) 507
 मरुदेवी 64
- मल्हारराव होल्कर 17
 मल्लिनाथ 483
 महतावांजी (साध्वी) 395
 महाकंवरजी (साध्वी) 417, 422
 महागिरि (आचार्य) 5-9
 महाजी रंकजी (गुरांसा) 30
 महाप्रज्ञ (आचार्य) 27
 महाराणा प्रताप 17
 महावीर 1-5, 8-11, 24, 58, 64, 71, 84, 88, 109, 141, 161, 190, 194, 196, 217, 253, 483, 487, 512
 महेशदासजी मूथा 264, 299
 माणकलालजी (माणकगणी) 27, 400
 माणकचंदजी (मुनि) 309, 416
 मानसिंहजी (जोधपुर नरेश) 213, 276
 मायाचन्दजी अग्रवाल 367
 मालमसिंहजी (ठाकुर) 213
 मालीरामजी लूनिया 230, 341, 439, 440
 मिंजा इस्माइल 516, 517
 मीरखां पिंडारी 323
 मुनिपतिजी 446, 479
 मूणदासजी 81
 मूलचन्दजी कोलंबी 489
 मेघजी भाट 171, 172
 मेघराजजी आंचलिया 421, 422
 मेतार्य 512
 मैणांजी (साध्वी) 209, 287
 मोखजी खमेसरा 439, 440, 441, 453-454
 मोखमसिंहजी (ठाकुर) 80, 91, 136
 मोजीरामजी (मुनि) 260, 261
 मोजीरामजी बोहरा 140
 मोटजी (मुनि) 457
 मोतांजी (साध्वी) 395
 मोतीजी (मुनि) 287, 301, 347, 438, 478, 479

- मोती विणजारा 96, 97
 मोतीचन्दजी कांकरिया 365
 मोतीरामजी चौधरी 110
 मोतीरामजी बोहरा 169
 मोमनचन्द 345
 यशोदा 4
 यशोभद्र (आचार्य) 5-8
 संगूजी (साध्वी) 394, 395
 रंभाजी (साध्वी) 457
 रक्षित (आचार्य) 8
 रतनजी 296
 रतनजी (मुनि) 479
 रतनोजी (स्था. मु.) 130
 रयणा देवी 166
 रवीन्द्र (महाकवि) 86
 रविमलजी (स्था. मु.) 340
 राजकुमारी कृष्णा 268
 राजसिंह (द्वितीय महाराणा) 17
 राणाशाह 30
 राम 90, 113
 रामचन्द्रजी कटारिया 112, 113
 रामचन्दजी (मुनि) 280, 356
 रामचन्द्र सोनी 226
 रामचन्दजी कोठारी 341, 441
 रामचरणजी (रामकृष्णजी) 42, 43
 रामजी (मुनि) 361
 रामदत्तजी (मुनि) 385, 386
 रामनारायणजी मिर्धा 118
 रामसुखजी (मुनि) 347, 350, 507
 रामोजी (मुनि) 352, 353
 रायकंवरजी (साध्वी) 396
 रायचंदजी (ऋषिराय) 27, 213, 217, 221, 249, 259, 264, 274, 279, 280, 282, 287-297, 299, 316, 331-333, 366, 368, 370, 375, 380, 405, 408, 424, 425, 427, 433, 434, 459, 462, 520, 521 } रायमलजी मुंहता 212
 रावण 113
 रिद्धजी (साध्वी) 396
 रुघनाथजी (स्था. आ.) 13, 36, 38-40, 42, 44, 46, 51, 52-61, 63-66, 69, 83, 95, 107-109, 112, 113, 167, 180, 232, 237, 239, 244
 रूपचन्दजी (मुनि) 65, 66, 82, 208, 209, 417
 रूपचन्दजी (बडे) 208
 रूपांजी (साध्वी) 151, 152, 291
 रेवतिमित्र (आचार्य) 6-8
 रेवतिनक्षत्र (आचार्य) 8
 लच्छीरामजी बैद 468
 लक्ष्मणदासजी खारड 448, 449
 लल्लूभाई 450
 लवजी (मुनि) 12
 लाखाजी 30
 लाछड़दे 32
 लालजी पोरवाल 49
 लालचंदजी पाटणी 341, 342, 344
 लालांजी (साध्वी) 396
 लालूजी पोरवाल 47
 लिखमीचंदजी 65, 66, 413
 लिखमोजी (टा.) 82
 लौकाशाह 12, 14, 25
 लोहित्य (आचार्य) 8
 लोहित्यसूरि 6
 वज्र (आचार्य) 8
 वज्रनन्दी 14
 वज्रस्वामी (आचार्य) 6
 वज्रसेन (आचार्य) 8
 वज्रसेनसूरि 6
 वर्धमानजी (मुनि) 300, 301, 337
 वर्धमानजी श्रीश्रीमाल 211
 वसन्तकीर्ति (भट्टारक) 14
 वागीश्वर (कवि) 90

- वामादेवी 3
 विजयदेव 487
 विजयसिंहजी (नरेश) 97, 154, 167
 विजयचन्द्रजी पटवा 185, 211
 विभूतिसिंहजी पटवा 427
 विधोजी (वर्धमानजी) 280
 विष्णुदयालजी कायस्थ 515
 वीरदासजी 30, 31
 वृद्धांजी (साध्वी) 417, 421
 वृद्धिचंद्रजी सुराणा 509
 वैरभाणजी (टा.) 46, 51, 52, 58, 65,
 66, 74, 75, 82, 138, 182, 208,
 209, 253
 वीरांजी (साध्वी) 209
 वेणीरामजी (मुनि) 129, 138, 139,
 180, 223, 224, 367
 वैरीसालजी सिंधल 62
 व्रजलालजी 47
 शंकरऋषि 315
 शतानीक 4
 शश्यम्भव 5-8, 11, 64
 शालिभद्र 127
 शाहआलम 16
 शाह चतरोजी 287, 289
 शाह भोपजी 287
 शाह शिवलाल 273
 शिवजी (मुनि) 280, 301
 शिवदास गांधी 112
 शिवरामजी (मुनि) 117, 118, 209,
 250, 313
 शीतलजी (स्था. आ.) 150
 शीलांकाचार्य 480
 शेषमलजी 31
 शोभजी 74, 81, 103, 270
 शोभाचंद सेवग 127, 128
 शोभाचंद भाई 449
 शोभाचन्द्रजी बैंगानी 314, 362, 363
- शोभाचन्द्रजी (मुनि) 340
 श्याम (आचार्य) 5-6, 8
 श्यामदासजी (आचार्य) 66
 श्रीकृष्ण 2
 श्रीगुप्तसूरि (आचार्य) 6
 श्रीमद् राजचंद्र 450
 श्रेणिक 4
 संगमदेव 487
 संत कृपारामजी 43
 संत ज्ञानेश्वर 476
 संतोषचन्द्रजी (मुनि) 117, 118, 209,
 250, 313, 341
 संतोजी (मुनि) 412
 सम्पत्तमल गंधैया 226
 संप्रति (सप्राट्) 9, 24
 सतीदासजी (मुनि) 335, 433, 434,
 492
 सत्यमित्र (आचार्य) 6, 7
 समुद्र (आचार्य) 6, 8
 सम्भूति (आचार्य) 7
 सम्भूति विजय 5-8
 सरदारसमलजी लूणिया 442, 445, 510,
 514-516, 523
 सरदारसती 341, 366, 373, 375,
 393-395, 418, 432, 433, 467,
 471
 सरूपचंद्रजी (मुनि) 260, 265, 307,
 309, 310, 313, 314, 323, 324,
 327-329, 332, 333, 338, 347,
 350, 351, 357, 358, 375, 416,
 425, 434, 478, 520
 सरूपसिंहजी (महाराणा) 453
 सरूपां (आर्या) 209
 सरूपां (बहिन) 118
 सवाईरामजी ओस्तवाल 133
 सवाई जगतसिंहजी 323
 सवाई रामसिंहजी 439, 444, 455, 514

- सहायदेव सूर्यदेवजी 30
 संगा 17
 सांडिल्य (आचार्य) 5, 8
 सामजी भंडारी 125
 सामजी (ऋषि) 60
 सामीदासजी 134
 सारिपुत्र 3
 सिंधजी (मुनि) 208
 सिंहसूरि (आचार्य) 6-8
 सिद्धार्थ 4
 सिणगारांजी (छोटी) 396
 सिणगारांजी (बड़ी) 396
 सिराजुद्दौला 16
 सीतारामजी लालस 500
 सीमंधर स्वामी 228, 316
 सुखमलजी बैंगानी 473
 सुखरामजी (मुनि) 93
 सुखोजी 31
 सुगणी बाई 33
 सुजानांजी (साध्वी) 396
 सुधर्मा 5-8
 सुहस्ती (आचार्य) 5-9, 11
 सूर्यभ 486, 487
 सेरांजी (साध्वी) 395, 417
 सोमप्रभ 14
 सोमिल 4
 सौभाग्यभाई 450
 स्कंदक 512
 स्कंदिल (आचार्य) 6-8
 स्थूलभद्र (आचार्य) 5-8
 स्वाति (उमास्वाति) 7, 8
 हंसराजजी संचेती 296
- हंसराजजी (यति) 359
 हंसराजजी (मुनि) 413-416, 421
 हजारीमलजी नाहटा 478
 हजारीमलजी (टा.) 417
 हमीरजी (मुनि) 413
 हरखचंदजी (मुनि) 396, 410, 411
 हरखूजी (साध्वी) 396, 416, 417, 421
 हरचंदलालजी (जौहरी) 325, 327
 हरजीमलजी 146, 148
 हरनाथजी 46, 58, 65, 66, 74, 82
 हरिकेशबल 5
 हरिभद्र (आचार्य) 12, 480
 हर्षचंदजी (मुनि) 394
 हस्तूजी (साध्वी) 395, 457
 हरिल्ल (आचार्य) 7
 हिन्दूजी (मुनि) 338, 372
 हिमवन्त 8
 हिमवन्त क्षमाश्रमण 6
 हीरजी (मुनि) 280, 300, 301
 हीरजी (यति) 160, 227, 228
 हुकमचन्दजी आच्छा 213
 हुलासमलजी बैंगानी 471
 हेमचन्द्राचार्य 480, 501
 हेमजी (हेमड़ा) 139, 140, 152
 हेमराजजी (मुनि) 25, 38, 86, 93, 100, 104, 148, 150-152, 156, 180, 210, 250, 260, 264, 274-276, 293-296, 301-303, 305, 306, 324, 327-338, 345, 347, 353, 364, 433, 434, 453, 462, 475, 491, 500, 520, 521
 होलोजी 31, 32, 34

परिशिष्ट 3

ग्राम नामानुक्रम

- अंजार 316
अजीमगंज 486
अहमदाबाद 12, 315, 336, 347, 449
आउवा 141, 166, 291
आगरा 439, 440
आगरिया 125, 192, 257, 338
आडेसर 316
आबू 179
आमेट 172, 233, 259, 286, 297, 309, 338, 356, 365, 434, 475, 521
इन्दौर 368, 399
इन्द्रगढ़ 328, 329, 521
ईंडर 315, 347
ईड़वा 259, 292
उज्जयिनी (उज्जैन) 281, 312, 338, 340, 365
उदयपुर 97, 98, 112, 130, 235, 267, 268-270, 272-277, 287, 300, 301, 310, 312, 315, 317, 320, 338, 339, 351, 356, 365, 366, 368, 384, 432, 435, 436, 439, 440, 453, 454, 457, 458, 521, 522
ऊमरा 345
औमनगर 347
कंटालिया 30, 35, 40, 42, 153, 188, 213, 226, 230, 233, 251, 338, 470, 478, 479, 521, 522
करेड़ा 185
कसूम्बी 403, 413
कांकरोली 150, 261, 274, 278, 286, 293, 300, 301, 312, 338, 339, 353, 365, 366 } काणाणा 335
} कारोई 353
} कानोड़ 366, 367, 413
} काफरला 109, 132
} किशनगढ़ 146, 263, 265, 324, 341, 365, 380, 521
} कुचामन 305, 429, 514
} कुवाथल 309
} कुशलपुर 139
} केरिंगपुरा 80
} केलवा 74, 75, 78-81, 83, 89, 91, 118, 136, 174, 182, 212, 230, 232, 245, 246, 278-281, 285, 286, 293, 295, 297, 300, 301, 319, 331, 351, 365
} कोटा 269, 327, 328
} कोठारिया 98-100, 249
} क्षत्रिय कुण्डपुर 4
} खाचरोद 312, 340, 397
} खारचिया 153
} खीचन 310, 350
} खैरवा 117, 127, 128, 174, 223, 233, 286, 307, 314, 337, 350, 351, 410, 425, 435, 436, 506
} गंगापुर 260, 353, 365
} गंगाशहर 516, 518
} गढ़ी 345
} गुनोड़ा 438
} गुरलां 162
} गोगूंदा 130, 212, 287, 296, 301, 309, 310, 317, 318, 320, 335,

- 338, 346, 347, 366, 433, 454, 521
 घाणेराव 121
 चंडावल 144
 चाणोद 212
 चावडी 347
 चित्तौड़ 296, 443, 456, 457
 चूरू 118, 119, 209, 250, 313, 314, 341, 345, 411, 413, 418, 432, 446, 499, 509, 521, 522
 चेलावास 116, 162, 167, 227
 जमालपुर 345
 जयपुर 230, 262, 263, 265, 266, 286, 292, 299, 300, 311, 320, 323, 324, 326-328, 337, 341, 345, 346, 348, 356, 357, 364, 365, 374, 380, 385, 386, 420, 421-423, 429, 430, 439-442, 444, 446, 448, 455, 459, 462, 489, 507-509, 514-519, 521, 522
 जसोल 30, 348
 जुहारिया 119
 जैतपुरा 331
 जैतारण 151, 232
 जोधपुर 30, 55, 56, 58, 62-64, 66-70, 79, 96, 97, 213, 214, 225, 232, 276, 285, 310, 322, 323, 335, 351, 425, 446-448, 451, 509, 514, 521, 522
 जोबनेर 365, 380, 473
 झज्जर 345
 झाड़ोल 347
 झाबुआ 312, 367, 424
 डबोक 413
 डेह 344
 दांतड़ा 43
 दादरी 345
 दिल्ली 169, 335, 344-348, 426, 428, 429, 520, 521
 दूदू 466
 देवगढ़ 178, 212, 249, 296, 332, 338, 521
 देशनोक 343
 देसूरी 121
 द्वारिका 178
 धुंधारा 324
 धोइंदा 283
 ध्रांगद्वारा 315
 नगुरा 345
 नये शहर (ब्यावर) 263
 नागौर 344, 358, 360, 430
 नाथद्वारा 98, 99, 102, 103, 154, 212, 233, 278, 286, 287, 293, 309, 310, 320, 338, 339, 350, 351, 353, 365, 366, 381, 384, 392, 454, 457, 500, 519-522
 नान्देसमा 317, 318
 निंबावास 34
 नीमली 139, 162
 पचपदरा 30, 402, 403
 पहाड़ीग्राम 345, 346
 पहना 454, 457
 पाटलीपुत्र 11
 पादू 134, 156, 233, 250
 पानीपत 16
 पाली 95, 96, 101, 108, 109, 122, 127, 128, 137, 150, 151, 170, 185, 211, 212, 223, 233, 262, 286, 299, 310, 313, 314, 316, 320, 329, 330, 332, 337, 347, 350, 351, 425, 427, 435-437, 442, 478, 519, 521, 522

- 536 ■■■■■ तेरापंथ का इतिहास ■ खण्ड-एक
- पावा 4, 5
 - चिसांगण 286
 - पीपरड़ा 256
 - पींपली 214
 - पींपाड़ 63, 122, 137, 140, 148, 171, 180, 181, 183, 184, 212, 233, 301, 320, 521
 - पुर 111, 125, 130, 150, 161, 171, 172, 179, 186, 187, 212, 233, 274, 286, 302, 352, 353, 354, 365, 454, 457, 475
 - पेटलावद 301, 312, 320, 340, 427, 520, 521
 - पोकरण 514
 - फरुखनगर 345
 - फलोदी 310, 343, 432, 521
 - फलोदी (बड़ी) 350
 - बगड़ी 33, 42, 52, 58, 62, 63, 75, 213, 230, 233, 239, 251, 286, 478
 - बड़नगर 312, 340
 - बड़ा मूहा 235, 285
 - बढ़वाण 315
 - बनेड़ा 365
 - मुम्बई 448, 449, 489
 - बरलू (भोपालगढ़) 62, 63, 64, 232
 - बलंदा 232
 - बागोर 232, 237, 285
 - बाजोली 209
 - बालोतरा 286, 347, 348, 402, 403, 521, 522
 - बांता 351
 - बिसाऊ 345
 - बीकानेर 342-345, 350, 356-358, 468, 516, 520, 521
 - बींठोड़ा 285, 359
 - बीदासर 118, 250, 313, 314, 320, 341, 357, 361-363, 370, 373, 401, 438, 439, 443, 448, 450-452, 464, 470, 471, 473, 486, 506, 507, 519-522
 - बीलाड़ा 63, 67, 68, 71, 73, 74, 101, 112, 239, 244, 471, 472
 - बूचास 118
 - बूंदी 133, 327, 328
 - बेला 315, 316
 - बोरनदी 35
 - बोरावड़ 118, 250, 286, 305, 314, 374
 - भदाणा 344
 - भाणपुर 338
 - भिवानी 345
 - भीलवाड़ा 111, 125, 173, 235, 353, 365
 - मंद्रा 316
 - मकराना 126
 - मन्दसौर 340, 367
 - मांडवी 316
 - मांढा 116, 139, 304
 - माथासुख 413
 - माधोपुर 135, 136, 233, 257, 258, 266, 286, 324, 327-329
 - मुसालिया 40
 - मेड़ता 232
 - मेवा नगर 30
 - मोखणुंदा 300, 454, 457
 - मोडी 212
 - मोरवी 450
 - रत्नगढ़ 118, 250, 314
 - रत्तलाम 312, 340, 367, 368, 427, 458, 522

- राजगढ़ 345, 512
 राजनगर 31, 44-48, 51, 58, 74, 75, 175, 230, 232, 233, 239, 256, 260, 269, 271, 278, 281, 282, 285, 293, 297, 298, 300, 301, 305, 309, 312, 319, 338, 351, 365, 366, 413
 राजलदेसर 118, 250, 468
 राणपुर 367
 राणावास 227
 राणिया 119
 रामपुर 479
 रायपुर 365
 रावलियां (छोटी) 317, 319, 361
 रावलियां (बड़ी) 287, 289, 317, 318, 319, 392
 रीणी (तारानगर) 118, 119, 314
 रींया 146, 148, 169
 रोयट 127, 322-324, 519
 लाडनू 118, 250, 283, 311, 313, 314, 320, 341, 342, 344, 362, 370, 372, 394, 403, 407, 413, 414, 430, 432, 434, 437, 438, 443, 446-452, 468, 478, 486, 507, 521, 522
 लावा (सरदारगढ़) 260, 261, 365
 लींबड़ी 315, 450
 वाराणसी 3
 वीरमगाम 316
- वेदला 98
 वैरागड़ 62
 शाहपुरा 42, 43
 शिवगंज 30
 संकवाली 30
 सरदारशहर 416, 418, 419, 420, 421, 422, 423, 508
 सरसा 119
 सवाई 418
 सवाई माधोपुर 266
 साणंद 315, 336, 347
 सादड़ी 232, 285, 338
 सायला 450
 सारंगसर 119
 सिरियारी 122, 125, 139, 154, 174, 209, 213, 214, 223-225, 227, 230, 232, 282, 285, 286, 336, 347, 348, 470, 478, 491, 521
 सुजानगढ़ 362, 419, 430, 437, 438, 451, 452, 478, 507, 522
 सूरत 448
 सेलानला 366
 सोजत 46, 51, 52, 56, 62, 63, 114, 185, 212, 213, 226, 232, 233
 सोड़ा 42
 हमीरगढ़ 456, 457
 हांसी 345

परिशिष्ट 4

प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

अणभेवाणी (अनुभववाणी)	{	धर्मसागर कृत पट्टावली
अनुकम्पा की चौपई		नव पदार्थ
आगम अष्टोत्तरी		नीतिशतक
आचार्य चरितावली		पट्टावली प्रबन्ध संग्रह
आचार की चौपई		परम्परा के बोल
आचार-चूला		पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म
आचारांग		पीथल मुनि गुण वर्णन
आर्या-दर्शन		पूजगुणी की ढाल (श्रावक महेशजी कृत)
आवश्यक-चूर्णि		पूजगुणी की ढाल (श्रावक शोभजी कृत)
आवस्संयं		प्रकीर्ण पत्र संग्रह (प्र. प. सं.)
आषाढ़भूत रो बखाण		प्रश्नव्याकरण
इन्डियन फिलोसॉफी		बड़ी मर्यादा
उत्तराध्ययन		वृहत्कल्प चूर्णि
उदयपुर राज्य का इतिहास		भगवान् बुद्ध
ऋषिराय गुण वर्णन		भारीमाल चरित्र
ऋषिराय पंचढालियो		भिक्खु-चरित्र (मुनि हेमराजजी रचित)
ऋषिराय-सुजस		भिक्खु-चरित (मुनि वेणीरामजी रचित)
ओघ-निर्युक्ति		भिक्षु गुण वर्णन
कल्पसूत्र		भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर
ख्यात		भिक्खु जस रसायण (भि. ज. र.)
चारित्र-भक्ति		भिक्षु-दृष्टांत
चेड़ा कोणिका की सिंध		मधवा-सुजस (म. सु.)
छान्दोग्य उपनिषद्		मज्जिमनिकाय
जयध्वज		महासिंहनाद सुत्त
जयसुजस		मृगालोढा रो बखाण
जयाचार्य कृत मर्यादा की ढाल		युक्ति-प्रबोध
जैन धर्म की प्राणशक्ति		लघुरास
जैन भारती		राजपूताने का इतिहास
जैन साहित्य और इतिहास		लघु भिक्खु जस रसायण (ल.भि.ज.र.)
दर्शनसार		वग्म चूलिया
दशवैकालिक		विघ्नहरण की ढाल

विनीत अविनीत की चौपई	श्री रामस्नेही सम्प्रदाय
विरत अविरत की चौपई	सद्धर्म-मण्डन
विशेष विवरण	सन्तगुण-माला
विशेषावश्यक भाष्य	सरदार सुजस
वीर विनोद भाग 2	सरूप नवरसो
शासन-प्रभाकर	साधु-शिक्षा
शिक्षा री चौपई	सिद्धांतसार
शासन-विलास	सुदर्शन चरित्र
श्रावक-दृष्टान्त	हरख-चौढ़ालियो
श्री जैनधर्म नो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने	हेम-दृष्टान्त
वीर पट्टावली	हेम-नवरसो

परिशिष्ट-5

सं. 1912 के चौमासों की पड़त

मुनि बुद्धमल्लजी द्वारा संकलित

(मालचंदजी सेठिया सरदारशहर वालों के संग्रह से प्राप्त सं. 1912 के चतुर्मासों की हस्तलिखित सूची की प्राचीन प्रति की प्रतिलिपि)

विगत 1 चौमासा की सं. 1912 साल की—

देश मेवाड़ में चौमासा—

1. पूज्यजी महाराजाधिराज श्री श्री 1008 श्री जीतमलजी स्वामी आदि संत मुनिराज ठाणा 13 आज्याजी महाराज ठाणा 31 सर्व ठाणा-44 मुकाम उदयपुर विराजमान छ
2. स्वामीजी स्वरूपचंदजी स्वामी श्रीनाथजी द्वारा विराजे छ सुखसाता छ ठाणा-9
3. स्वामीजी श्री रामजी (66) मुकाम थामला विराजे छ ठाणा-2
4. स्वामीजी श्री अनोपचंदजी (114) मु. राजनगर तपस्या में छ ठाणा-5
5. श्री संतोजी (59) ठाणा-5 मुकाम आमेट
6. आज्याजी श्री रंगुजी (154) ठाणा-6 मु. गोगूंदा विराजे छ
7. आज्याजी श्री अमरतांजी (109) ठाणा-4 मु. कोठारै विराजै छ
8. आज्याजी श्री चतरूजी बड़ा (65) ठाणा-8 मु. कांकरोली विराजै छ
9. श्री मोतांजी (136) ठाणा 6 मु. केलवा विराजै छ
10. आज्याजी श्री मगदूजी बड़ा (99) ठाणा-4 मु. आगरियै विराजै छ
11. आज्याजी श्री नन्दूजी बड़ा (92) ठाणा-9 मु. लावा विराजै छ
12. स्वामीजी श्री मोटूजी (87) ठाणा-4 मु. मोखणदा विराजै छ
13. आज्याजी श्री कंकूजी (113) ठाणा-5 मु. कोसीथल विराजै छ
14. स्वामीजी श्री टीकमजी (73) ठाणा-3 मु. रेलमगरा विराजै छ
15. आज्याजी नवलांजी (पालीवाला) (240) अने महतांबकंवरजी (145) ठाणा-8 मु. गंगापुर विराजै छ
16. आज्याजी दिपांजी (90) ठाणा-16 मु. पुर
17. आज्याजी श्री पन्नांजी (126) ठाणा-3 मु. भिलाडे
18. आज्याजी श्री मयाजी (106) ठाणा-5 मु. दौलतगढ़
19. आज्याजी श्री शेरांजी (199) ठाणा-5 मु. चित्तौड़
20. आज्याजी श्री नन्दूजी छोटा (167) ठाणा-4 पहुना मोट ठाणा-155 मु. मेवाड़ में

मालवा

21. स्वामीजी श्री हिन्दुजी (91) ठाणा-3 मु. रतलाम
22. स्वामीजी श्री हिरालालजी (126) ठाणा-3 मु. इन्दौर
23. आज्याजी श्री मगदूजी छोटा (102) ठाणा-7 मु. बख्तगढ़
24. आज्याजी श्री कुनणांजी (133) ठाणा-8 मु. पेटलावद मोट ठाणा-21 मालवा में

मारवाड़

25. आज्याजी श्री जीऊजी (123) ठाणा-7 मु. नयेनगर
26. आज्याजी श्री रंभाजी (72) ठाणा-4 मु. कंटालिया
27. आज्याजी श्री चन्दणाजी छोटा (116) ठाणा-10 मु. पादू, ईडवे
28. आज्याजी श्री चतरुजी छोटा (70) ठाणा-6 मु. पाली
29. स्वामीजी श्री मोतीजी (77) ठाणा-5 मु. बालोतरा कानी
30. स्वामीजी करमचंदजी (83) ठाणा-4 मु. जयपुर
31. स्वामीजी श्री गुलहजारीजी (103) ठाणा-4 बीकानेर। मारवाड़ में मोट ठाणा-40 ठाणा-216 का चोमासा इन प्रमाणे जानज्यो संत 60 सतियाजी-156, सर्व-216 (टिप्पण-आचार्यश्री सहित संतों के सिंघाड़े 12, सर्व संत-60, साध्वियों के सिंघाड़े 20, सर्व साध्वियां 156, मोट सिंघाड़े 31)

—‘आर्या दर्शन कीधा’ ढाल 4 के अनुसार उपर्युक्त विवरण में कुछ अंतर है, वह इस प्रकार है—

मयाजी (106) लाछूड़ा, चतुर्मास

महताजकंवरजी (145) ठाणा-3 रायपुर (मेवाड़)

नवलांजी (240) ठाणा-5 गंगापुर

परिशिष्ट 6

(ये हकीकत चंपालालजी डोसी के दादाजी चनणभाणजी के काकाजी भीकमदासजी बीठोड़ा वालों से हस्तलिखित जाड़े कागज के चौपनिये से लिखे गये हैं। संक्षिप्त में व महाजनी भाषा में थे। मीती संवत् समाचार रखकर थोड़ा व्यवस्थित लिख दिया है।)

भीषण संघर्षों के बीच भी आशा की लहर

संत भीखणजी जब से आचार्य रुधनाथजी से अलग हुए उन्हें जगह-जगह भीषण संघर्षों का सामना पड़ा।

सिरियारी से विहार कर फुलाद होते हुए जोजावर पधारे। वहां एक नोहरे में उन्हें ठहरने का स्थान मिला, काफी लोगों ने उनके अलग होने के कारणों को व उनके सिद्धान्तों को समझा परंतु विरोधभाव वैसा ही बना रहा। जोजावर से धरला (धनला) पधारे। वहां पर काफी संघर्ष हुआ, परन्तु एक-दो श्रावकों को समझाने व उनकी जिज्ञासा मिटाने के लिए रातभर जागना पड़ा। एक-दो दिन प्रवास के बाद देवली होते हुए आऊवा पधारे। न्याती नोहरे में भीखणजी का विराजना हुआ। वहां से विहार कर काराड़ी पधारे। पहले साधु-साधियों के सामने जाने व पहुंचाने के लिए जाने का अच्छा रिवाज था। काराड़ी के श्रावक नवलोजी आदि पांच-छह जने आऊवा भीखणजी को लेने के लिए सामने गये—काराड़ी में संतों का 5-6 दिन ठहरना हुआ और धर्म प्रभावना भी हुई—वहां से विहार कर खारची होते हुए पाली-रोयट पधारे। रास्ते की सेवा का श्रावक नवलोजी बरलोटा व अन्यों ने लाभ लिया।

इस विहार में संतों को संघर्ष भी सहना पड़ा पर धर्म-प्रभावना भी हुई—धनला की एक बहिन ने दीक्षा ली, आऊवा में भी दीक्षार्थी तैयार हुए।

आचार्य भीखणजी के 43 वर्ष के शासनकाल में मारवाड़ का कोई भी गांव ऐसा नहीं रहा जहां आपशी के चरण नहीं पड़े। ऐसे भी कई गांव हैं जिनमें साधियों के चतुर्मास भी हुए उनके उल्लेख मौजूद नहीं है। जबकि साधु-साधियों के चतुर्मास इन्हीं छोटे-छोटे मारवाड़ के गांवों में ही हुए हैं।

जैन संत भीखणजी का जोरदार विरोध

आचार्य रुधनाथजी से अलग होकर संत भीखणजी का विचरना प्रायः पाली, लाम्बिया, खैरवा, हींगोला, काराड़ी, बीठोड़ा, चैलावास, गादाणा, रामसिंहजी का गुड़ा, राणावास, सिरियारी, सोजत आदि मारवाड़ के गांवों में ही हुआ। खैरवा में 6 चतुर्मास किये। खैरवा जाने के लिए काराड़ी होकर ही जाना पड़ता था। संवत् 1827 की बात है। उस समय काराड़ी में जैनों के करीब 51 घर थे वे सभी कट्टर मंदिरमार्गी थे और कई स्थानकवासी थे।

आचार्य रुधनाथजी ने संत भीखणजी के अलग होने के बाद सभी गांवों में दुंडी पिटवा रखी थी कि भीखणजी को रहने के लिये गांव में कोई स्थान मत देना अगर स्थान दे दिया तो उसका समाज से हुक्का-पानी बंद। क्योंकि वे सिद्धान्तों की गलत प्ररूपणा करते हैं। चूहे को बिल्ली से बचाने में पाप बताते हैं इसीलिए तेरापंथियों के प्रति पूरा विरोध था। शायद संवत्

1827 में भीखणजी पहली बार काराड़ी पधारने वाले थे। उनका रास्ता पाली से खैरवा होते हुए सोजत पधारना था। काराड़ी वालों को मालूम हुआ कि भीखणजी संत चार संतों के साथ में थिरपालजी (लांबिया), फतेचंदजी (लांबिया) व भारीमालजी के साथ में आएंगे। तो विरोध तो था ही। काराड़ी वालों ने 5-7 आदमियों को लाठी देकर विरोध के लिये सामने भेजा। थोड़ी-सी भनक भीखणजी को पड़ गई कि काराड़ीवाले जोरदार विरोध पर उतर आये हैं तो भीखणजी ने काराड़ी का रास्ता बदल दिया और हींगोला से आड़ा रास्ता लेकर बीठोड़ा चले गये। बीठोड़ा से आगे चैलावास पधारे।

संवत् 1832 में संत भीखणजी काराड़ी पधारे

संवत् 1832 में संत भीखणजी चतुर्मास सम्पन्न कर मिंगसर वद 3-4 को बीठोड़ा गांव पधारे। बीठोड़ा में पहला मर्यादा पत्र 1832 मिंगसर वद 7 को लिखकर सब संतों को पढ़कर सुनाया और उस पर वहां उपस्थित आठ संतों की सही ली और उसी दिन संत भारीमालजी को युवराज पद दिया। बीठोड़ा में उस समय तेरापंथी 4-5 घर हो गये थे विजयराजजी पटवा पाली वालों के एक भाई बीठोड़ा में रहते थे। (उनका घर आज वर्तमान में भी मौजूद है।) बीठोड़ा से विहार कर काराड़ी पधारे। मिंगसर वद 13 को शाम को, वहां से खैरवा जाना था। काराड़ी में एक कुम्हार के घर में ठहरे, गांव के बाहर।

वहां नवलोजी बरलोटा व उसके बाद में रावजी बाफणा तेरापंथी बने। वहां आऊकर ठाकुर साहब ने भी भीखणजी के लिये रुकना था परन्तु गांव वालों के आग्रह से 3 दिन ठहरे। विरोध के कारण खैरवा वासियों को चिन्ता हुई। वहां से तेरापंथी श्रावक सामने काराड़ी आये वे काराड़ी वालों के नजदीक-दूर के संबंधी ही थे। वहां से हींगोला होते हुए खैरवा पधारे।

ये घटना हमारे पुराने चौपनिये में भी लिखित है और चारण जाति के बारठ लक्ष्मणसिंहजी जो आज भी मौजूद हैं उनके श्रीमुख से भी सुनने को मिली।